# मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली

0

डॉ० उषाकिरण शर्मा

0

प्रकाशन वर्ष

0

मूल्य—अस्सी रुपये मात्र

0

प्रकाशक—लेखिका

0

वितरक—अर्चना प्रकाशन, अजमेर

0

मुद्रक—अर्चना प्रकाशन, अजमेर

# प्राक्कथन

मीरां के काव्य के प्रति मुझे विद्यार्थी जीवन से ही रुचि रही है। मेरे घर का वातावरण भी धार्मिक और संगीतमय रहा है, अतः सूरदास, तुलसीदास और मीरां के पदों को मैंने कितनी ही वार सुना और गुनगुनाया है। मीरां के पदों की एकनिष्ठ प्रेम-भावना और सहज अभिव्यक्ति तो अनजाने ही मेरे मन को अपनी ओर खींचती और बांधती रही है। स्नातकोत्तर कक्षा में उनके काव्य को निकट से जानने का अवसर मिला, तव उनकी भक्ति-भावना ने ही नहीं, उनके निर्भीक व्यक्तित्व ने भी मुझे आकर्षित किया था। यह आकर्षण मेरे अवचेतन मन में कहीं समा गया था। अचानक मेरे जीवन में ऐसी दुर्घटना घटी जिसने मेरे अन्तर और वहिर् जीवन को झकझोर कर रख दिया। वह घटना थी-मेरे पति की असामयिक मृत्यु। मैं जीवन के प्रति निराश-सी हो गई थी। उन्हीं निराशा के अस्त-व्यस्त-से क्षणों में मैंने मीरां को एक वार फिर पढ़ा क्योंकि वे मुझे समदुःखिनी-सी लगीं। इस वार उनके व्यक्तित्व और चरित्र ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया और नयी जीवन-दृष्टि प्रदान की, तथा जीवन को नये ढंग से जीने की ललक जगाई। मैंने अपने पिता से आगे अध्ययन जारी रखने की अपनी इच्छा प्रकट की और उदारमना पिता ने सहमति भी दे दी। मैं मीरां की जन्मभूमि राजस्थान में रहकर ही अपना शोधकार्य करना चाहती थी, अनुकूल अवसर भी मिलते गये और मैं उड़ीसा से राजस्थान आ पहुँची। जव शोध-विषय के चयन का अवसर आया तथा मुझसे यह पूछा गया कि, मैं किस विषय पर शोध करना चाहती हूँ, तो अचानक ही मैं वोल पड़ी—'मीरां पर!' पहले तो अनुमति नहीं मिली। मुझसे कहा गया कि मीरां की भक्ति-भावना पर पहले ही बहुत से शोधकार्य हो चुके हैं। मैं उदास-सी हो गई, परन्तु दूसरे दिन ही मुझे उत्तर मिला कि यदि चाहो तो मीरां के काव्य के अभिव्यञ्जना पक्ष पर शोध-कार्य कर सकती हो। मुझे तो जैसे मुंहमांगी मुराद मिल गई। विषय की रूपरेखा वनी, रजिस्ट्रेशन हुआ और फिर वस मैं थीं और मेरी प्रिय मीरां थीं, तथा हम दोनों को जोड़नेवाला उनका काव्य था।

मीरां के काव्य का अध्ययन करने पर मैंने पाया कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मीरां की गणना भक्तिकाव्य के अमर प्रणेताओं में अवश्य की गई है, परन्तु उनकी कीर्ति एक कुशल रससिद्ध कवयित्री के रूप में न होकर आलौकिक प्रिय के प्रति सम्पूर्णतः समर्पिता प्रेमविह्वला भक्तिमती नारी के रूप में ही अधिक फैली है। जहां उनकी उत्कृष्ट प्रेम-साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा प्रायः समस्त आलोचकों, विचारकों और अनुसंधानकर्ताओं ने की है, वहां उनकी काव्य-कला पर अनेकों ने प्रश्न-चिह्न भी लगाए हैं। कुछ आलोचक तो उन्हें कवयित्री मानने से भी इन्कार करते हैं तथा उन्हें गिरधर की मात्र एक प्रेमिल भक्त के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि मीरां मूलतः और प्रथमतः भक्त थीं और उनका काव्य विरह-व्यथिता नारी की एकनिष्ठ प्रेम-साधना और दिव्य प्रणय-भावना से सहज उद्भूत हुआ था, परन्तु फिर भी, उनकी भावावेगजन्य प्रेमानुभूतियां इतनी सहजता, तीव्रता और मार्मिकता से अभिव्यंजित हुई हैं कि उनमें कवित्व के आवश्यक

तत्त्व अनायास ही समाविष्ट हो गये हैं। मीरां-काव्य में निहित अभिव्यञ्जना के ये आवश्यक तत्त्व कहीं तो प्रत्यक्षत: परिलक्षित होते हैं और कहीं अप्रत्यक्षत:, परन्तु वे इतनी मात्रा में अवश्य उपलब्ध होते हैं कि उन्हें सम्यक् और समग्ररूपेण उद्घाटित करने के लिये एक शोधकार्य की या शोध प्रबन्ध की आवश्यकता थी।

अद्यावधि मीरां पर जो शोधकार्य किये गये हैं, वे अधिकांशत: उनके जीवन, उनकी भक्तिसम्मत प्रेम-साधना तथा उनके काव्य के भाव-पक्ष से ही सम्बद्ध हैं। मीरां की काव्य-कला और उनकी अभिव्यंजना-शैली पर यथेष्ट प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ का अभाव बना हुआ है। यों उनकी पदावली के काव्य-सौष्ठव पर कुछ लोगों ने लिखा है, परन्तु यह लेखन सामान्य स्तर का होने के साथ अत्यल्प भी है। कुछ समय से उनकी भाषा आदि पर भी शोधकार्य होने लगे हैं, पर मीरां का अभिव्यंजना पक्ष समष्टिरूप से अभी भी उपेक्षित-सा ही है। इस दिशा में प्रस्तुत प्रबन्ध उस अभाव की पूर्ति करने वाला प्रथम प्रयास माना जा सकता है, और यही इसकी मौलिकता भी है।

प्रस्तुत विषय के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई मीरां की प्रामाणिक पदावली की उपलब्धि की थी। मीरां पदावली के विभिन्न संकलनों और संग्रहों के अध्ययन ने इस समस्या को सुलझाने की अपेक्षा और भी उलझा दिया। भाषा की दृष्टि से जहां पदावली के विविध संकलनों में विभिन्नता है, वहां एक ही पद के कई पाठान्तरों ने स्थिति को अत्यधिक विषम भी बना दिया। कुछ संकलनों में मीरां के पदों की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है तो कुछ में विकृत राजस्थानी, कुछ संकलनों में ब्रजमिश्रित राजस्थानी भाषा उपलब्ध होती है तो कुछ में अन्य भाषाओं के संपुटन ने मीरां की भाषा को सधुक्कड़ी ही बना दिया। भाषा की इस बहुरूपता, पाठान्तरों की विविधता तथा अनेकानेक प्रक्षेपणों के कारण मीरां की भाषा का निर्भ्रान्त निर्धारण करना दुस्साध्य ही नहीं, कहीं-कहीं असाध्य भी हो गया था। अंतत: इस मतिभ्रम से बचने के लिये मैंने भाषा सम्बन्धी अध्ययन के लिये आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'मीरांबाई की पदावली' को आधारग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर लिया। यद्यपि भाषा की दृष्टि से उक्त ग्रन्थ भी दोषपूर्ण है, तथापि अनेकानेक विश्वविद्यालयों ने इसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है एवं अब तक प्रकाशित मीरांबाई की विभिन्न पदावलियों में यह सर्वाधिक मान्य और प्रामाणिक समझा जाता है, अत: आधार ग्रन्थ के रूप में इसका चयन ही उचित था।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की 'मीरांबाई की पदावली' के अतिरिक्त स्वर्गीय श्री हरिनारायण पुरोहित द्वारा संकलित तथा डा. फतहसिंह द्वारा सम्पादित और प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर, द्वारा प्रकाशित 'मीरां बृहत्पदावली' भी मीरां की प्रामाणिक पदावली मानी जाती है, अत: अभिव्यञ्जना-शैली के अन्य तत्त्वों के विवेचन के लिये इसे भी आधार बनाया गया है। इन दोनों पदावलियों के अनन्तर जिन अन्य पदावलियों की सहायता ली गई है उनका उल्लेख यथास्थान पाद-टिप्पणी में और ग्रन्थ-सूची में कर दिया गया है।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्वपीठिका में मीरां के युग की विविध परिस्थितियों

का विवेचन करने के उपरान्त उस युग-परिप्रेक्ष्य में मीरां पर दृष्टिपात किया गया है। इसके अनन्तर भूमिका में अभिव्यञ्जना-शैली के स्वरूप का सामान्य सैद्धान्तिक विवेचन कर, मध्यकालीन भक्ति-काव्य के अभिव्यञ्जना-तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। फिर प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में विवेच्य विषय से सम्बद्ध सिद्धान्तों का विवेचन करने के उपरान्त मीरां के काव्य में उपलब्ध तत्सम्बन्धी तत्त्वों का विश्लेषण और विवेचन करने की नीति अपनाई गई है।

प्रथम अध्याय भाषा से सम्बन्धित है, इसमें मीरां की भाषा के स्वरूप का सामान्य विवेचन करने के बाद उनके शब्दस्रोतों तथा शब्दरूपों का भाषावैज्ञानिक और व्याकरणिक दोनों दृष्टियों से अध्ययन किया गया है। इसके अनन्तर उनके शब्द-निर्माण तथा वाक्य-विन्यास के विविध पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में मीरां द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों का वर्गीकृत विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में शब्द-शक्तियों का सामान्य सैद्धान्तिक विवेचन करने के पश्चात् मीरां-काव्य में उपलब्ध अभिधा-लक्षणा और व्यञ्जना शब्द-शक्तियों का तथा ध्वनियों का भेद-विभेद सहित विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में उक्तिवैचित्र्य और अलंकारों के सैद्धान्तिक विवेचन के बाद मीरां के पदों में निहित उक्ति-वक्रता और अलंकार-योजना का विवेचन तथा विश्लेषण किया गया है एवं मीरां द्वारा बहुधा प्रयुक्त अलंकारों का वर्गीकृत विवेचन भी किया गया है।

चतुर्थ अध्याय प्रतीक-योजना से सम्बद्ध है। इसमें भी सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त मीरां-पदावली में उपलब्ध परम्परागत और मौलिक प्रतीकों का वर्गीकृत विवेचन और विश्लेषण किया गया है।

पंचम अध्याय बिम्ब-विधान से सम्बन्धित है। इस अध्याय में भी काव्य-बिम्बों के सैद्धान्तिक विवेचन के अनन्तर मीरां काव्य में प्राप्त काव्य-बिम्बों का नूतन दृष्टिकोण से वर्गीकरण और विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में 'छन्दयोजना' के सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् मीरां के परम्परागत छन्द-प्रयोगों तथा उनकी भावानुकूल छन्दयोजना पर प्रकाश डाला गया है और उनकी विशिष्ट छन्द-शैली (पद-शैली) का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में मीरां के काव्य में निहित संगीत-सौष्ठव का विवेचन किया गया है। शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत में पृथकता तथा समता दिखाते हुए मीरां-काव्य के संगीत की सामंजस्यपूर्ण भूमिका का विवेचन किया गया है तथा अन्त में उनके पदों की नृत्यपरकता पर भी प्रकाश डाला गया है।

अन्त में, उपसंहार में प्रस्तुत प्रबन्ध का सार, निष्कर्ष और अध्ययन की उपलब्धियां दी गई हैं तथा परिशिष्ट में सहायक ग्रन्थों की सूची और संकेत-तालिका भी दी गई है।

चूंकि लोगों की ऐसी मान्यता रही है कि मीरां का काव्य, काव्य-कला की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध नहीं है तथा उनकी भाषा में शब्द-शक्तियां एवं छन्दों में विविधता नहीं है, अतः इस प्रबन्ध में उक्त मान्यता का खण्डन अनेकानेक प्रमाण

देकर किया गया है। इस प्रयास में यद्यपि उदाहरणों की संख्या कहीं-कहीं स्यात् आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है; परन्तु ऐसा उनके काव्य में निहित अभिव्यञ्जना-तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश डालने तथा उन स्थलों को उभारने के लिए ही किया गया है।

मेरी इस शोध-यात्रा में मुझे प्रस्थान विन्दु पर ला खड़ा करने में डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। उनके प्रति किन शब्दों में आभार प्रकट करूं ? समझ नहीं पाती हूँ, मैं तो उनके समक्ष केवल श्रद्धाभाव से नतमस्तक हो जाती हूँ।

अपने गुरुवर डॉ० प्रेमचन्द विजयवर्गीय के लिये भी क्या लिखूं ? उनके आद्यन्त सुयोग्य निर्देशन में तो यह शोधकार्य सम्पन्न ही हुआ है। वस्तुतः उनके ज्ञान और वात्सल्य की शीतल छाया में बैठकर मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला। उन्होंने मुझे निरन्तर प्रेरणा देकर इस कार्य को सम्पन्न करवाया है, अन्यथा शायद मैं बीच में ही भाग खड़ी होती। उनका स्नेह मेरे जीवन की धरोहर बन कर रहे, यही अभिलाषा है।

मैं यहां ज्ञान-विज्ञान महाविद्यालय, वनस्थली विद्यापीठ की प्राचार्या कु० सुशीला व्यास (जिन्हें हम स्नेहवश 'सुशीला दीदी' कहते हैं) के प्रति हार्दिक आभार प्रकट किये बिना नहीं रह सकती, जिन्होंने मुझे स्नेहपूर्ण संरक्षण ही प्रदान नहीं किया; अपितु मेरी परिस्थितियों को समझते हुए मेरी हर सम्भव सहायता की। इसके साथ ही मैं सम्पूर्ण वनस्थली परिवार की भी आभारी हूँ, जिससे मुझे अतुल स्नेह और अपार सहयोग मिला है। यदि मैं वनस्थली आकर न रही होती तो सम्भवतः यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता।

इस प्रबन्ध की टंकण प्रति को संशोधित कराने में डा० कुसुमलता आर्य ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उनकी मित्रता मेरे लिए गौरव की वस्तु है और रहेगी। उक्त कार्य में मैं अपनी सहयोगी छोटी बहनों—कु० चेतना भावसार एवं कु० धरित्री दास (एम. ए. उत्तरार्द्ध—हिन्दी) तथा कु० किरणप्रभा दीप (एम. ए. उत्तरार्द्ध—अंग्रेजी) के अपूर्व सहयोग को कभी नहीं भुला पाऊंगी।

और अन्ततः मैं उन सभी लेखकों और साहित्यविदों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके मूल्यवान ग्रन्थों को मैंने इसमें उपयोग किया है। मैं उस सर्वसमर्थ ईश्वर की भी अनुगृहीत हूँ जिसने मुझे इस ओर निरन्तर प्रेरित किया है और परोक्षतः सदैव मेरी सहायता की है।

इस शोध प्रबन्ध में जो त्रुटियां रह गई हैं वे मेरी हैं, अतः उनके लिए अभी तो इतना ही निवेदन कर सकती हूँ कि उन्हें क्षमा किया जाय; इन त्रुटियों के बावजूद भी यदि मैं अपने उद्देश्य की यत्किंचित पूर्ति कर सकी, तो अपने श्रम को सार्थक समझूंगी।

**—उषाकिरण शर्मा**

# अनुक्रमणिका

## तृतीय अध्याय



## चतुर्थ अध्याय

## उपसंहार



## परिशिष्ट





## संकेत-सूची

मी. पदा. — मीरां बाई की पदावली (आचार्य परशुराम चतुर्वेदी सम्पादित)
मी. वृ. पदा. — मीरां वृहत्पदावली (श्री हरिनारायण पुरोहित द्वारा संकलित)
प्र. स. — प्रधान सम्पादक
परि. ग — परिशिष्ट—ग
पृ. — पृष्ठ
मू. ले. — मूल लेखक
प्रका. — प्रकाशक
अनु. — अनुवादक

# मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली



# पूर्व पीठिका

## क—मीरां का युग

**युग और कवि :**

मनुष्य एक युग-सापेक्ष सामाजिक प्राणी है, जो अपनी युगीन परिस्थितियों से प्रभावित, नियन्त्रित और निर्मित होता है। कवि भी इसी मानव-समाज का एक अनुभूतिशील सचेतन अंग है। उसका व्यक्तित्व एवं कृतित्व भी तद्युगीन परिस्थितियों और चतुर्दिक् व्याप्त परिवेश से अनुप्राणित और प्रभावित होता है। सामान्य कवि जहां अपनी युगीन परिस्थितियों का सहज परिणाम या उपज मात्र होता है, वहां महान् कवि अपने विशाल व्यक्तित्व और उच्चादर्शों के द्वारा युग का निर्माता और भाग्यविधाता भी बन जाता है।

वस्तुतः युग और कवि का सम्बन्ध द्विपक्षीय है। जहां एक ओर वह युग की विविध—सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि—परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करता है, वहां दूसरी ओर वह अपनी निर्भीकतापूर्ण स्पष्टोक्तियों द्वारा समाज की दूषित मनोवृत्तियों, परम्पराओं और मान्यताओं पर कुठाराघात करते हुए अपनी मौलिक, परिष्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा क्रान्तिकारी विचारधारा की अमिट छाप भी युग पर छोड़ जाता है। कवि द्वारा स्थापित की गई ये नवीन मान्यताएं युगों-युगों तक जन-मानस पर अपना प्रभाव जमाये रखती हैं और कवि की दुग्ध-धवल कीर्तिपताका को अनन्तकाल तक दिग्दिगन्त में फहराती रहती हैं।

सामान्यतः युग की एक सीमित इकाई बारह वर्षों की मानी जाती है;[1] परन्तु अपने विस्तृत अर्थ में युग कई दशकों के व्यापक कालखण्ड को समाहित किये रहता है। किसी समाज या देश के ऐतिहासिक विकासक्रम में युग उस कालखण्ड को कहा जाता है, जिसमें वह समाज या देश किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या किसी विशेष प्रकार की—राजनीतिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक या धार्मिक-विचारधारा के एकल या संश्लिष्ट प्रभाव में आबद्ध रहता है; परन्तु जब हम किसी काल या युग को किसी कवि-विशेष के युग की संज्ञा प्रदान करते हैं, तब हमारा तात्पर्य उक्त कवि के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के काल-विशेष से होता है। यथा—हिन्दी-साहित्येतिहास में चौदहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सतरहवीं शताब्दी के मध्य तक का कालखण्ड पूर्व मध्ययुग या भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है और मीरां के जन्म से लेकर उनकी मृत्युपर्यन्त तक का कालखण्ड उनके युग के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

**मीरां का युग :**

यद्यपि मीरां की जन्मतिथि व मृत्युतिथि-सम्बन्धी मान्यताएं ठोस प्रमाण के अभाव में निश्चित नहीं हो पाई हैं, तथापि अनुसंधानकर्त्ताओं के अनुसार संवत्

---

1 संक्षिप्त शब्द सागर (ना. प्र. स., सप्तम संस्करण)—पृ. 843

1560 को उनके जन्मसंवत् और 1603 या 1630 को उनके मृत्युसंवत् के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उक्त संवतों को सही मानने पर मीरां के युग का एक छोर सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रथम दशक को छूता है तो दूसरा छोर सतरहवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों तक खींचा जा सकता है।[1]

वस्तुत: मीरां का युग एक विचित्र संक्रान्ति का युग था, जिसमें एक ओर मृत्यु की विभीषिका लिये युद्ध की भीषण ज्वाला थी, तो दूसरी ओर अमरत्व की जिजीविषा लिये दिव्य ईश्वर-प्रेम की सरस मेघमाला। एक, जनजीवन को संतप्त और संत्रस्त करती हुई सतत विनाश की ओर ले जा रही थी तो दूसरी उसे परितृप्त और शीतल करती हुई अनवरत निर्माण की ओर उन्मुख कर रही थी। जीवन की इन्हीं परस्पर प्रतिकूल विषम परिस्थितियों में मीरां का आविर्भाव हुआ। मीरां तद्युगीन आविर्भूत उन महान् विभूतियों में से एक थीं जिन्होंने हिन्दू संस्कृति की डगमगाती हुई नौका को अपने समयोचित प्रशंसनीय कार्यकलापों तथा अनुकरणीय सुस्पष्ट निर्भीक विचारों का सुदृढ़ सम्बल प्रदान कर उसे परम कल्याणकारी निःश्रेयस् मार्ग की ओर अग्रसर किया। उन्होंने युग को न केवल मौलिक सन्देश दिया अपितु क्रान्ति की देदीप्यमान दीपशिखा लेकर दिग्भ्रान्त जनता को स्वातन्त्र्य और मुक्ति का सरलतम मार्ग भी दिखाया और स्वयं चिरदमित व पद-दलित निर्बल जनों का मौन नेतृत्व करती हुई वे सफलता व कुशलतापूर्वक आगे बढ़ती गईं। वास्तव में इस दृष्टि से मीरां अपने युग की एक प्रबल मांग की पूर्तिकर्त्ता थीं और तद्युगीन परिस्थितियों की उत्कृष्ट निर्मिति भी थीं और समग्रत: थीं—आने वाले युगों के लिये एक लोकोपकारी अनुपम वरदान !

राजरानी मीरां को परम्पराप्रिय मेवाड़ के वैभवमय राज-प्रासाद में एक विद्रोहिणी नारी के रूप में मान्यता दिला कर, वहां से निष्कासित कराने और तत्पश्चात् एक त्यागमयी विनम्र साध्वी और आनन्दरूपा भक्तिमती का गौरव प्रदान कर, श्रद्धालु जनसाधारण के हृदयासन पर प्रतिष्ठापित कराने का श्रेय तत्कालीन परिस्थितियों और युगीन परिवेश को है। इस कारण मीरां की स्वच्छन्द एवं निर्द्वन्द्व जीवनदृष्टि का निर्माण करने वाली तत्कालीन परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना यहां आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है; क्योंकि इन परिस्थितियों ने ही प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अनायास ही, मीरां के काव्य और उनकी अभिव्यञ्जना-शैली को प्रभावित किया है।

**युगीन परिस्थितियां :**

मीरां का युग परस्पर विरोधी विचारधाराओं और परिस्थितियों के अनोखे सम्मिलन का युग था। यह युग अपने राजनीतिक उद्भव-पराभव, सामाजिक संघटन-विघटन, सांस्कृतिक उत्थान-पतन, दार्शनिक चिन्तन-मनन, नैतिक उन्नयन-अवनयन, धार्मिक पुनरुत्थान व जन-जागरण तथा उत्कृष्ट साहित्य-सर्जन आदि के कारण भारतीय साहित्य एवं इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इन विषम परिस्थितियों के आलोडन-विलोडन ने अनेकानेक प्रतिमाओं को परिमार्जित

---

1 डॉ. कल्याणसिंह शेखावत : मीरांबाई का जीवनवृत्त एवं काव्य—पृ. 173

और परिष्कृत कर अनोखी दीप्ति और मनोहारिणी आभा से युक्त किया है। मीरां का व्यक्तित्व भी इन्हीं परिस्थितियों की तीक्ष्ण ज्वाला में तप कर निखरा था। इन्हीं परिस्थितियों में से एक परिस्थिति थी उस युग की—राजनीतिक स्थिति।

(1) राजनीतिक स्थिति :

मीरां राजस्थान के दो प्रख्यात स्वातंत्र्य-प्रेमी राजकुलों—मारवाड़ और मेवाड़—से सम्बन्धित थीं, अतः राजनीतिक परिस्थितियों का उनके जीवन को प्रभावित करना स्वाभाविक ही था। मीरां के युग की राजनीतिक स्थिति बहुत ही अस्त-व्यस्त, अस्थिर, और उतार-चढ़ाव-पूर्ण थी। मारवाड़ और मेवाड़ को छोड़कर प्रायः राजस्थान का अधिकतर भाग मुग़ल शासकों की अतृप्त साम्राज्य पिपासा की भेंट चढ़ चुका था। अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिये ये दोनों राज्य भी निरन्तर युद्ध में लगे रहते थे। मीरां ने इस युद्ध की विभीषिका को देखा ही नहीं, वरन् झेला भी था। उसके निकट सम्बन्धी—पिता, पितामह, पितृव्य, भ्राता, श्वसुर और पति—एक-एक कर इस स्वातंत्र्य-यज्ञ की तीक्ष्ण ज्वालाओं में अपने प्राणों की आहुति दे चुके थे। इन स्वतंत्रता सेनानियों ने जिस युद्ध-कौशल और देश-प्रेम का परिचय दिया, उसका उनके परवर्ती शासकों में नितान्त अभाव था।

मेवाड़ाधिपति राणा संग्रामसिंह (सांगा) अन्तिम हिन्दू शासक थे, जिन्होंने राजस्थान की छोटी-बड़ी रियासतों को संगठन के एक सूत्र में बांधा था। खानवा के मैदान में मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर से हुई उनकी पराजय ने उन्हें सर्वथा श्रीहीन और मृतप्राय कर दिया था। फिर भी उन्होंने विजय का संकल्प लेकर अपने क्षत-विक्षत शरीर और बिखर गये संगठन को पुनः सबल और एकीकृत करने का प्रयास किया किन्तु वे असफल रहे और सामन्तों के षड्यन्त्र का शिकार होकर मारे गये।[1] राणा सांगा की मृत्यु मानों अमानिशा बनकर सम्पूर्ण राजस्थान पर छा गई। राणा सांगा के उत्तराधिकारियों—राणा रत्नसिंह, राणा विक्रमाजित, बनवीर और राणा उदयसिंह—में न उन जैसी दूरदर्शिता थी, न शूरवीरता, न साहस था, न पराक्रम, न सूझबूझ थी न ही प्रशासनिक क्षमता। संगठन की शिथिलता से राजस्थान में अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे। ये छोटे-छोटे राज्य भी स्वार्थपरता, मिथ्या दम्भ, असहिष्णुता और वैयक्तिक हितों के कारण सदैव आपस में लड़ते रहते थे। ये अपने झूठे गौरव और अभिमान की अकड़ में किसी एक राजा की अधीनता स्वीकार करना अपने वीरत्व का अपमान समझते थे। एक ही वंश से उद्भूत होते हुए भी वे आपस में मिलजुलकर नहीं रह पाते थे। दूर दृष्टि और दृढ़ निश्चय के अभाव में स्वयं ही संधियां करते और तोड़ देते थे। संक्षेप में—ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य और पारस्परिक फूट ने कौटुम्बिक भावना को सर्वथा विनष्ट कर दिया था।

राजस्थान की भांति ही केन्द्र (दिल्ली) में भी शक्तिशाली प्रशासक का

---

1. डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास (प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण), पृ. 274।

अभाव था। इब्राहीम लोदी, बाबर, हुमायूं आदि सुदृढ़ शासनतन्त्र की स्थापना नहीं कर पाये थे। शेरशाह एक कुशल प्रशासक और वीर योद्धा था, जिसने शासन में सुस्थिरता लाने के विविध-प्रयास किये। परन्तु राजस्थान के प्रति उसकी नीति प्रारम्भ में उपेक्षापूर्ण रही। सच तो यह है कि वह उपेक्षा नहीं, अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा थी। मारवाड़ के सुयोग्य शासक राव मालदेव की महत्वाकांक्षाएं और पराक्रम उसकी दृष्टि में कांटे-से खटक रहे थे। अन्ततः राव वीरमदेव (जिनका राज्य मालदेव ने बलात् छीन लिया था) के निमन्त्रण के मिस उसने मारवाड़ पर आक्रमण कर दिया।[1] यद्यपि इस युद्ध में विजय शेरशाह की ही हुई तथापि इस विजय के लिए उसे बहुत मूल्य चुकाना पड़ा। वस्तुतः यह विजय युद्धजनित न होकर कूटनीतिजन्य थी।[2] शेरशाह का शासन भी अल्पकालिक ही रहा। उसके अनन्तर कुछ काल तक हुमायूं पुनः शासक बना, परन्तु शीघ्र ही वह भी काल-कवलित हो गया। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि मीरां की समकालीन राजनीतिक स्थिति बहुत ही अस्थिर और उथल पुथल से परिपूर्ण थी। देश के क्षितिज पर सदैव युद्ध के बादल मंडराते रहते थे और वे बारम्बार मूसलाधार वृष्टि के सदृश बरसकर जनसाधारण के जीवन को तहस-नहस कर जाते थे। राज्य की इस अस्थिर परिस्थिति ने असुरक्षा, अशान्ति और आतंक का वातावरण उत्पन्न कर दिया था जिसका प्रभाव परोक्ष व अपरोक्ष रूप से तद्युगीन समाज पर भी पड़ा था।

## (2) सामाजिक स्थिति :

विदेशियों के निरन्तर आक्रमणों और क्रूर अत्याचारों ने मध्ययुगीन भारत की सामाजिक अवस्था को अत्यन्त विकार-युक्त, रूढ़िग्रस्त और असामान्य बना दिया था। जहां विधर्मी आक्रामकों से अपने को बचाये रखने की प्रवृत्ति ने अनेकानेक सामाजिक कुरीतियों को जन्म दिया था, वहां रक्त-शुद्धता एवं वंश की उच्चता तथा पवित्रता बनाए रखने की मनोवृत्ति ने वर्ण-व्यवस्था को कुपोषण दिया। जाति-पांति के बन्धन अत्यधिक संकुचित एवं जटिल हो गये थे तथा ऊंच-नीच का भेदभाव और जातिगत अभिमान अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। प्रमुख जातियां भी अनेक उपजातियों में बंट गई थी। सह-अस्तित्व, सांमनस्य और मानवीय सौहार्द की भावना क्रमशः घटती जा रही थी। विधर्मियों द्वारा पददलित और भ्रष्ट कर दिये गये निम्नवर्णीय और उच्चवर्णीय लोगों को हिन्दू समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था, अपमानजक उपाधियां देकर उन्हें अस्पृश्यों की कोटि में रख दिया जाता था तथा उनके साथ वैसा ही व्यवहार भी किया जाता था। सजातीय बन्धुओं द्वारा निरादृत होकर ये लोग बहुत ही क्षुब्ध और असंतोषमय जीवन बिता रहे थे। हिन्दू समाज द्वारा उपेक्षित और मानमर्दित होने पर इन जातियों में अत्यधिक रोष, वितृष्णा और हीन-भावना उत्पन्न हो गई थी। इन जाति-बहिष्कृत लोगों की भी अनेक जातियां बन गई

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा—'राजस्थान का इतिहास' (प्रथम भाग,) पृ. 321
2 वही, पृ. 323-324

थीं और अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने भी अतिसंकीर्ण आचरण-पद्धति को अपना लिया था।

उच्चवर्गीय जातियां भी साधनसम्पन्नता और साधनहीनता के आधार पर दो प्रमुख वर्गों में विभक्त हो गई थीं। राज्यसंचालन का कार्य राजपूत क्षत्रियों के हाथ में था। इनकी भी कई विशिष्ट श्रेणियां बन गई थीं। राज्य की ओर से सामन्तों और राज्याधिकारियों को उनके पदानुसार जागीरें और मनसवदारियां प्रदान की जाती थीं। इन्हें (सामन्तों को) अपने अधिकार-क्षेत्र की भूमि के लगान की उगाही करने का और अपनी निजी फौज रखने का अधिकार मिला हुआ था, जिसका दुरुपयोग ये अपनी विलासी मनोवृत्तियों और अवांच्छित महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए करते थे। तड़क-भड़क, शान-शौकत, रौब-दाब छीना-झपटी आदि की प्रदर्शनात्मक प्रवृत्ति प्रबल हो चुकी थी। इन्हीं के समान उच्चवर्गीय श्रीमन्तों और साधनसम्पन्न ब्राह्मणों में भी विलासिता और वैभवप्रियता की कुत्सित मनोवृत्तियाँ जाग उठी थीं। अधिकारलिप्सा, स्वार्थपरता, अनैतिकता और भोगविलास का प्रावल्य हो जाने के कारण समाज में अनेक कुप्रथाएँ और अमानवीय परम्पराएँ मान्य और प्रचलित हो गई थीं। इन कुप्रथाओं में बाल-विवाह, बहु-विवाह, पर्दाप्रथा, सती-प्रथा, जौहर, दास-प्रथा आदि प्रमुख थीं जिन्होंने मध्ययुगीन समाज को, विशेषकर स्त्री-समाज को, सर्वाधिक दुष्प्रभावित किया था।

सामान्य परिवारों से लेकर राज-परिवारों तक में संयुक्तपरिवार-प्रणाली का प्रचलन था। परिवार में श्वसुर, जैठ, देवर, ननद, सास, चाचियाँ, ताइयाँ, दादियाँ और उनके साथ ही अनेक सपत्नियाँ भी रहती थीं, जिनमें प्रायः छोटी-छोटी बातों को लेकर कहा-सुनी, टीका-टिप्पणी, वाद-विवाद और कई बार हाथा-पाई भी होती रहती थी। स्त्री और पुरुष में अर्धाङ्ग की भावना समाप्त होकर रक्षिता और रक्षक की भावना सर्वप्रमुख हो गई थी। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्री—पिता, पति, पुत्र और इनके अभाव में अन्य कुटुम्बीजनों के अभिभावकत्व में रहने को बाध्य थी। पुरुषों की विलासी प्रकृति ने स्त्रियों के बनाव शृङ्गार और अलंकार की प्रवृत्ति को अत्यधिक बढ़ावा दिया था। नित्य नये शृङ्गार प्रसाधनों और मूल्यवान वस्त्राभूषणों से स्वयं को सुसज्जित रखना स्त्रियों की सबसे बड़ी कमजोरी बन गई थी। बहु-विवाह के कारण उत्तराधिकार की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती थी। राज-परिवारों में महत्त्वाकांक्षिणी स्त्रियां अपने पुत्र को राज्य-प्रमुख बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती थीं और कई बार इसके लिए हत्या और विषघात जैसे जघन्य कुकृत्यों से भी बाज नहीं आती थीं। अपनी प्रमुखता बनाये रखने के लिये वे तरह-तरह के षड्यन्त्र रचाती रहती थीं तथा अन्य सपत्नियों व उनके पुत्रों पर नानाविध अत्याचार करती रहती थीं। कई बार उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर वे राज्य के विजातीय तत्त्वों और विदेशी शासकों तक से सहायता मांगने में नहीं सकुचाती थीं। राणा सांगा की प्रियरानी कर्मवती के आचरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए क्या कुछ नहीं किया था।

मध्ययुगीन इतिहास में जहाँ महत्त्वाकांक्षिणी स्त्रियों के पुरुष पर हावी होकर शासनतंत्र में मनमानी करने के कुछेक उदाहरण मिलते हैं, वहाँ पुरुषों द्वारा स्त्रियों की सहनशीलता और प्रकृतिप्रदत्त दुर्बलता का लाभ उठाकर उनका अधिकाधिक शोषण करने के अनगिनत प्रमाण भी भरे पड़े हैं। स्त्रियों को पति के जीवनकाल तक ही विशेष सुविधाएँ उपलब्ध हो पाती थीं; पति की मृत्यु के अनन्तर पत्नी का सती होना अनिवार्य नियम बन गया था जिसका पालन बहुत ही कठोरता और निर्दयतापूर्वक किया और कराया जाता था। सहमरण और अनुमरण की यह प्रथा राजस्थानी राजवंशों और कुलीन वर्ग के लोगों में सर्वमान्य और अतिप्रचलित हो गई थी। पत्नी का सती होने से इन्कार करना एक परम्परा-विरोधी अशोभनीय कार्य और कुल-मर्यादा के उल्लङ्घन का द्योतक अक्षम्य अपराध समझा जाता था। यदि कोई स्त्री किन्हीं कारणों से सती होने से बच जाती थी, तो उसे भयानक यन्त्रणाओं और मरणतुल्य असह्य अपमान से भरा विरागी तपस्विनियों-सा उपेक्षित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। स्त्रियों का वैदिक-कालीन स्वच्छन्द जीवन अब एक कपोल-कल्पना मात्र बन कर रह गया था। उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वच्छन्द जीवन निन्दनीय और दण्डनीय माना जाता था। इसके लिये सर्पदंश, शूल-शय्या और विषपान आदि प्राणघातक दण्डों का विधान था। स्त्रियों का देवार्चन में लवलीन रहना और परम कल्याणकारी भक्तिमार्ग का अनुसरण करना भी एक सीमा तक ही मान्य था। साधुसंतों से अधिक मेल-जोल और सत्संग संदिग्ध चरित्र का द्योतक समझा जाता था और हरि-भक्ति में दत्तचित्त रहना पाखण्ड और दिखावा।

वस्तुत: अधिकतर उच्चवर्गीय लोगों का नैतिक स्तर इतना गिर चुका था कि परमार्थ की उच्च भावनाओं में भी वे लोग वासना की दुर्गन्ध पाने लगे थे। निरन्तर विषय-वासना में लिप्त रहने वाले, स्त्री को केवल भोग की सामग्री समझने वाले तथा कुत्सित विचारों और मलिन मनोदृष्टि वाले स्वार्थी चाटुकारी सलाहकारों से सर्वदा घिरे रहने वाले प्राणियों की क्षुद्र बुद्धि में निष्काम प्रेम और निःस्वार्थ सेवा की उच्च भावनाएँ कहाँ समा सकती थीं ? कुलीन परम्पराओं की रक्षार्थ निर्मित की गई कठोर मर्यादाओं का स्वेच्छया उल्लंघन करने वाली, निरन्तर साधु-संगति में सुख पाने वाली, परिवार के गुरुजनों की आज्ञाओं और मान्यताओं की सर्वथा अवहेलना करते हुए अलौकिक प्रियतम के दिव्य प्रेम में आपादमस्तक निमग्न रहने वाली भक्त-हृदया किन्तु विद्रोहिणी नारी के प्रति इन सांसारिक वैभव और भोग विलासों में आबद्ध, रूढ़िवादी शासकों और सामाजिकों के हृदय में सद्भावना उत्पन्न होना दुष्कर और असाध्य ही नहीं, सर्वथा असम्भव भी था। इन्हीं विरोधी परिजनों की वर्जनाओं और नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों की आंच में तप कर मीरां का व्यक्तित्व अनूठी दीप्ति से दमक उठा था। इस सामाजिक परिवेश के साथ ही तत्कालीन सांस्कृतिक और धार्मिक परिवेश ने भी मीरां की उन्मुक्त जीवन-दृष्टि और विशाल-हृदयता को अत्यधिक बढ़ावा दिया था।

### (3) सांस्कृतिक स्थिति :

यद्यपि तुर्क आक्रमणकारियों ने विजित देश के धर्म-संस्कृति और आचार-विचार को तहस-नहस करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी थी, परन्तु फिर भी वे इस देश की संस्कृति को समूल नष्ट करने में असमर्थ रहे।[1] उन्होंने अपनी तलवार की शक्ति, आतंक की नीति और आकर्षक प्रलोभनों से इस्लामी धर्म का प्रचार और मुस्लिम संस्कृति का प्रसार भारत में करना चाहा था। प्राण रक्षा तथा धन-जन की सुरक्षा को ध्यान में रखकर कुछ हिन्दुओं ने उनकी संस्कृति को ऊपरी तौर पर स्वीकार भी कर लिया था; परन्तु यह स्वीकार्यता अशान्ति, व्याकुलता, विवशता व विक्षोभ-जन्य ही थी, वास्तविक रूप में जनजीवन अभी भी अपनी प्राचीन सांस्कृतिक मान्यताओं से चिपका हुआ था। हिन्दू संस्कृति की जड़ें भारतीय जनमानस में इतनी गहरी पैठी हुई थीं कि उन्हें उखाड़ पाना नितान्त असम्भव था। मुस्लिम आततायियों के पूर्व जितने भी विदेशी आक्रमणकारी भारत में आये वे सब यहीं के हो गये। भारतीय संस्कृति की सुपुष्ट पाचन-शक्ति ने उन सबको आत्मसात् कर लिया था; परन्तु मुस्लिम आक्रामकों को अपने धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता का अभिमान था, अतः उन्होंने भारतीयों से मेल-जोल नहीं बढ़ाया और यहां की संस्कृति और धर्म को हेय दृष्टि से देखा। फलतः इन दोनों संस्कृतियों के बीच की दूरी बढ़ती ही गई: यद्यपि इनके समन्वय के प्रयत्न भी होने लगे थे; परन्तु मुसलमानों ने यहां के सांस्कृतिक प्रभावों से अपने को बचाये रखने का हर सम्भव प्रयास किया। हिन्दू संस्कार जहां शारीरिक शुद्धता व मानसिक निर्मलता तथा चारित्रिक श्रेष्ठता के पक्षपाती थे, वहां मुस्लिम संस्कार केवल इस्लाम धर्म के अनुयायियों को ही पवित्र और श्रेष्ठ मानते थे। जो व्यक्ति उनके धर्म को अस्वीकार करे वह काफिर माना जाता था। दोनों संस्कृतियों के अपने-अपने पूर्वाग्रह थे और उन पूर्वाग्रहों का परित्याग करना दोनों को अमान्य था। जहां हिन्दू समाज बलात् धर्मपरिवर्तन किये गये व्यक्तियों का शुद्धीकरण न कर सर्वदा के लिए जाति से बहिष्कृत कर देता था, वहां मुस्लिम समाज उन्हें कुछ शर्तों के साथ अपनाने को प्रस्तुत था। फलतः यह जाति बहिष्कृत हिन्दूवर्ग ब्राह्मणों के कोरे आडम्बरों, जटिल अनुष्ठानों, निरर्थक कर्मकाण्डों और उच्चजातीय अभिमान से क्षुब्ध और असन्तुष्ट होकर इस्लामी जनवादिता व सादगी से आकर्षित हो अधिकाधिक संख्या में मुसलमान बनने लगा था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि दोनों ही संस्कृतियां सामान्य जनता को अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं। सामान्य जनता कभी तो अपने रूढ़िगत संस्कारों में बँधी, हिन्दू धर्म के बहुदेववाद में अपनी दैनिक समस्याओं का समाधान खोजा करती थी और कभी अपने धर्मगत शैथिल्य से निराश होकर इस्लाम के एकेश्वरवाद में हृदय की शान्ति ढूंढने का प्रयास करती थी। उसकी गति गहन कान्तार प्रदेश में भटके हुए उस पथिक सी हो गई थी जो प्रयत्न करने पर भी अपना अभीप्सित मार्ग न पा रहा हो। जनता के इस दिग्भ्रम को सबसे पहले स्वामी

---

1 डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, दिल्ली सल्तनत, (नवम संस्करण), पृ. 38

रामानन्द ने अनुभूत किया और इसके कारणों को भलीभांति समझते हुए उन्होंने एक नवीन धर्म-पद्धति का सूत्रपात किया। इन्होंने हिन्दूधर्म में घुसी हुई खान-पान, आचार-विचार, ऊँच-नीच, जाति-पांति की कट्टर आडम्बर पूर्ण दुष्प्रवृत्तियों का परिहार तथा सगुण और निर्गुण उभय ब्रह्मस्वरूपों की एकता का प्रतिपादन करते हुए आन्तरिक शुद्धि और मानव-प्रेम की दिव्य भावनाओं का प्रचार किया तथा कथनी और करनी में आ गये गहरे पार्थक्य को दूर करने का प्रबल उद्घोष किया। ईश-आराधन को एक वर्ग-विशेष तक सीमित रखने का विरोध करते हुए उन्होंने भक्ति और मुक्ति के द्वार सर्वसाधारण (जनता) के लिये उन्मुक्त कर दिये और पतित तथा निम्न श्रेणी के लोगों की हीनभावना को दूर कर उनमें आत्म-विश्वास का भाव जगाया। साथ ही उन्होंने 'राम' और 'खुदा' की एकता तथा उनके निर्गुण निराकार स्वरूप को सार्वभौम सत्ता को शास्त्रीय विवेचन द्वारा सिद्ध करते हुए हिन्दू-मुस्लिम-एकता और सर्वजीव-समानता के भावों को प्रमुखतः प्रचारित किया। उनके इस सांस्कृतिक प्रयास ने तत्कालीन समाज की डगमगाती सांस्कृतिक व नैतिक स्थिति को सुधारने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

(४) धार्मिक स्थिति :

मध्ययुग को राजनीतिक व सांस्कृतिक दृष्टि से ह्रास का युग स्वीकार करते हुए भी भक्ति साधना, धार्मिक पुनरुत्थान और साहित्य-रचना की दृष्टि से उत्कर्ष और अभ्युदय का युग माना जाता है।[1] इस युग में प्राचीनकाल से चले आ रहे वैदिक, पौराणिक धर्मों के प्रायः सभी रूप मान्य तथा जन-प्रचलित थे। योगमार्गी सिद्धों, तन्त्र-साधक नाथों और कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने पारम्परिक धर्म को साथ रखा था। इनके अतिरिक्त शैवों, शाक्तों और वैष्णवों की आराधना-पद्धतियाँ भी चली आ रही थीं। वेदान्त दर्शन की अमूर्त और समूर्त—दोनों आराधना-पद्धतियां मान्य थीं। शंकराचार्य के अद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन कर ज्ञान मार्ग को सर्वोत्तम बताया था, परन्तु उनका यह बुद्धिवादी दर्शन सामान्य जन द्वारा ग्राह्य नहीं हो पाया था। अतः इस मत के विरोध में विशिष्टा द्वैतवादी सगुण वेदान्त - दर्शन का प्रतिपादन कर यह बुद्धिवादी दर्शन सामान्य जन द्वारा ग्राह्य नहीं हो पाया था। अतः इस मत के विरोध में विशिष्टाद्वैतवादी सगुण वेदान्त-दर्शन का प्रतिपादन कर आलवार भक्तों, विशेषतः रामानुजाचार्य ने ज्ञान-सम्मत भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठापना की थी। सगुण अवतारवाद के समर्थक प्रमुख सम्प्रदाय-ब्राह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय, सनकादिक-सम्प्रदाय और श्री-सम्प्रदाय थे। इन सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति की साधनत्रयी में भक्ति पर अधिक बल दिया। वस्तुतः ये विविध सम्प्रदाय और दार्शनिक मतवाद मीरां के जन्म के पूर्व ही आविर्भूत हो चुके थे। परन्तु मीरां के युग में इनकी अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं पल्लवित और पुष्पित हो रही थीं। अतः इन सभी सम्प्रदायों का अपना-अपना विशिष्ट महत्त्व है। जहां सगुण आराधना का समर्थन करने वाले अनेकानेक

---

1 डा. विजयेन्द्र स्नातक, हिन्दी भक्ति रसामृत-सिन्धु (प्रथम संस्करण), पृ. 2

सम्प्रदाय तत्कालीन समाज में विद्यमान थे, वहां निर्गुण आराधना का सुपोषण करने वाले अनेकानेक पंथ भी जनता पर अपना प्रभाव जमाए हुए थे।

हिन्दू-मुस्लिम-एकत्व की भावना का प्रतिपादन करने वाले निर्गुणिया संतों और उनके मतावलम्बियों ने अनेकानेक पंथों की स्थापना कर ली थी। इन पंथों में कबीर-पंथ, गोरख-पंथ, सिख-पंथ और दादू-पंथ प्रमुख हैं, जिनका तत्कालीन एवं परवर्ती भारतीय संस्कृति व साहित्य पर प्रचुर प्रभाव पड़ा। नाथपंथी जोगियों का भी अपनी अटपटी क्रियाओं और चमत्कारिक कार्य-कलापों के कारण तद्युगीन समाज पर पर्याप्त प्रभाव था। जनसामान्य उनकी यौगिक-क्रियाओं से अत्यधिक प्रभावित था। तांत्रिक जादू-मन्तर और टोने-टोटके भी जनता पर अपना प्रभाव जमाये हुए थे।

मुस्लिम सूफी-संतों की प्रेममार्गी परम्परा पर भी लोगों का विश्वास जमने लगा था। अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिये लोग पीरों और औलियों की मजारों पर जाने लगे थे। इस्लाम धर्मावलम्बी सूफी-संतों और फकीरों (फरीदुद्दीन, शेख निजामुद्दीन, निजामुद्दीन औलिया, ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती आदि) ने इस्लाम की कट्टरता, धर्मान्धता, आडम्बर और धार्मिक अत्याचारों का घोर विरोध किया और धार्मिक सहिष्णुता तथा भ्रातृत्व की भावना पर अत्यधिक बल देते हुए हिन्दू और मुस्लिम जनता के हृदय पर अपना विश्वास जमा कर समान रूप से अधिकार प्राप्त कर लिया था।[1] जायसी और कुतुबन प्रभृति सूफी प्रेमाश्रयी कवियों ने अलौकिक प्रेम को लौकिक प्रेम-प्रतीकों द्वारा व्यक्त कर सामान्य जनता के हृदय में अपना अलग स्थान बना लिया था।

इन विविध दार्शनिक मतमतान्तरों, धार्मिक पंथों तथा सम्प्रदायों का अपना-अपना विशिष्ट सांस्कृतिक महत्त्व होने के साथ ही साहित्यिक महत्त्व भी है। इन सम्प्रदायों व पंथों का प्रवर्तन और समर्थन करने वाले प्रमुख आचार्य तथा संत समाज-सुधारक, दार्शनिक-चिन्तक और ईश्वर-भक्त होने के साथ ही समर्थ कवि और सुयोग्य साहित्यसेवी भी थे। इन्होंने अपने सुविचारों और नवीन मान्यताओं को काव्य के माध्यम से व्यक्त किया। मौलिकता, सहजता, सरलता और अपूर्व रसवत्ता से परिपूर्ण होते हुए भी इनकी रचनाएं सरल और सुबोध थीं, जिन्होंने तद्युगीन सम्पूर्ण सहृदय-समाज को आकृष्ट और प्रभावित किया था।

### (5) साहित्यिक स्थिति :

हिन्दी साहित्येतिहास में पूर्वमध्ययुग 'भक्तिकाल' के नाम से अभिहित किया जाता है। 'भक्तिकाल' नामकरण ही इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि उस काल में भक्तिपरक रचनाओं की प्रधानता रही है। कतिपय विद्वानों ने इस काल में रचे गये साहित्य की उत्कृष्टता के आधार पर इसे हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' माना है। वस्तुतः निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होने वाला तत्कालीन साहित्य अपनी विपुलता और गुणवत्ता की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इसका संक्षिप्त विवेचन आगामी पंक्तियों में किया गया है।

---

1 डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 56

**निर्गुण सन्तकाव्य :**

भक्तिकाल का शुभारम्भ निर्गुण ज्ञानाश्रयी संत-काव्य से होता है। इस धारा के प्रमुख प्रतिनिधि कबीर दादू प्रभृति संत कवियों ने एकेश्वरवाद में आस्था प्रकट करते हुए निर्गुण निराकार ईश्वर की भक्ति और आचरण की अंतःबाह्य-शुद्धता का संदेश दिया। निम्न वर्ग से सम्बन्धित होते हुए भी आचरणगत पवित्रता और अनुभूत सत्य की प्रतिष्ठा के कारण ही इनकी अटपटी और अक्खड़ वाणी का प्रभाव निम्न-वर्ग के साथ ही उच्च-वर्ग पर भी पड़ा। निर्गुण संतों की सशक्त 'बानी' ने तत्कालीन समाज में एक वैचारिक क्रान्ति को जन्म देते हुए परम्परागत रूढ़ियों के विभंजक की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ईश्वर की सत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में अटूट विश्वास रखने वाले ये कवि अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवक्ता, साहसी और सत्यवादी थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे युगीन मिथ्याडम्बरों और धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन का दृढ़ शब्दों में खण्डन करने का तथा चिरन्तन सत्य के उद्‌घाटन का साहस कर सके।

यह ठीक है कि इन कवियों के पास काव्यालंकारमयी सुसंस्कृत भाषा नहीं थी, किन्तु जीवन-सत्य का निरन्तर अनुभव करने और अनुभूत सत्य की सहज अभिव्यक्ति करने वाले इन फक्कड़ संतों ने कविता के माध्यम से जो कुछ कहा वह सर्वथा काव्य-कला-हीन भी नहीं है। जिस साधारण और बोधगम्य भाषा को इन्होंने अपनाया था वह सीधी-सादी किन्तु लोकप्रिय जनभाषा थी तथा रूढ़ साहित्यिक भाषा की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक भी थी। यह भाषा ब्रज, भोजपुरी, अवधी, खड़ी बोली, पंजाबी, राजस्थानी आदि सभी बोलियों के अद्‌भुत समन्वय से बनी थी, जिसमें अपनी अनोखी मिठास और हृदयग्राहकता विद्यमान थी। वस्तुतः संत-काव्य, उनके मूल रचयिताओं द्वारा लिखा नहीं अपितु बोला गया था जिसे उनके परवर्ती शिष्यों-प्रशिष्यों ने लिपिबद्ध किया था। इन संतों के काव्य की लोकप्रियता और व्यापक प्रसार का मूलाधार इसकी लिपिबद्धता न होकर जनाश्रितता थी। इनकी सीधी और उल्टी 'बानी' ने भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, समता, मानव-प्रेम विश्वबन्धुत्व और शाश्वत-धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया और अवतारवाद, पूजा-सेवा, रोजा-नमाज, मन्दिर-मस्जिद, तीर्थ-व्रत, स्नान-ध्यान आदि बाह्याचारों का प्रबल विरोध करते हुए ईश्वर को सर्वसुलभ और सर्वसेव्य बनाने का शुभ कार्य किया।

**निर्गुण सूफी-सन्त काव्य या प्रेमाख्यानक काव्य :**

निर्गुण सन्त कवियों के साथ ही उस युग में निर्गुण प्रेमपरक एक दूसरी धारा भी प्रवाहित हो रही थी जिसे हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने प्रेमाश्रयी धारा के नाम से पुकारा है और उनके द्वारा रचित काव्य को 'प्रेमाख्यानक काव्य' की संज्ञा प्रदान की। आध्यात्मिक दृष्टि से सूफी-सम्प्रदाय के समर्थक इन प्रेमाख्यानकारों ने भारतीय हिन्दू जनता में लौकिक प्रेम-कथाओं को अलौकिकता से मण्डित कर अपने प्रबन्ध काव्य का मूलाधार बनाया। उन्होंने अपने काव्य में हिन्दुओं द्वारा स्वीकृत देवी-देवताओं का भी उल्लेख किया ताकि ये प्रेम-कथाएँ जनमानस द्वारा स्वीकार कर ली जाएँ। इन सूफी सन्त कवियों में जायसी, कुतुबन,

मञ्झन, उस्मान आदि विशेष प्रसिद्ध हुए। जायसी कृत—'पद्मावत' हिन्दी-साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति मानी जाती है।

प्रेमाख्यान परम्परा के कवियों ने मसनवी शैली में अपने काव्य की रचना की। इनकी काव्य भाषा भी सामान्य जनभाषा अवधी थी। इन्होंने लौकिक और अलौकिक कथाओं का समासोक्ति शैली में सहविन्यास किया। इनके काव्य में नायक (आत्मा), नायिका (परमात्मा) की प्राप्ति के लिये अत्यधिक व्याकुल रहता है। इस व्याकुलता में उसका (ईश्वर का) प्रेम ही एकमात्र सम्वल होता है और इसी 'प्रेम की पीर' के सहारे वह अनेकानेक बाधाओं (सांसारिक विपत्तियों और व्यवधानों) को पार कर अन्ततः उसको (चरम लक्ष्य ईश्वर को) प्राप्त कर ही लेता है।

शुद्ध प्रेम और मानवतावादी दृष्टिकोण से परिपूर्ण इन प्रेमाख्यानक काव्यों ने हिन्दू-मुस्लिम जनता में भावात्मक एकता और सौमनस्य उत्पन्न करने का मङ्गल-प्रयास किया तथा भाव और भाषा के धरातल पर काव्य को सर्वसुलभ और सर्वसंवेद्य बनाया। संक्षेप में सूफी सन्त-परम्परा का समस्त काव्य सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्तर पर अपने पूर्ववर्ती काव्य से सर्वथा भिन्न किन्तु जनमानस के निकट और सामाजिक आडम्बरों से मुक्त था।

**सगुण भक्ति-काव्य :**

सगुण-वैष्णव-भक्त-कवियों द्वारा प्रणीत साहित्य भक्तिकाल का श्रेष्ठतम साहित्य माना जाता है। वेदान्त पर आधारित वैष्णव-धर्म का वैशिष्ट्य समाज में अनेक रूपों में प्रतिविम्बित हुआ। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और उदार दृष्टि इस भक्ति की आधारशिला है। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है और समस्त मानव जाति के हृदय में भक्तिभाव जागृत करना भक्ति-काव्य का ध्येय रहा है। सगुणोपासक भक्त कवियों ने अपने काव्य में अन्य रसों के परिपाक के साथ ही भक्तिरस के परिपाक और इसकी स्थापना पर सर्वाधिक वल दिया। वस्तुतः राम और कृष्ण के शील, सौन्दर्य और शक्ति का जैसा रस पूर्ण साहित्यिक वर्णन इन भक्त कवियों ने किया है, वैसा न तो पहले हुआ था और न वाद में हो सका। जहां रामभक्त कवियों ने आराध्य के लोकरक्षक मर्यादापुरुषोत्तम रूप की प्रतिष्ठापना कर समाज को एक नई दिशा दी, वहां कृष्णभक्त कवियों ने अपने आराध्य के लोकरञ्जक रूप में सौन्दर्य और माधुर्य का अपूर्व सम्मिश्रण कर जनसामान्य की रागात्मिका वृत्ति का उदात्तीकरण किया।

**रामभक्ति-काव्य :**

रामकथा के अमर गायक गोस्वामी तुलसीदास रामाश्रयीशाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने आगम-निगम-पुराण और विविध शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया था। तत्कालीन समाज की नैतिक अधोगति, अवसाद, कुण्ठा, निराशा और दैन्यभावना को भलीभांति समझ कर उन्होंने उसका परिहार करने का दृढ़ सङ्कल्प किया और अपने काव्य के माध्यम से उन्होंने माता-पिता, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, भाई-वहिन, राजा-प्रजा आदि के बीच पारिवारिक और

सामाजिक सम्बन्धों का सुन्दर और प्रभावशाली वर्णन प्रस्तुत कर समाज में उनके आदर्श रूप को प्रतिष्ठित किया। लोक-मर्यादा की स्थापना से यह तुलसी का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। रामचरितमानस के अतिरिक्त उन्होंने ज्ञान-कर्म-भक्ति के त्रिविधयोग और समन्वय की दृष्टि से अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की। इनमें विनय-पत्रिका, कवितावली और गीतावली विशेष प्रसिद्ध हुईं। अपने उत्कृष्ट काव्य के माध्यम से तुलसी ने विविध मतमतान्तरों और सम्प्रदायों के विभेद और वैमनस्य को दूर कर उनमें एकत्व और सौमनस्य उत्पन्न करने का स्वस्थ और सुसंयत प्रयास किया। काव्य-रचना की दृष्टि से उन्होंने अपनी अनूठी प्रतिभा और तेजस्वी मेधा का सुष्ठु परिचय देते हुए तत्कालीन प्रचलित समस्त काव्य विधाओं का सुन्दर प्रयोग किया। महाकाव्य, मुक्तक, पदशैली, दोहा-चौपाई शैली, कवित्त-सवैया शैली आदि काव्यरूपों के बहुमुखी प्रयोग में जैसी सफलता तुलसीदास को मिली वैसी अद्यावधि अन्य किसी भी कवि को नहीं मिल सकी।

**कृष्ण-भक्ति-काव्य :**

कृष्ण की रागानुगा भक्ति के मधुर गीतों से ओत-प्रोत साहित्य का सर्जन करने वाले भक्त कवियों के मुख्यतः दो वर्ग हैं—सम्प्रदाय-बद्ध और दूसरा सम्प्रदाय-मुक्त। सम्प्रदाय-बद्ध कवियों में सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदास प्रभृति पुष्टिमार्गीय (वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित), राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश, हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक संगीत-मार्तण्ड हरिदास जी तथा गौड़ीय सम्प्रदाय के उन्नायक जीव गोस्वामी आदि कविगण मीरां के समकालीन थे। इन्होंने लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की आह्लादकारिणी लीलाओं का अपने सम्प्रदाय की मर्यादा के अनुकूल सुमधुर गायन किया। प्रभु के अनुग्रह को ही जीवन का एकमात्र ध्येय मानने वाले इन कवियों में सूरदास जी सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्होंने 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' आदि ग्रन्थ रचे जो हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि माने जाते हैं। परम ब्रह्म परमेश्वर से मानवीय रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उनकी प्रेममयी भक्ति का जो मार्ग इन्होंने अपनाया, वह परवर्ती साहित्य में भक्ति के अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हुआ।

भक्ति-भावना को सम्प्रदाय या मतमतान्तरों से सर्वथा असम्पृक्त रखते हुए तथा उसे वैयक्तिक साधना की चरम उपलब्धि के रूप में स्वीकार करते हुए काव्य-रचना करने वाले सम्प्रदायमुक्त कवियों में मीरां अग्रगण्य हैं। मीरां का काव्य अनन्य कृष्ण-प्रेम और कृष्ण-भक्ति समर्पित जीवन की अनुपम झांकी है। सामाजिक रूढ़ियों, मान-मर्यादा और संकीर्ण मान्यताओं को दृढ़तापूर्वक तोड़कर तथा साम्प्रदायिक भावनाओं से परे रहकर विनम्रता, पावनता और विशुद्ध प्रेम की सर्वोच्च भावनाओं का आचरण करने तथा निरन्तर आने वाली बाधाओं का डटकर सामना करने का जैसा उदाहरण मीरां ने प्रस्तुत किया, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

यद्यपि कृष्णभक्त कवियों ने प्रत्यक्षतः किसी सामाजिक संगठन या लोकादर्श

की प्रतिष्ठापना नहीं की थी, तथापि उन्होंने कृष्ण की लोकरंजनी लीलाओं का प्रेमपूर्वक गायन कर नैराश्य और दुःख से आक्रान्त जनमानस को सहजभक्ति का अपूर्व संदेश दिया और प्रेमाभक्ति के रूप में तापत्रयनाशक अमोघ अस्त्र प्रदान किया। सामाजिक उपलब्धि की दृष्टि से भले ही इनका काव्य रामकाव्य की तुलना में हल्का पड़ता हो, परन्तु साहित्यिक उपलब्धि की दृष्टि से यह काव्य निश्चय ही अद्वितीय है।

मीरां के युग की पूर्वोलिखित राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों को निष्कर्ष रूप में सारांशतः निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

—मीरां की समकालीन राजनीतिक स्थिति अत्यधिक अस्थिर और संघर्ष-पूर्ण थी। सुदृढ़ संगठन के अभाव में देश में बहुत छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे, जिन्हें कभी अपने अस्तित्व की रक्षा के निमित्त और कभी राज्य-विस्तार के लिये निरन्तर युद्ध में लगे रहना पड़ता था। फलतः प्रशासनिक सुव्यवस्था की ओर वे समुचित ध्यान नहीं दे पाते थे।

—निरन्तर युद्ध की ज्वालाओं से घिरे रहने के कारण जीवन बहुत ही अस्थायी और असुरक्षित हो गया था। जीवन के अस्थायित्व की भावना जहां एक ओर वैयक्तिक जीवन में अत्यधिक भोग-विलासों को प्रोत्साहन दे रही थी, वहां दूसरी ओर लूट-मार, छीना-झपटी, अपहरण, बलात्कार आदि दुष्प्रवृत्तियों को समाज में पनपा रही थी। नैतिक स्तर बहुत तेजी से गिरता जा रहा था।

—सामान्य जनता के जीवन पर इन दूषित स्थितियों का बहुत ही कुप्रभाव पड़ रहा था। उनका 'धन-जन' दोनों ही अरक्षित था। राज-कर्मचारी उन्हें चैन नहीं लेने देते थे और इनके खिलाफ कहीं कोई सुनवाई नहीं होती थी। फलतः इन्हें बहुत ही दबकर रहना पड़ता था। स्त्रियों की स्थिति तो सबसे अधिक दयनीय थी। सारी सामाजिक मान्यताओं को कठोरतापूर्वक निभाने के लिये वे बाध्य थीं। प्राचीन सामाजिक सुव्यवस्था अब कुव्यवस्था बन गई थी और नैतिक मान्यताएं विकृत और जटिल रूढ़ियों के रूप में प्रचलित थीं। समाज में सभी ओर अनिश्चितता, असंतोष और क्षुब्धता छाई हुई थी।

—विविध दार्शनिक मतवाद और धार्मिक पंथ-पंथान तथा सम्प्रदाय समाज में फैले हुए थे, जो जनता को सुख-शान्ति और एकत्व प्रदान करने का प्रयास कर रहे थे; परन्तु इससे जनता की दिग्भ्रान्ति और भी बढ़ गई थी।

—इन धार्मिक सम्प्रदायों ने साहित्य-सर्जन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया और बहुत ही उत्कृष्ट कोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। भक्त कवियों ने समत्व, सहअस्तित्व, मानवप्रेम और ईश्वर-भक्ति का सरस संदेश प्रदान किया।

## ख—युग-परिप्रेक्ष्य में मीरां :

गत पृष्ठों में हमने मीरां-युगीन परिस्थितियों पर विचार करते समय तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, और साहित्यिक स्थितियों

पर प्रकाश डालता है। मीरां के काव्य के दोनों पक्षों—कथ्य और शिल्प को निःसंदेह उनके युग की उपर्युक्त परिस्थितियों ने प्रभावित किया है। अकाल वैधव्य, पारिवारिक प्रताड़नाओं और जन्मजात संस्कारों ने जहां उन्हें दिव्य ईश्वरीय-प्रेम की ओर उन्मुख और प्रेरित किया, वहां सामाजिक बंधनों और लांछनों ने उन्हें विद्रोही बना दिया। विद्रोह का अग्रणी स्वर अभाव-जन्य न होकर प्रतिक्रिया-जन्य होता है, सगुण-भक्त-कवियों में मीरां के कंठ से प्रस्फुटित विद्रोह का एकाकी स्वर भी प्रतिक्रिया जन्य ही था। वह प्रतिक्रिया थी युग की अशान्त, असुरक्षापूर्ण और अस्थिर राजनीतिक स्थिति से उत्पन्न सामाजिक विषमता, संकीर्णता, संकुचितता और कुरीतियों के प्रति और साथ ही वह प्रतिक्रिया थी, राजन्य और सामंत वर्ग के वैभव-विलास तथा अधिकार-लिप्सा पूर्ण जीवन के प्रति। इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है कि मीरां ने समाज के बीच भक्ति का प्रसार करने में राज-प्रासाद की बंदिनी-कुल-वधू पर लगे सामाजिक मर्यादा के बंधनों को तोड़ा, राज-कुल और साधुकुल के बीच विस्तीर्ण विभेद के सागर पर समानता का सेतु-बंध किया। उनकी इस समतावादी दृष्टि पर इस्लाम के समतावाद का प्रभाव भी माना जा सकता है। धार्मिक क्षेत्र में भी किसी सम्प्रदाय विशेष से आबद्ध न होने के कारण, पूर्ववर्ती और समकालीन सभी धर्मों, सम्प्रदायों और मतों की मान्यताओं और साधना-पद्धतियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समन्वित प्रभाव मीरां पर पड़ा है। इसी कारण उनके काव्य में सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार, द्वैत और अद्वैत, प्रेम और योग-सब ऐसे एकरस होगये हैं कि उनका विभेद ही दृष्टिगोचर नहीं होता।

इन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्थितियों के प्रभावों-प्रतिक्रियाओं की ही नहीं, साहित्यिक स्थिति की भी छाया-प्रतिच्छाया मीरां पर पड़ी है। एक ओर उनके काव्य में कबीर, दादू आदि निर्गुण-कवियों के साधना-मार्ग का प्रभाव देखा जा सकता है तो दूसरी ओर सूर जैसे सगुणोपासक कृष्णभक्त कवियों के विनय, माधुर्य भाव, रूप-वर्णन और लीला-गायन की छाया भी। उनमें संत-कवियों के समान अनुभूत सत्य की सहजाभिव्यक्ति है; सामान्य, उदार, बोधगम्य भाषा है; तो सूफी-कवियों के समान लौकिक-अलौकिक का समन्वय और प्रेम की पीर भी है। मीरां में निस्संदेह तुलसी के समान व्यापक और उदात्त जीवन मूल्यों की स्थापना नहीं है, पर कृष्णभक्त-कवियों के समान आराध्य के प्रति उत्कट भक्ति-भावना तथा उन्हीं के सौंदर्य और माधुर्य के सहारे जनसामान्य की रागात्मिका वृत्ति का उदात्तीकरण अवश्य है। अन्य कृष्णभक्त-कवियों के समान ही मीरां ने भी परब्रह्म परमेश्वर से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर प्रेमाभक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। पर, फिर भी, मीरां अन्यान्य कृष्णभक्त-कवियों के समान पुष्टिमार्गीय, राधावल्लभीय, हरिदासी या गौड़ी सम्प्रदाय—किसी से भी आबद्ध या सम्बद्ध नहीं हुईं। वे सर्वथा सम्प्रदाय-मुक्त रहकर वैयक्तिक साधना-मार्ग पर ही चलती रहीं। उनका साधना-पथ प्रभावों और प्रतिक्रियाओं से उतना नहीं बना था, वे अपना पथ स्वयं थीं।

पर, इस शोध-प्रबन्ध में हमारा सम्बन्ध मीरां के साधना, भाव या कथ्य-पक्ष

से नहीं है। अतः युग की प्रभाव प्रतिक्रियाओं पर विचार करते समय भी हम कथ्य-पक्ष की अधिक चर्चा नहीं करेंगे। जहाँ तक भक्ति-काव्य की अभिव्यञ्जना-शैली के मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली पर पड़े प्रभाव का प्रश्न है, यहाँ पूर्वपीठिका के रूप में इतना कहना पर्याप्त होगा कि मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली, जिसका कि प्रतिपादन आगामी अध्यायों में किया जाएगा, भक्ति-काव्य में सामान्यतः उपलब्ध सरलता और सहजता के सात्त्विक सौंदर्य से अभिमण्डित है। समग्र भक्ति-काव्य के समान ही उनके काव्य का मूल आधार और प्रेरणा-स्रोत भी काव्यशास्त्र न होकर भक्ति भाव ही था, इसीलिए उसमें न पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है न चमत्कार-प्रदर्शन की। वहाँ काव्य-सर्जन आत्माभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। यही कारण है कि चाहे मीरां स्वयं अभिजात कुल की रही हों, उनके काव्य में आभिजात्य की चमचमाहट नहीं है। पर हाँ, उसमें अनुभूति का सहजात सौंदर्य अवश्य है, जो किसी मुकुट में विजड़ित मणि के समान नहीं, सांध्याकाश में चमक उठने वाले नक्षत्र के समान स्वतः प्रकाशित हो उठता है। अन्य भक्त-कवियों के काव्य के समान ही मीरां के काव्य में भी अलङ्कार, प्रतीक, बिम्ब, वक्रता, लक्षणा, व्यञ्जना, गेयता आदि सब कुछ है पर वे उनके भावोच्छल जलधि में वैसे ही छिपे-छिपे से लगते हैं जैसे कि सागर के तल में मोती।

युगीन काव्य-भाषा ब्रज-भाषा को उन्होंने भी अपनाया, पर राजस्थानी (मारवाड़ी) के साथ गौणतः। राजस्थानी के अतिरिक्त तत्कालीन जिन अन्य काव्य-भाषाओं का मीरां पर प्रभाव पड़ा, वे हैं—गुजराती, अवधी, पंजाबी आदि। इसके अतिरिक्त उस युग की काव्य-भाषा की प्रवृत्ति के अनुरूप ही मीरां की भाषा में भी तत्सम की अपेक्षा तद्भव एवं देशज शब्दों का बाहुल्य है। विदेशी-शासन के कारण अरबी और फारसी के कुछ शब्द भी उनकी भाषा में आगये हैं। काव्य-भाषा सामान्यतः मुहावरों और कहावतों की भाषा नहीं हुआ करती और भक्ति युग के काव्य में भी सामान्यतः यही स्थिति है, तथापि मीरां की भाषा में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अनेक मुहावरे और कुछ लोकोक्तियां मिल जाती हैं। अलंकार-प्रयोग भी मीरां में उसी मात्रा में और उसी प्रकार का है, जैसा कि भक्तियुगीन काव्य, विशेषतः कृष्णभक्ति-काव्य में दिखाई पड़ता है—अर्थात् अलंकारों का सहज स्वांभाविक और अनायास प्रयोग है और प्रयुक्त अलंकारों में मुख्यतः उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अनुप्रास आदि भी हैं। इसी प्रकार प्रसंगानुरूप अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों का प्रयोग उनमें मिल जाता है, इनमें भी व्यंजना अपेक्षाकृत अधिक है जैसा कि तद्युगीन काव्य में भी दिखाई पड़ता है। गुणों में काव्य-विषयानुरूप प्रसाद और माधुर्य गुण की प्रधानता पाई जाती है। कृष्ण-भक्ति-काव्य के समान मीरां में भी बिम्बात्मकता की प्रचुरता है। प्रतीकों का प्रयोग मीरां में अन्य भक्त कवियों की तुलना में विशेष है। छन्द-प्रयोग, मीरां में, कृष्ण-भक्त कवियों के सदृश ही, पद तक ही सीमित है, जो स्वानुभूति की विवृति और भक्ति के व्यापक प्रसार के लिए उपयुक्त माध्यम था। यों पद-शैली के अंतर्गत ही कुछ अन्य छंदों का सन्निवेश

भी मीरां द्वारा हुआ है। उनके इन गेय पदों में युग प्रवृत्ति के अनुरूप लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत का सुन्दर समन्वय हुआ है। दूसरी ओर मीरां के पदों में काव्य और संगीत का भी सुन्दर सामंजस्य हुआ है। इस सामंजस्य में भावानुकूल रागों के प्रयोग ने विशेष योगदान दिया है।

इस प्रकार समष्टि रूप से हम देखें तो लगेगा कि मीरां का कविरूप अपने युग की पृष्ठभूमि में उसी प्रकार उभरता और चमकता दिखाई पड़ता है, जिस प्रकार नीलाकाश के पटल पर एक ज्योतिर्मय नक्षत्र। वस्तुतः मीरां अपने युग की वीणा पर बज उठने वाला सबसे अधिक भावमय और करुणामय संगीत है, अभिव्यंजना के नुपुर जिसके प्रत्येक स्वर, लय और ताल पर स्वतः ही झंकृत हो उठते हैं।



# भूमिका

## क—अभिव्यञ्जना-शैली : सामान्य सैद्धान्तिक विवेचन :

गत पृष्ठों में हमने मीरां-युगीन विभिन्न परिस्थितियों का सिंहावलोकन किया है। पर, इसके पूर्व की हम तत्कालीन भक्ति-काव्य की अभिव्यञ्जना-शैली पर सामान्यतः और मीरां कि अभिव्यञ्जना-शैली पर विशेपतः विचार करें, अभिव्यञ्जना-शैली का सामान्य सैद्धान्तिक विवेचन कर लेना आवश्यक है।

प्रकृति और जगत् की विभिन्न स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुओं से परिचित होना तथा उनमें निहित सत्यों से अवगत होना मानव-चेतना का प्रमुख गुण है। अवगति आत्म-चेतना का अन्तरङ्ग धर्म है और अभिव्यक्ति उसका वहिर्मुख व्यापार है। अभिव्यक्ति के दो रूप होते हैं—एक आन्तरिक और दूसरा वाह्य। आन्तरिक अभिव्यक्ति सत्य का आत्मगत अनुभव है, वाह्य अभिव्यक्ति उस अनुभव का सामाजिक प्रकाशन या वितरण है। जव हम अपने अनुभव में भाग लेने के लिये दूसरों को आमन्त्रित करते हैं तव हमारी अवगति, अभिव्यक्ति का रूप लेने लगती है। सत्य का आलोक अभिव्यक्ति का आह्लाद वन कर जीवन के मुख पर खिल उठता है। सौन्दर्य के साथ सत्य के इसी समन्वय में साहित्य, कला, काव्य आदि का जन्म होता है। जिसे हम साधारणतः अभिव्यक्ति कहते हैं, वह इस मूल और आत्मगत अभिव्यक्ति का अनुवाद (वहिर्प्रसार) है। रूप, रङ्ग, रेखा, शव्द, स्वर आदि इस अनुवाद के माध्यम हैं।[1]

सामान्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति से कलाकार की अभिव्यक्ति कुछ विशिष्ट होती है। वहां दार्शनिक वस्तु-जगत् को साधन रूप में ग्रहण कर, उसके माध्यम से चिन्तन में लीन होकर, उसका (सत्य का) अन्वेषण करता है तथा वैज्ञानिक वस्तु-जगत् पर विजय की कामना से अभियान करता है, वहां कलाकार का अभीष्ट जगत् के पार देखना नहीं होता, वह तो सत्य की अभिव्यञ्जना वस्तु-जगत् के सम्पर्क में रह कर करना चाहता है। कलाकार का उद्देश्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं होता और न ही वह वस्तु-जगत् को सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिये माध्यम वनाता है। वह तो सत्य के साथ अपने अस्तित्व का तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उससे संलग्न हो जाता है, अर्थात् उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस सत्य की अनुभूति से अभिभूत हो उठता है। सत्य से तादात्म्य स्थापित करके तथा अपनी कल्पनाशक्ति के अपूर्व सौन्दर्य से प्रक्षालित और परिमार्जित करके, कलाकार उस सत्य को सर्वथा नूतन और आकर्षक रूप में अभिव्यक्त करता है। कलाकार की अभिव्यक्ति में उसका वैयक्तिक दृष्टिकोण ही प्रमुख होता है। 'मूलतः अभिव्यक्ति सृजनात्मक क्रिया के द्वारा उपादान का रूप-ग्रहण है। इस

---

1 डॉ. रामानन्द तिवारी : सत्यं शिवं सुन्दरम् (भाग 1)—पृ. 277

'रूप' में स्रष्टा का मनोगत भाव भी साकार होता है। यद्यपि सृजन-प्रक्रिया के आन्तरिक तत्त्वों का निर्माण वस्तु के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोणों पर आधृत रहता है तथापि वाह्य स्तर पर उसका सम्वन्ध अभिव्यञ्जना के विभिन्न तत्त्वों के साथ होता है।'[1] दूसरे शब्दों में, अभिव्यञ्जना में उपादान अथवा तत्त्व की अपेक्षा रूप अथवा आकार का अधिक महत्त्व है। कला और काव्य में इसी आकार को शैली की संज्ञा दी जाती है।

काव्य के अंतरंग पक्ष को भाव-पक्ष और वहिर्मुखी पक्ष को कला-पक्ष के नाम से अभिहित किया जाता है। कला-पक्ष के लिए हिन्दी में मुख्य रूप से तीन शब्द प्रचलित हैं—अभिव्यंजना, शिल्प और कला। प्रथम शब्द अंग्रेजी के 'एक्सप्रेशन', द्वितीय 'क्राफ्ट' और तृतीय 'आर्ट' का समानार्थी है। शैली शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द का समानार्थी है। प्रस्तुत प्रवन्ध का शीर्षक है—"मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली" अर्थात् मीरां की अभिव्यक्तिकरण की विशिष्ट पद्धति। मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली का विवेचन करने से पहले "अभिव्यञ्जना-शैली" के सामान्य स्वरूप और उसके तत्त्वों का विवेचन कर लेना उपयुक्त होगा।

**"अभिव्यञ्जना-शैली" का अर्थ**

"अभिव्यञ्जना-शैली" शब्द-अभिव्यञ्जना और शैली—दो शब्दों के योग से निर्मित है। हिन्दी में अभिव्यञ्जना शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'एक्सप्रेशन' के पर्याय के रूप में होता है। 'हिन्दी शब्द-सागर' में अभिव्यञ्जना शब्द का अर्थ क्रमशः मन के भावों का शब्दों में चित्रण या रूपविधान, प्राकट्य, अभिव्यक्ति, प्रकाश और विकास दिया गया है[2] तथा शैली शब्द का अर्थ क्रमशः चाल, ढंग, परिपाटी, प्रणाली, तरीका, रीति, लिखने का ढंग, वाक्य-रचना का प्रकार, विचारों या भावों को अभिव्यक्त करने की रीति या कौशल आदि वताया गया है।[3]

अभिव्यञ्जना शब्द के अंग्रेजी पर्याय 'एक्सप्रेशन' के विभिन्न अर्थों का उल्लेख तथा उनकी अर्थवत्ता का तुलनात्मक विश्लेषण करने के उपरान्त डा. सावित्री सिन्हा ने अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि—"विभिन्न प्रसंगों में अभिव्यञ्जना शब्द के विभिन्न अर्थ हैं जिनमें संदर्भ-सम्वन्धी पार्थक्य के विद्यमान रहते हुए भी, एक मूलगत ऐक्य है। प्रत्येक प्रसंग में अभिव्यञ्जना का अर्थ किसी न किसी रूप में व्यक्तीकरण की प्रक्रिया से सम्वद्ध है।"[4] इसी प्रकार 'शैली' शब्द के अंग्रेजी पर्याय 'स्टाइल' के विभिन्न अर्थों पर विचार करने के अनन्तर

1 डॉ. सावित्री सिन्हा : व्रजभाषा के कृष्ण भक्तिकाव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प, (भूमिका)—पृ. 2

2 हिन्दी शब्द-सागर, प्रथम-भाग (ना. प्र. स., नवीन संस्करण, सन् 1965) पृष्ठ 277

3 हिन्दी शब्द-सागर, नवम्-भाग (नवीन संस्करण सन् 1972), पृ, 4792

4 डा. सावित्री सिन्हा—व्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प,—पृ. 4

डा. गरणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि, " 'शैली' का मूल अर्थ 'लेखनी', क्रमशः विभिन्न अर्थों में विकसित होता हुआ, लेखक की विशेपता तक पहुँच गया; किन्तु अब इसका प्रयोग केवल लेखन के क्षेत्र में ही नहीं, कला-कौशल के अन्य क्षेत्रों में भी पद्धति-विशेप के लिये होता है।"[1]

## अभिव्यञ्जना के समानार्थक शब्द—

'अभिव्यंजना' के सजातीय मुख्य शब्द 'अभिव्यक्ति', 'शिल्प' और 'कला' हैं। 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है, एक-सामान्य-अभिव्यक्ति और दूसरा साहित्यिक अभिव्यक्ति।' सामान्य-अभिव्यक्ति में वक्ता का उद्देश्य मात्र भावों का आदान-प्रदान और कथ्य का यथातथ्य निरूपण होता है। इसमें पाठक के लिए भापा के अभिधेयार्थ या सामान्य अर्थ का ही ग्रहण अभीष्ट होता है। इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, आदि विषयक ज्ञान में तथा दर्शन और विज्ञान सम्बन्धी समस्त लेखों और वार्ताओं में सामान्य अभिव्यक्ति प्रमुख होती है। साहित्यिक-अभिव्यक्ति में विषय और शैली एक होकर पाठक को भी उसी भावभूमि पर ले जाते हैं जिस पर रचयिता काव्य-रचना करते समय प चा रहता है। रचयिता की भावभूमि तक पं चने के लिये पाठक को शब्दों के सामान्य अर्थों के साथ ही उनके विशिष्ट-अर्थों तक भी जाना पड़ता है, क्योंकि स.हित्यिक-अभिव्यक्ति में अभिधेयार्थ के साथ ही लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी अभीष्ट अर्थ का वोध कराने में सहायक होते हैं।'[2] यही रंजकतापूर्ण साहित्यिक-अभिव्यक्ति 'अभिव्यंजना' के नाम से अभिहित की जाती है। इस प्रकार अभिव्यञ्जना का तात्पर्य सामान्य-अभिव्यक्ति नहीं, अपितु विशिष्ट साहित्यिक-अभिव्यक्ति होता है। हमने 'अभिव्यञ्जना' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

'शिल्प' और 'कला' शब्द प्रारम्भिक काल में एक ही अर्थ 'कौशल' के पर्याय-रूप में ग्रहण किये जाते थे, किन्तु आधुनिक युग में इन दोनों में पर्याप्त अन्तर हो गया है। पाश्चात्य विद्वज्जन 'शिल्प' शब्द का झुकाव साधारणतः ऐसे भिन्न प्रकार के कौशल अथवा आविष्कार की ओर मानते हैं, जो सामग्री अथवा प्रविधि पर (शिल्पकार के) अधिकार तथा (द्रष्टा पर कृति के) अनुकरण और विश्लेपण-योग्य प्रभावों में अपने आपको व्यक्त करता है; जवकि 'कला' का झुकाव वे ऐसी महत्तर सर्जनात्मक शक्ति की ओर स्वीकार करते हैं, जिसमें वैयक्तिक कल्पना-चित्र की अभिव्यक्ति तथा ऐसे परिणामों को प्राप्त करने की क्षमता होती है, जो अनुकरण के विश्लेपण का तिरस्कार करते हैं।"[3] वस्तुतः शिल्प और कला में मूलभूत अन्तर यह है कि 'कला' जहाँ असीम और व्यापक भावात्मक तत्त्व है, वहाँ 'शिल्प' कला के रूपाकार के निर्माण की प्रक्रिया है तथा शिल्पकार के प्रविधिगत कौशल को द्योतित करती है। 'शिल्प' में प्रविधि

1 डा. गरणपतिचन्द्र गुप्त—साहित्य-शैली के सिद्धान्त, पृ. 17
2 डॉ. राज बुद्धि राजा : देव के काव्य में अभिव्यक्ति-विधान, पृ. 21
3 डा. महेन्द्रकुमार—रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्य-शिल्प, पृ. 5

पर अधिकार और उसका अनुकरण होने की सम्भावना रहती है तथा इसमें कलाकार की वैयक्तिक भावना पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं हो पाती। दूसरे शब्दों में शिल्प में प्रविधि का प्राधान्य रहता है और कला में वैयक्तिकता का।[1] परन्तु यह कहना भी अत्युक्ति होगी कि शिल्प में वैयक्तिक भावना का सर्वथा अभाव रहता है। वस्तुतः 'शिल्प' में प्रविधि पर अधिकार और उसका अनुकरण होने की सम्भावना अवश्य होती है पर उसके मूल में शिल्पकार की वैयक्तिक भावना की स्थिति को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार 'कला' में भी—प्रविधि, अनुकरण और विश्लेषण-क्षमता—ये सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं; कारण, यह स्थूलतः प्रकृति की अनुकृति ही हुआ करती है।[2] अतएव कहा जा सकता है कि अपने व्यापक अर्थ में शिल्प और कला के बीच कोई मौलिक भेद नहीं है। शिल्प और शैली के बीच अवश्य कुछ अन्तर है और वह यह है कि शिल्प से जहाँ कला-कौशल की, साज-संवार की प्रवृत्ति अधिक द्योतित होती है, वहाँ शैली व्यक्ति की मौलिक और विशिष्ट कार्य-पद्धति को संकेतिक करती है।

'कला' एक व्यापक शब्द है। केवल कला कहने पर समस्त ललित कलाओं और उनके उभय पक्षों का बोध होता है। यद्यपि चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला और मूर्तिकला की भाँति काव्य-रचना भी एक कला ही है, तथापि अन्य कलाओं की अपेक्षा यह (काव्य-कला) अधिक समृद्ध और सक्षम है। रूप और रङ्ग, स्वर और भाव, गति और भंगिमा, आकार और मुद्रा आदि जहाँ अन्य कलाओं में क्रमशः प्रमुख रहते हैं, वहाँ काव्य में शब्द-अर्थ के माध्यम से अनुकृति के लगभग सभी माध्यम सन्निविष्ट हो जाते हैं। कला जहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति की संश्लिष्ट इकाई है वहाँ अभिव्यञ्जना उसका वहिर्पक्षमात्र है। "अभिव्यञ्जना कला का रूप अवश्य है और यही रूप इसे संस्कृति के अन्य रूपों से पृथक् करता है, किन्तु यह (अभिव्यञ्जना) मार्ग और साधन है, लक्ष्य और साध्य नहीं। कला एक सामाजिक और सप्रयोजन धर्म है, एकान्त-साधना उसकी सफलता के लिये तपस्या है, किन्तु कला की सफलता और साधना की सार्थकता कला की प्रेषणीयता में है।"[3] और यही प्रेषणीयता अभिव्यञ्जना-शैली है, जिसमें माध्यम के विधान और रचयिता की अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। उनकी काव्य-रचना का ध्येय 'बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय' न होकर 'स्वान्तःसुखाय' अधिक होता है। अभिव्यञ्जना-कौशल जहाँ समाज-सापेक्ष है, वहाँ अभिव्यञ्जना-शैली व्यक्ति सापेक्ष है। यही इनमें मूलभूत अन्तर है।

### शैली के समानार्थक शब्द :

परम्परागत साहित्य के क्षेत्र में रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति आदि कुछ ऐसे शब्द प्रचलित हैं जो अर्थ की दृष्टि से 'शैली' के बहुत निकट पड़ते हैं। शैली के स्वरूप-बोध के लिये इन अर्थों का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

---

1 डॉ. महेन्द्रकुमार—रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्य-शिल्प, पृ. 5

2 वही, पृ. 6

3 डॉ. रामानन्द तिवारी—सत्यं शिवं सुन्दरम्, (भाग-प्रथम), पृ. 333

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के मतानुसार, 'व्यक्ति, विषय, भाषा एवं प्रयोजन के वैशिष्टय के अनुसार अभिव्यञ्जना-पद्धति में जो वैशिष्टय आ जाता है, वही शैली है,[1] और साहित्य-रचना की विधि, पद्धति, प्रणाली या उससे सम्बन्धित कोई विधान या नियम रीति है।'[2] उपर्युक्त मान्यता के अनुसार रीति और शैली दोनों ही कार्य-प्रणाली से सम्बन्धित हैं; परन्तु इनमें मूलभूत अन्तर सामान्यता और विशिष्टता का है। रीति और शैली में दूसरा अन्तर लक्ष्य एवं प्रयोजन से सम्बन्धित है। रीति का लक्ष्य सामान्यतः सम्बन्धित कार्य को पूर्ण, वैध एवं शुद्ध (परम्परावद्ध) रूप प्रदान करना होता है, जबकि शैली का लक्ष्य उन कार्यों में नवीनता, चमत्कार एवं विशिष्टता लाना होता है। रीति जहाँ शास्त्रीय मर्यादा की ओर उन्मुख होती है, वहाँ शैली स्वच्छन्दता की ओर अग्रसर होती है।[3]

जब कवि या लेखक परम्पराओं की शृंखला तोड़ते हुए अपना विशिष्ट मार्ग स्वयं निकालते हैं, तो वह मार्ग उनकी शैली कहलाता है और जब अन्य वहुत से लोग उस विशिष्ट मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं, तो वह मार्ग उन अनुकरणकर्ताओं के लिए रीति बन जाता है। प्रत्येक कवि जब विविध रीतियों को आत्मसात् कर उन्हें सर्वथा नूतन रूप में प्रस्तुत करता है, तो कवि के वैशिष्ट्य से युक्त होने के कारण वह प्रस्तुतीकरण उस कवि की शैली कहा जाता है। इसीलिए किसी कवि या कवयित्री की अभिव्यञ्जना-पद्धति के वैयक्तिक रूप को 'अभिव्यञ्जना-शैली' कहना ही उचित है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि रीति का विशिष्ट व्यवहृत रूप शैली है और विशिष्ट शैलियों के आधार पर निर्धारित उनका सामान्यरूप रीति है।

रीति के अतिरिक्त शैली के दूसरे समानार्थी शब्द वृत्ति और प्रवृत्ति है। यों तो वृत्ति के अनेक अर्थ हैं, परन्तु सामान्यतः इसका प्रयोग मन की विभिन्न स्थितियों के लिये (मनोवृत्ति) होता है[4] तथा 'प्रवृत्ति' का प्रयोग कार्य-विशेष की ओर अनुरक्त या आसक्त होने की क्रिया के लिये होता है[5] —यथा, संसारासक्त जीव के लिये प्रवृत्तिमार्गीय और अनासक्त जीव के लिये निवृत्तिमार्गीय का प्रयोग। इस प्रकार वृत्ति जहाँ सूक्ष्म और अंतरंग तत्त्व है, वहाँ प्रवृति स्थूल एवं वाह्य तत्त्व। वृत्ति व्यक्ति की मानसिक अवस्था को सूचित करती है तथा प्रवृत्ति उसके क्रिया-कलाप एवं व्यवहार की उस विशिष्टता को, जो किसी वृत्ति या मनोवृत्ति की सूचक हो।

इस दृष्टि से रीति की अपेक्षा प्रवृत्ति शैली के अधिक निकट है क्योंकि रीति का प्रेरक विषय होता है, जबकि प्रवृत्ति का प्रेरक व्यक्ति होता है। प्रवृत्ति और शैली में यह अन्तर है कि प्रवृत्ति जहाँ कवि या रचयिता की किसी

1 डा. गणपतिचन्द्र गुप्त—साहित्यशैली के सिद्धान्त, पृ. 24
2 वही, पृ. 26
3 वही, पृ. 28
4 संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर (ना. प्र. सं., सप्तम संस्करण) पृ. 927
5 वही, पृ. 671

एक विशिष्टता को सूचित करती है, वहाँ शैली के अन्तर्गत व्यक्ति की अभिव्यञ्जनागत समस्त विशिष्टताएँ एवं प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं।[1] प्रवृत्ति यदि एक प्रस्तरखण्ड है, तो शैली प्रस्तरखण्डों से निर्मित प्रतिमा। अतः कवि की अभिव्यञ्जनागत विशिष्टताओं को पूर्णतः द्योतित करने के लिये रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति की अपेक्षा 'शैली' का प्रयोग ही उपयुक्त है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए मीरांबाई के पदों की अभिव्यंजनागत विशिष्टता को सूचित करने के लिए शिल्प, कला, रीति आदि शब्दों की अपेक्षा 'शैली' का प्रयोग ही अधिक सार्थक और औचित्यपूर्ण है।

## अभिव्यञ्जना-शैली को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व :

'अभिव्यञ्जना-शैली' शब्द के अर्थगत विश्लेषण के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि 'अभिव्यंजना-शैली' कवि की आत्मानुभूति के व्यक्तीकरण की सचेतन प्रक्रिया है, जिसमें कवि के व्यक्तित्व की छाप रहती है। कवि की अभिव्यंजना-शैली को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

1—कवि का व्यक्तित्व, 2—बाह्य तत्त्व

**कवि का व्यक्तित्व :**

'व्यक्तित्व' व्यक्ति की भाववाचक संज्ञा है, अतः व्यक्ति में जिन-जिन गुणों और विशेषताओं का सन्निवेश होता है, वे सब व्यक्तित्व के अन्तर्गत ली जा सकती हैं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के निजी विशिष्ट गुण ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इन गुणों के न्यूनाधिक्य से ही शैली में व्यक्तित्व का कोई पक्ष अत्यधिक जाज्वल्यमान हो उठता है, तो कोई पक्ष धूमिल हो जाता है।

सामान्यतः व्यक्तित्व के दो पक्ष माने जाते हैं—

अ—शारीरिक पक्ष, और आ—मानसिक पक्ष।

**अ—शारीरिक पक्ष या बहिर्व्यक्तित्व—**

कवि के बहिर्व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसकी वेश-भूषा, रहन-सहन, रूप-रंग, इन्द्रिय-बोध की क्षमता, अंग-प्रत्यंग की पूर्णता तथा उसकी जाति व लिंग (स्त्रीलिंग या पुल्लिङ्ग) आदि प्रधान होते हैं। यद्यपि विद्वज्जनों ने कवि के इस पक्ष की उपेक्षा की है (उनके अनुसार यह तत्त्व शैली को प्रभावित नहीं करता है) पर वस्तुतः किसी भी ऐसी शारीरिक-न्यूनता या विशेषता का, जिसका कि कवि की कल्पनाशक्ति तथा अनुभूति से सम्बन्ध है, शैली पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा, यह बात दूसरी है कि यह प्रभाव इतना अल्प और सूक्ष्म हो कि सामान्य दृष्टि से देखने पर परिलक्षित न हो सके।

मीरां की अभिव्यंजना-शैली पर, प्रथम तो उनके नारी होने का ही प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, दूसरे उनके जीवन की सात्विकता, सहजता, और आडम्बरहीनता का प्रभाव भी उनके पदों में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

---

1 डा. गणपतिचन्द्र गुप्त— साहित्य-शैली के सिद्धान्त, पृ. 35

आ—मानसिक पक्ष या आंतरिक व्यक्तित्व—

कवि के आभ्यंतरिक व्यक्तित्व के तीन पक्ष हैं—

(1) बौद्धिक पक्ष, (2) हृदय पक्ष या भावात्मक पक्ष (3) चारित्रिक पक्ष

(1) बौद्धिक पक्ष—

विवेक-बुद्धि, स्मरणशक्ति, ज्ञान-तर्क एवं चिन्तन-शक्ति आदि की प्रधानता से व्यक्तित्व का निर्माण होता है।[1] प्रत्येक व्यक्ति साहित्य-रचना में इन्हीं बौद्धिक शक्तियों का उपयोग करता है। साहित्य में प्रयुक्त भाषा का व्यक्ति की ग्रहण-शक्ति से, प्रयुक्त तथ्यों का स्मरणशक्ति से, विभिन्न दृश्यों, परिस्थितियों एवं घटनाओं के वर्णन, चित्रण, प्रतिविम्बन, और अलंकरण का कवि की कल्पना-शक्ति से तथा सत्य-निरूपण और नवीन विचारों के प्रतिपादन का उसकी चिन्तन-शक्ति से गहरा सम्बन्ध होता है।

यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि ये शक्तियां सभी व्यक्तियों में समान मात्रा में तथा एक ही अनुपात में नहीं होती। इन शक्तियों का न्यूनत्व-आधिक्य ही व्यक्ति-विशेष की शैली को अन्य व्यक्तियों से पृथकता प्रदान करता है। यही कारण है कि एक ही युग के, एक ही धारा के दो कवियों की अभिव्यञ्जना-शैली एक सी नहीं होती, उनमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है।

उपर्युक्त बौद्धिक शक्तियों में से कुछ का सम्बन्ध विषय-वस्तु से अधिक रहता है, तो कुछ का शैली से। यथा—स्मरण-शक्ति एवं चिन्तन-शक्ति रचना की विषय-वस्तु को अधिक प्रभावित करती हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य एवं विचार विषय-वस्तु की संघटना करते हैं। शैली को अधिक प्रभावकारी और आकर्षक रूप प्रदान करने का सर्वाधिक श्रेय ग्रहणशक्ति और कल्पनाशक्ति को है। कल्पनाशक्ति जहाँ काव्य में नवनवोद्‌भावना को जन्म देती है, वहाँ ग्रहणशक्ति वस्तु के प्रति लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण को व्यक्त करती है। ग्रहणशक्ति के अन्तर के कारण ही दो कवियों की भाषा-शैली के घटक तत्त्वों—शब्दावली, अर्थ-शक्ति, व्याकरण, मुहावरे आदि में तथा कल्पनाशक्ति के अन्तर के कारण, भाषा के सौंदर्य-विधायक तत्त्वों—विम्व-विधान, अलंकार-योजना, व्यंग्यात्मकता, प्रतीक-नियोजन आदि में अन्तर आ जाता है। इसका (बौद्धिक-पक्ष का) प्रत्यक्ष प्रभाव अभिव्यंजना-शैली पर पड़ता है, जिसे किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(2. हृदयपक्ष या भावात्मक पक्ष –

कवि के व्यक्तित्व के भावात्मक पक्ष का भी उसकी शैली पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। भाव-पक्ष काव्य के अभिव्यञ्जना पक्ष को जीवन-शक्ति प्रदान करता है। देह में जो स्थान प्राणों का है, काव्य में वही स्थान भाव का है। मनोविज्ञान के अनुसार भावात्मक पक्ष के अन्तर्गत व्यक्ति की अनुभूति, संवेदना,

1 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त—साहित्य-विज्ञान (प्रथम संस्करण—सन् 1964) पृ. 233

मनःस्थिति, मनावेग, भावना आदि भावात्मक प्रवृत्तियों को लिया जा सकता है। साहित्य में प्रस्तुत तथ्य, विचार, दृश्य आदि यदि भावानुभूति से संवलित न हों, तो उनमें वह आकर्षण-क्षमता और रसात्मकता नहीं आ पाती है, जो एक साहित्यिक कृति के लिये अपेक्षित होती है। यद्यपि भाव-पक्ष का सम्बन्ध काव्य के विषय-पक्ष से अधिक है, तथापि इनका प्रभाव लेखक या कवि की शैली पर भी पड़ता है। मन के करुणा, प्रेम, क्रोध, आदि विविध भाव जहाँ एक ओर काव्य की विषय-वस्तु की सामग्री जुटाते हैं, वहाँ दूसरी ओर कवि की वाणी एवं उसकी गति को भी तीव्रता प्रदान करते हैं। मन की सामान्य अवस्था में व्यक्ति की वाणी बहुत ही शांत और संयत रहती है, परन्तु भावाकुल अवस्था में वह सुतीव्र तथा मर्मस्पर्शी हो जाती है, उसमें एक विशिष्टता आ जाती है, जो सर्वथा मौलिक होती है और कवि की निजी अनुभूतियों को सहज अभिव्यक्ति प्रदान करती है। अतः भावात्मक संवेदनशीलता का, अनुभूति की व्यापकता एवं गहनता के अनुसार, शैली पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। भावात्मकता काव्य को सहजतम रसात्मकता एवं ग्राह्यता प्रदान करती है। इसके अभाव में जो कविगण मात्र चमत्कार या कौशल के प्रदर्शन के लिए बिम्ब, अलंकार, प्रतीक आदि का प्रयोग करते हैं, उनके काव्य में एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है। ऐसे शिल्प-प्रधान काव्य क्षणिक सुख भले ही दे जायं, स्थाई आनन्द नहीं दे पाते। आचार्य कवि केशव के शिल्प-प्रधान काव्य की अपेक्षा मीरां के भावप्रधान काव्य के अत्यधिक लोकप्रिय होने का सबसे बड़ा कारण यही भाव-संवलता है। अतः कवि-व्यक्तित्व का यह पक्ष भी कवि की काव्य-शैली पर पर्याप्त प्रभाव डालता है।

**(3) चारित्रिक पक्ष :**

भावात्मक पक्ष के साथ ही कवि के चारित्रिक गुणों का भी उसकी शैली पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। कवि की प्रकृति यदि शान्त और गम्भीर हो, तो उसकी रचना में भी सुस्थिरता और गम्भीरता दृष्टिगोचर होती है। कोमल और मृदुल स्वभाव के कवि की शब्दावली भी कोमल और मसृण होगी। सरल और निष्कपट स्वभाव वाले काव्यकार का काव्य उसके इन नैसर्गिक गुणों से युक्त होगा। सात्विक और संयत व्यक्ति की रचना-शैली में भी उसके ये गुण स्पष्ट प्रतिभासित होंगे। इसी प्रकार अलङ्करणीय व्यक्ति की काव्य-भाषा जहां अलङ्कारों से लदी होगी वहां अलङ्कार के आकर्षण-जाल से मुक्त हो गये व्यक्ति की भाषा भी उसकी (रचनाकार की) प्रवृत्ति के अनुसार अलङ्कारविहीन तथा उन्मुक्त होगी। वस्तुतः कवि अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार ही शैली का चुनाव करता है, यथा—मर्यादाप्रिय तुलसी का प्रबन्ध-काव्य काव्य-मर्यादा के सभी नियमों का यथोचित पालन करता है, तो प्रेम-दीवानी मीरां का काव्य स्वच्छन्द तथा मुक्तरूप से प्रस्फुटित होता है। इसीलिए तुलसी जहां रामचरितमानस-सदृश प्रबन्ध-काव्य की मर्यादानुकूल रचना कर गये, वहां मीरां ने अपने भाव, मुक्तक रूप में, पदगीतियों के माध्यम से व्यक्त किये। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि कवि के व्यक्तित्व के—प्राकृतिक, स्वाभाविक, बौद्धिक, चारित्रिक और हार्दिक आदि—विविध पक्ष उसकी अभिव्यञ्जना-शैली को प्रत्यक्षतः और परोक्षतः

न्यूनाधिक रूप में प्रभावित अवश्य करते हैं तथा उसे (शैली को)
प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

2. वाह्य तत्त्व

(क) कवि का प्रतिपाद्य—

कवि के व्यक्तित्व के अनन्तर उसकी अभिव्यञ्जना-शैली व
वाला दूसरा तत्त्व उसका प्रतिपाद्य—विषय है। जिस प्रकार व
से शैली में व्यक्ति-वैशिष्ट्य का संचार होता है, उसी प्रकार के
(काव्य में) विषय-वैशिष्ट्य का प्रादुर्भाव होता है। ये दोनों विि
वाधक या विरोधी नहीं हैं, अपितु इन दोनों की सत्ता शैली में सा
रूप में रहती है। जहां कभी एक ही व्यक्ति विभिन्न विषयों के प्रति
शैलियों का प्रयोग करता है, वहां कभी एक ही विषय को विभि
भिन्न शैलियों में या कभी-कभी एक ही शैली में भी अभिव्यञ्जित
कुल मिलाकर उन सब की शैली एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न रहती है।

सामान्यतः विभिन्न प्रकार के वर्ण्य विषयों के प्रतिपादन के f
शैलियां प्रयुक्त की जाती हैं। जैसे-दृश्यों के प्रसंग में वर्णनात्मकता,
में चित्रणात्मकता, विचारों के प्रसंग में विवेचनात्मकता, कार्य एव
प्रसंग में विवरणात्मकता, परिस्थितियों के प्रसंग में व्याख्यात्मकता
प्रसंग में भावात्मकता का अल्पाधिक मात्रा में समावेश प्रायः सभी का
में सहज ही हो जाता है।

प्रतिपाद्य विषय की प्रकृति के अनुसार जहां लेखक को
चित्रणात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक आदि शैलियां अपनानी पड़
लेखक (कवि) की भाषा पर भी इनका सहज प्रभाव पड़ता है। जहां
का सैद्धान्तिक प्रतिपादन करता है वहां उसकी भाषा समासमयी और
जाती है, और जहां वह अपने मन के भावों का अभिव्यञ्जन करता है
भाषा सर्वथा आकर्षक रूप धारण कर लेती है। क्रोध और उत्साह
कवि की भाषा ओजगुणयुक्त हो जाती है तो प्रेम और करुणा
माधुर्यगुणयुक्त होकर नितान्त कमनीय, मधुर, रहस्यमयी और ह
वन जाती है, ऐसे ही, सामान्य वर्णनों तथा शांत व निर्वेद के भावों क
होने पर वह सरल, सुस्पष्ट और प्रसादमयी हो जाती है। इस प्रकार ह
कि प्रतिपाद्य विषय की गुणवत्ता भी कवि की शैली को प्रभावित करती है

(ख) काव्य रचना का प्रयोजन—

यद्यपि यह तत्व काव्य के प्रतिपाद्य से अधिक सम्वन्धित है, तथा
प्रभाव कवि की अभिव्यञ्जना-शैली पर भी अवश्य ही पड़ता है। आचा
ने जो काव्य-प्रयोजन[1] वताये हैं, वे किसी न किसी रूप में काव्य-शैली व

---

1 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥'
—काव्य प्रकाशः : प्रथमोल्लास, द्वितीय कारिका (डॉ. नगेन्द्र-सम्पादित,
संस्करण, पृ. 1(

प्रभावित करते हैं। यथा—यशलाभ की इच्छा करने वाले कविगण अवश्य ही ऐसी सरल और आकर्षक शैली का प्रयोग करेंगे, जो अधिकाधिक लोगों को प्रभावित कर उनकी (कवि की) कीर्ति और यश को बढ़ाने में सहायक होगी। उनकी शैली ऐसी प्रभावपूर्ण सरल और अर्थगर्भित होगी कि सामान्य और विशिष्ट दोनों वर्गों के लोगों को आह्लाद प्रदान कर सके, परन्तु काव्य द्वारा धनलाभ की इच्छा करने वाले कविगण की रचनाशैली में चमत्कृति, आलंकारिकता तथा पाण्डित्यपूर्ण कौशल का सहज ही समावेश हो जायेगा। उनकी रचना सर्वसाधारण की अपेक्षा विशिष्ट वर्ग के लोगों द्वारा ही समझी और सराही जायेगी, क्योंकि अपनी क्लिष्टता व पाण्डित्य-प्रदर्शनात्मकता के कारण वह सामान्य जन के लिए दुर्बोध और अग्राह्य होगी। इसके विपरीत जब काव्यरचना का मुख्य प्रयोजन लोक-व्यवहार का ज्ञान कराना या उपदेश देना होगा, तो शैली भी सरल, सुस्पष्ट और कुछ सीमा तक नीरस हो जायेगी। वैसे यह काव्यकार की काव्य-क्षमता पर भी निर्भर है कि वह अपने उपदेशों को रूखी और सामान्य शैली में व्यक्त करे या फिर बहुत ही मृदुलता, सरसता तथा चतुरता के साथ आकर्षक शैली में प्रस्तुत करे; फिर भी पारदर्शक स्पष्टता, सुबोधता व ऋजुता उपदेशात्मक शैली के अनिवार्य गुण हैं।

जब कवि का प्रयोजन काव्य-रचना द्वारा स्व या पर—अमंगल का क्षय करना व ऐसी परिस्थितियों से मुक्त कराना होगा तो अवश्य ही उसकी शैली में कातरता व दीनता का पुट आ जायेगा; परन्तु जब रचनाकार का उद्देश्य ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करना होगा तो उसकी शैली भी बाह्य आडम्बरों से विहीन और भक्तिभाव तथा दिव्य आह्लादकता से ओत-प्रोत होकर अपूर्व रसमयी हो जायेगी। इसमें निष्कपटता, सरलता, सहजता तथा संयतता आदि गुणों को स्पष्टतः देखा जा सकता है और जब कवि का प्रयोजन पाठक का रञ्जन करते हुए उसे व्यंग्यात्मक रूप में उपदेश देना अर्थात् कान्ता-सम्मित उपदेश देना होता है तब उसकी शैली में अनूठी मादकता, सरल व्यंग्यात्मकता तथा मनोहारिणी प्रभविष्णुता स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली में चमत्कारिता, अलङ्कारिता, रहस्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, अर्थ-दुर्बोधता या सुबोधता, सहजता, सरलता, रसात्मकता, भावात्मकता तथा व्यंग्यात्मकता आदि के आगमन का एक प्रमुख कारण उसका काव्य-प्रयोजन भी हो जाता है।

**(ग) युगीन परिस्थितियां और परिवेश—**

यद्यपि युगीन परिस्थितियां और परिवेश कवि की अभिव्यञ्जना-शैली को प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं करते हैं, परन्तु उसकी विचारधारा तथा चिन्तनप्रक्रिया को अवश्य ही प्रभावित करते हैं। उनका प्रभाव शनैः-शनैः कवि की जीवनधारा व विचारशक्ति को प्रभावित करता है और कभी-कभी तो एक छोटी सी घटना जीवन की सम्पूर्ण धारा को आश्चर्यजनक मोड़ दे देती है और कवि की समस्त मान्यताएँ व धारणाएँ एक नई दिशा में नया रूप धारण कर बढ़ने लगती हैं।

वस्तुतः युगीन परिस्थितियों, और चतुर्दिक परिवेश का प्रभाव कवि के अवचेतन मानस में जाकर बैठ जाता है, फिर कालान्तर में उसके संस्कार का रूप

धारण कर लेता है। कवि के जन्मजात संस्कार और संसर्गजन्य संस्कारों का अपूर्व मिश्रण कवि की अभिव्यक्तियों में सर्वथा नूतन रूप में प्रस्फुटित होता है और कवि की शैली को नये आयाम प्रदान करता है। वास्तव में कवि की विचारणशक्ति को उद्दीप्त और प्रखर बनाने में इन परिस्थितियों और परिवेश का महत्त्वपूर्ण योग रहता है परन्तु ये तत्त्व कवि की शैली को अप्रत्यक्षरूप से प्रभावित अवश्य करते हैं।

(घ) साहित्यिक-परम्परा—

कवि की समकालीन और पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा भी उसकी शैली पर यथेष्ट प्रभाव डालती है। विशेषत: तत्कालीन साहित्य में भावाभिव्यक्ति की जो विधा सर्वप्रचलित और आकर्षक होती है, कवि सहज ही उसे अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बना लेता है। यही कारण है कि भक्तिकाल में जहां प्रबन्धात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार की काव्यशैलियां प्रयुक्त होती थीं, वहाँ रीतिकाल में मुक्तक का ही प्रयोग अधिक होने लगा था। भक्तिकाल में काव्य-रचना की विविध पद्धतियाँ प्रचलित होते हुए भी प्रबन्ध-काव्य के लिये दोहा-चौपाई-शैली और मुक्तक-काव्य के लिये पद-शैली सर्वाधिक प्रचलित थी, इसी कारण तत्कालीन कृष्णभक्त-कवियों ने जयदेव, विद्यापति प्रभृति पूर्ववर्ती साहित्यकारों की पदशैली-परम्परा को अपनाया तथा उसे और भी समृद्ध बनाया। प्राय: समस्त कृष्ण-भक्त कवियों की शैली में अलंकारों का सहज प्रयोग तथा निराडम्बरपूर्ण रसात्मकता और भावप्रावणता का अद्वितीय संयोजन स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

ऐसे ही रीतिकालीन कवियों की शैली में अलंकरण की सहज प्रवृत्ति मिलती है तथा कविता और सवैया ही इस युग में प्रमुख छन्दशैली के रूप में सर्वमान्य व सर्वगृहीत थे।

साहित्यिक परम्परा का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है कवि की भाषा पर। भाषा चूंकि आत्माभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम है तथा कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों को संवहन तथा सम्प्रेषित करने का एकमात्र साधन है, इसलिए भाषा को अभिव्यञ्जना-शैली का मूलाधार माना जा सकता है। भाषा में निहित विविध तत्वों के आधार पर ही कवि की अभिव्यञ्जना-शैली का रूप निश्चित और निर्णित किया जाता है।

**अभिव्यञ्जना-शैली के विविध तत्त्व :**

यद्यपि अभिव्यञ्जना-शैली के तत्त्वों के निर्धारण के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, तथापि इतना तो निश्चित ही है कि भाषा और शैली में निहित विविध तत्त्वों तथा उसके विविध पक्षों के आधार पर ही अभिव्यञ्जना-शैली का तात्त्विक विवेचन किया जाता है। भाषाविज्ञान के अनुसार भाषा की रूप-रचना प्रमुखत: चार तत्वों के आधार पर होती है। ये तत्त्व हैं-ध्वनि, शब्द-रूप, अर्थ और वाक्य-रचना। इन तत्त्वों के अपने-अपने गुण हैं जो न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट हो कवि की अभिव्यञ्जना-शैली का निर्माण करते हैं। ध्वनि-तत्त्व में चूंकि मात्रा तथा बलाघात का गुण रहता है, अत: इसका समावेश काव्य में लय और संगीत की सृष्टि करता है तथा काव्य को ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों से मंडित

रचना द्वारा अभिव्यञ्जना-शैली के छन्द एवं संगीत तत्त्व का निर्माण करता है। शब्द-रूपों के विशेष संयोजन द्वारा काव्य में विभिन्न वृत्तियों एवं शब्दालंकारों की योजना की जाती है तथा अर्थतत्त्व की विशिष्टता भाषा में विविध अर्थालंकारों, लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक प्रयोगों, प्रतीकों तथा बिम्बों की सुष्ठु आयोजना करती है। इसी प्रकार वाक्य-रचना के वैशिष्ट्य से काव्य में क्रम, संघटना तथा छन्दोबद्धता आदि का संयोजन होता है। सामान्यतः यही तत्त्व अभिव्यञ्जना-शैली का निर्माण करते हैं, अतः अभिव्यञ्जना-शैली के तत्त्वों के रूप में प्रायः इन्हीं का विवेचन किया गया आधार लिया जाता है। अभिव्यञ्जना-शैली के जिन तत्त्वों को हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में स्वीकार किया है तथा जिनके आधार पर मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली का विवेचन किया है, वे निम्नांकित हैं—

1 भाषा
2 शब्दशक्तियां
2 उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-योजना
4 प्रतीक-प्रयोग
5 बिम्ब-विधान
6 छन्द-योजना
7 संगीत-सौष्ठव

प्रथम अध्याय में क्रमशः उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली का केवल विश्लेषण ही नहीं किया गया है, वरन् उन तत्त्वों के प्रयोगात्मक व्यवहार के पूर्व उनका सैद्धान्तिक निरूपण भी किया गया है, अतः उपर्युक्त तत्त्वों का सैद्धांतिक विवेचन हम यहां नहीं करेंगे। यहां हम फिलहाल आगामी पृष्ठों में भक्ति-काव्य की अभिव्यञ्जना-शैली के सामान्य स्वरूप पर विचार करेंगे।

## ख—भक्तिकाव्य की अभिव्यञ्जना-शैली का सामान्य स्वरूप :

भक्ति-काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत काव्यशास्त्र न होकर भक्तिभाव ही था और भक्त-कवियों ने मात्र चमत्कार-प्रदर्शन या पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए कविकर्म नहीं अपनाया था, अपितु उन्होंने अपने महदुद्देश्य की पूर्ति के लिये काव्य को एक माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया था, फिर भी उनका काव्य, काव्य-शिल्प की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। भक्तिकाव्य अभिव्यञ्जना की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण देन है—शुद्ध भावनाओं और स्वानुभूत सत्यों की सहज, निश्छल और मार्मिक अभिव्यक्ति, जो सीधे हृदय से निकल कर हृदय तक अबाध रूप से प च जाती है। भावाभिव्यञ्जना की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट होते हुए भी, कुछेक संत कवियों के काव्य को छोड़कर, राम-कृष्ण परम्परा के सभी कवियों का काव्य, काव्य-कलाभिव्यञ्जना की दृष्टि से भी श्रेष्ठ है। तुलसी, सूर, नन्ददास प्रभृति कवियों को काव्यशास्त्र का भी सम्यक् ज्ञान था और उसका प्रयोग उनके काव्य में सुस्पष्ट है। यद्यपि इन कवियों ने उत्तरमध्यकालीन रीति-कवियों के सदृश छन्द-अलंकार आदि काव्यतत्त्वों का ध्यान नहीं रखा है, तथापि उनके काव्य को इन छन्दअलंकारादि तत्त्वों से रहित भी नहीं कहा जा सकता। 'तुलसी और सूर के काव्य में अप्रस्तुत-विधान

का सौन्दर्य पूर्णरूपेण निखरा हुआ है। शायद ही कोई अलंकार उनके काव्य में आने से रह गया होगा। रस, रीति वक्रोक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का प्रयोग इन कवियों ने जिस सहजता से किया है वैसी सहजता के साथ रीतिकालीन कवि भी नहीं कर सके।'[1]

कृष्णभक्तिकाव्य तो वास्तव में भगवान को रिझाने के लिये ही गेय शैली में लिखा गया था। परन्तु पद, लय, स्वर, ताल, गति आदि से परिपूर्ण संगीत-सम्मत गेयपद शैली का जैसा उत्कृष्ट और चित्ताकर्षक रूप इन भक्त कवियों ने प्रस्तुत किया वैसा किसी और काल में उपलब्ध नहीं होता। इन्हीं की वाग्गेय परम्परा को परवर्ती कवियो और गायकों ने अपनाया, परन्तु वह चीज पैदा न कर सके। श्रीमती सावित्री सिन्हा के शब्दों में हम कह सकते हैं—

'कृष्णभक्त कवियों की कलाचेतना साधारण अनुमान से कहीं अधिक जागरूक थी। ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्तिकाव्य की दीर्घकालीन अजस्र परम्परा में जिन कवियों ने योग दिया, उनका काव्य-कला के सूक्ष्मतम उपकरणों और शैलियों से पूर्ण परिचय था। काव्य-अभिव्यञ्जना के प्रत्येक अंग में उनका एक निश्चित योग है। परम्परा का आधार ग्रहण कर युग-प्रभाव का उसके साथ समन्वय करके उन्होंने काव्य-अभिव्यञ्जना के विभिन्न अंगों का परिष्कार किया तथा नये मानकों की स्थापना की।'[1]

भक्तिकाव्य की अभिव्यञ्जना-शैली के इस सामान्य परिचय के पश्चात् अब हम आगामी पंक्तियों में इस युग के काव्य की अभिव्यञ्जना-शैली के सामान्य स्वरूप को उसके विभिन्न तत्त्वों के आधार पर देखेंगे।

1 भाषा एवं शब्द प्रयोग—

भक्तिकालीन कवियों ने भाषा व शब्द प्रयोग की दृष्टि से क्रान्तिकारी कदम उठाये। उन्होंने परम्परागत साहित्यिकभाषा— संस्कृत का परित्याग कर जनभाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। फलतः ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, बंगला आदि बोलियां परिशोधित व परिमार्जित हो कर साहित्यिक भाषा के पद पर अधिष्ठित हुईं। कृष्ण-भक्त कवियों की काव्यभाषा बनने का सौभाग्य ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ। तत्कालीन कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा को इतनी मधुरता, प्रांजलता और सशक्तता प्रदान की कि आगामी चार शताब्दियों तक वह प्रमुख साहित्यिक काव्य-भाषा के पद पर आसीन रही। सूरदास पहले कवि थे जिन्होंने ब्रजभाषा को इतना परिष्कृत व उत्कृष्ट रूप प्रदान किया। इनके अनन्तर अन्य कवियों का स्थान आता है। ऐसे ही गो. तुलसीदास ने अवधी बोली में 'रामचरितमानस' की संसृष्टि कर उसे द्वितीय साहित्यिक काव्य-भाषा होने का गौरव प्रदान किया। जनभाषाओं को काव्य-भाषा के रूप में प्रयुक्त कर जहाँ इन्होंने प्रान्तीय भाषाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया, वहां सामान्य जनों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर लिया और बड़ी ही सुगमता से उनके हृदयासन पर

---

1 डॉ. सावित्री सिन्हा, ब्रजभाषा के कृष्णभक्तिकाव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प, पृ. 473

अपने काव्य को विराजित कर दिया। इनके अतिरिक्त विद्यापति ने मैथिली का प्रयोग कर मिथिला के नरनारियों के हृदय में स्थाई निवास पाया तो चंडीदास प्रभृति कवियों ने बंगला भाषा का प्रयोग कर बंगाल में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया। कबीर आदि सन्त कवियों ने तो केवल विचारों में ही नहीं, अपितु भाषागत आचरण में भी अद्भुत समन्वय उपस्थित किया। उन्होंने भोजपुरी अवधी, खड़ीबोली, पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज आदि सभी बोलियों का समंजन कर एक अद्भुत भाषा को जन्म दिया, जो विविध भाषाओं का मिश्रण होने से सधुक्कड़ी तथा खिचड़ी भाषा कहलाई। इसके अतिरिक्त गुजराती, मराठी तथा राजस्थानी भाषा भी काव्यरचना के उपयुक्त सिद्ध हुई और इनका देशव्यापी प्रचार न होते हुए भी प्रान्तीय स्तर पर इन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई और स्थानीय कवियों ने इनके भंडार को समृद्ध बनाते हुए उन्हें परिमार्जित साहित्यिक रूप प्रदान किया।

मध्ययुगीन भक्ति-काव्य में शब्द प्रयोग की दृष्टि से, तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का बहुल प्रयोग हुआ। देशज शब्दों के प्रयोग से भाषा में लोकतात्विकता को स्थान मिला। कवियों ने प्रधानतः प्रयुक्त भाषा के तद्भव और देशज शब्दों के साथ ही अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कर भाषा के शब्द भण्डार में अपूर्व वृद्धि की। तत्सम शब्दों के प्रयोग ने जहां भाषा में गम्भीरता उत्पन्न की वहां देशज व विदेशी शब्दों के प्रयोग ने भाषा को आधुनिकता व स्वच्छन्दता प्रदान की। कवियों की उदार दृष्टि ने कतिपय विदेशी शब्दों का देशीकरण कर उन्हें नये सौष्ठव से मंडित किया। इस प्रकार भाषा के शब्दस्रोत केवल तत्सम ही नहीं, अपितु तद्भव, देशज और विदेशी शब्द-समूह भी हो गये। तत्कालीन कवियों का यह समन्वयकारी प्रयास अत्यन्त क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। वेद-पुराणों की भाषा गूढ़ और अगम्य हो जाने के कारण सर्वसाधारण का सम्पर्क उनसे टूट चुका था, परन्तु जब इन भक्त कवियों ने उन्हीं का अगूढ़ और बोधगम्य अनुवाद व सारतत्व लोकभाषा एवं जनभाषा में कहना प्रारम्भ किया तो सहज ही लोगों का आकर्षण इस ओर हो गया। वे धर्म के तत्वों को समझने लगे और 'अगम' देश की 'सुगम' यात्रा के लिए प्रस्तुत हुए।

### 2 मुहावरे एवं लोकोक्तियां—

भाषा में अनुभूतिगम्य प्रभावोत्पादकता की सृष्टि करने के हेतु जनप्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों का कुशल प्रयोग प्रायः समस्त भक्त कवियों ने किया है। इससे भाषा जहां अर्थगर्भित, लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक हुई, वहां गागर में सागर को समेटने में भी सफल रही। इनके प्रयोग से भाषा में वाग्विदग्धता व चमत्कारिता की अपूर्व संवृद्धि हुई और उसे प्रभावात्मक लोक-रंजकता भी प्राप्त हुई। भावानुकूल शब्द योजना की दृष्टि से भक्तिकाव्य को सर्वोत्कृष्ट रूप प्रदान करने में विविध भाषा-प्रयोग, शब्द-प्रयोग व मुहावरे, लोकोक्ति तथा सूक्ति प्रयोग अत्यन्त कारगर सिद्ध हुए, जिससे भक्तिकाव्य को स्थायित्व भी प्राप्त हुआ।

### 3 अलंकार और शब्दशक्तियां—

भक्ति-काव्य में भाषा की स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए ही अलंकारों

का प्रयोग किया गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अर्थालंकार और अनुप्रास यमक आदि शब्दालंकार ही बहुशः प्रयुक्त हुए हैं। कविता और कामिनी अर्थात् भाषा और पात्र दोनों ही अपने नैसर्गिक सौन्दर्य की सुषमा विखेरते हैं। कृत्रिमता एवं दिखावे को कहीं भी स्थान नहीं दिया गया। अतः भावानुभूति के स्वतः स्फूर्त आवेग में जो भी अलंकार आगये वे आ गये, उन्हें सायास लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि न तो अलंकारों का वहिष्कार किया गया और न ही उन्हें लाने का विशेष प्रयास। अतः भक्तिकाव्य में उपलब्ध होने वाले अलंकार भावानुभूति को अधिक प्रभावोत्पादक व ग्राह्य बनाने के लिये ही प्रयुक्त हुए हैं।

सहज स्वाभाविक अलंकारों से युक्त इस युग की भाषा शब्दशक्ति की दृष्टि से भी वहुत उच्चकोटि की है। प्रसंगानुकूल अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना, तीनों ही शब्द-शक्तियां अर्थ को सम्पन्नता व जीवन्तता प्रदान करती हैं। यों तो तीनों ही शब्दशक्तियों का यथोचित प्रयोग किया गया है; परन्तु यदि हम भक्तिकाव्य को ध्वन्यात्मक, व्यञ्जनाशक्ति से ओतप्रोत कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि कवियों की भावनाएं सदा व्यञ्जना द्वारा ही सहृदय-संवेद्य हो पाती है। अतः उन स्थानों में जहां वाग्विदग्धता व चातुरी का प्रदर्शन कवि का ध्येय रहा है, वहां व्यञ्जना की सशक्तता व मार्मिकता दर्शनीय व प्रशंसनीय वन पड़ी है। व्यञ्जना के अतिरिक्त अभिधा शक्ति की ऋजुता, सरलता व मृदुलता भी अत्यन्त मोहक है। इस प्रकार भक्तिकाव्य में प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का ही विशेष प्रसार व संचार किया गया है, जवकि ओजगुण का भी यथास्थान सन्निवेश किया गया है।

4 विम्ब और प्रतीक—

भक्तकवियों की विम्ब-योजना हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यों तो सम्पूर्ण भक्तिकाव्य ही चित्रात्मक सौन्दर्य से युक्त है, पर उसमें भी कृष्ण-भक्त-कवियों की चित्रात्मकता अभूतपूर्व है। 'कृष्ण की रूप-प्रतीति तथा उनकी लीलाओं के चित्रण में इन कवियों ने अपनी कविता का ग्रंथिवन्धन चित्रकला के साथ किया और तत्कालीन चित्रकला को अनन्त सौन्दर्य की निधि 'राधाकृष्ण' जैसा आलम्बन प्रदान किया। इन कवियों की रचनाओं की आधार भूमि पर पल्लवित और विकसित, मध्यकालीन चित्रकला की राजपूत-शैली में, राधा और कृष्ण की लीलाएं उतनी ही सजीव और प्राणवन्त हैं, जितनी कि कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा वर्णित लीलाएं। दोनों में भी आश्चर्यजनक एकरूपता है, जिससे इस वात का भी प्रमाण मिलता है कि ये कवि चित्रकला में भी सिद्धहस्त थे। चित्रकला में अपनी इस प्रवीणता के कारण उन्होंने अनेक भावना-चित्रों का निर्माण किया, जिनमें रूप-भेद, रूप की प्रतीति, चित्र के विभिन्न तत्त्वों में सन्तुलन और सामंजस्य, भावयोजना, लावण्ययोजना, वर्णिकाभंग इत्यादि का सफल निर्वाह किया गया है। उनकी अनुभूति के क्षण इन चित्रों में अमर हो गये हैं। उनके संश्लिष्ट विन्यास में इन कवियों की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है।[1]

1 डॉ. सावित्री सिन्हा, 'व्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प, पृ. 475

वस्तुतः कृष्ण-भक्त-कवियों ने जैसे चित्ताकर्षक शब्द-चित्रों का सुमधुर संयोजन किया, वैसा उनकी पूर्ववर्ती और समकालीन किसी भी काव्य-परम्परा में नहीं हो पाया। उनके शब्दचित्र रूप, रस, गंध, स्पर्श और ध्वनि आदि इंद्रिय-संवेदनाओं द्वारा अनुप्राणित होकर विशेषरूप से सहृदय-संवेद्य हो सके हैं। अतः बिम्ब-संयोजन की दृष्टि से भक्तिकाव्य अत्यधिक सम्पन्न है।

भक्त कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से भी अपनी भावानुभूतियों को व्यक्त किया है, परन्तु उनकी प्रतीकात्मकता संत कवियों जैसी रहस्यात्मक नहीं है। यद्यपि सूरदास ने कहीं-कहीं कूट-पद-शैली का प्रयोग कर अर्थ-संगोपन किया है, तथापि अन्य भक्त कवियों ने अर्थ-संगोपन को विशेष मान्यता नहीं दी। वे भाषा में आर्जव व मार्दव के विशेष पक्षपाती थे, अतः भक्त कवियों ने संत कवियों द्वारा गृहीत प्रतीक-शैली के समान ही रूपक-शैली का प्रयोग कर प्रस्तुतों व अप्रस्तुतों का सहविन्यास किया। यद्यपि अन्य भक्त कवियों के काव्य में प्रतीकों को विशेष प्रश्रय नहीं मिला, तथापि मीरां के पदों में प्रतीकों का भी सुन्दर संयोजन उपलब्ध होता है, जिसकी चर्चा आगे यथास्थान की गई है।

(5) छन्द—

भक्त कवियों ने मुक्तक और प्रबन्धकाव्य दोनों की संरचना की है। इनमें कृष्ण-भक्त-कवियों ने मुक्तक-छन्द-शैली को विशेष रूप से अपनाया और रामभक्त-कवियों ने प्रबन्धात्मक शैली को। प्रबन्ध-शैली के लिये चौपाई और दोहा छन्दों का सम्मिलित संयोजन अधिक उपयुक्त समझा गया, अतः तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' की रचना दोहा-चौपाई छन्दों में की है। वैसे तुलसी ने इनके अतिरिक्त छप्पय, बरवै, सवैया, सोरठा आदि छन्दों का भी प्रयोग किया और 'विनयपत्रिका' में सार, सरसी, ताटंक, दण्डक, विष्णुपद आदि विविध संगीतोपयुक्त मात्रिक छन्दों का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

कृष्णभक्त कवियों ने २० से लेकर २७-२८ और ३० मात्रा तक के मात्रिक छन्दों का विशेष प्रयोग किया। कृष्णभक्त कवियों ने भजनों के रूप में अपने काव्य को लिखा है अतः पदशैली का सुन्दर आयोजन इनके काव्य में उपलब्ध होता है। वस्तुतः इन्हीं ने भजन-कीर्तन आदि के रूप में पदरचना कर हरिभक्ति का व्यापक सार्वजनीन प्रचार और प्रसार किया है। अतः छन्दगत वैविध्य नहीं होते हुए भी रागों और तालों के अनुकूल ठीक बैठने वाले रसानुकूल छन्दों के प्रयोग का इन्होंने विशेष ध्यान रखा है। वस्तुतः पद-छन्द शैली इन कवियों की हिन्दी-साहित्य को एक महत्त्वपूर्ण भेंट है। लोकगीत-शैली के रूप में विकसित पद-शैली को साहित्यिक रूप प्रदान करने का श्रेय अधिकांशतः भक्ति-काव्य को ही प्राप्त है। वैसे सार, सरसी, ताटंक, लावनी, विष्णुपद, चान्द्रायण, हरिगीतिका, मानव आदि छन्दों का विपुल प्रयोग इन कवियों ने किया। वर्णिक छन्द की अपेक्षा मात्रिक छन्द अधिक उपयोगी व सरल समझे गये। अतः इन्हीं की आयोजना बहुलांश में की गई।

(6) संगीत—

भक्ति-काव्य को लोकरंजकता व जनप्रियता प्रदान करने में संगीत का सर्वाधिक महत्त्व है। भक्तों ने संगीत के लोकरंजक स्वरूप का भलीभांति अनुभव

किया और अपने सभी काव्यों को गेयात्मक रूप प्रदान किया। ये कवि काव्य-रचना में जितने पटु थे, उससे अधिक संगीत-गायन में प्रवीण थे। इन्होंने काव्य और संगीत को परम्परागत शास्त्रीय बंधनों से मुक्त कर सुगम संगीत-पद्धति की स्थापना की और लोक-संगीत और शास्त्रीय संगीत का सुन्दर समन्वय करते हुए पदगायन की भजनशैली को जन्म दिया। भजन और कीर्तन-शैली के रूप में उन्होंने संगीत को सर्वग्राही बनाया और उसे एक विशिष्ट वर्ग की साधना-पद्धति के सीमित क्षेत्र से निकालकर सामान्यजनों की आराधना के लिए उन्मुक्त कर दिया और इस प्रकार उसे एक सर्वगम्य व विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया।

ये भक्त कवि भी थे और गायक भी, अतः इन्होंने संगीत को, उसके उच्च लक्ष्य की ओर उन्मुख करते हुए, समाज में पुनर्प्रतिष्ठित किया और वाग्गेयपरम्परा के सर्वथा नये आयाम प्रदान किये। संगीत और काव्य का सुमधुर सामंजस्य कर इन्होंने अपने काव्य को चिरस्थायी और चिरनवीन रूप प्रदान किया। रसानुकूल रागों का प्रयोग और उनका समय तथा ऋत्वनुकूल गायन कर इन्होंने अपने संगीत ज्ञान का सुन्दर परिचय दिया। अनेकों जनप्रचलित लोक-रागों का परिष्कार कर उन्हें शास्त्रीय रागों के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भक्त कवियों को ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रीय संगीत व लोकसंगीत का सुन्दर समन्वय उपस्थित कर भक्त-कवियों ने संगीत के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी कदम उठाया वह अति प्रशंसनीय व समयानुकूल था, जिसने जीवन की नीरसता व एकरसता को दूर कर उसे रस के अनन्त सागर में गोते लगवाते हुए रसविभोर कर दिया तथा सामान्यजनों की सूखती हुई हृदय लता को रससिक्त कर सुमधुर व स्नेहिल वायु से आलोड़ित-विलोडित करते हुए उसे दिग्दिगन्त में विस्तृत हो जाने का अवसर प्रदान किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-काव्यकारों ने परम्परागत रूढ़ियों का परित्याग करते हुए सर्वथा नवीन व मौलिक अभिव्यञ्जना-शैली को अपनाया और भावानुभूतियों को ऋजुता, कोमलता एवं मधुरता के साथ अभिव्यक्त कर उन्हें सर्वग्राही व सर्वसंवेद्य बनाने में अभूतपूर्व योग दिया है। समय की मांग को भली-भांति समझते हुए उन्होंने तदनुकूल काव्य की रचना की और जीवन को ह्रासोन्मुखी होने से बचाया तथा परिस्थितियों की आवश्यकता को समझते हुए कुशलतापूर्वक रिक्तस्थान की पूर्ति की।



# प्रथम अध्याय

## भाषा

भाषा आत्मानुभूति के सम्प्रेषण का सरलतम एवं सर्वोत्कृष्ट माध्यम है तथा अभिव्यञ्जना-शैली का मूलाधार है। अपने मूल स्वरूप में भाषा व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त ध्वनि संकेतों का समूह है तथा ये संकेत परम्परा और वातावरण के संयोग से धीरे-धीरे समाज द्वारा विकसित होते हैं। कवि भी समाज के एक सदस्य और सर्जक के रूप में इन ध्वनि संकेतों (भाषा) के विकास में योगदान देता है। पर इन संकेतों का शुद्ध और त्रुटिहीन रूप ही समाज द्वारा मान्य होगा अतः यदि कवि इनका व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग करता है, तो वह अमान्य हो जायेगा। अतः कवि के लिये यह आवश्यक है कि वह स्वीकार्य और व्याकरणिक दृष्टि से शुद्ध तथा निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करें। हां! वह नवीन शब्दों का निर्माण कर सकता है और शब्दों को नवीन अर्थ भी दे सकता है, साथ ही भाषा-भंगिमा को नया मुहावरा भी प्रदान कर सकता है।

काव्य-भाषा मुख्यतः ध्वनियों, शब्दरूपों और अर्थों के त्रिविध मिश्रण से ही रूपायित होती है। भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार साहित्यिक भाषा के स्वरूप-निर्माण में चार तत्त्व प्रधानतः सम्मिलित रहते हैं—1-ध्वनि, 2-शब्दरूप, 3-अर्थ, 4-वाक्य-रचना[1] इन तत्त्वों के अपने-अपने विशिष्ट गुण हैं, इन तत्त्वों का यथा संभव उपयोग प्रत्येक कवि की भाषा में उपलब्ध होता है। अतः जब हम किसी कवि की भाषा का स्वरूप जानना चाहते हैं, तो हमें उक्त कवि की भाषा की मूल-प्रकृति को जानने के साथ ही उसके शब्दस्रोतों, शब्द-प्रयोगों, भाषा में हुए ध्वनि-सम्बन्धी विविध परिवर्तनों, व्याकरणिक विशेषताओं, विशिष्ट शब्द-संयोजनों तथा वाक्य-विन्यास आदि विशेषताओं का विवेचन करना आवश्यक होता है। अतः मीरां की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं को जानने के लिये भी इन उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर उनकी भाषा का विवेचन और विश्लेषण करना आवश्यक है। आगामी पृष्ठों में उनकी भाषा का विविध पक्षों में विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

### मीरां की भाषा

मीरां-पदावली की भाषा का स्वरूप बहुत ही विवादास्पद है। हस्तलिखित मूल प्रतियों के अभाव में गेय परम्परा से प्राप्त पदों की भाषा की विविधता को देखते हुए मीरां-पदावली के संकलनकर्त्ताओं, सम्पादकों, समीक्षकों और कतिपय शोधकर्त्ताओं ने प्रसिद्ध को ही सिद्ध मान कर मीरां को अनेक भाषाओं की कवयित्री स्वीकार किया है, साथ ही इस स्वीकारोक्ति के अन्तराल में एक अनिश्चितता, एक संशयात्मक स्थिति, एक भ्रामक धारणा भी सुगबुगाती रही है, फलतः 'राग-

---

1. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त—साहित्य विज्ञान, पृ. 250

कल्पद्रुम' से लेकर 'संत-समाज-भजानावली' के प्रकाशन तक मीरां-पदावली के सभी सम्पादक मीरां की भाषा के सम्बन्ध में किसी एक सुनिश्चित निष्कर्ष तक नहीं पहुंचे और मीरां-पदावली की भाषा विषयक दुविधात्मक स्थिति यथावत् बनी रही। अतः मीरां-पदावली की भाषा का स्वरूप निर्धारण करने के पहले, इस विषय में विविध विद्वानों ने जो मत प्रकट किये हैं, उन पर एक दृष्टि डाल लेना नितान्त आवश्यक है साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रायः मीरां-पदावलियों के सभी पद मौखिक परम्परा और संदिग्ध तथा अशुद्ध हस्तलिखित गुटकों से लिये गये हैं, जिससे उनमें भाषा, भाव, संगीतात्मकता, भक्तिविषयक धारणा और स्वरूपगत परिवर्तन होते रहे हैं। फलतः मीरां को विविध भाषाओं की कवयित्री मानने की धारणा को कुपोषण मिलता रहा है। नीचे कतिपय गण्यमाण्य विचारकों के मत उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

**मीरां की भाषा और विविध मत :**

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीरांबाई की पदावली' की भूमिका में भाषा-विषयक समस्या पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है, 'मीरांबाई की पदावली उनके फुटकर पदों का एक संग्रह मात्र है और उसके प्रत्येक पद की भाषा एक ही प्रकार की नहीं है, उसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो राजस्थानी में हैं और कुछ की भाषा व्रजभाषा वा गुजराती कही जा सकती है। किन्तु अधिकांश में राजस्थानी, व्रजभाषा, गुजराती अथवा कहीं-कहीं पंजाबी, खड़ीबोली एवं पूरबी तक का न्यूनाधिक सम्मिश्रण है। कई स्थलों पर राजस्थानी के अतिरिक्त व्रजभाषा के भी विकारी रूपों के प्रयोग हुए हैं। व्रजभाषा, पंजाबी, गुजराती तथा खड़ीबोली की विभक्तियों के भी व्यवहार हैं। व्याकरण के नियम, साधारणतः भाषा के अनुसार ही बरते गये हैं।'[1]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की भांति श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने भी मीरां को विविध भाषाओं की सफल कवयित्री मानते हुए लिखा है-'प्रेम-साधना में रत मीरांबाई के पदों में कई भाषाओ का सफल प्रयोग मिलता है, जैसे पूर्वी हिन्दी, व्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, फारसी, उर्दू और खास कर खड़ी बोली का प्रयोग खूब पाया जाता है।....................मीरां का अधिकार संस्कृत भाषा पर भी था, इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने संस्कृत-शास्त्रों का भी अवश्य अध्ययन किया होगा।'[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मीरां की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि 'मीरां के पद कुछ तो राजस्थानीमिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा में।'[3]

---

1 आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, 'मीरांबाई की पदावली' (तेरहवां संस्करण—सन् 1966) पृ. 58

2 श्री भुवनेश्वर नाथ 'मिश्र माधव', मीरां की प्रेम-साधना (चतुर्थ संस्करण) पृ. 44-45

3 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास (सोलहवाँ पुनर्मुद्रण-संवत् 2025) पृ. 179

डॉ. श्रीकृष्णलाल ने भी मीरां के पदों को ब्रजभाषा और ब्रजमिश्रित राजस्थानी भाषा में विरचित माना है। उनके मतानुसार, '..............कुछ पदों में मीरां ने ऐसी परिष्कृत तथा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है जो पिछले खेवे के कवियों के लिये आदर्श मानी जा सकती है।'[1]

डॉ. रामकुमार वर्मा ने मीरां के अधिकांश पदों की भाषा को मूलतः ब्रजभाषा माना है जिन पर मारवाड़ी भाषा का प्रभाव है।'[2]

डॉ. कृष्णदेव झारी ने भी मीरां की भाषा को राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा मानते हुए लिखा है कि—उन्होंने साहित्यिक ब्रजभाषा के साथ अपनी मातृभाषा पश्चिमी राजस्थानी के शब्दरूपों का भी मिश्रित प्रयोग किया है।[3]

डॉ. सावित्री सिन्हा के अनुसार मीरां की भाषा में पूर्वी राजस्थानी (पिंगल) का ही प्राधान्य है। उनके गुजराती पदों का स्वतंत्र अस्तित्व है, इन्हीं के आधार पर उन्हें गुजराती भाषा के प्रमुख कवियों में स्थान प्राप्त है।[4]

'मीरां-मंदाकिनी' के सम्पादक श्री नरोत्तमदास स्वामी ने मीरां की भाषा को मूलतः राजस्थानी मानते हुए लिखा 'राजस्थान का एक रूप डिंगल............ और दूसरा रूप जन-साधारण की प्रचलित बोली था।..............मीरां आदि भक्त कवियों ने राजस्थानी के दूसरे रूप को अपनाया और इसी में कविता की।[5]

डॉ. मोती लाल मेनारिया ने भी मीरां की भाषा को 'बोलचाल की राजस्थानी' माना है जिस पर ब्रजभाषा, गुजराती और खड़ीबोली का भी रंग लगा हुआ है।[6]

डा. प्रभात ने मीरां की भाषा के स्वरूप का विवेचन करने के उपरांत यह निष्कर्ष दिया है, 'मीरां के पदों की भाषा में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और प्राचीन ब्रजभाषा के रूपों का मिला-जुला प्रयोग है। मीरां की भाषा में क्रियारूप प्रायः ब्रजभाषा के ही हैं, अतः इसकी भाषा का मूल ढांचा ब्रजभाषा के अधिक निकट है, वैसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के प्रयोग भी काफी हैं।'[7]

हिन्दी भाषा के विचारकों की अपेक्षा गुजराती भाषा के विचारकों में मीरां की भाषा के सम्बन्ध में मतैक्य मिलता है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि मीरां के बहुत से पद गुजराती भाषा में मिलते हैं, तथापि मीरां के पदों का मूल स्वरूप गुजराती नहीं था। इस सम्बन्ध में श्री हिम्मतलाल अंजारिया और डॉ. मंजुलाल मजुमदार का मत उल्लेखनीय है। श्री हिम्मतलाल अंजारिया ने मीरां के पदों की भाषा के वर्तमान स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए लिखा है--

---

1 डॉ. श्रीकृष्णलाल—'मीरांबाई (द्वितीय संस्करण, संवत्-2007), पृ. 168
2 डॉ. रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 587
3 डॉ. कृष्णदेव झारी—मध्यकालीन कृष्णकाव्य, पृ. 2oo
4 डॉ. सावित्री सिन्हा—'ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना शिल्प, पृ. 84
5 श्री नरोत्तमदास स्वामी—'मीरां-मन्दाकिनी' (प्रस्तावना), पृ. 15-16
6 डॉ. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. 147
7 डॉ. प्रभात—'मीरां बाई'—पृ. 4?3

'मीरांवाई नी भाषा' 'वर्तमान गुजराती' न होय ऐमां नवाई नथी, छतां मीरांना घणां पदो हालनी गुजराती भाषा मां मली आवे छे तेनो अर्थ एटलीज के कण्ठ परम्परा थी ऊतरी थावेला पदोनी भाषा समयानुसार स्वरूप वदलती गई, अने तेथी तेनु हालनु स्वरूप ज आपण ने मल्यु छै।'[1]

(इसका अभिप्राय यह है कि मीरां की भाषा वर्तमान गुजराती नहीं थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है, फिर भी मीरां के अनेकानेक पद वर्तमान गुजराती भाषा में मिलते हैं उसका कारण यही है कि कंठ-परम्परा से चली आ रही मीरां के पदों की भाषा समयानुसार अपना स्वरूप वदलती रही है। परिणामस्वरूप मीरां के पदों को वह स्वरूप प्राप्त हुआ जो हमें उपलब्ध है।)

डॉ. मंजुलाल मजुमदार ने मीरां के पदों में प्राप्त विविध भाषा स्वरूपों का उल्लेख करते हुए अन्त में यह मत प्रकट किया है,

'........मीरां ना पदोनी असली भाषा मारवाड़ी राजस्थानी छै, अने वहुधा ते समय ना पश्चिम हिन्दी नी व्यापक भाषा जूनी पश्चिम राजस्थानी कहैवाय छै।'[2]

........मीरां के पदों की असली भाषा मारवाड़ी राजस्थानी है, और यह उस समय पश्चिमी भारत की व्यापक भाषा थी जो पुरानी पश्चिमी राजस्थानी कहलाती है।

वास्तव में मीरां के पदों की भाषा का जो स्वरूप हमें वर्तमान काल में उपलब्ध है, उसे मीरां के पदों का मूल स्वरूप नहीं स्वीकार किया जा सकता। अध्यावधि प्राप्त उनके पदों का स्वरूप इतना परिवर्तित हो चुका है कि यदि मीरां कुछ समय के लिये इस धरा पर पुनः अवरित हो जायें, तो संभवतः स्वरचित पदों को नहीं पहचान पायेंगी। हमें मीरां के पदों के मूल भाषा-स्वरूप को जानने के लिये पदों की प्रवाहमुखी दिशा की ओर से मुड़ कर स्रोतमुखी दिशा की ओर अभियान करना होगा।

**क—मीरां की भाषा का मूलस्वरूप—**

मीरां मारवाड़ में जन्मीं, यहीं पलीं, पढ़ीं और वाल्यावस्था से युवावस्था में प्रविष्ट हुई। राजकुल में उत्पन्न होने के कारण उनके जीवन की प्रारम्भिक अवस्था उन स्वदेशाभिमानी, मातृभक्त वीर पुरुषों के सान्निध्य में व्यतीत हुई जिन्हें अपने देश की संस्कृति पर गर्व था और अपनी मातृभाषा से हार्दिक लगाव था। वैसे भी मारवाड़ी भाषा तत्कालीन राजस्थान में प्रचलित अन्य वोलियों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत और मधुर थी। भाषाविदों ने तत्कालीन मारवाड़ी भाषा को पश्चिमी राजस्थानी की संज्ञा प्रदान की है और इसकी तद्‌युगीन समृद्धता, व्यापकता और काव्योपयोगिता को स्वीकार किया है। डॉ. तेस्सितोरी ने इसी पश्चिमी राजस्थानी भाषा को आधुनिक गुजराती और राजस्थानी भाषा की जननी वताया है।[3] यही पश्चिमी राजस्थानी उर्फ मारवाड़ी-भाषा मीरां की

---

1 श्री हिम्मतलाल अंजारिया—'साहित्य प्रवेशिका' पृ. 6
2 डा. मञ्जुलाल मजुमदार 'मीरां' : एक मनन, पृ. 84
3 डा. तेस्सितोरी—पुरानी राजस्थानी (अनुवादक डा. नामवरसिंह) भूमिका, पृ. 4

मातृगिरा थी। उनके चतुर्दिक् परिवेश में इसी भाषा का प्राधान्य था। मीरां ने गिरधर का पूजन-अर्चन अल्पायु में ही प्रारम्भ कर दिया था और तभी से उनकी आन्तरिक भक्ति-भावना अनायास ही गीतों के रूप में अभिव्यक्त होने लगी थी, ऐसा माना जाता है। अतः बाल सुलभ-कौतुक में जब उनकी भावनाओं का प्रबल आवेग काव्य के रूप में फूट-पड़ा होगा, तब अवश्य ही उनकी काव्याभिव्यक्ति का माध्यम उनकी अपनी मातृगिरा मारवाड़ी ही रही होगी, और एक बार जब काव्य-रचना का सोता फूट पड़ा तो फिर भला वह कब थमने वाला था ? वैसे भी यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब व्यक्ति भावावेश में होता है तब उसकी भावाभिव्यक्ति का माध्यम उसकी मातृभाषा ही होती है, और यह सर्वमान्य सत्य है कि मीरां के प्रायः सभी पद भावावेश के प्रबल आवेग में ही निःसृत हुए थे। अतः निश्चय ही उनकी काव्याभिव्यक्ति की मूल-भाषा उनकी मातृभाषा मारवाड़ी ही रही होगी, जो कालान्तर में अपनी भाव-सहजता सुगेयता और बोधगम्यता के कारण भक्त प्रेमियों, परिव्राजक, संतों, गायकों, लिपिकर्ताओं संग्रहकर्त्ताओं और सम्पादकों की कृपा से विविध भाषाओं में रूपान्तरित होती रही। सुप्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी मीरां के पदों की देश व्यापी लोकप्रियता को भाषा परिवर्तन का मुख्य हेतु स्वीकार करते हुए लिखा है—

'मीरां की रचनाएँ, अपने भावों के महत्व के कारण, समग्र उत्तर-भारत में इतनी लोकप्रिय बनीं कि धीरे-धीरे इसकी शुद्ध राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा परिवर्तित होकर शुद्ध हिन्दी की ओर झुकी और अन्त में शुद्ध हिन्दी हो गई।'[1]

वस्तुतः मीरां के पदों की आदि-भाषा मारवाड़ी ही थी, जो चार सौ वर्षों से प्रमुखतः मुख श्रुत परम्परा पर अवलम्बित रहने के कारण आज राजस्थानी, गुजराती, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पूर्वी हिन्दी और पंजाबी आदि विविध शुद्ध और मिश्रित भाषा-रूपों में मिलती है। मीरां के एक ही पद के अनेक पाठान्तर इस मत को पुष्ट करते हैं।

हस्तलिखित पोथियों के गहन अध्ययन और मीरां-पदावली के विविध संकलनों का अनुशीलन करने के उपरान्त डॉ. भगवानदास तिवारी ने जो निष्कर्ष दिये हैं, वे मीरां की भाषा-विषयक समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डालने और अनेकों रहस्यों को उद्घाटित करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ. तिवारी ने डाकोर और काशी की प्रतियों को मीरां के पदों की मूलप्रति की सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक प्रतिलिपि मान कर उन प्रतियों में संकलित पदों की भाषा को मीरां की प्रामाणिक भाषा स्वीकार करते हुए मूल-पदावली से सम्बन्धित निम्नांकित तथ्य प्रस्तुत किये हैं

1—मीरां, मीरां के युग और उनके राज-परिवार की मूल भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी थी, जो पश्चिमी राजस्थानी का अपभ्रंश रूप थी, इसका तद्युगीन गुजराती से साम्य था। डाकोर और काशी की प्रतियों की भाषा (सामान्य लिपि-भेद को छोड़कर) यही है; अतः मीरां ने ब्रज, गुजराती, आधुनिक राजस्थानी,

1 डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी-राजस्थानी भाषा (प्रथम संस्करण) पृ. 67

विहारी, पंजावी आदि अन्य भाषाओं में पद-रचना नहीं की ।

2—आधुनिक राजस्थानी के पद मीरां के पद नहीं है। व्रजभाषा में मीरां ने पद नहीं रचे, अतः आधुनिक गुजराती तथा अन्य भाषाओं में प्राप्त मीरां के तथाकथित सभी पद प्रक्षिप्त हैं। वे मीरां-भाव से प्रभावित साधु-सन्तों और गायकों की रचनायें हैं, मीरां की नहीं।

3—अद्यावधि प्राप्त प्रमाण्य के अनुसार मीरां ने केवल 103 पद प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में गाये थे, अतः वे ही मीरां के प्रामाणिक पद हैं। हस्तलिखित प्रतियों की प्राचीनता भी इसका एक प्रमाण है।

4—मीरां के इन मूल पदों की भाषा का व्रजभाषा और गुजराती में पद्यानुवाद हुआ है, और इसी ढंग से अनेक पद मीरां के नाम पर सभी भाषाओं में चल पड़े हैं।

5—मूल पदावली की भाषा और भाव-धारा के अनुसार मीरां सम्प्रदाय-मुक्त वैष्णवी थीं। नाथ-पंथ, रैदासी सम्प्रदाय, निर्गुण-सम्प्रदाय, सूफी-सम्प्रदाय, रामानन्दी सम्प्रदाय आदि की साम्प्रदायिक शब्दावली मीरां के मूल पदों के गेय रूपों में बाद में जुड़ी है।

6—भाषा-शास्त्र और उसके इतिहास से भी इस पदावली की प्रामाणिकता समर्थित है। इसके सभी पदों के परवर्ती रूप अन्य पदसंग्रहों में मिलते हैं।

7—व्रज और गुजराती भाषाओं के जो पद अन्य गुटकों में मिलते हैं, वे अशुद्ध हैं, और मूल पदों की तुलना में अन्य लेखकों के द्वारा लिखे गए जान पड़ते हैं, अतः उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इतना तो स्पष्ट है कि मीरां व्रज और गुजराती की कवयित्री नहीं थीं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मीरां के पदों की भाषा का मूल स्वरूप मारवाड़ी था। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उनकी भाषा तत्कालीन साहित्यिक राजस्थानी (डिंगल) नहीं थी, अपितु बोलचाल की सामान्य-भाषा थी जो लोक-भाषा के निकट थी। वस्तुतः मीरां की भाषा साहित्यिक भाषा और लोक-भाषा की शृंखला को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी थी, इसलिये उसमें साहित्यिकता और लोकतात्त्विकता की समस्त विशेषताएं परस्पर घुल-मिल गई हैं। मीरां की भाषा के इस अद्भुत समन्वयकारी स्वरूप को उनकी भाषा के विविध शब्दस्रोत संपुष्ट करते हैं। अतः मीरां की भाषा के वास्तविक स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये उनके शब्द-स्रोतों का सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

### ख मीरां की भाषा के शब्द-स्रोत :

ऐतिहासिक दृष्टि से शब्दों के मुख्यतः चार स्रोत माने गये हैं-तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी। इनके अतिरिक्त एक अन्य शब्द-स्रोत भी है, जो अर्धतत्सम कहलाता है। इस वर्ग के शब्द तत्सम और तद्भव के मध्य की अवस्था के होते हैं। सामान्यतः इन्हीं स्रोतों से शब्द ग्रहण कर कविगण और साहित्यविद् अपनी भाषा को भावानुकूल अर्थाभिव्यक्ति और सौन्दर्यपूर्ण शब्दसमृद्धि प्रदान करते हैं।

---

1 डॉ. भगवानदास तिवारी : 'मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन', पृ. 275

मीरां ने भी इन्हीं ऐतिहासिक स्रोतों से भावानुकूल शब्दों का चयन कर उन्हें नये अर्थों से मंडित किया है। मीरां द्वारा प्रयुक्त शब्दों में भी उनकी वैयक्तिक सुरुचि और सरलता की छाप स्पष्टतः परिलक्षित होती है। मीरां ने विविध स्रोतों से गृहीत शब्दों को सर्वथा मौलिक और निजी स्वरूप प्रदान किया है। आगामी पृष्ठों में दिये गये विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मीरां शब्द को भावानुकूल स्वरूप प्रदान करने में सिद्धहस्त थीं। उन्होंने अपनी भावनाओं के मृदुल स्पर्श से अति सामान्य शब्दों को अतीव भावसौन्दर्य से परिपूरित कर दिया है। मीरां की भावानुरूप शब्द-चयन-प्रतिभा को संकेतित करने वाले शब्दों का स्रोतानुकूल विवेचन प्रस्तुत है –

1 तत्सम शब्द

संस्कृत के विशुद्ध शब्द 'तत्सम' (तत् + सम, अर्थात् उसके समान) कहलाते हैं। तत्सम शब्दों का बहुल प्रयोग, प्रयोगकर्त्ता की अभिजात्य कलात्मकता और पाण्डित्यपूर्ण शब्द-समृद्धि का परिचायक है। मीरां ने पाण्डित्य-प्रदर्शन और कलात्मक अभिरुचि की ओर सहज उपेक्षा-भाव और उदासीनता बरती थी। उनकी काव्यभाषा साहित्यिकता की अपेक्षा लोकतात्त्विकता की ओर अधिक झुकी हुई होने के कारण तत्सम-बहुला नहीं थी, परन्तु यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि मीरां की भाषा में तत्सम शब्दों का सर्वथा अभाव है। मीरां ने तत्सम शब्दों का प्रयोग दो प्रकार के पदों में विशेष रूप से किया है—

1 स्तुतिपरक पदों में° और 2 गिरधर के रूप-वर्णन वाले पदों में।※

मीरां पदावली* में निम्नांकित तत्सम शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है—

अंग,[1] अंत[2], अंतर[3], अंबर[4], अघ,[5] अति[6], अधम[7], अधर[8], अधिक,[9] अनल[10], अपराधी[11], अपार[12], अबला[13], अमर[14], अरुण[15], अवतार[16], आकुल[17], आदि[18], आनन्द[19], इन्द्र[20], उपकार[21], उपाय[22], उर[23], एक[24], कंचन[25], कपोल[26] कपट[27], कमल[28], कर[29], करुणा[30], कष्ट[31], कारण[32], काल[33], किरीट[34], कुब्ज[35], कुन्जर[36], कुण्ड[37], कुण्डल[38], कुसंग[39], केसर[40], कोमल[41], गंग[42],

° मी. पदा. पृ. 99, पद-1

※ मी. पदा., पृष्ठ 100, पद—3

* आचार्य परशुराम चतुर्वेदी सम्पादित—'मीरांबाई की पदावली' (तेरहवां संस्करण)

क्रम संख्या (पद संख्या)

1. (46), 2. (63), 3. (114), 4. (149), 5. (140), 6. (67), 7. (134), 8. (2), 9. (59), 10. (43), 11. (134), 12. (196), 13. (132), 14. (40), 15. (3), 16. (196), 17. (101), 18. (63), 19. (163), 20. (1), 21. (197), 22. (40), 23. (3), 24. (87), 25. (38), 26. (12), 27. (158), 28. (11), 29. (6), 30. (136), 31. (137), 32. (61), 33. (19), 34. (12), 35. (94), 36. (61), 37. (30), 38. (12), 39. (199), 40. (12) 41. (1), 42. (30),

गगन[43], गज[44], गणिका[45], गिरिधर[46], गोपाल[47], चंदन[48], चकोर[49], चित्त[50], चीर[51], जग[52], ज्ञान[53], जगत ज्वाला[54], तट[55], त्याग[56], दान[57], दृष्टि[58], दीप[59], नन्दकुमार[60], नगर[61], नटवर[62], नरक[63], नागर[64], नाथ[65], निन्दा[66], निज[67], नीर[68], पण्डित[69], पवन[70], पल[71], पिता[72], पीत[73], पीताम्बर[74], पुरुष,[75] प्रभु[76], प्राणी[77], प्रेम[78], बल[79], भुज[80], मंगल[81], मन्दिर[82], मकर[83], मदनमोहन[84], मधुपुरी[85], मन[86], मनमोहन[87], मिथ्या[88], रसिक[89], राग[90], राम[91], रोम[92], वंशी[93], वाणी[94], शोभा[95], श्याम[96], संग[97], संसार[98], सम[99], सागर[100], सुन्दर[101], सुख[102], सुर[103], हार[104], हेतु[105], हेम[106], आदि

I अर्द्धतत्सम शब्द—

कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो न तत्सम हैं न तद्भव। तत्सम इसलिए नहीं है, क्योंकि ये मूल शब्द के रूप नहीं है और तद्भव इसलिए नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें और मूल संस्कृत-शब्दों में कुछ समता बनी रहती है। तत्सम और तद्भव शब्द रूपों के मध्यवर्ती ये शब्द-रूप "अर्द्धतत्सम" कहे जाते हैं। सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार ये अर्द्धतत्सम शब्द, "प्राकृत से होकर हिन्दी में आये हैं और प्राकृत के आगम, लोप, युक्त-विकर्ष आदि ध्वनि-परिवर्तन के सामान्य नियमों के अनुसार उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जाने पर भी उनमें और मूल संस्कृत शब्दों में कुछ-कुछ समता आती रही है। इन शब्दों का झुकाव तद्भव की अपेक्षा तत्सम की ओर अधिक रहता है।"*

वस्तुतः भाषा की संगीतात्मकता, लय और माधुर्य की रक्षा के निमित्त इन शब्दों की रचना हुई है। मीरां-पदावली में भी अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। कर्णकटु शब्दों को सुमधुर, कठिन शब्दों को सरल तथा संयुक्ताक्षरों के स्थान पर पूर्ण अक्षरों से युक्त शब्दों का निर्माण मीरां की मौलिकता व स्वानुकूल शब्द-निर्माण-क्षमता का द्योतक है।

नीचे मीरां-पदावली में उपलब्ध कुछ अर्द्धतत्सम शब्द उदाहरणार्थ दिये जा रहे हैं—

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
43. (194), 44. (25), 45. (134), 46. (20), 47. (3), 48. (162), 49. (191), 50. (14), 51. (61), 52. (4), 53. (183), 54. (1), 55. (202), 56. (158), 57. (176), 58. (174), 59. (191), 60.-(105), 61. (52), 62. (12), 63. (30), 64. (6), 65. (116), 66.-(34), 67. (63). 68. (63), 69. (28), 70. (190), 71. (13), 72.-(197), 73. (184), 74. (8), 75. (172), 76. (3), 77. (200), 78. (18), 79. (48), 80. (176), 81. (51), 82. (31), 83. (12), 84. (10), 85. (179), 86. (11), 87. (58), 88. (194), 89. (17), 90. (148), 91. (55), 92. (192), 93. (2), 94. (11), 95. (131), 96. (19), 97. (26), 98. (4), 99. (167), 100. (35), 101. (11), 102. (6), 103. (165), 104. (40), 105. (186), 106. (173)।

* डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'हिन्दी भाषा का इतिहास', पृ. 201।

अंतरजामी<अंतर्यामी[1], अंव<अंबु[2], अगनी<अग्नि[3], अगिन<अग्नि[4], अगम <अगम्य[5] , अचारवती <आचारवती[6] , अछत <अक्षत[7], अणंत <अनन्त[8], अध <अर्द्ध[9] , अरध<अर्द्ध[10], अधार<आधार[11], अपंग<अपंगु[12], अमरित < अमृत[13], अम्रत<अमृत[14], अम्रित<अमृत[15] , अमोलक<अमूल्य[16] , अवर < अपर[17], अवध <अवधि[18] , असरण<अशरण[19] , अहिल्या<अहल्या[20], आंग-लियां<अंगुलियां[21], आंणद<आनन्द[22], आंणंद<आनन्द[23], आदेस<आदेश[24], अभूषण<आभूषण[25] , आरण<अरण्य[26] , आसा<आशा[27], आसण < आसन[28] , आसाढ़ा<आषाढ़[29] , आसिरो<आश्रय[30], इक<एक[31], इमरत < अमृत[32], इम्रित <अमृत[33], उचाट<उच्चाट[34], उछाह<उत्साह[35] , उद्र < उदर[36], उरि<उर[37], ओखद<औषधि[38], औगुण<अवगुण[39] , औघट < अवघट[40] ।

कंगना<कंकण[41], कंवल<कमल[42], कंत<कांत[43], कठण<कठिन[44], कणक<कनक[45], कथीर<कस्तीर[46], कदम<कदम्ब[47] , करम<कर्म[48] , कारज <कार्य[49], कासी<काशी[54] , कुबजा<कुब्जा[55] , कुबधि<कुबुद्धि[56] , कुलाहल <कोलाहल[57] , कूकर <कुक्कुर[58] , केस <केश[59] , कोइल <कोकिल[60] ।

खीण <क्षीण[61] , खोर <क्षोर[62] , गण <गण[63] , गती <गति[64] , गरब <गर्व[65] , गुर <गुरु[66] , गेह <गृह[67] , ग्रिह <गृह[68] , चंद <चंद्र[69] , चंद्रका < चन्द्रिका[70] , चतुरभुज <चतुर्भुज[71], चरचा<चर्चा[72], छव <छवि[73], जणम < जन्म[74], जतन <यतन[75], जोति <ज्योति[76] , णित <नित <नित्य[77], तंदुल < तंडुल[78], ततकाल <तत्काल[79] , तनक∠तनिक[80], तपण∠तपन[81], तिमि < तिमिर[82], तीरथ∠तीर्थ[83], दंदा∠द्वन्द्व[84], दध∠दधि[85], दयाल∠दयालु[86], दामिन ∠दामिनी[87], दीरघ∠दीर्घ[88], दुगधा∠दुग्धा[89], दुरजन∠दुर्जन[90], धजा∠ध्वज[91],

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (84), 2. (185), 3. (191), 4. (38), 5. (1), 6. (186), 7. (136), 8. (168), 9. (55), 10. (140), 11. (4), 12. (30), 13. (36), 14. (24), 15. (189), 16. (22), 17. ( 07), 18. (95), 19. (1), 20. (118), 21. (77), 22. (53), 23. (144), 24. (116), 25. (26), 26. (73), 27. (5), 28. (5`), 29. (115), 30. (5), 31. (59), 32. (50), 33. (200), 34. (99), 35. (122), 36. (137), 37. (73), 38. (7), 39. (60), 40. (44),

41. (:65), 42. (1), 43. (125), 44. (93), 45. (200), 46. (24), 47. (8), 48. (156), 49. (119), 50. (30), 51. (113), 52. (107), 53. (171), 54. (17?), 55. (134), 56. (156), 57. (165), 58. (158), 59. (68), 60. (65), 61. (87), 62. (68), 63. (24), 64. (63), 65. ( ), 66. (25), 67. (105), 68. (98), 69. (13), 70. ( 2), 71. (141), 72. (199), 73. (2), 74. (27) 75. (33), 76. (26), 77. (199), 78. (139), 79, (127), 80. (5), 81. (110), 82. (92), 83. (30), 84. (11), 85. (18), 86. (40), 87. (74), 88. (190), 89. (73), 90. (33) 91. (202)

धरम ∠ धर्म[92], निदरा ∠ निद्रा[93], निरत ∠ नृत्य[94], निरभे ∠ निर्भय[95], निरमल ∠ नेम ∠ नियम[97], नैवछावरां ∠ न्योछावर[98], पतणी ∠ पत्नी[99], पनंग ∠ पन्नग[100], पपइया ∠ पपीहा[101], परण ∠ प्रण[102], परतीत ∠ प्रतीति[103], परभात ∠ प्रभात[104], परसण ∠ प्रसन्न[105], पुन्न ∠ पुण्य[106], पुरव ∠ पूर्व[107], पुसप ∠ पुष्प[108], प्रीतम ∠ प्रियतम[109], प्रीत ∠ प्रीति[110], बचन ∠ वचन[111], वरण ∠ वर्ण[112], बरत ∠ व्रत[113], वसन < वसन[114], बिन्द्रावन < वृन्दावन[115], विथा < व्यथा[116], बिरछ < वृक्ष[117], बिलम < विलम्ब[118], भसम < भस्म[119], भाग < भाग्य[120], ।

मगण < मग्न[121], मंतर < मंत्र[122], मरकट < मर्कट[123], मरम < मर्म[124], मरज्यादां < मर्यादा[125], माणिक < माणिक्य[126], माधो < माधव[127], मारग < मार्ग[128], मिरघ < मृग[129], मिरदंग < मृदंग[130], मूरख < मूर्ख[131], मूरति < मूर्ति[132], रतण < रत्न[133], रतणाकर < रत्नाकर[134], ।

सनेह ∠ स्नेह[135], सणमुख ∠ सम्मुख[136], सबद ∠ शब्द[137], सालिगराम ∠ शालिग्राम[138], सिंगार ∠ शृंगार[139], सिरि < श्री[140], सीतल ∠ शीतल[141], सुमिरण ∠ स्मरण[142], सूरज < सूर्य[143], सूल ∠ शूल[144], सेस < शेष[145], सोभा ∠ शोभा[146], हसती ∠ हस्ती[147], आदि ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मीरां को तत्सम शब्दों की अपेक्षा अर्द्धतत्सम शब्द-रूपों का प्रयोग अधिक प्रिय था। मीरां की भाषा को साहित्यिक भाषा और लोक-भाषा की मध्यवर्ती के रूप में प्रतिष्ठित करने में इन अर्द्धतत्सम शब्दों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मीरां ने पद-रचना के निमित्त किसी विशेष प्रकार के शब्दों का आग्रहपूर्वक विधान नहीं किया था। भावाकुल अवस्था में जो भी शब्द सहज रूप से मिल गये, उन्हीं का प्रयोग मीरां ने कर लिया, उनकी अपूर्व माधुर्यमयी भावाभिव्यक्ति में डूब कर वे साधारण शब्द भी चमकने लग गये।

---

क्रम संख्या-(पदसंख्या)

92. (167), 93. (96), 94. (31), 95. (35), 96. (26), 97. (31), 98. (150), 99. (137), 100. (92), 101. (81), 102. (119), 103. (140), 104. (66), 105. (139), 106. (24), 107. (27), 108. (19 ), 109. (20), 110. (17), 111. (57), 112. (190), 113. (25), 114. (184), 115. (154), 116. (7), 117. (196), 118. (96), 119. (89), 120. (24), 121. (9), 122. (7), 123. (184), 124. (188), 125. (17), 126. (26), 127. (77), 128. (25), 129. (190), 130. (37), 131. (156), 132. (7), 133. (68), 134. (200) ।

135. (59), 136. (47), 137. (74), 138. (41), 139. (41), 140. (19), 141. (1), 142. (154), 143. (114), 144. (41), 145. (117), 146. (58), 147. (187), ।

### 3. तद्भव शब्द —

संस्कृत के मूल-शब्दों से उत्पन्न तद्भव (तत् + भव, उससे उत्पन्न) शब्द प्राचीन आर्यभाषाओं से होकर मध्यकालीन भाषाओं में आये है। एक लम्बी विकास यात्रा से गुजरने के कारण इनके स्वरूप में अत्यधिक परिवर्तन हो चुका है, इसलिए प्राकृत, अपभ्रंश से हिन्दी में आने वाले ये शब्द हिन्दी-भाषा की अपनी निधि बन गये हैं। हिन्दी भाषा का तीन-चौथाई अस्तित्व इन्हीं शब्दों पर आधारित है। शेष एक चौथाई भाग का निर्माण तत्सम, अर्द्धतत्सम, देशी और विदेशी शब्द करते हैं। तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्द लोक-जीवन और लोक-हृदय के निकट होने के कारण लोकानुभूति की रमणीयता से परिपूर्ण होते हैं। मीरां के काव्य व्यक्तित्व का 75% अंश इन्हीं तद्भव शब्दों द्वारा निर्मित है। मीरां के पद वैयक्तिक अनुभूतियों की सहज किन्तु मार्मिक अभिव्यक्ति हैं। उन्होंने अधिकांश पदों में अपनी अन्तर्वेदना की अनौपचारिक अभिव्यंजना अपने प्रियतम के सम्मुख की है और जब हृदय की सम्पूर्ण आकांक्षाएं और व्यथाएं किसी से कही जाती हैं, तो वाणी में मर्मस्पर्शी भावुकता, शिष्टाचार-मुक्त सरलता और अपनापन सहज ही समाहित हो जाता है, अतः मीरां की प्रिय-निवेदित भावनाएं भी आडम्बरपूर्ण शब्दजालों से सर्वथा असम्पृक्त हैं, और हृदय के सर्वाधिक निकटस्थ रहने वाले सरलतम शब्दों में अभिव्यंजित हुई हैं।

मीरां द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दों का विशद विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के कलेवर में अनावश्यक वृद्धि को जन्म देगा, अतः उदाहरणार्थ मीरां-पदावली में आए, कुछेक तद्भवशब्द प्रस्तुत हैं—

अंकोर<अंकमाल[1], आंख<अक्षि[2], अंखियां<अक्षि[3], आंखड़ियां<अक्षि (+डियां)[4], आंगणा<अंगण[5], अंगिया<अंगिका[6], अंगीठी<अग्निष्ठिका[7], अंचरा<अंचल[8], अंटक<आटंकन[9], अंधियारी<अंधकारयुक्त[10], अकाज< अकार्य[11], अटारी<अट्टालिका[12], अनौखे<अन+ईक्ष[13], अपूठी<अपृष्ठ+ई[14], अविणासी<अविनश्वर[15], अवैर<अ+वेला[16], अवोलणां<अ+ब्रू[17], अभागण <अभाग्य[18], अलूणो<अ+लवण[19], अहीरणी<आभीर+भी[20]। आंवां< आम्र[21], आगां<अग्र[22], आज<अद्य[23], आरत<आरात्रिक[24], आसोजां< आश्विन[25], उलकाणें<उत्कलित[26], उघाड़ो<उद्घाटन[27], उचारे<उच्चरित[28] ; उमावो<उमंग[29] ; ऊभी<ऊत्थित[30], ऊलर<उद्+लल्[31], । ऐड़ी<आवेष्टन[32],

---

क्रम संख्या-(पदसंख्या)

1. (5), 2. (166), 3. (106), 4. (108), 5. (78), 6. (71), 7. (33), 8. (181,) 9. (25), 10. (81) 11. (62), 12. (34), 13. (170), 14. (33), 15. (149), 16. (136), 17. (66), 18. (43), 19. (26), 20. (186), 21. (65), 22. (17), 23. (151), 24. (150), 25. (115), 26. (73), 27. (118), 28. (165), 29. (108), 30. (58), 31. (74), 32. (181),

ऐसी <ईदृश्[33], ओखी <ओख[34], ओछा <तुच्छ[35], ।

कउवा <काक[36], कछुक <किंचित्[37], कट्यां <कर्त्तन[38], कठे <कुत्र[39], कड़वा <कटुक[40], कन्हैया <कृष्ण[41], काण्हडो <कृष्ण[42], कानुड़ो <कृष्ण[43], कानां <कान्हा <कृष्ण[44], करवत <करपत्र[45], करेजा <कालेय[46], कलियां < कलिका[47], कसूंमल <कुसुंभ[48], कहं <कुत्र+स्थाने[46], कांछनी <कक्ष[50], काज < कार्य[51], काजल <कज्जल[52], काढ़ <कर्षण[53], कुम्हलास्यां <कु+म्लान[54], क्वांरि < कुमारी[55], खप्पर <खर्पर[56], खारां <क्षार[57], खूया <खोया <क्षेपण[58], खेत < क्षेत्र[59], गह्या <ग्रहण[60], गांठी <ग्रंथि[61], गागर <गर्गर[62], गाजे <गर्जन[63], गाढ़ा <गूढ़[64], गुजरियां <गुर्जरी[65], गुफा <गुहा[66], गुझवार्ता <गूढ़वार्ता[67], घंस < घर्षण[68], घुंमट <घूर्णन[69], चोंच <चंचु[70], चौक <चतुष्क[71], चोगणे <चतुर्गुण[72] चोमास्या <चातुर्मास्य[73], छमासी <षट्मास+ई[74], छाई <आच्छादित[75], छुधा <क्षुधा[76], छूयां <छुच्छ[77], छेह <क्षरण[78], जुगत <युक्ति[79], जूठे <उच्छिष्ट[80], जूण <योनि[81], जोगण <योगिनी[82], जोसी <ज्योतिषी[83], जोसीड़ा <ज्योतिषी[84], झड़ <क्षरण[85], झूलणीं <दोलन[86], टेढ़यां <तिर्यक्[87], टोना <तंत्र[88], ठाम < स्थानम्[89], ठाढ़े <स्यात्[90], ठाणां <अनुष्ठान[91], डसी <दंश[92], डावरां <दभ्र[93], डूंगर <तुंग[94], डोल <दोल[95], णांच <नाच <नृत्य[96], णातो <नातो <ज्ञाति[97], णिभावां <निभावां <निर्वाह[98], णिरखण <निरीक्षण[99], नींद <निद्रा[100], णेण <नेन <नयन[101], <तात <तंतु[102], तीजा <तृतीया[103], तोसस <तोष[104], थल <स्थल[105], थोरा <स्तोक[106], दही <दधि[107], दीठ <दृश्[108], दुहेली < दुखिनी[109], दूध <दुग्ध[110], दूल्हो <दुर्लभ[111], धंसिके <ध्वंसन्[112], धंधे <धन+ दा[113], धीर <धैर्य[114], धुण <ध्वनि[115], धूतारा <धूर्त[116], नथनी <नाथ्+

---

क्रम संख्या-(पद संख्या)

33. (49), 34. (96), 35. (59), 36. (84), 37. (60), 38. (61), 39. (48), 40. (24), 41. (163), 42. (201), 43. (164) 44. (162), 45. (49); 46. (7), 47. (151), 48. (53), 49. (39), 50. (8), 51. (26), 52. (32), 53. (18), 54. (35), 55. (51), 56. (117), 57. (19), 58. (18), 59. (139), 60. (27), 61. (32), 62. (148), 63. (81), 64. (125), 65. (177), 66. (188), 67. (123), 68. (117), 69. (74), 70. (84), 71. (74), 72. (30), 74. (103), 75. (89) । 76. (158), 77. (18), 78. (59), 79. (195), 80. (176), 81. (140), 82. (49), 83. (115), 84. (114), 85. (76), 86. (186), 87. (10), 88. (7), 89. (114), 90. (165), 91. (156), 92. (74), 93. (24), 94. (59), 95. (58), 96. (17), 97. (72), 98, (104), 99. (280), 100. (28), 101. (10), 102. (173) 103. (115), 104. (196), 105. (116), 106. (147), 107. (160), 108. (12), 109. (80), 110. (160), 111. (27), 112. (7), 113. (159), 114. (110), 115. (166), 116. (58),

नी[117], निपजे <निष्पन्न[118], नेरा <नियर <निकट[119], न्यारो <निराकृत[120], छी पक्षी[121] ।

पंड <पांडु[122], पखारयां <प्रक्षालन[123], पखावज <पक्षवाद्य[124], पतियावे < प्रतीति[125], पहेली <प्रहेलिका[126], पांवरणा <पाहुरणा <प्राघुरणक[127], पांव < पाद[128], पाग <पदक[129], पारण <पाद <पर्ण[130], पात <पत्र[131], पाती < पत्री[132], पाहरण <पाषाण[133], पिंडत <पंडित[134], पिछांणो <प्रत्यभिज्ञान[135], पेज <प्रण[136], पेठां <प्रविष्ट[137], फांसु <पाश[138], फंदा <बंध[139], फूलवे < प्रफुल्ल[140], फोरी <स्फोटन[141], वखारणां <व्याख्यान[142], वछिया <वत्स[143], वजंता <वादन[144], वटवो <वर्तुल[145], वदरां <वारिद[146], वदीत <विदित[147], वभूत <विभूति[148], वरजां <वर्जन[149], वरस्या <वर्षण[150], वहियां <बाहु[151], वांकां <वंकिम[152], वाती <वर्तिका[153], वात <वार्ता[154], वावडी <वापिका[155], वावरी <वातुल[156], विंदो <वंदन[157], विखर <विकीर्ण[158], विगड़ी <विकृत[159], विछड़ <विच्छेद[160], विछाय <विस्तरण[161], विजली <विद्युत[162], विरियां < वेला[163], विसर <विस्मरण[164], वेल<वल्लरी[165], वौपारां<व्यापार[166], वोरां< वातुल[167], भंवर<भ्रमर[168], भगत<भक्त[169], भवां<भ्रू[170], भाया<भ्राता[171], भीलरणी<भिल्ल[172], भेप<वेश[173], मझार<मध्य+धार[174], मगसर<मार्ग-शीर्ष[175], मछरी<मत्स्य[176], <मटकिया<मृत्तिका[177], मरणरथ<मनोरथ[178], मनिया<माणिक्य[179], मस्त<मत्त[180], माई<मा<मातृ[181], माटी< मृत्तिका[182], मारणप<मनुष्य[183], मित<मित्र[184], मीठां<मिष्ट[185], मुहोघो< महार्घ[186], मुठड़ी<मुष्टिका[187], मुरझावे<मूर्च्छन[188], मैल < मल[189], मोतिया< मुक्ता[190], मोर<मयूर[191], मोल<मूल्य[192], रमइया<रमण[193], रली<ललन[194],

क्रम संख्या (पद-संख्या)

117. (171), 118. (52), 119. (110), 120. (46), 121. (115) 122. (97), 123. (207), 124. (57), 125. (92), 126. (80), 127. (109), 128. (44), 129. (171), 130. (124), 131. (89), 132. (23), 133. (140), 134. (115), 135. (73), 136. (104), 137. (103), 138. (167), 139. (133), 140. (115), 141, (176), 142. (134), 143. (187), 144. (.2), 145. (58), 146. (149), 147. (58), 148. (58), 149. (28), 150. (116), 151. (181), 152. (11), 153. (64), 154. (54), 155. (28), 156. (36), 157. (25), 158. (182), 159. (14), 160. (107), 161. (41), 162. (81), 163. (78), 164. (129), 165. (18), 166. (24), 167. (90), 168. (191), 169. (18), 170. (10), 171. (18), 172. (139), 173. (12), 174. (4), 175. (115), 176. (87), 177. (176), 178. (24) 179. (158), 180. (41), 181. (167), 182. (194), 183. (159), 184. (59), 185. (11), 186. (22), 187. (139), 188. (69), 189. (158), 190. (26), 191. (74), 192. (22), 193. (100), 194. (26),

राखड़ां<रक्षा[195], रात<रात्रि[196], रूठ्यां<रुष्ट[197], रेण<रजनी[198], लख<लक्ष्य[199], लाख<लक्ष[200], लाज<लज्जा[201], सइयां<स्वामी[202], सजन<स्वजन[203], सांकड़ली<संकीर्ण[204], सांझ<संध्या[205], सांवरा<श्यामल[206], सांसड़िया<श्वास(+ड़िया)[207], साड़ी<शाटिका[208], सावण<श्रावण[209], सुपणा<स्वप्न[210], सुहाग<सौभाग्य[211], सेज<शय्या[212], हरे<हरित[213], हाथ<हस्त[214], हिय<हृदय[215], हेरत<आखेट[216], होली<होलिका[217]।

4. देशज शब्द—

जिन शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत या प्राकृत के मूल रूपों द्वारा ज्ञात नहीं हो पाती हैं, उन शब्दों को 'देशज' कहा जाता है। सामान्यतः देशज शब्दों की जन्मदात्री जनभाषाएं हुआ करती हैं। यद्यपि भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने अपनी खोजों द्वारा देशज माने जाने वाले अनेकों शब्दों के अज्ञात मूल-रूपों को उद्घाटित कर दिया है और कर रहे हैं, फिर भी मध्ययुगीन साहित्य में ऐसे अनेकों शब्द विद्यमान हैं जिनका मूल-स्वरूप अब तक भी एक रहस्य बना हुआ है।

मीरां-पदावली में प्रयुक्त अनेकों देशज-शब्द परिवर्तन की लम्बी प्रक्रिया से गुजरकर अब तक तद्भव-शब्दों की श्रेणी में आ गये हैं, फिर भी कई शब्द ऐसे हैं जो आज भी देशज माने जाते हैं और इनका उचित पर्याय हिन्दी में नहीं मिल पाया है, उदाहरणार्थ कुछ शब्द दिये जा रहे हैं—

अटपटी[1], अनारी[2], आखड़ां[3], ऐण[4], ओलगिया[5], ओलू[6], आरी[7], कांवी[8], कालर[9], खेह[10], गूदड़ी[11], छकी[12], जेज[13], झिरमिट[14], झीलरया[15], टपरिया[16], ढंढोरा[17], तालावेली[18], घत्तां[19], निवांण[20], नीरांत[21], मण[22], रालैली[23], सीधारता[24], सीरयां[25], सूयां[26], सेरयां[27], ।

मीरां द्वारा प्रयुक्त ऐसे राजस्थानी शब्द ही उनकी भाषा को अन्य कृष्ण-भक्त-कवियों की भाषा से पृथक् करते हैं तथा उनकी काव्य-शैली की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हैं। देशज शब्दों के प्रयोग ने जहां उनके काव्य को विशेष आत्मीयता व लोकतात्विकता प्रदान की, वहां उन्हें जनभाषा की सर्वाधिक लोकप्रिय कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठापित करने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। देशी शब्दों

---

क्रम-संख्या (पृष्ठ संख्या)

195. (193), 196. (75), 197. (35), 198. (20), 199. (6), 200. (26), 201. (12), 202. (92), 203. (9), 204. (33), 205. (40), 206. (610), 207. (108), 208. (153), 209. (96), 210. (27), 211. (194), 12. (15), 212. (154), 214. (14), 215. (158), 216. (7), 217. (77)।

1. (13), 2. (169), 3. (193), 4. (103), 5. (119), 6. (67), 7. (59), 8. (141), 9. (26), 10. (103), 11. (26), 12. (178) 13. (54), 14. (23), 15. (24), 16. (187), 17. (59), 18. (80), 19. (40). 20. (.6), 21. (141), 22. (60), 23. (34), 24. (26), 25. (24), 26. ( 8), 27. (33)।

के साथ ही कुछेक विदेशी शब्दों का प्रयोग भी मीरां-पदावली में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

**5. विदेशी शब्द—**

विदेशी शब्दों से तात्पर्य उन शब्दों से है जो अन्य देशों से भारत में आए हैं। मध्ययुग में ऐसे आयातित शब्दों में अरबी-फारसी भाषा के शब्द प्रमुख महत्व रखते हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही भारत में विदेशियों का आवागमन प्रारम्भ हो गया था। मध्ययुग के आते-आते इन लोगों ने भारत में अपनी जड़ें जमा ली थीं। फलतः इनकी सभ्यता व संस्कृति का प्रभाव भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर पड़ने लगा था, फिर भाषा ही कैसे अप्रभावित रह पाती? अरबी और फारसी के कई शब्द तत्कालीन जनभाषाओं में इतने घुलमिल गये थे कि उन्हें पृथक् करना कठिन हो गया था। इन शब्दों ने भी अपना मूल (तत्सम) रूप खो दिया था और तद्भव रूपों में जनता द्वारा धड़ल्ले से बोले जाते थे।

मीरां ने भी जनभाषा द्वारा आत्मसात् कर लिये गये इन विदेशी शब्दों का, जो प्रायः देशी बन गये थे, अपनी भावानुभूति के अनुकूल प्रयोग किया है, ऐसा मीरां-पदावली में प्राप्त कतिपय शब्दों के आधार पर कहा जा सकता है। मीरां द्वारा प्रयुक्त ये विदेशी शब्द मूलतः अरबी और फारसी भाषा के हैं, परन्तु अब तक उनका स्वरूप इतना परिवर्तित हो चुका है कि उन्हें स्वरूपगत आधार पर पृथक् करना असंभव तो नहीं पर कठिन अवश्य है। उदाहरणार्थ कुछ शब्द अपने वर्तमान तद्भव रूपों सहित दिये जा रहे हैं—

**अरबी शब्द—**

अमल <अमल[1], अरज <अर्ज[2], अरजी <अर्जी[3], कलम <कलम[4], कसर <क़सर[5], कसाई <क़साई[6], कागद <कागज[7], खतां <ख़तां[8], खबर <ख़बर[9], खरचा <खर्च[10], गरक <गर्क[11], जहर <ज़हर[12], झांझ <जहाज[13], डफ <दफ[14], तकसीर <तकसीर[15], तलब <तलब[16], दुनिया <दुनिया[17], नाजिर <नाज़िर[18], बाग <बाग़[19], बेहाल <बे+हाल[20], महल <महल[21], महीं <महीना[22], सहर <शहर[23], बेहजूर <बे+हुजूर[24], हाजिर <हाज़िर[25]।

**फारसी शब्द—**

अणेशा <अंदेशा[26], अरगजा <अर्गजह[27], कमान <कमान[28], किणारे <किनारा[29], खूबी ∠ खूबी[30], गुमानी ∠ गुमान+ई[31], गुमायो ∠ गुम[32], गुलफ़ाम ∠ गुलफ़ाम[33], गुलाल ∠ गुल्लाल[34], चंग ∠ चंग[35], चाकर ∠

क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (40), 2. (5), 3. (137)।
4. (76), 5. (89), 6. (158), 7. (185), 8. (200), 9. (131), 10. (197), 11. (38), 12. (34), 13. (31), 14. (175), 15. (113), 16. (135), 17. (73), 18. (118), 19. (154), 20. (116), 21. (34), 22. (115), 23. (34), 24. (198), 28. (7), 29. (11), 30. (130), 31. (130), 32. (44), 33. (184), 34. (148), 35. (175),

<चाकर[36], चादर<चादर[37], चीज<चीज़[38], चेण<चैन[39], जंजीर<जंज़ीर[40], जहाण<जहान[41], जुलफन<जुल्फ़[42], जोर<जोर[43], णेवाजां<नवाज[44], तरकस<तरकश[45], तराजां<तराजू[46], तीर<तीर[47], दरद<दर्द[48], दरबारां<दरबार[49], दरियाई<दरियाई[50], दांवण<दामन[51], दिवांणी<दिवानी[52], दील<दिल[53], दुसमण<दुश्मन [54], निहाल<निहाल[55], नेवाज<नवाज[56], परदा<परदा[57] पियाला<प्याला[58], पेस<पेश[59], पांच<पूच[60], बंदे<बंदा[61], बगसणहारा<बक्श+न+हारा [62], बदनामी<बद+नामी[63], बाखरियां<बखर[64], बाजी<बाज़ी[65], याद<याद[66], रेजा<रेजा[67], विराणे<विरान[68], सिरताज<सिर+ताज[69], सूरत<सूरत[70], सोर<शोर[71], हज़ारी<हजार [72], हाजरियो<हजारी[73], आदि ।

## (ग) मीरां के शब्द-रूपों का भाषावैज्ञानिक विवेचन :

मीरां-काव्य के शब्द-स्रोतों के उक्त विवेचन के पश्चात् उनके शब्द-रूपों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करना उचित होगा । यद्यपि यह हमारा मुख्य विषय नहीं है, तथापि मीरां की भाषा में हुए विविध परिवर्तनों को जानने के लिए इसका संक्षिप्त विवेचन करना उपयुक्त होगा ।

**मीरां-काव्य में ध्वनियोजना—**

चूंकि मीरां द्वारा रचित पद उनके द्वारा ही लिपिबद्ध नहीं किए गये, इस कारण यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा प्रयुक्त ध्वनियों का मूल-स्वरूप क्या था ? परन्तु 'मीरां-पदावली'※ में संकलित पदों का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उनके पदों में अधिकतर राजस्थानी भाषा के अनुरूप ही ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं । मीरां के पदों में एक ही शब्द के अनेक रूपों में प्रयोग हुए हैं, यथा—अम्रत, अम्रित, इम्रित, इमरित आदि । इसका भी मुख्य कारण यह है कि रूप-भेद भी राजस्थानी की एक अपनी विशेषता है ।[1]

राजस्थानी भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें 'ण' और 'न' दोनों ध्वनियों का प्रयोग होता है और दोनों का अपना विशिष्ट स्थान है । इसी प्रकार

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

36. (154), 37. (34), 38. (26), 39. (102), 40. (155), 41. (134), 42. (162), 43. (202), 44. (150), 45. ([illegible]8), 46. (2[illegible]), 47. (38), 48. (70), 49. (24), 50. (171), 51. (122), 52. (39), 53. (125), 54. (118), 55. (47), 56. (6[illegible]), 57. (38), 58. (40), 59. (117), 60. (183), 61. (198), 62. (112), 63. (33), 64. (162), 65. (194), 66. (55), 67. (7), 68. (26), 69. (84), 70. (3), 71. (145), 72. (171), 73. (118) ।

※ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित मीरांबाई की पदावली (तेरहवां संस्करण)

1 श्री सीताराम लालस—'राजस्थानी सबद-कोश' (प्रथम भाग)—पृ. 11

'ल' और 'ळ' ये दोनों ध्वनियां भी राजस्थानी में प्रयुक्त होती हैं; परन्तु इनका प्रयोग भी अलग-अलग स्थानों पर होता है। इन्हें एक दूसरे के स्थानापन्न रूप में प्रयुक्त नहीं किया जाता है। किन्तु मीरां पदावली के कतिपय प्रतिलिपिकारों व सम्पादकों ने यह मान लिया कि राजस्थानी में ये दोनों ध्वनियां 'ण' और 'ळ' के रूप में ही प्रयुक्त होती हैं। अतः 'मीरां-पदावली' के कई संकलनों में 'न' के स्थान पर 'ण' और 'ळ' के स्थान पर 'ड़' कर दिया गया। विशेषकर डाकोर-प्रति और काशी-प्रति में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः देखी जा सकती है। परिणामतः 'ण' तथा 'ड़' ध्वनि के प्राधान्य से मीरां की भाषा की मधुरता और सरलता को आघात पहुँचा है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी यह प्रवृत्ति अपनाई है और 'नैन' का 'णेण', 'नन्दकुमार' का 'णण्दकुमार' आदि रूप बना दिये हैं।

यद्यपि प्राकृत, मागधी आदि भाषाओं में जिन शब्दों में लगातार दो 'नकार' हों वहां कहीं पूर्व और कहीं उत्तर 'नकार' 'णकार' में परिवर्तित हो जाता है, यथा—'नेण' और 'णेण' आदि; किन्तु राजस्थानी में यह प्रवृत्ति अंशतः ग्राह्य है। यहां प्रारम्भ में 'ण' का प्रयोग नहीं होता, राजस्थानी भाषा की ध्वनियों के प्रयोग से अनभिज्ञ होने के कारण ही उक्त प्रकार की भूलें हुई हैं।

वस्तुतः मीरां की भाषा के शब्द-रूपों व ध्वनि-परिवर्तन के अनेक कारण हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से ध्वनि-परिवर्तन के जो मुख्य कारण हैं[1] वे अधिकांशतः मीरां की भाषा के ध्वनि-परिवर्तन पर भी लागू होते हैं। मीरां की भाषा में ध्वनि-परिवर्तन प्रायः भाषा के प्रवाह में स्वयमेव हो गये हैं, जिनके लिए किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति की आवश्यकता नहीं होती, उन परिवर्तनों को भाषाविज्ञान में स्वयंभू (Unconditional spontaneous or incontact) कहते हैं। मीरां की भाषा में हुए परिवर्तनों के कुछ कारण ऊपर बताये जा चुके हैं, कुछ अन्य कारणों को आगे दिखाया जा रहा है।

(क) लोप :

मीरां की भाषा में बोलने में शीघ्रता व स्वराघात के प्रभाव स्वरूप कुछ ध्वनियों का लोप हो गया है। यह लोप दो रूपों में हुआ है : 1 - स्वर-लोप 2—व्यञ्जन-लोप।

इन दोनों के भी तीन-तीन रूप है। (1) आदि स्वर-लोप, (2) मध्य स्वर-लोप, (3) अन्त स्वर-लोप। इसी प्रकार व्यञ्जन-लोप के भी क्रमशः यही रूप हैं।[2]

---

1 ध्वनि-परिवर्तन के मुख्य कारण ये हैं—(1) वाक्यन्त्र की अथवा श्रवणयन्त्र की विभिन्नता, (2) अनुकरण की अपूर्णता, (3) अज्ञान, (4) भ्रमपूर्ण उत्पत्ति, (5) बोलने में शीघ्रता, (6) मुख-सुख, (7) भावुकता, (8) बना-कर बोलना, (9) विभाषा का प्रभाव, (10) भौगोलिक प्रभाव, (11) सामा-जिक प्रभाव, (12) लिखने के कारण, (13) संक्षिप्त करने की प्रवृत्ति या प्रयत्न-लाघव, (14) बलहीन व्यञ्जन का आधिक्य, (15) स्वाभाविक विकास, (16) मात्रा या तुक, (17) सादृश्य, (18) स्वराघात आदि।

2 राजस्थानी सबद-कोश—पृ. 12

(1) स्वर-लोप — स्वरलोप के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1 आदि स्वर-लोप —

पण्ड<पिण्ड—'पण्ड मांसू प्राण पापी निकसि क्यूं णा जात ।'[1]

2 मध्य स्वर-लोप —

चन्द्रका<चन्द्रिका—'मोरचन्द्रका किरीट मुगट छव सुहाई ।'[2]

वावल<वावुल—'वावल वेद बुलाइया जो म्हांरी वांह दिखायी ।'[3]

सालगराम<सालिगराम<शालिग्राम—

'काला नाग पिटार्‌यां भेज्या, सालगराम पिछाणा ।'[4]

3 अंत स्वर-लोप—

कट<कटि—पीताम्वर कट काछनी काछे[5]

छव<छवि — या छव देख्यां मोह्यां मीरां[6]

वेदन<वेदना—कहा करूं कित जाऊं सजणी, वेद न कूंण वुतावे ।[7]

दध<दधि — दध मेरो खायो मटकिया फोरी[8]

मुरार<मुरारि—सुणियो श्रवण मुरार ।[9]

(2) व्यञ्जन-लोप—

1 आदि व्यञ्जन-लोप—

परस<स्पर्श—'मण थे परस हरि रे चरण ।'[10]

नेह<नेह — स्नेह — 'नागर नन्दकुमार लाग्यो थारो नेह ।'[11]

वूल<ववूल — 'एकै थाणे रोपिया रे इक आंवो इक वूल ।'[12]

(3) अन्त्य व्यञ्जन-लोप—

खींच<खिचड़ी — करमा वाई की खींच आरोग्यो ।[13]

विलम<विलम्व मीरां व्याकुल विरहणी, अव विलम णा कीज्योजी ।[14]

ख—आगम

जहां वोलने में शीघ्रता के कारण किसी ध्वनि का लोप हो जाता है, वहां सुगमता के लिये नई ध्वनियों का आगमन भी होता है । लोप की भांति इसके भी दो भेद हैं—1. स्वरागम और 2. व्यञ्जनागम । आदि, मध्य और अंत के क्रम से ये भी तीन उपवर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—आदि स्वरागम तथा आदि-व्यञ्जनागम के उदाहरण 'मीरां-पदावली' में नहीं मिलते । वैसे हरिनारायण पुरोहित द्वारा सम्पादित 'मीरां वृहत् पदावली' में इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

यथा—

1 आदि स्वरागम—

अस्नान<स्नान—'सांपड़ किया अस्नान सूरज सामी जप करै ।[15]

इस्तरी<स्त्री — 'घर की नार इस्तरी चाली छै मुड़ राठोड़ ।[16]

---

मी. पदा., क्रम संख्या — (पद संख्या)

1. (66), 2. (12), 3. (72), 4. (39), 5. (8) 6. (2), 7. (74), 8. (176), 9. (133), 10. (9), 11. (105), 12. (59), 13, (139), 14. (96), 15. (मी. वृ. पदा., पद. 42), 16. (मी. वृ. पदा. पद. 47) ।

चिरणामृत<चरणामृत —'कर चिरणामृत पी गई मीरां आप जानो दीनानाथ ।'[1]

वस्तुतः आदिस्वरागम की यह प्रवृत्ति लोकभाषापरक पदों में ही मिलती है।

2 **मध्य स्वरागम —**

सनेही<स्नेही—परम सनेही राम की नित ओलूं री आवे ।[2]

मगण<मग्न – राणा विष रो प्याला भेज्या पीय मगण हूयां ।[3]

मुकुति<मुक्ति – राम भजण विण मुकुति न पावां ।[4]

दूहज<दूज– हो गये श्याम दूहज के चंदा ।[5]

(3) **अन्त्य स्वरागम—**

कलि<कल—तुम देखे विन कलि न पड़त है ।[6]

उरि<उर—है कोई जग में परम सनेही ए उरि साल मिटावे ।[7]

सागरां<सागर—मीरां रे सुख सागरां, म्हारे सीस विराजा हो ।[8]

व्यञ्जनागम—

(1) **आदि व्यञ्जनागम —**

आदि-व्यञ्जन आगम की प्रवृत्ति मीरां की भाषा में नही मिलती है ।

(2) **मध्य व्यंजनागम—**

भुलावना<भुलाना—कै कहुँ काज किया संतन का
कै कहुँ गैल भुलावना ।[9]

च्यारी<चारी –सखियां मिलि दोय च्यारी वावरी भई है सारी ।[10]

साकत<शाक्त– साकत जननो संग न करिये, पड़े भजन में भंग रे ।[11]

मोतियन<मोतिन –कहो तो मोतियन मांग भरावां ।[12]

**अन्त्य व्यञ्जनागम—**

तनह<तन —तनह में व्यापी पीर मन मतवारी है ।[13]

आंधला<अन्धा—निन्दा करसे नरम कुण्ड मां जासे, थासे आंधला अपंग रे ।[1]

पांवलिया<पांव – हरि मंदिर जातां पावलिया रे दूखे ।[2]

(ग) विपर्यय—

वर्ण-विपर्यय के कारण भी मीरां की भाषा में परिवर्तन हुआ है। कभी-कभी शब्दों में प्रयुक्त होने वाले स्वर, व्यंजन, अथवा अक्षर अनुकर्ता गायक या लेखक की असावधानी से उसी शब्द में दूसरे स्थान पर प्रयुक्त हो गये हैं। मीरां की भाषा में ध्वनि-परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह भी है। विपर्यय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

---

1. (मी. वृ. पदा. पद-422), 2. (मी. पदा., पद. 67) ।
3. (मी. पदा., पद. 18), 4. (मीं. पदा. पद. 156), 5. (मी. पदा. पद 18), 6. (मी. पदा. पद. 49), 7. (मी. पदा. पद. 92), 8. (मी. पदा. पद. 150), 9. (मी. पदा. पद. 84), 10. (मी. पदा. पद. 174), 11. (मी. पदा. पद. 30), 12. (मी.पदा. पद. 153), 13. (मी. पदा. पद. 174; 1. (30), 2. (157), ।

1 स्वर-विपर्यय—

कुसलात<कुशलता—अबोलणा जुग बीतण लाग्या कायां री कुसलात ।[1]

पिंडत<पंडित—काग उडावत दिन गया बूझूं पिंडत जोसी हो ।[2]

पटंवरा—पाटंवर—झूठा पाट पटंवरा रे झूठा दिखणी चीर ।[3]

2 व्यञ्जन-विपर्यय—

सामान्यतः व्यंजन-विपर्यय के उदाहरण "मीरां-पदावली" में नहीं मिलते, केवल 'रेफ' के कारण अवश्य ही ध्वनियों में परिवर्तन हुआ है। श्री सीताराम लालस के अनुसार राजस्थानी में ऊर्ध्व रेफ का प्रयोग नहीं किया जाता है।[4] यही कारण है कि प्रायः मीरां की भाषा में भी उर्ध्व रेफ ( ॅ ) के स्थान पर पूर्ण 'रकार' का प्रयोग हुआ है। यथा—

मारग<मार्ग—जिण मारग म्हारा साध पधारे ।[5]

करम<कर्म—साधां जणरी निंद्या ठाणां,
करम रा कुगत कुमावां ।'[6]

दरसण<दर्शन—चरणाम्रित रो नेम सकारे,
नित उठ दरसण जास्यां ।[7]

अनुनासिकता—

राजस्थानी भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति अनुनासिकता की ओर हैं। राजस्थानी में प्रत्येक स्वर का अनुनासिक रूप पाया जाता है चूंकि अनुनासिक ध्वनि स्वाभाविक और सरल है अतः उसका विकास स्वतः हो जाता है।[8]

मीरां-पदावली में अनुनासिकता की प्रवृत्ति अत्यधिक मिलती है। अनुनासिकता का अतिशय प्रयोग काव्य को अस्वाभाविक बना देता है। उदाहरणार्थ निम्न पद प्रस्तुत है जिसमें अनुनासिकता का बहुल प्रयोग किया गया है—

"नींदड़ी आवां णा सारां रात, कुण विध होय परभात ।
चमक उठां सुपणां लख सजणी, सुधणा भूल्यां जात ।
तलफां तलफां जियरां जायां, कब मिलियां दीनानाथ ।
भयां बावरां सुधबुध भूलां, पीव जाण्या म्हारी बात ।
मीरां पीड़ां सोह जाणें, मरण जीवण जिण हाथ ।"[9]

वस्तुतः अनुनासिकता का यह प्रभाव राजस्थानी भाषाजन्य है।

बलाघात एवं भावातिरेक—

कभी-कभी बलाघात एवं भावातिरेक के कारण भी शब्द-रूपों में परिवर्तन हो जाता है। यद्यपि इसके मूल में भी प्रयत्न-लाघव ही होता है। शब्दों के प्रयत्न-लाघव के साथ ही भाव-सम्बन्धी प्रयत्नलाघव भी सक्रिय रहता है।

---

1. (66), 2. (115), 3. (26), 4. रा. स. को., (प्रथम भाग—पृ. 13), 5. (25)।

मी० पदा०—क्रम संख्या (पद संख्या)

6 (156), 7 (31)

8 रा. स. को., (प्रथम भाग—पृ. 14)

9 (मी. पदा., पद. 75)।

कुछ लोग वास्तविक स्थिति को तुच्छ समझ कर या कम समझ कर आंकते हैं, इससे अल्पार्थ (ऊनवाची) शब्दों की उत्पत्ति होती है। प्रेम, स्नेह, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि मनोविकार भी ऊनवाचक शब्दों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। मीरां ने भी इन शब्द-रूपों का यथोचित प्रयोग किया है। उनके द्वारा भावातिरेक में प्रयुक्त किये गये शब्दों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— 1. तुच्छताद्योतक, 2. भावातिरेक सूचक, 3. अश्रद्धा-सूचक।

**1 तुच्छताद्योतक—**

प्रत्येक को तुच्छ समझ कर एवं कुछ कम करके आंकने की तथा अपने अहं भाव की रक्षा करने की प्रवृत्ति ही शुद्ध तुच्छता द्योतक शब्दों की जननी है। अचेतन मन की अहंभाव की तुष्टि के अतिरिक्त किसी अन्य भाव की अभिव्यक्ति इसमें नहीं होती है। मीरां का अहंभाव चूंकि पूर्णतया विगलित हो चुका था अतः अहं तुष्टि के लिए उन्होंने शब्द-प्रयोग नहीं किये हैं।

**2 भावातिरेकसूचक—**

दुलार और ममत्व की आन्तरिक भावना कई बार शब्दों में आकर झांकने लगती है। प्रेमातिरेक के कारण हम अपने स्नेहीजनों के नाम बिगाड़कर बोलने लगते हैं, कभी-कभी क्रोधातिरेक में भी शब्दों का रूप विकृत हो जाता है। राजस्थानी भाषा की प्रकृति के अनुसार कहीं शब्दों में मात्रावृद्धि कर कहीं 'इया' या 'ड़ा', 'ड़ां', 'ड़ी' आदि प्रत्यय लगा कर भी शब्द के रूप परिवर्तित कर दिये हैं। मीरां की भाषा में यह प्रवृत्ति खूब मिलती है। यथा

**(1) मात्रा परिवर्तन तथा मात्रावृद्धि —**

गोविन्दा <गोविन्द — माई म्हां गोविन्दा गुण गास्यां।※
स्यामा <स्याम – मीरां के मन अवर न माने, चाहे सुन्दर स्यामा।[1]
सांवरो <सांवरा सांवरो म्हारी प्रीत णिभाज्यो जी।[2]
रमइया <राम – रमइया मेरे तोही सूं लागी नेह।[3]
मनमोहनाजी <मनमोहन आवो मनमोहनाजी मीठो थारो बोल।[4]
धूतारा <धूर्त—धूतारा जोगी एक रसूं हंसि बोल।[5]
बंकट <बांकी निपट बंकट छब अटके।[6]

**(2) प्रत्यय जोड़कर —**

कान्ह + ड़ो—कानूड़ो सखी म्हारो कानूड़ो कलेजा री कोर।[7]
नेह + ड़ो – नेहड़ो—प्रभुजी कहां गया नेहड़ो लगाय।[8]
मुख + ड़ा – मुखड़ा—मुखड़ा सवद सुणाज्यो।[9]
जोसी + ड़ा – जोसीड़ा— जोसीड़ा णे लाज वधायां।[10]
संदेस + ड़ा—संदेसड़ा— प्रीतम दिया संदेसड़ा।[11]

---

※ (मीरां पदा., क्रम सं. – पद. सं. 31)
मीरां पदा., क्रम संख्या - (पद. सं.)
1. (114), 2. (129), 3. (59), 4. (100), 5. (58), 6. (10)
7. (164), 8. (64), 9. (129), 10. (144), 11. (150)

ओलग + इया — ओलगिया म्हारा ओलगिया घर आज्योजी ।[1]
बाट + ड़िया बाटड़िया — स्याम मिलण री घणो उमावो णित उठ जोऊं बाटड़िया ।[2]
सावण + इयो — सावणियो - भीजे म्हारो दखण- चीर सावणियो लूम रह्यो छै ।[3]
देस + लड़ो - देसलड़ो - नहीं सुखभावै थारो देसलड़ो रंगरूड़ो ।[4]
सांकड़ + ली - सांकड़ली — सांकड़ली सेरयां हरि मिला क्यूं कर फिरूं अपूठी[5]
आंगरिया — गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आंगलियां री रेख ।[6]

अश्रद्धा सूचक —

कुछ व्यक्तियों के प्रति हमारे मन में क्रोध, घृणा अथवा अश्रद्धा का भाव रहता है। अचेतन मन उन अश्रद्धा आदि भावों की विकृत शब्दों के माध्यम से व्यक्त है। मीरां ने भी कहीं-कहीं इस प्रकार के प्रयोग किये हैं—
सीसोद्यो सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कांई कर लेसी[7]
इसड़ा — थे तो राणा जी म्हांने इसड़ा लागो ज्यूं ब्रच्छन में कैर[8]
पांवलिया — हरि मंदिर जाता पांवलिया रे दूखे फिर आवे सारो गाम रे ।[9]
लोकड़िया — लेतां लेतां राम नाम रे, लोकड़ियां तो लाजां मरे छे[10]

वर्णपरिवर्त । —

राजस्थानी भाषा के स्वरों की कुछ अपनी विशेषता है। कई स्वरों के उच्चारण में वैशिष्ट्य होता है जिससे विविध स्वरपरिवर्तन एवं वर्णपरिवर्तन होते हैं। कहीं यह परिवर्तन मात्राओं में होता है, तो कहीं विशिष्ट वर्णों की अल्पप्राण-महाप्राण ध्वनि में। कहीं अघोषीकरण के कारण परिवर्तन होता है तो कहीं घोषीकरण के कारण। कभी-कभी संप्रसारण और द्वित्वीकरण भी वर्णपरिवर्तन के कारण बनते है। मीरां की भाषा में भी इन्हीं के कारण वर्णपरिवर्तन हुए हैं। उनकी भाषा में हुए वर्णपरिवर्तन कहीं राजस्थानी भाषा की प्रकृति के नियमानुकूल हैं तो कहीं वैयक्तिक रुचियों के अनुरूप। इन्हें हम मुख्यतः निम्न प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं —

1 — स्वर-परिवर्तन, 2 — व्यञ्जन-परिवर्तन, 3 — महाप्राणीकरण,
4 — अल्पप्राणीकरण, 5 — घोषीकरण, 6 — अघोषीकरण,
7 — संप्रसारण, 8 — द्वित्वीकरण

1 स्वर-परिवर्तन —

अ <उ अकुलावै — उकलावै हिवड़ो अति उकलावै ।[11]
अ <उ — सपरणा <सुपरणा - माई म्हारो सुपरणा मां परण्या दीनानाथ ।[12]
इ <अ — लिपटाणी <लपटाणी चरण कंवल लपटाणी ।[13]

---

मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (119) 2. (108), 3. (122), 4. (32) 5. (33), 6. (117) 7. (35), 8. (34), 9. (157), 10. (157) 11. (73), 12. (27), 13. (38) ।

इ <अ—संगति <संगत—गयां कुमत लयां साधां संगत ।[1]

इ∠ए—मिला∠मेला — थारा सवद सुहावणा रे जो पिव मेला आज ।[2]

उ∠ओ—लुभाई∠लोभाई—नटवर प्रभु भेष धर्‌यां रूप जग लोभाई ।[3]

ए∠इ—एक∠इक—एकै थाणे रोपिया रे, इक आंवो इक वूल ।[4]

ओ∠उ—कौवा∠कउवा – प्रीतम कूं पतियां लिखूं कउवा तू ले जाय ।[5]

2 **व्यंजन परिवर्तन—**

ओ∠व—आओ∠आव—आव सखी मुख देखिये[6]

व∠ओ—भवसागर∠भोसागर—भोसागर तर जास्यां[7]

क्ष∠ख—क्षोर∠खोर—खोर किया सिर केस[8]

य∠ज योगी∠जोगी—जोगी म्हांने दरस दियां सुख होय[9]

घ∠ह—मेघ∠मेह—मेह अति झड़ लाये रे[10]

ध∠झ—मध्य∠मझ—भौसागर मझधारां वूड्यां[11]

म∠व—कमल∠कंवल—सुभगसीतल कंवल कोमल[12]

म∠व—वालमा∠वालवां— अविनासी सूं वालवां है जिणसूं सांची प्रीत[13]

ल∠र—मूल∠मूर जीवण मूर जड़ी[14]

ल∠र – पीली∠पीरी—पात ज्यूं पीरी पड़ी अरु विपत तन छाई[15]

य∠व—भयां∠भवां—भवां वावरा सुधवुध भूलां[16]

यव∠—पिय∠पीव—पीव जाण्या म्हारी वात[17]

3 **महाप्राणीकरण—**

दर्द∠दरद∠दरध—दरध न कोई पिछाणे हो[18]

वेश∠भेप∠भेख—भगवा भेख धर्‌यां थे कारण[19]

मृग∠मिरग∠मिरघे लगण लगाई जैसे मिरघे नाद से[20]

जहाज∠झाझ—स्याम नाम का झाझ चलास्यां[21]

पहिचान∠पिचाण∠पिछाण—दरध न कोई पिछाणों हो ।[22]

4 **अल्पप्राणीकरण—**

ओषधि <ओषद <ओखद—जतन करो जन्तर लिखी वांधो ओखद लाऊं धंसिके[23]

5 **घोषीकरण—**

अलक∠अलग – वारिज भवां अलग मतवारी[24]

प्रकास∠प्रगास - वदन चन्द परगासतां[25]

6 **अघोषीकरण—**

'मीरां-पदावली' में अघोषीकरण के उदाहरण नहीं मिलते हैं ।

---

मी. पदा., क्रम सं. (पद. सं.)

1. (19), 2. (84), 3. (12), 4. (59), 5. (84), 6. (16), 7. (:1), 8. (68), 9. (97), 10. (82), 11. (138), 12. (1), 13. (26), 14. (14), 15. (89), 16. (75), 17. (75), 18. (73), 19. (68), 20. (191), 21. (35), 22. (73). 23. (7), 24. (10), 25. (13) ।

7 **संप्रसारण –**

जब संयुक्ताक्षरों की सम्मिलित ध्वनि अलग होकर पूर्ण बन जाती है तब उसे 'संप्रसारण' माना जाता है। सामान्यतः मीरां-पदावली में प्रयुक्त रेफ की ध्वनि पृथक् रूप धारण कर पूर्ण हो गई है। यथा—

गोवर्धन <गोवरधन—इण चरण गोवरधन धार्‌यां।[1]
मुद्रा <मुदरा—माला मुदरा मेखला रे वाला खप्पर लूंगी हाथ।[2]
रत्न <रतन—रतन जटित माथे मुकट कस्यौ।[3]
शब्द <सबद—कोयल सबद सुणायां।[4]
विघ्न <विघन—राखे विघन हटाय।[5]

8 **द्वित्वीकरण—**

विजली <वीजु <विज्जु—इत घण गरजां उत घण लरजां,
चमकां विज्जु डरायां।[6]
पुन्य <पुन्न पुरबला कांई पुन्न खूंट्या माणसा अवतार।[7]

मीरां की भाषा के भाषावैज्ञानिक विवेचन के पश्चात् अब प्रस्तुत है उनकी भाषा का व्याकरणगत अध्ययन। वैसे तो मीरां-पदावली में उपलब्ध शब्द-रूप राजस्थानी, व्रजभाषा और गुजराती व्याकरण के नियमों के अनुसार गढ़े गये हैं, परन्तु मूलतः उनकी भाषा राजस्थानी ही स्वीकार की गई है, अतः उनके शब्दरूपों का विश्लेषण राजस्थानी व्याकरण की दृष्टि से करना समीचीन होगा।

**घ मीरां के शब्दरूप : व्याकरणिक विवेचन—**

**संज्ञा शब्द रूप—**

मीरां-पदावली में सामान्यतः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ओ, औ तथा विभिन्न व्यञ्जनों (अ स्वर युक्त) से अंत होने वाले संज्ञा शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये शब्द रूप स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों प्रकार के हैं। यथा—

**स्वरान्त शब्द –**

| | पुल्लिंग | स्त्रीलिंग |
|---|---|---|
| अकारान्त — | चित्त[8], समुंद[9], | ठंड[10], |
| आकारान्त | परदा[11], सांवलिया[12], | माता,[13] माला[14], द्रोपता[15], कुवजा[16] |
| इकारान्त — | हरि[17], | जोगणि[18], पोति[19], दासि[20], |
| ईकारान्त — | जोगी[21], मुरारी[22] गिरवरधारी[27], | मुरली[23], छाती[24], चेरी[25], गैली[26] |

मी. पदा., क्रम. सं. (पद सं)

1. (1), 2. (117), 3. (8), 4. (142), 5. (41) 6. (142), 7. (196), 8. (100), 9. (190), 10. (115), 11. (38), 12. (39), 13. (197), 14. (25), 15. (61), 16. (134), 17. (5), 18. (117), 19. (26), 20. (61), 21. (44), 22. (15), 23. (2), 24. ([illegible]), 25. (106), 26. (46) 27. (80)।

उकारान्त — हितु[28], प्रभु[29], पाण्डु[30], विज्जु[31]
ऊकारान्त — वालू[32] —
ओकारान्त— हिवड़ो[33], माधो[34], मांडो[35], —
औकारान्त— ऊधो[36]

**व्यंजनान्त शब्द—**

| | पुल्लिग | स्त्रीलिंग |
|---|---|---|
| 'क' वर्गान्त | विख (रू)[37], मिरघ[38] | पलक[39] |
| 'च' वर्गान्त | — | चांच[40], भावज[41], लाज[42], सेज[43] |
| 'ट' वर्गान्त | पाट[44] | रेण[45], भीलण[46], जमण[47], मीण[48] |
| 'त' वर्गान्त | पात[49], हाथ[50], नाथ[51], गगन[52], | जोत[53], मीन[54], प्रीत[55], सुध[56], |
| 'प' वर्गान्त | दीप[57], राम[58], | कलम[59] |
| यकारान्त | हय[60], | — |
| रकारान्त | विलार[61], | डार[62], गणगौर[63] |
| लकारान्त | गल[64], कमल[65], | कोयल[66], गैल[67] |
| वकारान्त | गांव[68], पिव[69], | नाव[70] |
| सकारान्त | सीस[71] | — |
| हकारान्त | मोह[72], विरह[73] | वांह[74] |

**अकारान्त**

प्रस्तुत अध्ययन में अकारान्त शब्द उन्हें माना गया है, जिनमें शब्दान्त 'अ' के पूर्व संयुक्त (गंग) या दीर्घ (चित्त) व्यञ्जन है।

**आकारान्त—**

'मीरां की पदावली' में आकारान्त संज्ञाशब्द दो प्रकार के हैं, एक तो वे जो मूल रूप में आकारान्त हैं(—गणिका-माता आदि) और दूसरे वे हैं, जो मूलतः अन्य स्वरान्त हैं, किन्तु पदावली में तुक, छंद-पूर्ति आदि विभिन्न कारणों से आकारान्त रूप में आए हैं। जैसे-जीवड़ा, हरिचन्दा, तीजां आदि।

---

क्रम सं.-(पद संख्या)
28. (158), 29. (4), 30. (189), 31. (142), 32. (59), 33. (154), 34. (77), 35. (156), 36. (184), 37. (189), 38. (190), 39. (15), 40. (84), 41. (187), 42. (12), 43. (15), 44. (66), 45. (78), 46. (134), 47. (166), 48. (15), 49. (89), 50. (14), 51. (116), 52. (194), 53. (26), 54. (174), 55. (17), 56. (12), 57. (151), 58. (55), 59. (76), 60. (132), 61. (158), 62. (8), 63. (145), 64. (40), 65. (11), 66. (45), 67. (21), 68. (56), 69. (63), 70. (64), 71. (13), 72. (199), 73. (43), 74. (62),

**इकारान्त—**

पदावली में प्रयुक्त इकारान्त शब्दों को भी दो वर्गों में बांट सकते हैं, पहले वर्ग में वे जो मूलतः इकारान्त हैं और दूसरे वर्ग में वे जो मूलरूप में इकारान्त नहीं होते हुए भी पदावली में इकारान्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यथा-दासि (दासी), पोति (पोत) आदि।

**ईकारान्त—**

मीरां द्वारा प्रयुक्त ईकारान्त शब्द भी उपर्युक्त प्रकार से वर्गीकृत किये जा सकते हैं-एक-मूलतः ईकारान्त, जैसे-जोगी, चेरी आदि, दूसरे-प्रयोगतः ईकारान्त, जैसी-हरी।

**उकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त और ऐकारान्त—**

इन स्वरों से अंत होने वाले शब्दों को भी दो-दो भागों में विभक्त किया जा सकता है एक मूलतः इन्हीं स्वरान्तों वाले और दूसरे आवश्यकतानुसार इन स्वरान्त रूपों को धारण करने वाले।

**ओकारान्त**

राजस्थानी में भी व्रज की तरह ही ओकारान्त प्रतिपादिकों की अधिकता मिलती है। मीरां ने भी अपने एकवचन संज्ञा प्रातिपदिकों का ओकारान्त प्रयोग अधिकांशतः किया है। उदाहरणार्थ-पिटारो, चुड़लो, प्यालो, हिवड़ो, करेजो आदि शब्दों को लिया जा सकता है।

**व्यंजनान्त -**

मीरां-पदावली में प्रयुक्त व्यञ्जनान्त संज्ञा शब्द भी उपरिवर्णित दो प्रकारों के हैं एक तो वे जो मूल रूप में व्यञ्जनान्त हैं, यथा-दीप, पाट आदि और दूसरे प्रकार के व्यञ्जनान्त शब्द वे हैं जिनमें स्वार्थे प्रत्यय लगाकर उनको स्वरांत बना दिया गया है – उदाहरण के लिये इन शब्दों को लिया जा सकता है बांहड़िया-(बांह + डियां), लोकड़ियां, (लोक + डियां), झांझरिया (झांझ + रियां)

हिन्दी व्याकरणाचार्यों ने मूलतः तीन प्रकार के संज्ञा-भेदों को मान्यता प्रदान की है – व्यक्तिवाचक, जातिवाचक और भाववाचक। मीरां-पदावली में इन तीनों प्रकार की संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है—

**व्यक्तिवाचक संज्ञा—**

मीरां द्वारा प्रयुक्त कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञाएं निम्न हैं—

अक्रूर[1], अजामेल,[2] अहिल्या[3], कन्हैया[4], कानूड़ो[5], किसन मुरारी[6], कृष्णा[7], गुपाल[8], गोकुल[9], गोवरधन[10]आदि।

कुछ जातिवाचक संज्ञाएं भी व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुई हैं, यथा—

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (182), 2. (140), 3. (118), 4. (166), 5. (164). 6. (171), 7. (141), 8. (184), 9. (6), 10. (1)।

जोगी[1], किसोर[2], गोसांई[3] , आदि ।

**जातिवाचक संज्ञा**

कमल[4], कमान[5] , कलस[6] , कलियां[7], काग[8] , जोसी[9] , दुसमण[10], नदिया[11], पड़ोसण[12] आदि ।

**भाववाचक संज्ञा—**

करम[13], कल(चैन)[14], आरति[15], सुहाग[16], वालपणां[17], पदवी[18], प्यास[19], प्रीत[20], वंदगी[21], विरह[22] आदि ।

मीरां द्वारा प्रयुक्त संज्ञाए-लिंग, वचन और कारक के योग से विविध विकारी रूपों में प्रयुक्त हुई हैं । सर्वप्रथम हम लिंग को लेते हैं—

**लिंग—**

मीरां पदावली में संज्ञा शब्दों के पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों रूपों का प्रयोग मिला है । पुल्लिग से स्त्रीलिंग वनाने में जो नियम सामान्यतः प्रयुक्त हुए है, वे इस प्रकार हैं—

1 अकारान्त पुल्लिग शब्दों में 'आ' जोड़कर—
यथा—स्याम[23]—स्यामां[24]

2 अकारान्त, आकारान्त अथवा ओकारान्त के स्थान पर 'ई' जोड़कर—
यथा—वादला[25]—वदली[26]
वावरा[27]—वावरी[28]
वेड़ा[26], वेड़ो[30],—वेरी[31], (ड - र)
सजण [32]—सजणी[33]

3 ईकारान्त के स्थान पर 'अण' अथवा 'अणि' जोड़कर—
यथा—जोगी[34]—जोगण[35], जोगणि[36]

4 दोनों लिंगों में भिन्न शब्दों का प्रयोग कर—
यथा—राजा[37]—राणी[38]
पति[39] —पतणी[40]

**वचन—**

मीरां ने एक वचन को वहुवचन वनाने के लिए 'आ', 'अन', 'अनि', 'ओ' आदि प्रत्ययों तथा गण, जन, लोगां आदि शब्दों का प्रयोग किया है । इनकी रूप-रचना संक्षेप में इस प्रकार हैं—

---

क्रम संख्या-(पदसंख्या)

1. (44), 2. (172), 3. (132), 4. (127), 5. (6), 6. (7), 7.(158), 8. (183), 9. (115), 10. (118), 11. (115), 12. (183), 13. (140), 14. (162), 15. (63), 16. (164), 17. (100), 18. (1), 19. (28), 20. (17), 21. (198), 22. (182), 23. (15), 24. (175), 25. (148), 26. (145), 27. (18), 28. (36), 29. (126), 30. (135), 31. (163), 32. (9), 43. (44), 34. (44), 35. (49), 36. (117), 37. (39), 38. (189), 39. (96), 40. (137) ।

1 एकवचन पुल्लिग शब्दों में अकारान्त के स्थान पर आं जोड़कर—
पु.—नेण—नैणां – नैणां लोभा आटकां शक्याणा फिर आय ।[1]

2 अकारान्त शब्दों में 'अन' जोड़कर यथा—
फूल—फूलन—'फूलन सेज सूल होय लागी ।[2]

3 अकारान्त शब्दों में 'अनि' जोड़कर, यथा—
चरण—चरणनि—'रहूँ चरणनि तेरि चेरी'[3]

4 आकारान्त शब्दों में 'ओं' जोड़कर, यथा—
संत--संतों—'संतों नी रज म्हारे अंग रे'[4]

5 'जन' शब्द जोड़कर—
साधु—साधुजन—'आज म्हारे साधुजन नो संग रे'[5]

6 'गण' शब्द जोड़कर—
भगत--भगतगण—'भगतगण प्रभु परचां पावां'[6]

7—'लोगां' शब्द जोड़कर :—
दुरजन—दुरजन लोगां—'सत संगति मां ग्याण सुणे छी दुरजन लोगां ने दीठी'[7]

एकवचन स्त्रीलिंग इकारान्त तथा ईकारान्त शब्दों में :—

1—'इयां' जोड़ कर—यथा :—
कली—कलियां—'चुणि चुणि कलियां सेज बिछायो ।[8]

2—'अन' जोड़कर, यथा :—
सखी—सखियन—'सब सखियन मिल सीख दई'[9]

3—आकारान्त शब्दों में—आं जोड़कर, यथा :—
वात—वातां—'जगरी वातां कांची,[10]
व्रजवनिता—व्रजवणितां—'व्रजवणितां रो कंत'[11]

**कारक—**

मीरां-पदावली में संज्ञा तथा सर्वनाम शब्दों के साथ निम्नलिखित कारक चिह्नों का प्रयोग हुआ है—

(1) कर्त्ता— शून्य, ने, णे,
(2) कर्म-सम्प्रदान— शून्य, कूं, कों, को, ने, णा, णे, णो, हिं, हि, रो, रू, री, रे।
(3) करण-अपादान—शून्य, सूं, से, सें, सों, तें, ते, मांसूं ।
(4) सम्बन्ध — शून्य, कों, को, कौ, का, कां, के, की, रो, रों, रौ, रा, रां, रे, री, केरा, केरी, णो, णों, णां, णी, नो, ने, नी, नुं, दी, दा।
(5) अधिकरण— शून्य, में, मैं, माहि, माहीं, माने, मां, परि, पे, विच, णु ।
(6) सम्बोधन — शून्य, रे, री, ड़ी, है, हो, हेरी, हेली, होजी, जी ।

**सर्वनाम**

मीरां-पदावली में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख सर्वनाम-शब्द इस प्रकार हैं—

---

क्रम संख्या--(पद संख्या)
1, (13), 2. (92), 3. (113), 4. (30), 5. (30), 6. (24), 7. (33), 8. (153), 9. (87), 10. (19), 11. (168)

1 पुरुषवाचक— मैं[1], म्हां[2], म्हा[3], म्हैं[4], म्हे[5] ; हम[6] , हूं[7], हौं[8] , थैं[9] , थे[10], थां[11], आप[12], तुम[13] , तू[14], तू[15], ते[16], वे[17]; ।

2—निश्चयवाचक—क—दूरवर्ती – वा[18], ओ[19], सो[20],
ख – निकटवर्ती – या[21], यह[22], यो[23] , यो[24], यें[25] , इन[26] , याही[27] ।

3—संबंधवाचक—जो[28] , जिरण[29] , जा[30],
— नित्यसम्बन्धी—सो, सोई[31], सोइ [32]

4 प्रश्नवाचक—
कहा[33], कुरण[34], कूरण[35], कोरण[36], कोन[37], को[38], किरण[39], क्या[40], क्यू[41]

5— अनिश्चयवाचक –
कोई[42], ओरन[43], कछु[44], कंई[45], कोय[46] , कूयां[47]

6—निजवाचक—
अपरणी[48], निज[49],

सर्वबोधक—
सव[50],

**विशेषण—**

मीरां द्वारा प्रयुक्त विशेषरण-शब्द मुख्यतः चार प्रकार के हैं –
1 – गुरणवाचक, 2 – परिमारणवाचक, 3 — संख्यावाचक, 4 — सार्वनामिक विशेषरण

**1 — गुणवाचक—**

गुरणवाचक विशेषरणों का मीरां-पदावली में सर्वाधिक प्रयोग किया गया है । इन गुरणवाचक विशेषरणों को भी निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

**( ) गुणबोधक—**

कठोर हम चितवां थे चितवो रणा हरि, हिवड़ो वड़ो **कठोर** ।[51]
सीतल कोमल सुमग **सीतल** कंवल कोमल जगत ज्वाला हरण ।[52]
अचल—सुपरणा मां म्हारे परण गया, पायां अचल सोहाग ।[53]

---

क्रम संख्या-(पद संख्या)

1. (7), 2. (13), 3. (11), 4. (25), 5. (38), 6. (5), 7. (59), 8. (174), 9. (4), 10. (34), 11. (195), 12. (61), 13. (98), 14. (49), 15. (191), 16. (59), 17. (59), 18. (78), 19. (31), 20. (42), 21. (20), 22. (108), 23. (3 ), 24. (156), 25. (25), 26. (116), 27. (55), 28. (158), .9. (25), 30. (73), 31. (20), 32. (53) ।

33. (74), 34. (24), 35. (138), 36. (93), 37. (6) 38. (73), 39. (80), 40. (104), 41. (26), 42. (25), 43. (181), 44. (6), 45. (141), 46. (43), 47. (18), 48. (38), 49. (63), 50. (13), 51. (5), 52. (1), 53. (27) ।

अच्छे—अच्छे मीठे चाख बेर लाई भीलणी ।[1]
अपूठी—कोई निन्दो कोई बिन्दो, मैं चलूंगी चाल अपूठी ।[2]
दुहेलो—औघट—पांव न चाले पंथ दुहेलो, आड़ा औघट घाट ।[3]
नीचे—ओछी, कुचीलणी—नीचे कुल ओछी जात, अति ही कुचीलणी ।[4]
चंचल—नेण चंचल, अटक णा माण्या, परहथ गया विकाय ।[5]
चतुर—जोगिया चतुर सुजाण सजणी, ध्यावे संकर सेस ।[6]
झूठा—झूठा पाट पटंवरा रे, झूठा दिखणी चीर ।[7]
जूठे—जूठे फल लीन्हें राम, प्रेम की प्रतीत जाण ।[8]
निरमल—निरमल नीर वह्यां जमणा मां, भोजन दूध दही का ।[9]
बावरी—लोग कह्यां मीरां बावरी, सासु कह्यां कुल नासी[10]
बुरी—सास बुरी अर नणद हठीलीं, लरि लरि मोही तारी है माय ।[11]
भोली—मैं भोली भोलापण कीन्हों, राख्यो नहिं बिलमाइ ।[12]
मतवारो—मतवारो बादर आए रे, हरि को सनेसो कबहुं न लाए रे ।[13]
सुजाण—जोगियो चतुर सुजाण सजणी, ध्यावे संकर सेस[14]
हीणां—वर हीणों अपणों भलो है कोढ़ी कुष्टी कोई ।[15]
मोटी—मुज अबला ने मोटी नीरांत थई रे ।[16]

(2) स्वरूप बोधक—

दीरघ दीरघ नेण मिरघ कूं देखां, वण-वण फिरता मारां ।[17]
बड़े—बड़े घर तालो लागां री, पुरबला पुन्न जगावां री ।[18]
आड़ा—पांव न चाले पंथ दुहेलो, आड़ा औघट घाट ।[19]
बांकां—सुन्दर वदन कमल दल लोचन, बांकां चितवण णेणां समाणी ।[20]
वारिज—अवलोकत वारिज वदन, बिबस भई तण में ।[21]
मोहनि—मोहण मोहण मूरत सांवरां सूरत, णेणा बण्या बिशाल ।[22]
सुघर—मीरां के प्रभु गिरधर नागर, सुन्दर श्याम सुघर सलोना ।[23]

(3) मूल्य बोधक—

अमोलक—तण वारां म्हां जीवण वारां, वारां अमोलक मोल ।[24]
मुंहोघो-सस्तो—थे कह्यां मुंहोघो म्हा कह्या सस्तो लिया री तराजां तोल ।[25]

(4) वर्णबोधक—

अरुण—मोर मुगट मकराकृत कुण्डल, अरुण तिलक सोहां भाल ।[26]
उजलो-कारां—उजलो वरण बागलां पावां, कोयल वरणां कारां ।[27]

---

क्रम संख्या-(पद संख्या)

1. (186), 2. (33), 3. (44), 4. (186), 5. (13), 6. (117), 7. (26), 8. (186), 9. (160). 10. (36), 11. (169), 12. (44), 13. (81), 14. (117), 15. (26), 16. (141), 17. (190), 18. (24), 19. (44) । 20. (11), 21. (184), 22. (3), 23. (177), 24. (22), 25. (22), 26. (3), 27. (190)

कुसुमल-केसरिया—**कुसुमल** पाग **केसरिया** जामा, ऊपर फूल हजारी ।[1]
भगवां—कहो **कसूमल** साड़ी रंगावां, कहो तो **भगवां** भेस ।[2]
कारियां—हो कानां किन गूंथी जुल्फां **कारियां** ।[3]
काला—**काला** नाग पिटारा भेज्या, सालिगराम पिछाणा ।[4]
काली-पीली—**काली पीली** वदली में विजली चमके मेघ घटा घनघोर छै जी ।[5]
स्यामल-शामली—मीरां के प्रभु गिरधर नागर, **शामली** सूरत शुभ एमनी रे ।[6]
पीत—मुरली कर लकुट लेऊं **पीत** वसन धारूं ।[7]

(5) **स्वादबोधक—**

कड़वा—अम्रित प्यालो छाड्यों रे, कुण पीवां कड़वां नीरा री ।[8]
मधुर—अधर **मधुर** धर वंशी वजावां, रीझ रिझावां व्रजनारी जी ।[9]
मीठां—जमणा किणारे कान्हा धेनु चरावां वंशी वजावा मीठां वाणी ।[10]
लूण-अलूणो—छप्पण भोग वुहाइ दे, इण भोगण में दाग,
**लूण अलूणो** ही भलो अपणे पियाजी को साग ।[11]
अलूनी—पिया विण मेरी सेज अलूणी, जागत रेण विहावे ।[12]
ललोना- सुन्दर श्याम सुघर **सलोना** ।[13]
सलोने-लोने- सांवरे **सलोने लोने** गात ।[14]
फीकां—खाण पाण मोहे फीकां सो लागा नेण रहां मुरझावां ।[15]

(6) **समयबोधक—**

पुरवला- **पुरबला** पुन्न जगावां री ।[16]
पुराणी—मेरी उणकी प्रीत **पुराणी**, उण विण पल न रहाऊं ।[17]
पुरातन—णांच णांच पिव रसिक रिझावां, प्रीत **पुरातन** जाच्यां री ।[18]
• नव—नित नव प्रीत रसी ।[19]

**परिमाण वाचक—**

प्रायः परिमाण वाचक विशेषण के भी दो भेद किये जाते हैं—1. निश्चित परिमाणवाचक, 2. अनिश्चित परिमाणवाचक। मीरां-पदावली में अनिश्चित परिमाणवाचक का प्रयोग नहीं मिलता है। निश्चित परिमाणवाचक के भी गिने-चुने ही उदाहरण मिलते हैं। कुछेक अवलोकनार्थ नीचे दिये जा रहे हैं—

सकल—दूसरो णा कूयां साधो सकल लोक जूयां[20]
सारो—हरि मंदिर जातां पांवलियां दूखां फिर आए **सारो** गाम[21]
सव—थे विण म्हाणे जग णा सुहावां, निरख्यॉं सव संसार ।[22]

2—**संख्यावाचक—**

संख्यावाचक विशेषण के भी दो भेद मान्य हैं निश्चित संख्यावाचक और अनिश्चित संख्यावाचक।

---

क्रम-संख्या (पृष्ठ संख्या)
1. (171), 2. ( 53), 3. (162), 4. (39), 5. (145), 6. (173), 7. (184), 8. (24), 9. (2), 10. (11), 11. (26), 12. (74), 13. (177), 14. (176), 15. (69), 16. (24), 17. (20), 18. (17), 19. (88), 20. (18), 21. ( 57), 22. (4), ।

**निश्चित संख्यावाचक—**

निश्चित संख्यावाचक विशेषण के भी कई उपभेद हैं। मीरां द्वारा प्रयुक्त निश्चित संख्यावाचक विशेषणों के प्रयोग निम्नांकित हैं—

1 **पूर्ण संख्या—**

इक— एक— एके थाणे रोपिया रे इक आंबो **इक** बूल ।[1]

एक - सौ कहा बोझ मीरां में कहिये, **सौ** पर एक घड़ी ।[2]

पांच-तीन - **पांच** पहर धंधे में बीते, **तीन** पहर रहे सोय ।[3]

चार—काला-पीला घटा उमड़या बरस्या **चार** घरी ।[4]

च्यार—दासी मीरां लाल गिरधर, जीवणा दिन च्यार ।[5]

सप्त—मीरां के प्रभु वस कर लीने **सप्त** तानिन की फांसुरी ।[6]

सोलह सोल—साजां **सोल** सिंगार, सोणारो राखड़ां [7]

छप्पन **छप्पन** भोग बुहाड़ दे है, इन भोगनि में दाग ।[8]

अड़सठ—**अड़सठ** तीरथ संतां ने चरणे क़ोटि कासी ने कोटि गंग रे ।[9]

लख चौरासी—यो संसार सब बह्यो जात है, लख **चौरासी** री धार ।[10]

(.) **अपूर्ण संख्या—**

अध—मैं तो जाणूं संग चलेगा, छांडि गया **अध** बीच ।[11]

अर्द्ध-अरध—**अरध** नाम कुञ्जर लयां, दुख अवध घटाणी जी ।[12]

आधी — **आधी** रात प्रभु दरसण दीस्यो जमणा जी रे तीरा ।[13]

(3) **क्रमवाचक—**

पहली—**पहली** ज्ञान मानहिं कीन्हो, मैं ममता की बांधी पोट ।[14]

दूजा—म्हारी आसा चितवणि थारी, और णा **दूजा** दोर ।[15]

दूसरा—म्हारां री गिरधर गोपाल **दूसरा** णां कूयां ।[16]

**समुदायवाचक—**

तीनूं—और आसिरो णा म्हारा थें विणा, **तीनूं** लोक मंझार ।[17]

**आवृतिवाचक—**

चौगणो—साधु जननो संग जो करिये, चढ़े ते **चौगणो** रंग रे ।[18]

**अनिश्चित संख्यावाचक—**

अनेक—सावण आवण कह गया वाला, कर गया कोल **अनेक** ।[19]

कछुक—**कछुक** औगुण हम पै काढ़ो, मैं भी काण सुणा ।[20]

कोट्यां—कोटिक—सांवरा णाम जपां जग प्राणी, **कोट्यां** पाप कट्यारी ।[21]

घणा—कीरत कांई णा किया, **घणा** करम कुमाणी जी ।[22]

बहु—**बहु** दिन बीते अजहुं न आए ।[23]

---

क्रम संख्या (पद संख्या)

1. (59), 2. (118), 3. (159), 4. (82), 5. (196), 6. (167), 7. (193), 8. (26), 9. (30), 10. (135) 11. (55), 12. (140), 13. (154), 14. (183), 15. (5), 16. (18), 17. (4), 18. (30), 19. (117), 20. (60), 21. (200), 22. (140), 23. (80), ।

वहुतां—अवर अधम **बहुता** थे तार्या, भाख्यां सरणत सुजाण ।※
वोहो—जोगिया कूं जोवत **बोहो** दिन वीता ।
थोडा—जग मां जीवणा **थोड़ा**, कुणे लयां भवभार ।[1]
सव—**सव** संतों का काज सुधारा मीरां सूं दूर रहन्द ।[2]
सहस—सहस्र—**सहस** गोप विच स्याम विराजे, ज्यों तारा विच चंद ।[3]
दोय—च्यारी—सखियां मिल **दोय च्यारी**, वावरी भई हैं सारी ।[4]

## 4 सार्वनामिक विशेषण—

'सार्वनामिक विशेषण' का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। इसका पहला प्रयोग तो उन सर्वनामों के लिये होता है, जो मूलतः सर्वनाम होने पर भी संज्ञा के पूर्व आने के कारण विशेषण हो जाते हैं। दूसरे प्रकार के सार्वनामिक विशेषण वे होते हैं जो सार्वनामिक तत्त्वों में कुछ जोड़कर वनाए जाते हैं। इसी कारण इन्हें सार्वनामिक विशेषण कहते हैं। इस प्रकार पहले सार्वनामिक विशेषणों का आधार प्रयोग है और दूसरे का आधार है—रचना। नीचे मीरां पदावली में आए दोनों प्रकार के सार्वनामिक विशेषणों को लिया जा रहा है—

**प्रयोग पर आधृत—**

उण—जिण मारग म्हारा साध पधारां, **उण** मारग म्हे जास्यां ।[5]
वा—**वा** झिरमिट मां मिल्यो सांवरो देख्यां तण मण रांती ।[6]
वा—**वा** मूरत म्हारे मण वसे छिन भरि रह्योइ ण जाय ।[7]
वाही—चालां **वाही** देस प्रीतम पावां चालां वाही देस ।[8]
इण—**इण** चरण प्रहलाद परस्यां, इन्द्र पदवी धरण ।[9]
ऐ—है कोई जग में परम सनेही, **ऐ** उरि साल मिटावै ।[10]
या—**या** व्रज में कछु देख्यो री टोना ।[11]
यो—**यो** संसार विकार सागर, वीच में घेरी ।[12]
और—**और** आसिरो णा म्हारा थे विण[13]
कोई—**कोई**दिन याद करोगे रमता राम अतीत ।[14]

**रचना पर आधृत—**

मीरां की भाषा में रचना पर आधारित सार्वनामिक विशेषण शब्द वहुत थोड़े हैं।
ऐसी—**ऐसी** लगन लगाइ कहां तू जासी ।[15]
ऐमनी—मीरां के प्रभु गिरधर नागर, शाम की सूरत शुभ **एमनी** रे ।[16]
जेताई—तेताई—**जेताई** दीसां धरण गगन विच, तेताई उठ जासी ।[17]

**तुलनीय विशेषण—**

सूं—से—कौन सखी सूं तुम रंग राते हमसूं अधिक पियारी[18]

---

क्रम संख्या (पद संख्या)
※ (134)। 1. (197), 2. (139), 3. (139), 4. (174), 5. (25), 6. (23), 7. (116), 8. (156), 9. (1), 10. (92), 11. (177)। 12. (63), 13. (4), 14. (134), 15. (49), 16. (173), 17. (195), 18. (113)।

**प्रविशेषण—**

प्रविशेषण शब्द उन विशेषणों को कहते हैं जो विशेषणों की विशेषता बताते हैं। यथा-बहुत बड़ा मैदान। मीरां-पदावली में ऐसे कुछ ही प्रविशेषण उपलब्ध होते हैं जो निम्नांकित हैं—

वड़ो-कठोर—हम चितवां थे चितवो णा हरि हिवड़ो वड़ो कठोर।[1]
परम सनेही—**परम** सनेही राम की मोहे नित ओलूं री आवे।[2]
अति ही—नीचे कुल ओछी जात, **अति** ही कुचीलणी।[3]
सुघर कल प्रवीण—**सुघर** कल प्रवीण हाथन सूं जसुमती जू णे सवारियां।[4]
निपट वंकट—निपट वंकट छवि अंटके म्हारे णेणा।[5]
निपट अटपटी—**निपट अटपटी** रीत।[6]

**विशेषण का संज्ञावत् प्रयोग—**

अनेक भाषाओं में कभी-कभी विशेषण का भी संज्ञावत् प्रयोग होता है। जैसे 'अच्छा' विशेषण है; परन्तु 'मैंने अच्छों-अच्छों को देखा है' वाक्य में 'अच्छे-अच्छों' संज्ञा है। मीरां-पदावली में इस प्रकार के केवल एक दो ही उदाहरण मिलते हैं :—

हे मा **वड़ी वड़ी अखियन** वारो सांवरो मोतन हेरत हंसिके।[7]
**थतारा** जोगी एकरसूं हंसि वोल।[8]
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल **रसिकांरा सिरताज**।[9]

**4—क्रियापद :**

सामान्यत: हिन्दी-क्रियापदों की रचना दो प्रकार की धातुओं से हुई है। एक मूल, दूसरी-यौगिक। मूल धातु वे हैं जो एक से अधिक भाषिक इकाई से न बनी हों, जैसे चल्, खा, पी, ले आदि और यौगिक वे हैं जो एक से अधिक भाषिक इकाई से बनी हों, जैसे-पधार (पग+धार), संहार (सम्+हार) आरोग (आ+रोग) आदि। मीरां द्वारा प्रयुक्त अधिकांश क्रियाएँ मूल धातु से निर्मित हैं, साथ ही कुछ यौगिक धातुओं से निर्मित क्रियारूप भी मिलते हैं।

**(क) अकर्मक और सकर्मक क्रियाएँ :**

मीरां-पदावली में प्रयुक्त धातुओं में से कुछ तो अकर्मक हैं और कुछ सकर्मक। उदाहरणार्थ कुछ क्रियापदों के दोनों रूप दिये जा रहे हैं।

**(1) मूल धातु में आ जोड़कर बने सकर्मक क्रियारूप :**

| अकर्मक | | सकर्मक |
|---|---|---|
| डर (डरां)[10] | — | डरा (डरायां)[11] |
| वज् (वजत)[12] | — | वजा (वजावां)[13] |
| वण (वणे)[14] | — | वणा (वणाऊ)[15] |

क्रम संख्या-(पद संख्या)

1. (5), 2. (67), 3. (186), 4. (162), 5. (10), 6. (57), 7. (7), 8. (58), 9. (152), 10. (51), 11. (141), 12. (175), 13. (161), 14. (54), 15. (78)।

| | | |
|---|---|---|
| वैठ् (वैठ्या)[1] | — | वैठा—(वैठावै)[2] |
| लख् (लख्यां)[3] | — | लखा (लखावां)[4] |

कहीं-कहीं आ के योग के साथ ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति (ऐ—इ) (ई—इ) भी मिलती है। यथा—

| अकर्मक | सकर्मक |
|---|---|
| वैठ् (वैठ्या)[5] | विठा (विठार्‌यो)[6] |
| वीत् (वीतां)[7] | विता (वितावां)[8] |

(2) मूल धातु के प्रथम 'अ' के स्थान पर 'आ' जोड़कर—

| | |
|---|---|
| कट् (कट्यां)[9] | काट (काट्या)[10] |
| वंध् (वंध्यां)[11] | वांध् (वांधि)[12] |
| भर् (भरै)[13] | भार् (भारत)[14] |

कहीं-कहीं—'आ' के योग से अर्थ-भेद भी हो गया है। यथा—

| | |
|---|---|
| लग् (लगत)[15] | लाग (लाग्यो)[16] |
| सर् (सरै)[17] | सार् (सार्‌यां)[18] |

(3) प्रथम 'अ' के स्थान पर 'ऐ' करके—

मट्—(मट्या)[19]—मेट(मेट्या)[20]

(4) 'ई' के स्थान पर 'ऐ' करके—

दीस् (दीसां)[21]—देख् (देखवां)[22]

(5) 'उ' के स्थान पर 'ओ' करके—

खुल—(खुला)[23]—खोल् (खोले)[24]

**ख—प्रेरणार्थक क्रियाएं—**

मीरां-पदावली में प्रेरणार्थक क्रियाओं का प्रयोग लगभग नहीं के वरावर हुआ है। पूरी पदावली में इसके एक-दो ही प्रयोग मिलते हैं। यथा—

कराइये—म्हारे घर आवो श्याम, गोठड़ी कराइये।[25]

यहां क्रिया-रूपों के ये प्रयोग छन्द की दृष्टि से किये गये हैं। अर्थात् 'करवाइये' प्रेरणार्थक क्रिया के अर्थ में 'कराइये' क्रिया-रूप का प्रयोग किया गया है।

**ग—सहायक क्रियाएं :**

सामान्यत: मूलक्रियाओं के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। मूल क्रिया-रूप तो क्रिया के मूलभाव को व्यक्त करते हैं और सहायक क्रियापद काल का द्योतन करते हैं तथा कार्य की पूर्ण या अपूर्ण स्थिति को प्रकट करते हैं। मीरां की भाषा में भी मूल क्रिया की काल-विषयक

क्रम संख्या, (पद संख्या)

1. (118), 2. (20), 3. (34), 4. (121), 5. (118), 6. (42), 7. (43), 8. (78), 9. (61), 10. (19), 11. (27), 12. (158), 13. (174), 14. (6), 15. (24), 16. (85), 17. (156), 18. (83), 19. (200), 20. (109), 21. (195), 22. (21), 23. (99), 24. (174), 25. (120),

स्पष्टता के निमित्त सहायक क्रियाएं प्रयुक्त हुई हैं। मीरां द्वारा प्रयुक्त सहायक क्रियाएं निम्न हैं —

**मीरां-प्रयुक्त कालवाची सहायक क्रियाएं—**

**वर्तमानकाल**

| | एकवचन | बहुवचन |
|---|---|---|
| उत्तम पुरुष | छूं, हों, हूँ, हों, हैं | — |
| मध्यम पुरुष | छो, हो | — |
| अन्य पुरुष | छै, हे, है, थई | हैं, हें, छै |

**भूतकाल —**

| | एकवचन | बहुवचन |
|---|---|---|
| उत्तम पुरुष | छी, थी, हूयां, हयां, भवां | — |
| मध्यम पुरुष | था | — |
| अन्य पुरुष | भयो, भया, भयां, भइ, हती | — |

**भविष्यत्काल—**

भविष्यत्काल की सहायक क्रियाएं वर्तमान और भूतकाल की सहायक क्रियाओं की भांति अलग न लिखी जाकर मूल क्रिया में प्रत्यय की भांति मिलाकर लिखी जाती हैं। मीरां-पदावली में भी यही प्रवृत्ति अपनाई गई है।

| | एकवचन | बहुवचन |
|---|---|---|
| उत्तम पुरुष | गी | — |
| मध्यम पुरुष | गां, गे | — |
| अन्य पुरुष | गा | गें, थासे |

उपर्युक्त त्रिकालिक क्रियाओं को दोनों वचनों में समानरूप से प्रयुक्त किया जाता है और मीरां ने भी इनका उभयवचनों में प्रयोग किया है।

**घ—कृदन्त :**

मीरां-पदावली में मूल क्रियाओं में विविध कृत-प्रत्यय जोड़कर कृदन्त क्रिया-रूपों की रचना की गई है। जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं—

मीरां-पदावली में निम्नलिखित कृदन्तों का विशेषतः प्रयोग हुआ है—

1 वर्तमानकालिक कृदन्त
2 भूतकालिक कृदन्त
3 क्रियार्थक संज्ञा
4 पूर्वकालिक कृदन्त
5 कर्तृवाचक कृदन्त
6 अपूर्णक्रिया द्योतक
7 तात्कालिक कृदन्त

**(1) वर्तमानकालिक कृदन्त —**

त — आत-जात—'आत न दीसे जात न दीसे जोगी किसका मीत।[1]

अत—मींजत—'रथ चढ़ाय गोपाल लेगो, हाथ **मींजत** रई।'[2]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (55), 2. (182),

तां—चलतां—'थे देख्यां विण कल णा पड़तां, णेणां **चलतां** धारा ।[1]
तिरतां—नाम लेतां **तिरतां** सुण्यां, जग पाहण पाणी जी ।[2]
ता—पड़ता—विरह व्याकुल अनल अन्तर कल णां **पड़ता** दोय ।[3]
ती—खाती—पाना ज्यूं पीली पड़ी रे वाला, अन्न नहीं **खाती** ।[4]
अति—परति—तुम देख्या विण कल न **परति** है ।[5]

(2) **भूतकालिक कृदन्त :**
यो (य+अ) आयो—जोगिय कूं जोवत वोहो दिन बीता,
अजहूं **आयो** नाहि ।[6]
आरोग्यो—करमाबाई को खींच **आरोग्यो**[7]
यों (य+आं) आयां—**आयां** वसंत पिया घर णा री[8]
आं—फूलां—चंदा देख कमोदण **फूलां**[9]
या—उतर्या—मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, थें बल **उतर्या** पार ।[10]
आया-गया-जाण्या **आया** म्हारे आंगणा फिर **गया** मैं **जाण्या** खोय ।[11]
ई—परी-छाई—पाना ज्यूं पीरी **परी** अरु विपत तन **छाई** ।[12]
आणी—नसाणी—सखी म्हारी नींद **नसाणी** हो ।[13]
ऐ—उधरे अजामेल अघ **उधरे**, जम त्रास णसानी जी ।[14]
ऐ—जरावै—पलक-पलक मोहि जुग से बीते छिनि छिनि विरह **जरावै** ।[15]
न्ह—दीन्ह—जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत **दीन्ह** बनाय[16]
न्हो—कीन्हो दास मीरां राम भजिके, तण मण **कीन्हों** पेस ।[17]

3—**क्रियार्थक संज्ञा :**
अण-गावण—मीरां के प्रभु गिरधर नागर, वेला मंगल **गावण** की ।[18]
छुटण—लागी लगण **छुटण** की नाही अब क्यों कीजे आंटड़ियां ।[19]
ण · देण—मीरां के प्रभु कबरे मिलोगे, दुख मेटण सुख देण ।[20]
अन भरन—मैं जल जमुना **भरन** गई थी [1]
नी—होनी · मीरां के प्रभु गिरधर नागर, **होनी** होय सो होय ।[22]
नो—वसनो—महल अटारी हम सब त्यागां, त्याग्यो थारो **बसनो** सहर[23]
ने—भरने—हूं जल **भरने** जात थी सजणी कलस माथे धर्यो ।[24]
वां—भरवां—जल जमुना मां भरवां गया तां[25]

4 **पूर्वकालिक कृदन्त—**
आय—चलाय—विरह समंद में छोड़ गया छो, नेह री नाव **चलाय** ।[1]
चढ़ाय—छाड़ि गये विसवासघात करि, णेह री नाव **चढ़ाय** ।[2]

---

क्रम संख्या (पृष्ठ संख्या)
1. (93), 2. (140), 3. (23), 4. (185), 5. (49), 6. (44), 7. (139), 8. (66), 9. (189), 10. (197), 11. (43), 12. (89), 13. (87), 14. (140), 15. (92), 16. (41), 17. (117), 18. (146), 19. (108), 20. (103), 21. (169), 22. (159), 23. (35), 24. (179), 25. (179)।
क्रम सं. (पद. सं.) 1. (64), 2. (179),

इ — श्राइ — नगर श्राइ जोगी रम गया रे

मो मन प्रीत न पाइ ।[1]

निवारि—श्राश्रो सहेल्यां रली करां, परघर गवरण निवारि ।[2]

उमगि-ऊलरि — उमगि घटा घन उलरि श्राई विज्जु चमक ड़रावै ।[3]

ई — काछी — काछी गोप मे मुकुट, गोधन संग चारू ।[4]

विसारी — किरपा कर मोहे दरसरण दीज्यो, सव तकसीर विसारी ।[5]

के — उतरके — गज से उतरके खर नहिं चढ़स्यां ।[6]

इके — घंसिके—जतन करीं जंतर लिखि वांधो, श्रोखद लाऊं घंसिके ।[7]

कर — हँसकर—कवै हंसकर वतलावै[8]

(मूलरूप) उठ् · उठ — चरणाश्रित रो नेम सकारे, नित उठ दरसण जास्यां ।[9]

पूर्वकालिक क्रियाश्रों के दुहरे प्रयोग भी कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं—

दै — दै — गावत चार धमार राग तंह, दै दै कल कर तारी ।[10]

चढ़-चढ़ — ऊंचा चढ़ चढ़ पंथ निहार्‌यां, कलप-कलप अंखियां राती ।[11]

चाख-चाख—अच्छे मीठे चाख-चाख वेर लाई भीलणी ।[12]

चुणि-चुणि — चुणि चुणि कलियां सेज विछाऊं ।[13]

5 **कर्तृवाचक कृदन्त —**

श्रण—करण इण चरण कालियां नाथ्यां, गोपी लीला करण ।[14]

उधारण—म्हा सुण्या हरि अधम उधारण ।[15]

(6) **अपूर्ण क्रिया-द्योतक कृदन्त —**

श्रावत - उड़ावत—काग उड़ावत दिन गया वूझूं पिंडत जोसी हो ।[16]

वत — चितवत — मारग चितवत तोरे[17]

रोवत — रोवत रोवत डोलतां सव रैण विहाणी हो ।[18]

ता — गिणता—गिणता-गिणता घंसि गई रे म्हारां श्रांगलियारी रेख[19]

होता — म्हारे घर होता श्राज्यो महाराज ।[20]

ती — चढ़ती — चढती वैस नैण अणियाले[21]

ते चलते—फाटी तो फूलड़ियां पांव उभाणे, चलते चरण धसे ।[22]

ऐ धरै - कोइ स्याम मनोहर ल्योरी, सिर धरै मटकिया डोले ।[23]

(7) **तात्कालिक कृदन्त—**

श्रत श्रवलोकत — श्रवलोकत वारिज वदन विवस मई तरण में ।[24]

देखत—गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं[25]

तां — सुणतां — सवदां सुणतां मेरी छतियां कांपां, मीठो थारो वेण ।[26]

---

क्रम संख्यां (पद संख्या)

1. (44), 2. (26), 3. (92), 4. (184), 5. (113), 6. (25), 7. (7), 8. (74), 9. (31), 10. (17), 11. (106), 12. (184), 13. (151), 14. (1), 15. (137), 16. (115), 17. (95), 18. (96), 19. (117), 20. (109), 21. (58), 22. (187), 23. (178), 24. (184), 25. (20), 26. (103) ।

5 **अव्यय—**

अव्यय उन शब्दों को कहते हैं जिनमें लिंग, वचन आदि के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं होता। मीरां-पदावली में प्रयुक्त अव्ययों को निम्नलिखित वर्गों में रख सकते हैं—

1 क्रिया विशेषण
2 सम्बन्ध बोधक
3 समुच्चय बोधक
4 विस्मयादि बोधक
5 बलात्मक
6 आदर सूचक

(1) **क्रिया-विशेषण –**

मीरां ने अनेकों क्रिया-विशेषण शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें से कुछ क्रिया-विशेषण इस प्रकार हैं—

आज — **आज** म्हांरो साधुजन नो संगरे।[1]
णित - स्याम मिलण रो घणो उमावो, **णित** उठ जोऊं वाटड़ियां।[2]
विण—थे आया **विण** सुख णा म्हारो, हियड़ो घणो उचाट।[3]
न — मीरां के प्रभु गिरधर नागर, अवरु **न** आवे म्हारी दाय।[4]
मत—जोगी **मत** जा **मत** जा **मत** जा[5]
वेग — मीरां के प्रभु **वेग** मिलो अव, राखो जी मेरो मान।[6]
तुरत—मीन जल से बाहर कीना **तुरत** मर जाइ।[7]
नेक—णेक—मीरां रे प्रभु दासी रावली लीज्यो **णेक** णिहार।[8]
अति—आवण कह गये अजहूं न आए, जियड़ो **अति** उकलावै। [9]
इत—उत—**इत** घण गरजां **उत** लरजां, चमकां विज्जु डरायां।[10]
ज्यूं त्यूं—रैण दिना वाके संग खेलूं, **ज्यूं त्यूं** वाहि रिझाऊं।[11]
जेम—तेम—काचे ते तात णे हरि जीए वांधी, **जेम** खेंचे तेम **तेम** नी रे।[12]
जित — तित — **जित** जोऊं **तित** पाणी पाणी।[13]
कब—हरि को संदेसो **कबहुं** न लाये रे।[14]
कित — कांई करूं **कित** जाऊं री सजणी।[15]

(2) **सम्बन्धवोधक—**

जो अव्यय शब्द संज्ञा अथवा संज्ञा के समान प्रयुक्त अन्य प्रकार के शब्द के बाद आकर उसका सम्बन्ध वाक्य के दूसरे शब्दों से जोड़ते हैं वे सम्बन्धवोधक कहलाते हैं।

वस्तुतः हिन्दी व्याकरणों में यह शब्द-भेद अंग्रेजी से आया है। हिन्दी में

---

क्रम संख्या - (पद संख्या)
1. (30), 2. (108), 3. (99), 4. (42), 5. (46), 6. (42), 7. (89), 8. (4), 9. (67), 10. (142), 11. (20), 12. (173), 13. (83), 14. (81), 15. (44)।

सम्बन्धबोधक का कार्य कारक चिह्न करते हैं। मीरां-पदावली में भी सम्बन्धबोधन का कार्य सम्बन्धवाचक-कारक द्वारा सम्पन्न हुआ है।

(3) **समुच्चयबोधक—**

जो अव्यय शब्द दो या दो से अधिक उपवाक्यों, पद-बंधों या शब्दों को जोड़ता है उसे समुच्चयबोधक कहते हैं। मीरां-पदावली में प्रयुक्त समुच्चयबोधक शब्द तीन प्रकार के हैं—

क—संयोजक, ख - वियोजक और ग - संकेतसूचक।

(क) **संयोजक—**

अरु—चूड़ो म्हारे तिलक **अरु** माला सील वरत सिणगारो।[1]

—पात ज्यूं पीरी परी **अरु** विपत तन छाई।[2]

आंबां की डार कोइल इक बोले, मेरो मरण **अरु** जग केरी हांसी।[3]

(ख) **वियोजक—**

कै—कैर—कै तो जोगी जग में नाहीं **कैर** विसारी मोय।[4]

—कै कहुं काज किया संतन का **कै** कहीं गैल भुलावणा।[5]

(ग) **संकेतसूचक—**

ज्यो—**ज्यो** तोकों कहूं और विथा हो, नाहिन मेरो वसिके।[6]

जो—तो—साधुजननों संग **जो** करिये चढ़े **ते** चौगणो रंग रे।[7]

जो **जो** हूं ऐसा जाणती रे वाला, प्रीत किया दुःख होय।[8]

( ) **विस्मयादिबोधक—**

मीरां-पदावली में इस अव्यय का प्रयोग लगभग नहीं है। एक दो उदाहरणों में 'रे' के प्रयोग में कुछ हर्षसूचक और शोकसूचक भाव ध्वनित होता है, जैसे :

आज म्हारो साधु जननो संग रे आज म्हांरा भाग मल्यां।[9]

गिणता गिणता घस गई रे म्हांरा आंगलिया री रेख।[10]

(5) **बलात्मक अव्यय—**

बलात्मक अव्यय वे हैं जो केवल किसी शब्द पर बल देने के लिये ही प्रयोग में लाए जाते हैं। मीरां ने अपनी अभिव्यक्ति पर बल देने के लिये 'ही', 'हूं' 'तो' और 'ण' अव्ययों के विविध रूपों का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

ही प्रेम भगति को पेंडो **ही** न्यारो, हमको गैल बताजा।[11]

तो—जहां बैठावे तित ही बेठूं बेचे **तो** विक जाऊं।[12]

ही - ई—जिह जिह विध रीझे हरी, सोई विधा कीजे हो।[13]

हूं—आवण कह गये **अजहूं** न आये जियड़ो अति उकलावै।[14]

—माई म्हारी **हरिहूं** न बूझी वात[15]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (25), 2. (89), 3. (65), 4. (44), 5. (85), 6. (77), 7. (30), 8. (59), 9. (30), 10. (117), 11. (46), 12. (20), 13. (16), 14. (67), 15. (66)।

हूँ—ऊँ—सेली नाद वभूत न वटवो, अजूं मुनी मुख खोल[1]
हुँ—वहु दिन वीते अवहुँ न आये[2]
ण—मीरां के प्रभु हरि अविनासी, दरसण द्योण मोकूं आय ।[3]

(6) आदरसूचक अव्यय—

हिन्दी में आदर सूचक अव्यय दो हैं—एक जी, दूसरा श्री मीरां ने इन दोनों का प्रयोग किया है—

जी—छोड़ मत जाज्यो जी महाराज[4]
—म्हारो प्रणाम वांके विहारी जी[5]
जूं—सुघर कल प्रवीण हाथन सूं जसुमति जूणे संवारियां[6]
श्री – सिरि-मीरां सिरि गिरधर नटनागर, भगति रसीली जांची ।[7]
छप्पण कोटां जणा पधार्‌यां, दूल्हो सिरि व्रजनाथ ।[8]

## घ—मीरां में शब्द-निर्माण की प्रक्रिया—

### सामान्य विवेचन—

जव कवि का भावोद्रेक नूतन-पुरातन, समस्त-असमस्त, किसी प्रकार की प्रचलित शब्दावली में अपने मनोनुकूल (अभि) व्यञ्जना-शक्ति प्राप्त नहीं करता तो वह नये शब्दों का निर्माण कर डालता है। शब्द-निर्माण-कला भी कवि-प्रतिभा की परिचायक होती है ।[9]

कवि शब्दों को अपने भावों व भाषा के उपयुक्त वनाने के लिये उनके रूप का परिष्कार करता है तथा शब्द के प्रकृत रूपों को परिवर्तित कर उनका प्रयोग करता है। इस प्रकार के नवनिर्मित शब्दों द्वारा काव्य के उभयपक्षों -- भावसौंदर्य व रूपसौन्दर्य की श्री-सम्वृद्धि होती है, परन्तु इस निरंकुश प्रयोग में अस्पष्टता आ जाने पर उत्कर्प के स्थान पर अपकर्प हो जाता है।

शब्दों के नव निर्माण में उपसर्ग और प्रत्यय, समास तथा संधि का योगदान महत्त्वपूर्ण है। 'शब्द के पूर्व जो अक्षर या अक्षर-समूह या शब्दांश लगाया जाता है, उसे उपसर्ग कहते हैं, तथा शब्दों के पश्चात् जो अक्षर या अक्षर समूह या शब्दांश लगाया जाता है, उसे प्रत्यय कहते हैं ।'[10]

दो या दो से अधिक स्वतंत्र शब्दों के योग से जव एक शब्द वनता है तो उस शब्द को सामासिक शब्द कहते हैं और उन दो या अधिक शब्दों का जो संयोग होता है वह समास कहलाता है ।[11]

---

क्रम संख्या-(पद संख्या)

1. (50), 2. (80), 3. (98), 4. (48), 5. (2), 6. (162), 7. (19), 8. (27),

9 डा. सावित्री सिन्हा—'व्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प' पृष्ठ 59

10 पं. कामता प्रसाद गुरु—'हिन्दी व्याकरण' पृष्ठ 330

11 पं. कामता प्रसाद गुरु—'हिन्दी-व्याकरण', पृष्ठ 389 ।

**शब्द-निर्माण—**

मीरां-पदावली में भी यौगिक शब्दों का निर्माण मुख्यतः तीन प्रकार से किया गया है—

(क) उपसर्ग जोड़कर — (उपसर्ग + शब्द)
(ख) प्रत्यय जोड़कर — (शब्द + प्रत्यय)
(ग) समास द्वारा — (शब्द + शब्द)

**(क) उपसर्ग—**

मीरां की भाषा में संस्कृत के तत्सम और हिन्दी के तद्भव उपसर्गों का यथोचित प्रयोग मिलता है। मीरां द्वारा प्रयुक्त मुख्य उपसर्ग निम्नांकित है—

**तत्सम उपसर्ग—**

अ—अकाज[1], अडिग[2], अदेह[3], अपार[4], अमर[5], असरण[6],
आ—आकुल[7], आभूषणां[8],
कु—कुसंग[9], कुमत्त[10], कुगत[11], कुवुधि[12],
प्र—प्रवीण[13],
सु—सुनवल[14], सुगण[15], सुजाण[16], सुघर[17],
सत्—सतसंगति[18],

**तद्भव उपसर्ग—**

औ—औगुण[19]
औ—औघट[20]
दुर—दुरजन[21]
निर—निरमल[22], निरभै[23]
नी—नीचिंत[24]
वि—विवस[25]
वि—व्याकुल[26]
नि—निपट[27]
पर—परघर[28], परदेस[29], परहथ[30]
वे—वेहाल[31], वेहजूर[32]
वद—वदनामी[33]

अन्तिम दोनों उपसर्ग विदेशी हैं, परन्तु अब हिन्दी में इन्हें आत्मसात कर लिया है।

क्रम संख्या (पद संख्या)
1. (62), 2. (55), 3. (105), 4. (196), 5. (41), 6. (62), 7. (101), 8. (26), 9. (199), 10. (19), 11. (156), 12. (156), 13. (162), 14. (162), 15. (60), 16. (117), 17. (174), 18. (199), 19. (60), 20. (44). 21. (33), 22. (26), 23. (35), 24. (125), 25. (42), 26. (101), 27. (20), 28. (26), 29. (117), 30. (13), 31. (116), 32. (189), 33. (33)।

**प्रत्यय**

सामान्यत: दो प्रकार के प्रत्यय माने जाते हैं—एक कृत्‌प्रत्यय और दूसरा-तद्धितप्रत्यय। कृतप्रत्ययों के योग से क्रिया-शब्दों के विविध रूपों की रचना की जाती है, ऐसे शब्द—'कृदन्त' कहलाते हैं और तद्धित प्रत्ययों के योग से संज्ञा और विशेषण शब्दों के अनेकों यौगिक-शब्दरूपों का निर्माण किया जाता है। कृदन्त शब्दों का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, अत: यहां केवल मीरां द्वारा प्रयुक्त तद्धित प्रत्ययों की ही चर्चा करना पर्याप्त होगा। मीरां-पदावली में बहुल प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय निम्नलिखित हैं—

आई—सुखदाई[1], सहाई[2],
इक—रसिक[3],
इ—कुलनासी[4], अविनासी[5], गुमानी[6], पापी[7], निगुणी[8], हांसी[9],
इया—ओलगिया[10], दुखिया[11], मधुवनिया[12], मधुरिया[13]
ईल + ई रसीली[14], रंगीली[15], हठीली[16],
ईल + ए - छबीले[17],
क अमोलक[18], कंटक[19],
णी—विरहिणी[20], मेड़तणी[21],
दार + आं - कामदारां[22]
पन - भोलापन[23], वालपणां[24]
ड़ा - इस प्रत्यय का प्रयोग मीरां ने सर्वाधिक किया है, उक्त प्रत्यय का प्रयोग विशेषत: राजस्थानी भाषा में ही होता है—
ड़ा—आंखड़ां[25], सनेसड़ा[26], दुखड़ा[27], हिवड़ा[28], जोगीड़ा[29],
ड़ो - देसलड़ो[30], हिवड़ो[31], कानूड़ो[32], नेहड़ो[33], जिवड़ो[34]
ड़ी - माइड़ी[35], नींदड़ी[36], प्रीतड़ी[37], गोठड़ी[38], मुठड़ी[39],
ड़ियां—सांसड़ियां[40], वाटड़ियां[41], आंखड़ियां[42], आसड़ियां[43], वांहड़ियां[44],
वंत—गुणवंत[45]
वती—अचारवती[46]
वर—राधावर[47], नटवर[48]
वारो—अंखियन वारो[49]

---

क्रम संख्या-(पद संख्या)
1. (12), 2. (41), 3. (175), 4. (36), 5. (29), 6. (8), 7. (96), 8. (112), 9. (45), 10. (19), 11. (196), 12. (180), 13. (81) 14. (19), 15. (145), 16. (169), 17. (175), 18. (159), 19. (73) 20. (44), 21. (40), 22. (24), 23. (44), 24. (100), 25. (122), 26. (150), 27. (93), 28. (54), 29. (144), 30. (32), 31. (48), 32. (164), 33. (64), 34. (67), 35. (28). 36. (28), 37. (54), 38. (120), 39. (139), 40-41-42-43-(108), 44. (138), 45. (112)। 46. (186), 47. (152), 48. (12), 49. (7)।

ला – आंधलां[1], पूरबला[2]

लो—चुड़लो[3]

हीन—गुणहीन[4],

मीरां ने कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिनके निर्माण में उपसर्ग और प्रत्यय दोनों का प्रयोग किया गया है—

अधीरा[5] – (अ+धीर+आ)

अपूठी[6] —(अ+पुष्ठ+ई)

अविनासी[7]—(अ+वि+नास+ई)

औगणहारी[8] —(औ+गण+हार+ई)

चौमास्यां[9] —(चौ+मास्+यां)

निगुणी[10] – (नि+गुण+ई)

संधार्‌यो[11] – (सम्+हार+यो)

**समास—**

संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करने वालों की भाषा में सामासिक शब्दों का आधिक्य मिलता है। तुलसी, घनानन्द, प्रसाद आदि कवियों की भाषा इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है, किन्तु जन भाषा में सामासिक-पदों का प्रयोग बहुत कम होता है। मीरां की भाषा में भी समस्त-पदों की न्यूनता इस बात की पुष्टि करती है कि उनकी भाषा जनभाषा के निकट थी। वस्तुतः मीरां की भाषा साहित्यिक भाषा और जनभाषा को जोड़ने वाली कड़ी है। अतः इसका स्वरूप दोनों के मध्य का है, दोनों प्रकार की भाषा की अतियों से दूर रह कर मीरां ने सहज सुगम मध्यम मार्ग का प्रयोग किया था, इसी कारण उनकी भाषा समस्त पदबहुला न होकर सामान्य सामासिक-पदों से युक्त है। मीरां द्वारा प्रयुक्त कुछ समस्तपदों के रूप उदाहरण के लिये नीचे दिये जा रहे हैं—

**समास के भेद—**

समास के मुख्य चार भेद हैं। जिन दो शब्दों के योग से समस्त पद बनता है, उनकी प्रधानता अथवा अप्रधानता के आधार पर ये भेद किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(1) अव्ययीभाव, (2) तत्पुरुष, (3) द्वन्द्व, (4) बहुव्रीहि

**(1) अव्ययीभाव—**

जिस समस्त-पद में पहला शब्द अव्यय-रूप और प्रधान होता है उसे अव्ययीभाव समास कहते हैं। मीरां-पदावली में मूलतः अव्ययीभाव समस्त-पद अत्यल्प हैं यथा –

प्रतिपाल[12]—प्रति+पाल

बारम्बार[13] – बार+बार (म् व्यंजन का आगम)

---

क्रम संख्या (पद संख्या)

1. (30), 2. (24), 3. (101), 4. (48), 5. (158), 6, (33), 7. (29), 8. (111), 9. (28), 10. (112), 11. (122), 12. (47), 13. (196)

(2) तत्पुरुष—

तत्पुरुष समास में पहला पद विशेषण और दूसरा पद विशेष्य होता है तथा इसी की (दूसरे पद की) प्रधानता रहती है। मीरां द्वारा प्रयुक्त समस्त पद प्राय: इसी वर्ग के हैं। कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) व्यधिकरण तत्पुरुष—

गोपीलीला[1] — गोपी+लीला
रतनजड़ित[2] - रतन+जड़ित
मोरमुगट[3] -- मोर+मुगट∠मुकुट
हरिरंग[4] - हरि+रंग
परघरगवण[5] —पर+घर+गवण
साधांसंगत[6] —साध+आं+संगत
नरककुंड[7] —नरक+कुंड
चरणाम्रित[8] —चरण+अमृत
लोकलाज[9] —लोक+लाज
कुलकान[10] कुल+क़ान<कानि
अधवीच[11]—अध+वीच
मझधार[12]—मझ+धार
सिरताज[13]—सिर+ताज
भवपार[14]—भव+पार
भवसागर[15]—भव+सागर
भुवणपति[16]—भुवण+पति
ब्रजवासी[17]—ब्रज वासी
ब्रजवणतां[18]—ब्रज · वणतां∠वनिता
भक्तवछल[19]—भक्त+वछल∠वत्सल
म्रिगछाला[20]—म्रिग+छाला
विरहानल[21] —विरह+अनल
जगतज्वाला[22]—जगत+ज्वाला
दीनानाथ[23] —दीन+नाथ
सुखसागर[24] - सुख+सागर
हरिजन[25] —हरि+जन
हरिगुण[26] —हरि+गुण

(ख) समानाधिकरण तत्पुरुष—

पीताम्बर[27]—पीत+अम्बर

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (1), 2. (8), 3.(2), 4. (17), 5. (26), 6. (29), 7. (30), 8.(31), 9. (12), 10. (38), 11. (55), 12. (62), 13. (84), 14. (84), 15. (35), 16. (96), 17. (o), 18.(6), 19.(·), 20. (94), 2 . (91), 22. (1), 23. (75), 24. (144), 25. (59), 26. (197), 7. (6),

गुरग्यान[1]—गुर + ग्यान—ज्ञान

परमपद[2]—परम + पद

मकराकृत[3] —मकर + आकृत—आकृति

वड़भागण[4]—वड़ + भागण

दुखरासी[5] —दुख + रासी—राशि

गुणागर[6] —गुण + आगर—आकर

गजराज[7]—गज + राज

घनघोर[8] —घन + घोर

सिंघासन[9] —सिंह + आसन

मदमाती[10]—मद + माती

सुखरासी[11]—सुख + रासी

सरणागत[12]—शरण + आगत

मनोरथ[13] मनः + रथ

महाराज[14]—महा + राज

(ग) द्विगुसमास—

| | | |
|---|---|---|
| इकतारी[15] | — | इक + तार + ई |
| चौमास्या[16] | — | चौ + मास् + या |
| छमासी[17] | — | छः + मास + ई |
| पंचरंग[18] | — | पंच + रंग |
| अष्टकरम[19] | — | अष्ट + करम—कर्म |
| नौसरहार[20] | — | नौ + सर—हार |

(3) द्वन्द्वसमास—

जिस समस्तपद के दोनों पद समान रूप से प्रधान होते हैं, उन्हें द्वन्द्व समास कहा जाता है। इसके भी दो भेद है—

एक इतरेतर द्वन्द्व और दूसरा समाहार द्वन्द्व। मीरां-पदावली में आये द्वन्द्व समस्त पदों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1 इतरेतर द्वन्द्व—

| | | |
|---|---|---|
| कुल कुटुम्ब[21] | — | कुल + कुटुम्ब |
| तणमण[22] | — | तण + मण |
| निसदिन[23] | — | निस + दिन |
| दिनराती[24] | — | दिन + रात + ई |
| काजल-टीको[25] | — | काजल + टीको |

क्रम-संख्या (पृष्ठ संख्या)

1. (25), 2. (72), 3. (3), 4. (16), 5. (45), 6. (48), 7. (62), 8. (145), 9. (199), 10. (106), 11. (163) 12. (113), 13. (114), 14. (109), 15. (77), 16. (28), 17. (103), 18. (23), 19. (135), 20. (40), 21. (9), 22. (11), 23. (19), 24. (23), 25. (22)।

| | | |
|---|---|---|
| लूण अलूणो* | — | लूण + अलूणो |
| खानपान[1] | — | खान + पान |
| सुधबुध[2] | — | सुध + बुध |
| माणिकमोतिया[3] | — | माणिक + मोतिया |
| सोणारूपां[4] | — | सोणा + रूपा |
| आदिअंत[5] | — | आदि + अंत |
| मरण जीवण[6] | — | मरण + जीवण |
| जलथल[7] | — | जल + थल |
| कालापीला[8] | — | काला + पीला |
| जन्तरमन्तर[9] | — | जन्तर + मन्तर |
| काथकथीर[10] | — | काथ + कथीर |

2 समाहार द्वन्द्व....

| | | |
|---|---|---|
| जादू टोना[11] | — | जादू + टोना |
| गहणा गांठी[12] | — | गहना + गांठी |
| मेवा मिसरी[13] | — | मेवा + मिसरी |
| महल अटारी[14] | — | महल + अटारी |
| घूम घुमाय[15] | — | घूम + घुम + आय |
| कूड़ो कंटक[16] | — | कूड़ो + कंटक |
| न्हायधोय[17] | — | नहाय + धोय |
| अगरचंदण[18] | — | अगर + चंदण |
| फेराफेरी[19] | — | फेरा + फेरी |
| आकुल व्याकुल[20] | — | आकुल + व्याकुल |
| गाजै वाजै[21] | — | गाजै · वाजै |
| कोढ़ी कुष्टी[22] | — | कोढ़ी + कुष्टी |
| जलवल[23] | — | जल + वल |
| हिलमिल[24] | — | हिल + मिल |
| जहर विस[25] | — | जहर + हिप |
| दीनहीन[26] | — | दीन + हीन |
| धजापताका[27] | — | वजा + पताका |
| सूरजधामा[28] | — | सूरज + धामा |
| उमड़ घुमड़[29] | — | उमड़ + घुमड़ |

क्रम संख्या (पद संख्या)
* (26), 1. (52), 2. (52), 3. (26), 4. (24), 5. (63), 6. (75), 7. (116), 8. (82), 9. (7), 10. (24), 11. (7), 12. (32), 13. (32), 14. (34), 15. (40), 16. (73), 17. (40), 18. (46), 19. (94), 20. (101), 21. (81), 22. (26), 23. (46), 24. (54), 25. (179), 26. (158), 27. (202), 28. (114), 29. (142),

बहुव्रीहि समास—

जिस समस्त पद के दोनों पद अपने मूल अर्थ को छोड़कर किसी अन्य अर्थ को संकेतित करते है, वह समस्तपद वहुवीहि होता है। मीरां-पदावली में ऐसे समस्तपद अति न्यून है। कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं--

रणछोड़[1]--रण + छोड़—(कृष्ण)

धरणीधर[2]--धरणी + धर—(शेष)

गोवरधन गिरधारी[3] – गोवर्द्धन + गिरि + धारी – (कृष्ण)

चतुर्भुज[4]--चतुः + भुज (विष्णु)

गोपाल[5] --गो + पाल—(कृष्ण)

सामान्यतः समस्तपद शब्दों का प्रयोग संस्कृतनिष्ठ भाषा में अधिक मिलता है। तुलसी, घनानन्द प्रभृति कवियों की भाषा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। मीरां की भाषा जनभाषा की ओर झुकी हुई है, इस कारण उनकी भाषा में समस्तपदों का प्रयोग सीमित है। उन्होंने उन्हीं समस्तपदों का प्रयोग किया है जो जन सामान्य द्वारा सहज बोधगम्य हैं। वस्तुतः तत्सम-भाषा समस्तपद-बहुला होती है और तद्भव-भाषा में समस्त-पदों की न्यूनता होती है, मीरां की भाषा साहित्यिक भाषा और जनभाषा की मध्यवर्ती है. इसी कारण इसमें दोनों भाषाओं की विशेषताएं न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध होती हैं।

ङ०—वाक्य-विवेचन—

शब्द-निर्माण के अनन्तर अब प्रस्तुत है—मीरां की वाक्य-विन्यास शैली का संक्षिप्त परिचय।

1 वाक्य-रचना की दृष्टि से —

हिन्दी-वाक्यों को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है—सरल वाक्य, मिश्रित वाक्य और संयुक्त वाक्य। मीरां-पदावली में हमें तीनों वर्गों के वाक्य मिलते हैं—

(क) सरल-वाक्य -

मीरां की भाषा का प्रधान गुण सरलता है। अपनी हार्दिक कामनाओं और भावों की ऋजु-अभिव्यक्ति के लिये उन्होंने सरलतम वाक्यों का सुष्ठु विन्यास किया है। उदाहरणार्थ कुछ भावपूर्ण सरल वाक्य दिये जा रहे हैं—

मैं तो गिरधर के घर जाऊं।[6]

हरि म्हारां जीवण प्राण अधार[7]।

म्हारे णेणा निपट वंकट छवि अंटके।[8]

म्हां गिरधर आगां नाच्यारी।[9]

वस्यां म्हारे णेणण मा नन्दलाल।[10]

माई म्हां गोविन्दा, गुण गास्यां।[11]

---

क्रम संख्या (पद संख्या)

1. (202), 2. (21), 3. (131), 4. (141), 5. (3), 6. (20), 7. (4), 8. (10), 9. (17) 10. (3), 11. (31)।

हेली म्हांनू हरि बिन रह्यो न जाय :[1]
जोगिया री प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ।[2]
रमइया मेरे तोहीं सूं लागी नेह ।[3]
परम सनेही राम की नित ओलूं री आवे ।[4]
सखी म्हारी नींद नसाणी हो ।[5]
सइयां तुम तुम बिणि नींद न आवे हो ।[6]
हरि विण क्यूं जीवां री माय ।[7]
पिया मोहिं दरसण दीजे हो ।[8]
सांवरो म्हारी प्रीत णिभाज्यो जी ।[9]
वादला रे थे जल भर्‌या आज्यो ।[10]
यहि विधि भक्ति कैसे होय ।[11]
माई मेरो मोहने मण हर्‌यो ।[12]
सांवरा सी किसोर मूरत कछुक टोनो कर्‌यो ।[13]
करमगति टारां णाही टरां ।[14]
म्हारो मण सांवरो णाम रट्यांरी ।[15]
सखी री लाज वैरण भई ।[16]
म्हारो ओलगिया घर आज्यो जी ।[17]
स्याम विणा सखी रह्या ण जावां ।[18]
को विरहिनी को दुख जाणे हो ।[19]
हरि विन कूण गति मेरी ।[20]
हरि थे हर्‌या जण री भीर ।[21]
पिया म्हारे नैणा आगां रहज्यो जी ।[22]
तनकु हरि चितवां म्हारी ओर ।[23]
हेरी मां नन्द को गुमानी म्हांरे मनड़े वस्यो ।[24]
हे मा वड़ी वड़ी अखियनवारो सांवरो मो तन हेरत हंसिके ।[25]

(ख) मिश्रितवाक्य—

मिश्रितवाक्य में मुख्य तथा एक उपवाक्य रहता है। उपवाक्य में प्रयुक्त प्रमुख व्याकरणिक पद के आधार पर मिश्रितवाक्यों को तीन उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है—क - संज्ञा उपवाक्य, ख—विशेषण उपवाक्य, ग—क्रिया-विशेषण उपवाक्य। मीरां-पदावली में तीनों प्रकार के उपवाक्य मिलते हैं, जिनके कुछेक उदाहरण इस प्रकार हैं—

---

क्रम सं.-(पद संख्या)
1. (42), 2. (59), 3. (59), 4. (67), 5. (87), 6. (92), 7. (90), 8. (115), 9. (129), 10.(149), 11. (158), 12.(162), 13. (162), 14. (189), 15. (200), 16.(182), 17. (119), 18. (69), 19. (73), 20. (63), 21. (61), 22. (50), 23. (5), 24. (8), 25. (7),

अ संज्ञा उपवाक्य—

मेरो बेड़ो लगाज्यो पार, प्रभुजी मैं अरज करूं छूं ।[1]
गिरधारी शरणां थारी आया, राख्यां किर्पानिधान ।[2]
मेरे मण में ऐसी आवे, मरूं जहर विष खाय ।[3]
बिन पिया ज्योत मंदिर अंधियारो, दीपक दाय न आवे ।[4]

आ विशेषण उपवाक्य—

मीरां-पदावली में संज्ञा उपवाक्य की तुलना में विशेषण उपवाक्य का प्रयोग अधिक हुआ है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

जिण मारग म्हारा साध पधार्‌या उण मारग म्हें जास्यां ।[5]
जो तेरे हिय अंतर की जाणे तासों कपट न बणे ।[6]
जिह जिह विधि रीझै हरि सोई विधि कीजै हो ।[7]
है कोई जग में परम सनेही ऐ उरि साल मिटावै ।[8]
मेरो नाम बूझि तुम लीजो, मै हूं विरह दिवाणी ।[9]
जेताई दीसे धरण गगन विच तेताई उठ जासी ।[10]

इ क्रिया-विशेषण उपवाक्य—

जब लागी तब कोई न जाने अब जानी संसार ।[11]
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गई पाय ।[12]
ज्यां ज्यां चरण धरणा धरणी धर, त्यां त्यां निरत करांरी ।[13]
जो तोकों कछु और विथा हो, नाहिन मेरो वसिके ।[14]
जो हूं ऐसा जाणती रे वाला, प्रीत कियां दुख होय ।
नगर ढंढोरा फेरती रे प्रीत करो मत कोय ।।[15]
छप्पण भोग बुहाई दे रे इन भोगन में दाग ।[16]
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं तो गुण गोविन्द के गास्यां ।[17]
जो तूं लगण लगाइ चावै तो सीस को आसण कीजं ।[18]
हरि मन्दिर मां निरत करास्यां, घूंघर्‌या घमकास्यां ।[19]

ग संयुक्तवाक्य—

संयुक्तवाक्य में एक से अधिक प्रधान वाक्य रहते हैं और इन प्रधान उपवाक्यों के साथ बहुधा उपवाक्य भी रहते हैं। संयुक्तवाक्यों का विधान गद्यसाहित्य में विशेषत: किया जाता है। मुक्तककाव्य के संक्षिप्त कलेवर में संयुक्तवाक्य को समुचित प्रसार नहीं मिल पाता है, इसलिये मीरां-पदावली में भी संयुक्तवाक्यों का प्रयोग कम होना स्वाभाविक ही है; मीरां-पदावली में प्राप्त संयुक्तवाक्यों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं -

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (135), 2. (134), 3. (179), 4. (74) 5. (15), 6. (23), 7. (20), 8. (92), 9. (195), 10. (127), 11. (41), 12. (21), 13. (6), 14. (59), 15. (56), 16. (25), 17. (191), 18. (31), 19. (5) ।

अ संयोजक से जुड़े—

म्हारी आसा चितवण थारी **और** णा दूजा दोर ।[1]

आंवां की डार कोइल इक बोले, मेरो मरण **अरु** जग केरी हांसी ।[2]

पात ज्यूं पीरी पड़ी **अरु** विपत तन छाई ।[3]

कहीं-कहीं छन्द की आवश्यकतानुसार संयोजक शब्दों का लोप भी कर दिया है। यथा—

अजामील अपराधी तार्‌या, तार्‌या नीचसदाण।

डूबतां गजराज राख्यां, गणिका चढ्या विमाण।

अवर अधम बहुता थें तार्‌यां, भाख्या सणत सुजाण ।[4]

दरस विना मोहे कछुण सुहावे, जक ण पड़त है आंखडियां ।[5]

अंग भभूत गले म्रिघ छाला (-) यो तन भसम करूं री ।[6]

आ **वियोजक से जुड़े—**

कै कहुं काज किया संतन का, कै कहुं गैल भुलावना[7]

कै तो जोगी जग में नाहीं कैर विसारी मोय ।[8]

कहीं-कहीं शब्दों का लोप भी हो गया है—

जोहर की गत जोहर जाणे, ( ) क्या जाण्या जिण खोय ।[9]

इ **विरोधसूचक समुच्चय का लोप—**

आवण कह गये ( ) अजहुं न आये, जियड़ो अति उकलावै ।[10]

हम चितवां ( ) थे चितवो णा हरि, हिवड़ो बड़ो कठोर ।[11]

2. **वाक्यार्थ की दृष्टि से—**

वाक्य-रचना की दृष्टि से किये गये उपरिवर्णित वर्गों के अतिरिक्त मीरां के वाक्यों का वाक्यार्थ की दृष्टि से भी वर्गीकरण किया जाता है, जो इस प्रकार है—

( ) सामान्यार्थक
(2) निषेधार्थक
(3) आज्ञार्थक
(4) विनयार्थक
(5) प्रश्नार्थक
(6) संकेतार्थक

(1) **सामान्यार्थक—**

वस्यां म्हारे णेणण मां नन्दलाल ।[12]

सांवरो नन्दनन्दन दीठ पड्या भाई ।[13]

भुवनपति थे घर आज्योजी ।[14]

---

क्रम संख्या-(पद संख्या)

1. (5), 2, (65), 3. (89), 4. (134), 5. (198), 6. (94), 7. (85), 8. (44), 9. (70), 10. (67), 11. (5), 12. (3), 13. (12), 14. (96)।

आओ मणमोहणा जी जोऊँ थारी वाट ।[1]
प्यारे दरसण दीज्यो आय, थे विण रह्याणा जाय ।[2]
म्हारो जणम रो साथी, थांने णा बिसरयां दिनराती ।[3]
राणाजी थे जहर दियो मैं जाणी ।[4]

(2) निषेधार्थक—
थे मत वरजां माईड़ी साधा दरसण जावां ।[5]
वरजी म्हां स्याम विणा न रह्यां ।[6]
नहीं सुख भावै थारो देसलड़ो रंगरूड़ो ।[7]
हेली म्हांसू हरि विन रह्यो ण जाय ।[8]
गंगा जमणा काम णा म्हारे, म्हां जावां दरवारां री ।[9]
और सिंगार म्हारे दाय न आवै, यो गुर ग्यान हमारो ।[10]
जोगी मत जा मत जा मत जा पांव पडूं मैं चेरी तेरी ।[11]

(3) आज्ञार्थक—
मण थे परस हरि रे चरण ।[12]
भज मण चरण कँवल अविनासी ।[13]

(4) विनयार्थक—
हरि थे हर्या जण री पीर ।[14]
छोड़ मत जाज्यो जी महाराज ।[15]
धूतारा जोगी एक र सूं हँसि बोल ।[16]
आवो मणमोहणा जी जोऊं थारी वाट ।[17]
म्हारी सुध ज्यूं जाणे त्यूं लीजो जी ।[18]

(5) प्रश्नार्थक—
राणा जी थे क्याने राखो म्हासूं वैर ।[19]
ऐसी लगण लगाई कहां तू जासी ।[20]
सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कांई कर लेसी ।[21]
गिरधर रीसाणा कौण गुणां ।[22]
पतियां मैं कैसे लिखूं लिख्योरी न जाय ।[23]
सजणी कव मिलस्यां पिव म्हारा ।[24]
कूण सखी सूं तुम रंग राते, हम सूं अधिक पियारी ।[25]
कहा वोझ मीरां में कहिये सौ पर एक घड़ी ।[26]

(6) संकेतार्थक —
मेरे मण की तुम ही जानो, मेरे ही जीव नींचित ।[27]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (99), 2. (101), 3. (106), 4. (38), 5. (20), 6. (29), 7. (32), 8. (42), 9. (24), 10. (25), 11. (46), 12. (1), 13. (195), 14. (61), 15. (48), 16. (58), 17. (99), 18. (111), 19. (34), 20. (49), 21. (35), 22. (60), 23. (76), 24. (110), 25. (113), 26. (118), 27. (125),

मीरां पीड़ा सोइ जाणे, मरण जीवण जिण हाय।[1]
लागी सोई जाणे, कठण लगण दी पीर ।[2]
जा घट विरहा सोइ लखिहै कै कोइ हरिजन मानै ।[3]

ऐसे ही अर्थपूर्ण वाक्यों का मीरां ने अनेकविध प्रयोग किया है। ये छोटे-छोटे किन्तु गहन भावों और अर्थों से पूर्ण वाक्य, मीरां के हृदय-प्रदेश में लहराने वाले अपार माधुर्यपूर्ण भाव सागर की लोल लहरियां हैं, जो अपने संक्षिप्त कलेवर में उस विस्तृत भावराशि को समेटे हुए हैं। इन भावपूर्ण वाक्यों का निर्माण करने में विविध शब्दों—व्याकरणिक-पदों का आवश्यतानुकूल प्रयोग किया गया है।

3 पदक्रम—

सामान्यतः अर्थ की सुस्पष्टता के लिये वाक्य में शब्दों या पदों को एक विशेपक्रम से रखा जाता है। हिन्दी-भाषा के वाक्यों में पद का क्रम साधारणतः निम्नांकित रूप में रहता है—

क कर्ता + क्रिया
ख कर्ता + कर्म + क्रिया
ग विशेपण + विशेष्य
घ क्रियाविशेपण + क्रिया
ङ विशेष्य विशेपण + क्रिया
च संज्ञा + आदरार्थी अव्यय
छ संबोधन + वाक्यों के आरम्भ में
ज संयुक्त क्रिया = मुख्य क्रिया + सहायक क्रिया

मीरां पदावली में भी वाक्यों का सामान्य पदक्रम ऐसा ही है, परन्तु छन्द की आवश्यकतानुसार पदों के क्रम में भी परिवर्तन किया गया है। पदक्रम और पदव्यतिक्रम के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

क (1) संबोधन + कर्त्ता + क्रिया
सखी म्हारी नींद नसाणी हो ।[4]
सखीरी लाज बैरन भई ।[5]

(2) कर्त्ता + क्रिया
एक गावत एक नाचत एक करत हांसी ।[6]
नैण बिछास्यूं हिवड़ो डास्यूं ।[7]

ख (1) संबोधन कर्त्ता + कर्म + क्रिया
माई मेरो मोहने मण हर्यो
माई म्हां गोविन्द गुण गास्यां[8]

(2) कर्त्ता + कर्म + क्रिया

---

क्रम संख्या-(पद संख्या)
1. (75), 2. (192), 3. (73), 4. (87), 5. (182), 6. (162), 7. (109), 8. (172),

धरती रूप नवा नवा धरि[1]
कोयल शवद सुणाया[2]

(3) कर्त्ता + क्रिया + कर्म

सांवरे मार्‌या तीर ।[3]
प्रभुजी कहां गया नेहड़ो लगाय ।[4]

ग (1) विशेषण + विशेष्य—

मोहण मूरत सांवरा सूरत[5]
मोर मुकट मकराकृत कुण्डल, अरुण तिलक (सोहां भाल)[6]
टेढ़यां कट टेढ़े कर मुरली ढेढ्या पाग (लर लट के)[7]

(2) विशेष्य + विशेषण—

णेण वल्या विशाल[8]
कुल कुटुम्व सजण सकल (वार वार हटकी)[9]
प्रीत पुरातन (जाच्यां री)[10]
वदन चन्द (परगासतां)[11]

(3) विशेषण + (अन्य शव्द) + विशेष्य—

रतन जटित माथे मुगट कस्यो[12]
करवत लूंगी कासी[13]

घ (1) क्रिया विशेषण + क्रिया—

जहां वैठावे तित ही वैठूं[14]
सांवरो मीतन हैरत हंसिके[15]
कहा करूं कित जाऊं मोरी सजनी[16]
जित जोऊं तित पाणी पाणी[17]

(2) क्रिया + क्रिया विशेषण—

मुरलिया वाजा जमणा तीर[18]
राख्यां नैणां नेरा[19]
भीज्यां धार खरी[20]
वरस्यो चार घरी[21]

ङ. (1) विशेष्य + विशेषण + क्रिया

यातो रंग धता लग्यो (ए माय)[22]
मेघ घटा घनघोर छै जी ।[23]

(2) विशेष्य + क्रिया + विशेषण

पवण चल्या पुरवायां[24]

---

क्रम संख्या (पद संख्या)

1. (31), 2. (143), 3. (155), 4. (64), 5. (3), 6. (3), 7. (10), 8. (3), 9. (9), 10. (17), 11. (13), 12. (8), 13. (49), 14. (20), 15. (7), 16. (85), 17. (82), 18. (166), 19. (110), 20. (82), 21. (82), 22. (40), 23. (145), 42. (142),

गोविन्द गाढ़ा छौंजी दोल रा मीत[1]

च — (1) — संज्ञा + आदरार्थी अव्यय

राणा जी[2]

जसुमति जू[3]

(2) — आदरार्थी अव्यय + संज्ञा -

छोड़ मत जाज्यो जी महाराज[4]

मीरां सिरि गिरधर नटनागर भगति रसीली जांची[5]

म्हारे आज्यो जी रामा[6]

छ — (1) — सम्बोधन, वाक्य के आरंभ में —

माई म्हारो सुपणा मां परण्यां दीनानाथ ।[7]

हेली पिया विण म्हाणे णा भावां, घर अंगणो णा सुहावां[8]

(2) सम्बोधन वाक्य के अन्त में —

लगण को नांव लीजे री भोली ।[9]

म्हारो मण हर लीण्या रणछोड़ ।[10]

तेरो भरम नहिं पायो रे जोगी ।[11]

कहां कहां जाऊं तेरे साथ कन्हैया ।[12]

ज — (1) संयुक्त क्रिया — मुख्यक्रिया + सहायक क्रिया —

होरी खेलत हैं गिरधारी[13]

विन्द्रावन की कुन्ज गलिन में, गह लीणो मेरो हाथ[14]

दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी[15]

प्रभु जी मैं अरज करूं छूं[16]

वेग मिलस्यो आय[17]

डारि गयो मनमोहन पासी[18]

(2) मुख्यक्रिया + अन्य शब्द + सहायकक्रिया

सब लया सीस चढ़ाय[19]

छोडयो म्हा बिसवास संगाती, प्रेम की बाती जलाय[20]

माई म्हां लियां गोविन्दा मोल [21]

(3) पहले सहायक क्रिया + मुख्यक्रिया -

लोक लाज कुल काण जगत की, दई बहाय जस पाणी[22]

सालिगराम गई पाय[23]

राणा रह्या रिसाय[24]

मोहन निकल्यां आय[25]

---

क्रम संख्या (पृष्ठ संख्या)

1. (125), 2. (33), 3. (162), 4. (48), 5. (119), 6. (114), 7. (27), 8. (78), 9. (191), 10. (202), 11. (188), 12. (176), 13. (175), 14. (176), 15. (177), 16. (135), 17. (90), 18. (13), 19. (65), 20. (64), 21. (22), 22. (38), 23. (41), 24. (42), 25. (13) ।

4—पदबंध क्रम –

विशेषण और क्रिया विशेषण एकल शब्दों की भांति विशेषण और क्रियाविशेषण बहुल शब्द या पदबंध भी विशेष्य या क्रिया के पूर्व प्रयुक्त किये जाते हैं। मीरां-पदावली में भी पदबंधों का यथास्थान प्रयोग किया गया है, परन्तु कभी-कभी इनका क्रम उल्टा भी हो गया है। उदाहरण हेतु कुछ प्रयोग प्रस्तुत हैं—

भीजे म्हारो दांवन चीर, सावणियो **लूम रह्यो** छै।[1]
**पलक पलक मोहे जुग से बीतै** छिन छिन विरह जरावे हो।[2]
अन्तर **वेदन विरहरी,** म्हारी पीर ण जाणी हो।[3]
खाण पाण म्हाणे फीका सो लागां **नेण रहां मुरझावां**।[4]
मीरां के प्रभु मिलज्यो माधो, **जनम जनम री क्वांरी**।[5]
गणतां गणतां घिस गयां **रेखा आंगरियां री सारी**।[6]
और आसिरो णा म्हारां थे विण **तीनूं लोक मंझार**।[7]
**दरद की मारी** दर दर डोलूं[8]
मीरां प्रभु सरणा गह्यां **जाण्या घट घट की**।[9]

5—अन्वय—

वाक्य-संयोजन में पदक्रम की भांति अन्वय का होना भी आवश्यक है। अन्वय का अर्थ है एकान्विति या एकरूपता। वाक्य के विविध व्याकरणिक शब्दों में लिंग, वचन, पुरुष तथा रूप का अन्वय मिलता हे। मीरां ने भी पदों में परस्पर अन्वय का ध्यान रखा है।

क—लिंग का अन्वय—

लिंग की दृष्टि से वाक्य के निम्न पदों में अन्वय होता है—

(1) कर्ता और क्रिया में, यथा—

मीरां मगन भई, हरि के गुण गाय।[10]
**सांवलिया** म्हारा **छाय रह्यो** परदेस।[11]
**मैं तो** तेरी सरण **परी** रे रामा।[12]
भाई सांवरे रंग **राची**।[13]

(2) कर्म और क्रिया में—

कहा भावज ने **भेंट पठाई**[14]
छुटी अलक कुंडल ते उरझी **झड़ गई कोर किनारी**[15]
**झटक्यो** मेरो **चीर** मुरारी[16]

(3) विशेष्य विशेषण में—

**भगति रसीली** जांची[17]

---

क्रम संख्या (पद संख्या)
1. (122), 2. (92), 3. (87), 4. (69), 5. (77), 6. (77), 7. (4), 8. (60), 9. (9), 10. (41), 11. (68), 12. (133), 13. (19), 14. (187), 15. (170), 16. (170), 17. (19)।

भगवीं चादर पहर ।[1]
चढ़ती वैस नैण अणियाले ।[2]
ज्यूं डूगर का वाहला, यूं ओछा तणा सनेह ।[3]

(4) सम्बन्ध कारकीय रूप और परवर्ती संज्ञा में—
मैं तो छुप गई लाज की मारी ।[4]
जगरी वातां काची ।[5]
हीरा रो वौपारां ।[6]
चौमास्या री वावड़ी ।[7]
स्याम नाम रो झांझ ।[8]
यो संसार वीड़ रो कांटो ।[9]
एही भगति की रीत ।[10]

ख—वचन का अन्वय—

वचन की दृष्टि से भी अन्वय उपर्युक्त चार प्रकार के पदों में होता हैं; जैसे—

(1) कर्ता-क्रिया का –
आओ सहेल्यां रली करां ।[11]
जिण मारग म्हारा साध पधारे ।[12]
राणा भेज्या विप रो प्यालो ।[13]

(2) कर्म-क्रिया का—
कागद ले राधा वांचन वैठी भर आई छाती। [14]
सांप पिटारो राणाजी भेज्यो ।[15]

(3) विशेषण-विशेष्य का—
काचो रंग उड़ जाय[16]
कड़वा वोल लोक जन वोल्या ।[17]
पूरब जणमरी प्रीत पुराणी ।[18]
हिल मिल वात वणावत मीठी ।[19]

(4) सम्वन्धकारकीय रूप और परवर्त्ती संज्ञा का—
नेह री नाव चलाय ।[20]
मेरो मरण अरू जगकेरी हांसी ।[21]
हरि हिवडा रो साज ।[22]
सुख में सवकी सीर ।[23]

ग—पुरुष का अन्वय—

पुरुप की दृष्टि से अन्वय केवल कर्ता और क्रिया-पदों के मध्य होता है -

---

क्रम संख्या (पद संख्या)

1. (34), 2. (58), 3. (59), 4. (171), 5. (19), 6. (24), 7. (28), 8. (31), 9. (31), 10. (26), 11. (26), 12. (25), 13. (18), 14-15. (41), 16. (40), 17. (45), 18. (51), 19. (54), 20. (64), 21. (65), 22. (132), 23. (192) ।

मैं सोवूं छी अपणे भवण में, पिउ पिउ करता पुकारया ।[1]
पपइया म्हारो कवरो वैर चितार्‌या ।[2]

घ रूप का अन्वय—

विकारी और अविकारी रूप की दृष्टि से केवल विशेषण और विशेष्य पदों का ही अन्वय होता है। मीरां-पदावली में इसका जो रूप उपलब्ध होता है उसके कुछेक उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं।

6—लोप—

सामान्यतः कविता में वाक्य-विन्यास के नियमों का पूर्णपरिपालन नहीं हो पाता है। छन्द की आवश्यकता और भाव की तीव्रता के कारण कहीं-कहीं शब्दों-विभक्तियों आदि का लोप हो जाता है। मीरां-पदावली में भी कई स्थानों पर शब्द-लोप हुआ है—

संज्ञा लोप—

माई ( ) सांवरे रंग राची ।[3]
अख्यां तरशां ( ) दरसण प्यासी ।[4]

सर्वनाम-लोप—

( ) थारो रूप देख्यां अटकी ।[5]
( ) असा प्रभु जाण न दीजे हो ।[6]
जिण रो पिया परदेस वस्यां री ( ) लिख लिख भेज्यां पाती ।[7]
झूठा ( ) आभूषणा री सांची पिया जी री पोति ।[8]

परसर्ग-लोप—

परसर्ग (कारक चिह्नों) का लोप अन्य पदों की अपेक्षा अधिक हुआ है। ये चिह्न अपने पूर्ववर्ती शब्दों में विलीन हो गये हैं। इनका स्थान 'आं' या 'ऐ' स्वर ने ले लिया है, यथा—

मीरां प्रभु संतां (—) सुखदायां ।[9]
माई म्हारो मोहने (—) मण हर्‌यो ।[10]
इण चरण (—) ध्रुव अटल करस्यां ।[11]
साधां (—) ढिग वैठ वैठ लोक लाज खूयां ।[12]
मोर मुगट सिर (—) छत्र विराज्यां ।[13]
हम चितवां (—) थे चितवो णा हरि ।[14]

क्रियालोप—

सामान्यतः अस्तित्वबोधक क्रियाओं और सहायक क्रियाओं का ही लोप मीरां-पदावली में मिलता है, यथा—

म्हां अवला (—) बल म्हारो गिरधर (—) ।[15]

---

क्रम संख्या (पद संख्या)
1-2. (83), 3. (19), 4. (45), 5. (9), 6. (16), 7. (23), 8. (26), 9. (3), 10. (172), 11. (1), 12. (18), 13. (202), 14. (5), 15. (48) ।

मेरा पिया मेरे हिवड़े वसता (—) ना कहुँ आती जाती (—) ।[1]
अब तो निभायां (—) बांह गह्यां री लाज ।[2]
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये मैं रावरी (—) चेरी ।[3]

7 **द्विरुक्तियां—**

भावों को सुतीव्र और अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के निमित्त शब्दों या पदों की पुनरावृत्ति की जाती है । मीरां में भी यह प्रवृत्ति मिलती है । उन्होंने भी शब्दों का पुनरावर्तन कर अपने विचारों को अर्थपूर्ण सशक्तता व प्रभविष्णुता प्रदान की है । उनके द्वारा की गई द्विरुक्तियों के कुछ प्रयोग निम्नांकित हैं—

**संज्ञा—**

अंग अंग —गिरधर प्रभु **अंग अंग** मीरां वलि जाइ ।[4]
कुंजन कुंजन —**कुंजन कुंजन** फिर्‌या सांवरा सवद सुण्या मुरली का ।[5]
घट घट —मीरां प्रभु सरण गह्यां जाण्या **घट घट** की ।[6]
घर घर —रजनी बीती भोर भयो है **घर घर** खुले किवारे ।[7]
जणम जणम —मीरां हरि रे हाथ विकाणी, **जणम जणम** री दासी ।[8]
जनम जनम — मीरां रो प्रभु गिरधर नागर, **जनम जनम** रो सांचा ।[9]
पलक पलक —**पलक पलक** मोहि जुग से वीतें **छिन छिन** विरह जरावै हो ।[10]
पाणी पाणी —जिन जोयां तित **पाणी पाणी** प्यासा भूम हरी ।[11]
पियु पियु —म्हा सोवूं छी अपणे भवण मा **पियु पियु** करतां पुकार्‌यां ।[12]
प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी—**प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी** रे मने लागी कटारी प्रेमनी ।[13]
वन वन —**वन वन** ढूंढत मैं फिरी, आली सुधि नहीं पाई ।[14]
दर दर —दरद की मार्‌या **दर दर** डोल्यां वैद मिल्या नहीं कोय ।[15]
रंग रंग —पिचकां उड़ावां **रंग रंग** री भरी री ।[16]
जय जय —ग्वालन वाल सव करत कुलाहल **जय जय** सवद उचारे ।[17]
रूंम रूंम —**रूंम रूंम** नखसिख लख्यां **ललक ललक** अकुलाय ।[18]
रेजा रेजा —**रेजा रेजा** भयो करेजा अन्दर देखो धंसिके ।[19]
जुगां जुगां —**जुगां जुगां** री जोवतां विरहणि पिव पाया हो ।[20]

**विशेषण—**

कांई कांई —थांणे **कांई कांई** वोल सुणावां म्हांरा सांवरा गिरधारी ।[21]
नवां नवां —धरती रूप **नवां नवां** धरिया इन्द्र मिलण रे काज ।[22]
वड़ी वड़ी हेमा **बड़ी वड़ी** अखियन वारो सांवरो मोतन हेरत हंसि के ।[23]

**क्रिया —**

मर मर —मीण जल विछुड़्या णा जीवां तलफ **मर मर** जाय ।[24]

---

क्रम संख्या - (पद संख्या)

1. (23), 2. (62), 3. (63), 4. (12), 5. (160), 6. (9), 7. (165), 8. (45), 9. (37), 10. (92), 11. (82), 12. (83), 13. (173), 14. (89), 15. (70), 16. (148), 17. (165), 18. (13), 19. (7), 20. (150), 21. (51), 22. (43), 23, (7) 24. (90) ।

चाख चाख —अच्छे मीठे **चाख चाख** वेर लाई भीलणी ।[1]
चुणि चुणि —**चुणि चुणि** कलियां सेज विछायो, नखसिख पहर्यो साज ।[2]
तलफ तलफ —दरस विना मोहि कछु न सुहावै, **तलफ तलफ** मर जाणी ।[3]
तलफि तलफि—तुम देखे विन कलि न परति है, **तलफि तलफि** जिव जासी ।[4]
बैठ बैठ —साधां ढिग **बैठ बैठ** लोक लाज खूयां ।[5]
भ्रमि-भ्रमि —अड़सड़ तीरथ **भ्रमि भ्रमि** आयो मन नहिं मानी हार ।[6]
लरि लरि —सासु बुरी अर ननद हठीली **लरि लरि** मोंहि तारी, हे माय ।[7]
हंसि हंसि —सखी साइनि मोरी हंसत हैं **हंसि हंसि** दे मोंहि गारी हे माय ।[8]
ललक ललक – रूंम रूंम लख सिख लख्यों, **ललक ललक** अकुलाय ।[9]
लहरि लहरि – प्रीतम पंतग डस्यो कर मेरो, **लहरि लहरि** जिव जावे हो ।[10]
लिख लिख – जिण रो पिया परदेस वस्यां री **लिख लिख** भेज्यां पाती ।[11]
करतां करतां —ऊभ्यां डाढ़ी अरज करूं छूं **करतां करतां** भोर ।[12]
गिणतां गिणतां—**गिणतां गिणतां** घिस गई रे म्हारा आंगरिया री रेख ।[13]
लेतां लेतां -- **लेतां लेतां** राम नाम रे लोकड़ियां तो लाजां मरे छै ।[14]
गायां गायां —**गायां गायां** हरिगुण निसदिन, काल व्याल री वांची ।[15]
जावादे जावादे – **जावादे जावादे** जोगी किसका मीत[16]

**क्रिया विशेषण—**

वेरि वेरि – **वेरि वैरि** पुकारि कहूँ, प्रभु आरति है तेरि[17]
वार वार —कुल कुटुम्व सजण सकल **वार वार** हटकी ।[18]
ज्यां ज्यां—त्यां त्यां—**ज्यां ज्यां** चरण धर्यां धरणी धर
**त्यां त्यां** निरत करांरी ।[1]
ज्यूं त्यूं—रैण दिना वाके संग खेलूं, **ज्यूं त्यूं** वाहि रिझाऊं ।[2]
वार बार मीरां के प्रभु गिरधर नागर **वार वार** वलि जाऊं ।[3]
वीचा वीचा—हरे हरे णवां कुंज लगास्यूं, **वीचा वीचा** वारी ।[4]
मन्द मन्द —वदन चन्द परगासतां, **मन्द मन्द** मुस्काय ।[5]
जिह जिह — **जिह जिह** विधि रीझै हरि, सोई विधि कीजै हो ।[6]

मीरां ने कहीं-कहीं द्विरुक्तियों को अधिक वलात्मकता प्रदान करने के लिये दोनों पदों के वीच में 'ही' पद जोड़ दिया है। यथा—

आपहि आप -**आपहि आप** पुजाय कैरै फूले अंग णा समान ।[7]
औरहि औरे – कृष्णरूप छकी है ग्वालिन **औरहि औरे** वालै ।[8]

**च मुहावरे और लोकोक्तियां—**

भापा में रोचकता, संक्षिप्तता, सारगर्भिता, और वाग्विदग्धता उत्पन्न करने

---

क्रम संख्या (पद संख्या)
1. (186), 2. (151), 3. (130), 4. (49), 5. (18), 6. (133), 7-8 (169), 9. ( 3), 10. (92), 11. (23), 12. (5), 13. (117), 14. (157), 15. (19), 16. (57), 17. (63), 18. (9) 19. (21), 20. (20), 21. (20), 22. (154), 23. (13), 24. (16), 25. (158), 26. (178) ।

का कार्य मुहावरों और लोकोक्तियों का है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किसी-न-किसी रूप में संसार की समस्त भाषाओं में विद्यमान है। 'मुहावरा' की परिभाषा देते हुए श्री दुनीचन्द ने लिखा है—"किसी भाषा का ऐसा प्रचलित शब्द अथवा वाक्यांश जो किसी विशेष ढंग से प्रयुक्त होकर अपने साधारण (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण अर्थ प्रकट करता हो, मुहावरा या वाक्पद्धति कहलाता है।"※ और लोकोक्ति या कहावत जनसाधारण में प्रचलित उस लोकप्रिय उक्ति या कथन को कहते हैं जो सारगर्भित होने के साथ ही संक्षिप्त और प्रभावशाली भी हो, साथ ही जिसका प्रयोग अन्योक्ति के रूप में तथा अपने कथन की पुष्टि के लिये किया जाता है।

वस्तुतः लोकोक्तियां और मुहावरे वाक्यमाला में गुंथे शब्द-मनकों के बीच, सुमेरु की भांति, वाक्य का अंश होकर भी, अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। वाक्य में प्रयुक्त अन्य व्याकरणिक पद जहां सामान्य अभिधेयार्थ का प्रतिपादन करते हैं, वहां मुहावरे और लोकोक्तियां अपना सामान्य अर्थ छोड़कर विशिष्ट लाक्षणिक अर्थों की संसृष्टि करते हैं।

मुहावरे और लोकोक्ति वाह्यत; एक प्रतित होते हैं, परन्तु इनमें संरचना के आधार पर कुछ मूलभूत अन्तर हैं, जो इस प्रकार हैं

1—लोकोक्ति एक पूर्ण वाक्य होती है जब कि मुहावरा वाक्यांश।

2—लोकोक्ति सदैव एक ही रूप में प्रयुक्त होती है, उसमें शाब्दिक परिवर्तन के लिये अवकाश नहीं रहता, जबकि मुहावरे में क्रियापद-परिवर्तन किये जा सकते हैं।

3—अर्थ की दृष्टि से लोकोक्ति स्वतः पूर्ण होती है, जबकि मुहावरा वाक्याश्रित होने के कारण परमुखापेक्षी होता है।

4—लोकोक्ति अपने अर्थ का स्वतंत्र बोध कराने के पश्चात् प्रकरण-संगत किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराती है, किन्तु मुहावरा लक्ष्यार्थ या विलक्षण अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है।

5—लोकोक्ति में क्रिया कभी प्रच्छन्न रहती है कभी मध्य में आती हैं और कभी अन्त में, जबकि मुहावरे में क्रिया नहीं होती; क्रियापद या क्रियार्थक संज्ञा शब्द आते हैं, जो कि अधिकतर 'ना' पर समाप्त होते हैं। वाक्य के कर्त्ता, कर्म आदि के लिंग, वचन आदि के अनुसार मुहावरे के क्रियापद में भी परिवर्तन हो सकता है।

साधारणतः साहित्यिक भाषा की अपेक्षा लोकभाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग अधिक मिलता है; लोकोक्ति तो है ही लोक की उक्ति, अतः जनभाषा को अनुभवगम्यता तथा पुष्टिवर्धक रंजकता प्रदान करने में मुहावरों और लोकोक्तियों का महत् योगदान होना स्वाभाविक ही है। मीरां की भाषा को लोकतात्त्विकता प्रदान करने का श्रेय उनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

※ श्री दुनीचन्द, हिन्दी-व्याकरण, पृष्ठ 299।

को जाता है। जैसा कि पूर्व-कथित है, मीरां की भाषा साहित्यिकभाषा और जनभाषा की मध्यवर्ती है, अतः उसमें दोनों भाषाओं के गुण उपलब्ध होते हैं। मीरां द्वारा प्रयुक्त किये गये मुहावरों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

1—शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित मुहावरे
2—पशु पक्षियों से सम्बन्धित और उन पर आधारित मुहावरे
3—वैयक्तिक अनुभूतिपरक मुहावरे
4—दर्शनपरक मुहावरे
5—क्रियार्थक संज्ञा शब्दों से सम्बद्ध मुहावरे
6—कलापरक मुहावरे
7—अन्तर्कथा-सम्वन्धित मुहावरे

**1—शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित मुहावरे—**

**(1) अंग और तन से सम्बन्धित—**

अंग लगाना—जल बल भई भसम की ढेरी अपणे अंग लगाजा।[1]
फूले अंग न समना—आपहि आप पुजाय के रे फूले अंग ण समात।[2]
अंग अंग पर वलि जाना— गिरधर प्रभु अंग अंग मीरां वलि जाई।[3]
तण मण वारना—तण मण वार्‌यां हरि चरणा मां,
दरसण अमरित प्यास्यां।[4]
तन मन पेश करना—दासि मीरां राम भजिकै, तण मण कीन्हों पेश।[5]
सदके करमा—जन मीरां गिरधर के ऊपर सदकै करूं सरीर।[6]

**(2) सीस से सम्बन्धित—**

सीस चढ़ाना—भलो कह्यां कांइ कह्यां बुरोरी, सव लया सीस चढ़ाय।[7]
सिर पर वैठाना—नैण बिछास्यूं हिवड़ो डास्यूं सिर पर राखूं विराज।[8]
सिर मुंड़ाना—रतण आभरण भूषण छाड्यां खोर किया सिर केस।[9]

**(3) मन और प्राण से सम्वन्धित—**

प्राण अंकोरना—मीरां के प्रभु हरि अविनासी देस्यूं प्राण अंकोर।[10]
प्राण आधार होना—हरि म्हारां जीवण प्राण अधार।[11]
मन लगना—मण म्हारो लाग्यां गिरधारी जग रा बोल सह्यां।[12]
मन में वसना—सांवरी सूरत मन में वसी।[13]
हेमा नन्द को गुमानी म्हारे मनड़े वस्यो।[14]
मन फंसना—मीरां के प्रभु गिरधर नागर निरख वदन म्हारो मनड़ो फंस्यो।[15]
मन काठ करना—देखो माई हरि मण काठ किया।[16]
घट घट की जानना—मीरां प्रभु सरण गह्यां जाण्या घट घट की।[17]
कलेजे की कोर होना—सखी म्हारो कानूड़ो कलेजे री कोर।[18]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (46), 2. (158), 3. (12), 4. (36), 5. (117), 6. (192), 7. (13), 8. (109), 9. (68), 10. (5), 11. (5), 12. (29), 13. (88), 14. (8), 15. (8), 16. (52), 17. (9), 18. (164)।

कलेजा रेजा रेजा होना – रेजा रेजा भयो करेजा अंदर देखो धंसिके ।[1]
मन हर लेना - म्हारो मण हर लीण्या रणछोड़ ।[2]
मन नहीं हारना—अडसठ तीरथ भ्रमि भ्रमि आयो मण नहि मानी हार ।[3]
हृदय में बनना—म्हारे हिवड़ां बस्यां मुरारी, पल पल दरसण पावां ।[4]
हृदय में बाण लगाना—बाण विरह का लग्या हिये में, भूलूं न एक घड़ी ।[5]
तरकस तीर लग्यो मेरे हिय रे, गरक गयो सनकाणी ।[6]
दिल का मीत—गोविन्द गाढ़ा छो जी दिल रा मीत ।[7]
हृदय पर आरी चलाना—दाध्या ऊपर लूण लगायां, हिवड़ो करवत सा(र्)या[8]
हृदय उचटना—थे आयां विण सुख णा म्हारो, हियड़ो घणो उचाट ।[9]
हृदय फटना —राति दिवस मोहि कल न पड़त है हियो फटत मेरी छाती ।[10]
कलेजा खाना—आकुल व्याकुल रेण विहावां विरह कलेजो खाय ।[11]
छाती कांपना—सबदां सुणतां मेरी छतियां कांपां मीठो थारो बैण ।[12]
हृदय डसाना —नेण विछास्यूं. हिवड़ो डस्यूं, सिर पर राखूं विराज ।[13]
हृदय में अणी लगना—चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत हिवड़ा अणी गड़ी ।[14]
हृदय में रखना—तन मण धन करि वारणे, हिरदै धरि लीजै हो ।[15]
चित्त पर चढ़ना—चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत[16]
चित्त से वहा देना - काम क्रोध मद लोभ मोह को बहा चित्त से दीजे ।[17]
चित्त न चलना—चंचल चित्त चल्याणा चाल्या बांध्या प्रेम जंजीर ।[18]
हृदय में सूल लगना - मीरां कहे प्रभु तुम्हरे दरस विन लगत हिवड़ा सूल ।[19]

(4) आंखों से सम्बन्धित—

आंखें तरसना—अखयां तरशा दरसण प्यासी ।[20]
आंख लगाना—वृन्दावन की कुन्ज गलिन में, आंख लगाइ गयो मनमोहना ।[21]
अखियां राती होना—आवत जावत पांव घिस्या रे वाला अंखियां भई राती ।[22]
नैनों में बसना—बस्या म्हारे णेणण मां नन्द लाल ।[23]
नैन अंटकना—म्हारे णेणा निपट वंकट छव अंटके ।[24]
नैनों को वान पड़ना—आरी री मेरो नैनां वाण पड़ी[25]
नैनों में समाना - सुन्दर वदन कमल दल लोचण, बांकां चितवण नैनां समाणी[26]
नैनों से पीना—आव सखी मुख देखिये नैनां रस पीजै हो ।[27]
नैनों में बसना —णेण वणज बसावां री म्हारा सांवरा आवां ।[28]
नैन मुरझाना—खाण पाण म्हांणे फीकां सो लागां नेण रहां मुरझावां ।[29]
नैन गवांवना - कांइ करूं कित जाऊंरी सजनी नेण गुमायो रोय ।[30]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (7), 2. (202), 3. (133), 4. (15), 5. (118), 6. (38), 7.(125), 8. (83), 9. (99), 10. (123), 11. (101), 12. (103) 13. (119), 14. (14), 15. (16), 16. (14), 17. (199), 18. (115), 19. (54), 20. (46); 21. (177), 22. (185), 23, (3), 24. (10), 25. (14), 26. (11), 27. (16), 28. (15), 29. (69), 30. (44)

नेन विछाना—**नेण बिछास्यूं** हिवड़ो डास्यूं सिर पर राखूं विराज ।[1]
पलक न लगना—निसदिन पंथ निहारां पिवरो, **पलक णा पल भर लागी** ।[2]
पलक उघाड़ना—थे तो **पलक उघाड़ो** दीनानाथ मैं हाजिर नाजिर कव की खड़ी ।[3]
नैनों से गंगा वहना—**नेण नीरज** में अवु वहे रे वाला **गंगा वहि जाती** ।[4]

(5) **अन्य अंग-प्रत्यंगों से सम्बन्धित—**

किसी के हाथ विकना—मीरां हरि रे **हाथ विकाणी,** जनम जनम री दासी ।[5]
मीरां गिरधर **हाथ बिकाणी,** लोग कह्यां विगड़ी ।[6]
हाथ मींजना—रथ चढ़ाय गोपाल लेगो, **हाथ मींजत रई** ।[7]
परहथ गया विकाय—नेण चंचल अंटक णा माण्या, **परहथ गया विकाय** ।[8]
हाथ गहना (पकड़ना)—सुपणा मां तोरण वंध्या री, सुपणा मां **गह्या हाथ** ।[9]
वांह गहना—अव तो निभायां **बांह गह्यां** री लाज ।[10]
पांव घिसना—आवत जावत **पांव घिस्या** रे वाला अंखियां भई राती ।[11]
रोम रोम सीतल होना—**रूंम रूंम म्हारा सीतल** सजणी, मोहण आंगण आज्यो जी ।[12]
पांव लगना—घर आवो स्याम मेरे, मैं तो **लागूं पांव** तेरे ।[13]
चरण लगना—मैं तो तोरे **चरन लगी** गोपाल ।[14]
जिया जाना—मीरां रे हरि थे मिलियां विण **तरस तरस जीया जावां** ।[15]
जिवड़ा मुरझाना—स्याम विणा **जियड़ो मुरझावै,** जैसे जल विन वेली ।[16]
कान देना—मीरां प्रभु री सरण रावली विणतां **दीस्यौ काणा** ।[17]
कंठ न सार्‌यां—ऊभा वैठ्यां विरछ री डारी, वोला **कंठ णा सार्‌यां** ।[18]
छाती भर आना—कागद ले राधा वांचण वैठी, **भर आई छाती** ।[19]
अंगुलियां घिसना—गिणता गिणता **घंस गई** रे म्हारा **आंगरियां** री रेख ।[20]
अंगुली न छूना—म्हांरी **अंगुली णा छुवै** वांकी वहियां मोरे हो ।[21]

2—**पशु-पक्षियों से सम्वन्धित और उन पर आधारित मुहावरे—**

काग उड़ाना—**काग उड़ावत** दिन गया वूझूं पिंडत जोसी हो ।[22]
घुन लगना—स्याम विणां वीरां भयां **मण** काठ ज्यूं **घुण खाय** ।[23]
सांप डंसना—विरह **भुवंगम डस्यां कलेजा** मां लहर हलाहल जागी ।[24]
कटे पर नमक छिड़कना—**चांच कटाऊं** पपइया रे ऊपर **कालर लूण** ।[25]

3—**वैयक्तिक अनुभूतिपरक मुहावरे—**

वैर चितारना—पपइया म्हांरो कवरो **वैर चितार्‌यां** ।[26]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (109), 2. (91), 3. (118), 4. (185), 5. (45), 6. (14), 7. (182), 8. (13), 9. (27), 10. (62), 11. (185), 12. (119), 13. (120), 14. (127) 15. (69), 16. (80), 17. (134), 18. (83), 19. (185), 20. (187), 21. (181), 22. (115), 23. (90), 24. (91), 25. (84), 26. (82) ।

जले पर नमक लगाना - दाघ्या ऊपर लूण लगाया हिवड़ो करवत सार्यां ।[1]
कल न पड़ना—विरह व्याकुल अनल अन्तर कल णा पड़ता दोय ।[2]
—रात दिवस कल नाँहि परत है, तुम मिलियां विनि मोय ।[3]
जीवन हारना—हारया जीवण सरण रावलां, कठे जावां व्रजराज ।[4]
रंग में रंगना—माई सांवरे रंग राची ।[5]
—म्हां गिरधर रग राती सैंया म्हां गिरधर रंग राती ।[6]
रंग लगना—मीरां लागो रग हरी और न अंटक परी ।[7]
पंथ निहारना—कव की ठाढ़ी पंथ निहारूं अपने भवन खड़ी ।[8]
मग जोवां—मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मग जोवां दिण राती ।[9]
वाट जोहना—आव सजनियां वाट मैं जोऊं, तेरे कारण रैण न सोऊं ।[10]
डगर वुहारना—डगर बुहारूं पंथ निहारूं. जोइ जोइ अंखियां राती ।[11]
विना मोल की चेरी होना—मीरां के प्रभु हरि अविनासी,
चेरी भई विण मोल ।[12]
दुख का मूल—जोगिया री प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ।[13]
हिवड़ो करकां जाय - वैदा मरम ण जाणा रे म्हारो हिवड़ो करकां जाय[14]
नाता तोड़ना—णातो सांवरा री म्हांसूं वनक न तोड्या जाय [15]
चूड़ा अमर होना—वर्‌यां साजण सांवरो री म्हारो चुड़लो अमर हो जाय ।[16]
कटारी लगना—मने लागी कटारी प्रेम नी,[17]
मुख देखकर जीना—सुन्दर स्याम सुहावणा मुख देख्यां जीजै हो ।[18]
सुधवुध विसराना—मीरां व्याकुल विरहणी, सुधवुध विसराणी हो ।[19]
खारा लगना—स्याम विणा जग खारां लागां जगरी वातां कांची ।[20]
गेल चलते चोट लगना—सुणियो मेरी वगड़ पड़ोसण, गैले चलत लागी चोट ।[21]
तारे गिनते हुए रात विताना—तारां गिणता रैण विहाणां,
मुख घड़िया री जोवां ।[22]
नैन-लड़ी पोना—विरहण वैठयां रंगमहल मां, णैण लड्यां पोवां ।[23]
विरह जगाना—कवरी ठाढ़ी म्हा मग जोवां, निसदिन विरह जगावां ।[24]
दर दर डोलना—विरह की मारी दर दर डोलूं वैद मिल्या ना कोय ।[25]

4 दर्शन परक मुहावरे—

जोत में जोत मिलाना—मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिलाजा ।[26]
माटी में मिल जाना - यो देही रो गरव णा करणा, माटी मां मिल जासी ।[27]
चार दिन का जीवण होना—दासी मीरां लाल गिरधर जीवणा दिन च्यार ।[28]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (82), 2. (43), 3. (53), 4. (48), 5. (19), 6. (23), 7. (25), 8. (14), 9. (23), 10. (126), 11. (123), 12. (158), 13. (54), 14. (72), 15. (72), 16. (201), 17. (173), 18. (16), 19. (87), 20. (19), 21. (183), 22. (86), 23. (86), 24. (76), 25. (70), 26. (46), 27. (195), 28. (196) ।

चार दिन की खूबी करना—**चार दिना की कर ले खूबी,** ज्यूं दाडिम दा फूल ।[1]

ममता की गठरी बांधना—पहली ज्ञान मानहिं कीन्हों,
मैं **ममता की बांधी पोट** ।[2]

बेड़ा पार लगाना—मीरां रे प्रभु गिरधर नागर **बेड़ा पार लगाज्यो** जी ।[3]

**5—क्रियार्थक संज्ञा शब्दों से सम्बद्ध मुहावरे—**

बोल बोलना—सकल कुटुम्बा वरजतां **बोल्या बोल** बनाय ।[4]

बोल सहना — मरण म्हारो लाग्यां गिरधारी जगरा **बोल सह्यां** ।[5]

चाल चलना—कोई निन्दो कोई विन्दो, मैं **चलूंगी चाल अनूठी** ।[6]

हंसी करना—कड़वा बोल लोक जन बोल्यां, **करस्यां म्हारी हांसी** ।[7]

बात बनाना—हिलमिल **बात बणावत** मीठी, पीछै जावत भूल ।[8]

काज सारना—हमको वपु धरि देत संघार्‌यो, **सार्‌यो देवन को काज** ।[9]

छाये रहना—सांवलिया म्हारो **छाय रह्या** परदेस ।[10]

लाज से मरना—लेतां लेतां राम नाम रे लोकड़ियां तो **लाजां मरै** छै ।[11]

मूल गंवाना—आया था ए लोभ के कारण, **मूल गमाया** मूल ।[12]

खड़े-खड़े सूखना—दिन नहिं चैन रैण नहिं निदरा **सूखूं खड़ी खड़ी** ।[13]

अंगीठी में जलना—मीरां रो प्रभु गिरधर नागर, दुरजन **जलो जा अंगीठी** ।[14]

नहीं सरना—मेरो प्राण निकस्या जात हरि बिन **ना सरै** माई ।[15]

चढ़ जाना—पिया पियाला अमर रस का **चढ़ गई** घूम घुमाय ।[16]

रंग उड़ना—मीरां कहै प्रभु गिरधर नागर काचो **रंग उड़ जाय** ।[17]

लगन लगना—मीरां री **लगण लग्यां** होणा हो जो हूयां ।[18]

**6—वस्तुपरक मुहावरे—**

ढोल वजा कर लेना कोई कहे छाणे कोई कहै चोड्डे
**लियां बजन्ता ढोल**[19]

ढोल वजाकर कहना—जगतवदीत करी मनमोहन **कहा बजावत ढोल** ।[20]

गुड़िया (गांठ) खोलना—अंग भभूति गले मृगछाला, तू **जन गुड़िया खोल** ।[21]

ढिंढोरा फेरना—जो हूं ऐसा जानती रे बाला प्रीत कीयां दुख होय ।
**नगर ढंढोरो फेरती** रे प्रीत करो मत कोय ।[22]

निसांण घुराना—लोकलाज की काण न मानूं,
**निरभै निसांण घुरास्यां** हो माई ।[23]

तोल नहीं आना—वालपनां की प्रीत रमइया जी **कदे नांहि आयो थारो तोल** ।[24]

**7—अन्तर्कथा-सम्बन्धी वाक्यांश —**

उपरिवर्णित मुहावरों के अतिरिक्त मीरां-पदावली में कतिपय ऐसे वाक्यांश

---

क्रम संख्यां (पद संख्या)

1. (198), 2. (183), 3. (129), 4. (13), 5. (29), 6. (33), 7. (45), 8. (54), 9. (132), 10. (68), 11. (157), 12. (198), 13. (118), 14. (33), 15. (80), 16. (40), 17. (40), 18. (18), 19. (22), 20. (58), 21. (58), 22. (59), 23. (35), 24. (100) ।

मिलते हैं, जो मुहावरे-से प्रतीत होते हुए भी मुहावरे नहीं हैं। वस्तुतः वे किसी न किसी अन्तर्कथा को संकेतित करते हैं। उदाहरणार्थ निम्न पद प्रस्तुत है जिसका प्रत्येक वाक्यांश पृथक्-पृथक् अंतर्कथाओं से सम्बन्धित है—

"दास कवीर घर बालद लायां, नामदेव की छान छवन्द।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनन्द।
भीलणी का बेर सुदामा का तान्दुल, भर मुठड़ी बुकन्द।
करमाबाई को खींच आरोग्यो, होइ परसण पावन्द।[1]
"अजामील अपराधी तार्‌यां, तार्‌यां नीच सदाण।
डूबतां गजराज राख्यां, गणिका चढ्‌यां विमाण।
भीलण कुब्जा तार्‌यां गिरधर, गिरधर, जाण्यां सकलं जहाण।'[2]

8—प्रकृति से सम्बन्धित मुहावरे—

दूज के चंदा—हो गये श्याम दूइज के चंदा।[3]
जीवन मूर जड़ी—अटकां प्राण सांवरो प्यारो जीवण मूर जड़ी।[4]
औषधि न लगना—मूल ओखद ना लग्यां, म्हाणे प्रेम पीड़ा खायं।[5]
सावण लूमना—भीजै म्हारो दांवण चीर सांवणियो लूम र्‌ह्यो छै।[6]
तारा गिनना—तारा गिणता रैण विहाणा, मुख घड़ियां री जोवां।[7]

**लोकोक्तियां—**

जैसा कि पूर्वकथित है, लोकोक्ति जनता-जनार्दन की उक्ति है। इसमें मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की शाश्वत अनुभूति पुंजीभूत रूप में उपलब्ध होती है। लोकोक्ति के लिये संस्कृत में सुभापित या सूक्ति शब्द का प्रयोग होता है।[8] वस्तुतः लोकजीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं है, जिसके सम्बन्ध में लोकोक्तियों का प्रयोग न होता हो। मनोरंजन, प्रहसन, शोक, दुख, व्यंग्य, श्रम, भोजन, पर्व आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में लोकोक्ति का प्रयोग होता है। इन लोकोक्तियों की स्वाभाविकता, इनका गूढ़ार्थ और इन में पाया जाने वाला चमत्कार ही इनकी विशेपता है।

साधारणतः जब अपने विशिष्ट कथन को सामान्य-कथन द्वारा पुष्ट कर उसे सहृदय-संवेद्य बनाना हो तब लोकोक्ति का प्रयोग किया जाता है। मीरां का काव्य चूंकि नितान्त वैयक्तिक व स्वानुभूतिजन्य है; अतः इनमें लोकोक्तियों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम ही है, परन्तु जहां भी ये प्रयुक्त हुई हैं वहां कथ्य को विशेप बल व सौष्ठव प्रदान करती हैं। मीरां द्वारा प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियां प्रस्तुत की जा रही हैं—

1 दर्शनपरक लोकोक्तियां—

'करमगति टारां णाही टरां।
सतवादी हरिचन्दा राजा, डोम घर णीरां भरा।[9]

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (139), 2. (134), 3. (180), 4. (14), 5. (90), 6. (122), 7. (86),
8. श्री सीताराम लालस—राजस्थानी सबदकोस (प्रथम भाग) पृ. 333।
9. मी. पदा., पद. 189,

विघ विघरणा री ण्यारां[1]
विरछ राजो पात टूट्या लाया णा फिर डार ।[2]
मीरां के प्रभु गिरधर नागर भजण विणा नर फीकां ।[3]

2 सामाजिक-दर्शनपरक—

"लागी सोही जाणे कठण लगण दी पीर ।"[4]
"विपत पड्या कोई निकट न आवै सुख में सबका सीर ।[5]
"हिरदै हरि को नाम न आवै मुख ते मनियां गणै ।[6]
'मूरख जण सिंघासण राजां पंडित फिरतां द्वारां ।'[7]
'जोगिया से प्रीत कियां दुख होय ।'[8]
'ज्यूं डूंगर का वाहला यूं ओछा तणा सनेह ।
(वहता वहै जी उतावला वे तो अटक बतावै छेह) ।'[9]
'खीर न खाजे आरी रे मूरख न कीजे मित,
(खिण ताता खिण सीतला रे खिण वैरी खिण मित) ।'[10]

3—अन्योक्तिपरक—

'देखि विराणे निवांण कूं है, क्यूं उपजावै खीज ।
कालर अपणो ही भलो है जामें निपजै चीज ।'[11]
'प्रीत करै ते बावरा रे करि तोड़े ते कूर ।
प्रीत निभावण दल के पंभण ते कोई विरला सूर ।'[12]

4—अनुभूतिपरक—

जा घट विरहा सोइ लखिहै कै हरिजन मानै हो ।[13]
घायल की गत घायल जाण्या हिवड़ा अगण संजोय ।[14]
लगण लगी को पैंडो ही न्यारो पांव धरत तन छीजै ।[15]

5—स्वकथन की पुष्टि हेतु निश्चयपरक—

'मीरां री लगण लग्यां, होणा हो सो हूयां'[16]
'गज से उतर के खर नहिं चढ़स्या, ये तो वात न होई ।'[17]
राणाजी रूठ्यां वांरो देस रखासी, हरि रूठ्यां कुम्हलास्यां ।[18]
मीरां के प्रभु गिरधर भजिये, होनी होय सो होय ।[19]
लागी लगन छूटण की नाहीं, अब क्यूं कीजै आंटड़ियां ।[20]

'मीरां-पदावली' में उपलब्ध मुहावरों और लोकोक्तियों के उपर्युक्त विवेचन व वर्गीकरण के उपरांत यह कहा जा सकता है कि मीरां ने इनका प्रयोग अपने कथन को सुपुष्ट, सुन्दर और हृदयग्राहक बनाने के लिये किया है । मीरां की प्रवृत्ति

---

1. मी. पदा., पद. 190,
2 .(196), 3. (160), 4. (192), 5. (192), 6. (158), 7. (190), 8. (53), 9. (59), 10. (59), 11. (26), 12. (59), 13. (73), 14 . (70). 15. (191), 16. (18), 17. (25), 13. (35), 19. (159), 20.(108) ।

कहीं भी भाषा को सजाने-संवारने या परिष्कृत करने की नहीं रही। भावों के प्रबल आवेग के संवहन और संप्रेषण के लिये शब्द स्वतः ही प्रयुक्त होते चले गये। मीरां की काव्य-रचना का उद्देश्य लोकहित की अपेक्षा स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति करना था। यही कारण है कि उनकी स्वानुभूतियों को तीव्रता और मार्मिकता प्रदान करने में लोकोक्तियों की अपेक्षा मुहावरे अधिक सहायक हुए हैं। लोकोक्तियों में जहाँ सामान्य जनता का अनुभव बोलता है वहाँ मुहावरों द्वारा स्वानुभूति को प्रभविष्णुता प्राप्त होती है। यही कारण है कि स्वानुभूति-प्रधान मीरां के काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है और जो लोकोक्तियां प्रयुक्त हुई हैं वे भाषा के सहज प्रवाह में आकर उनकी स्वानुभूतियों को प्रकाशित करने, तथा उन्हें सर्वसंवेद्य बनाने में सहायक हुई हैं।

**निष्कर्ष—**

मीरां की भाषा के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा मूलतः राजस्थानी होते हुए भी आज राजस्थानी, ब्रज और गुजराती मिश्रित हो गई है। इसका मुख्य कारण यही है कि मीरां के पद उन्हीं के द्वारा लिपिबद्ध नहीं किये गये थे, अतः कालान्तर में लिपिकर्ताओं, गायकों, संत-भक्त गायकों, परिव्राजकों, सामान्य जनता और संकलनकर्ताओं की निजी भाषा से प्रभावित होती हुई उनके पदों की मूल-भाषा सर्वथा परिवर्तित हो गई।

आज उनके पदों की भाषा का जो स्वरूप हमें मिलता है, वह कबीर की भाषा की भांति विविध भाषाओं का सम्मिलित रूप है। 'मीरांबाई की पदावली' में संकलित पदों की भाषा का विवेचन करने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि ब्रज तथा गुजराती का प्रभाव होते हुए भी उनकी भाषा में राजस्थानीपन अधिक है।

उनकी शब्दावली में तत्सम शब्दों की अपेक्षा अर्धतत्सम और तद्भव शब्दों की विपुलता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा में साहित्यिकता की अपेक्षा लोकतात्त्विकता अधिक है। उन्होंने तत्कालीन जनभाषा को अपनी काव्याभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। उन्हें सर्वाधिक लोकप्रिय कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय उनकी सरल, सहज और अनुभूतिगर्भा भाषा को है। भाषागत ऋजुता ने जहां मीरां को अपार जनप्रियता प्रदान की वहां उसने प्रक्षेपकों को भी प्रश्रय प्रदान करने में सहायता दी। अन्य सन्तों ने उनकी छाप लगाकर स्वनिर्मित रचनाओं को उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिया। यही कारण है कि आज उनके पदों की संख्या हजारों में पहुँच रही है। वस्तुतः मीरां के नाम से प्रचलित अनेकानेक पद मीरां की नहीं, अपितु मीरां-भाव की देन हैं। फिर भी 'मीरां-पदावली' में जितने पद संकलित हैं उन्हें मीरां की रचना माना जा सकता है, क्योंकि ये समस्त पद अन्य पदावलियों में भी अनेकों पाठान्तरों सहित सम्मिलित किये गये हैं।

मीरां की भाषा के व्याकरणिक और भाषावैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त हम यह पाते हैं कि उनकी भाषा में आज भी राजस्थानी भाषा का अत्यधिक

प्रभाव है और राजस्थानी व्याकरण की कसौटी पर कसने पर उनके पद अधिकांशतः खरे उतरते हैं। यदि कुछ दोष उत्पन्न हो गये हैं तो वे मीरांकृत नहीं वल्कि लिपिकर्ता अथवा संकलनकर्ताओं द्वारा उत्पन्न माने जा सकते हैं। मुख-श्रुत-परम्परा से चली आ रही इतनी प्राचीन रचनाओं में प्रक्षिप्त अंशों का जुड़ना और भाषा के मौलिक रूप में परिवर्तन होना असम्भव वात नहीं है। वहुत सम्भव है कि आज व्रज, राजस्थानी और गुजराती भाषा में जितना विभेद है उतना आज से 400 वर्ष पूर्व नहीं रहा होगा, क्योंकि वास्तव में ये तीनों भाषाएँ एक ही मूलउत्स शौरसैनी-प्राकृत से निःसृत है। राजस्थानी और गुजराती तो पश्चिमी राजस्थानी की ही विभाषाएँ हैं, अतः मीरां के समय में इन भाषाओं में उतना अन्तर नहीं होगा जितना आज दिखलाई पड़ता है। साथ ही व्रज और राजस्थानी में भी उतना विभेद नहीं है। वहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो उस समय इन दोनों भाषाओं में समान रहे होंगे। एक लम्वे समय तक साहित्यिक भाषा के रूप में व्रजभाषा प्रतिष्ठित रही है और इसने समूचे उत्तरी और पश्चिमी भारत को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लिया था, अतः मीरां के पदों का इस अवधि में व्रज से प्रभावित होना नितान्त सम्भव था।

इस समस्त विवेचन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि किंचित व्याकरणिक अशुद्धियों और अव्यवस्थाओं के होते हुए भी मीरां की भाषा काफ़ी सशक्त, सजीव और हृदयग्राह्य है। उस पर मीरां के समन्वयकारी व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है तथा परम्परागत साहित्यिक भाषा और जनभाषा की लीक से हट कर वह अपना मार्ग स्वयं वनाती है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। उनकी भाषा उनकी अपनी है जो अनोखी आत्मीयता और मधुरता से परिपूर्ण होकर हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। भावानुकूल शव्द-चयन और विशिष्ट अर्थवत्ता तथा मार्मिकता से भरी-पूरी मीरां की यह भाषा काफ़ी सम्पन्न और समर्थ है तथा अपनी कवयित्री की विशिष्टता और सर्वसमन्वयी निर्लिप्तता का प्रतिनिधित्व करती है।

❋ ❋

# द्वितीय अध्याय

## शब्द-शक्तियाँ

### अ—शब्द-शक्तियाँ : सैद्धान्तिक विवेचन—

**(1) शब्द-अर्थ का परस्पर सम्बन्ध—**

साहित्य का सम्पूर्ण अस्तित्व शब्द और अर्थ द्वारा निर्मित होता है। साहित्य-सृष्टि के बीजाणु या जीवाणु यही शब्द-अर्थ हैं। ये सामान्यतः पृथक् से प्रतीत होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध होते हैं।[1] प्रत्येक शब्द का अपने अर्थ से विशेष सम्बन्ध होता है, जो शब्द का बोध कराता है। इस सम्बन्ध से ही शब्द में एक प्रकार की शक्ति का संचरण होता है और यह शक्ति ही शब्द-शक्ति कहलाती है। अतएव शब्द-अर्थ का परस्पर सम्बन्ध ही शब्द-शक्ति है, जैसा कि कहा भी गया है—

'शब्दार्थः सम्बन्धः शक्तिः।'

शब्दों की यह शक्ति ही काव्य में रमणीयता और चमत्कृति उत्पन्न करती है। रस-पूर्ण उद्गार हो या अलंकरण, सरलोक्ति हो या वक्रोक्ति सबके मूल में यही शब्द-शक्ति स्थित है। शब्द-शक्ति का ज्ञान जितना काव्यार्थ-बोध के लिए आवश्यक है, उतना ही काव्यास्वाद के लिए भी। शब्दार्थ-बोध के अभाव में वाणी के रहस्य का उद्घाटन नहीं हो पाता तथा कथयिता के उद्देश्य तक पहुँच पाना भावक के लिये असम्भव हो जाता है। शब्द की संसर्ग एवं संगतिजन्य अर्थच्छवियों को पकड़ पाना सामान्य पाठकों के लिये सम्भव नहीं है; अतः अर्थ-संचार की विविध दिशाओं से परिचय प्राप्त करने के लिये काव्य-शास्त्रों का अनुशीलन और सतत काव्याभ्यास परम आवश्यक है।

**विविध परिभाषाएँ—**

काव्य-शास्त्रियों ने शब्द-शक्ति को 'शब्द-वृत्ति' और 'शब्द-व्यापार' के नाम से अभिहित करते हुए इसका विवेचन किया है। शब्द-शक्तियों का सम्यक् विवेचन हमें आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में उपलब्ध होता है; उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्द-शक्ति को पृथक् काव्य-तत्त्व न मान कर उसे अन्य तत्त्वों में ही समाहित कर लिया था। इन पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्य के किसी एक तत्त्व का समर्थन करते हुए काव्य के सम्पूर्ण तत्त्वों को उसी में समेट लेने का प्रयास किया। आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती मतों का गहन अध्ययन और मनन किया तदुपरान्त सभी सिद्धान्तों के प्रमुख तत्त्वों को समन्वित कर काव्य की पूर्ण परिभाषा इस प्रकार दी—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्. कृती पुनः क्वापि।'[2]

---

1 'वागार्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये'— कालिदास, (रघुवंश-महाकाव्य)

2 काव्यप्रकाशः (डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित, पंचम संस्करण), प्रथम उल्लास, कारिका-4, सूत्र-1।

अर्थात् वे शब्द और 'काव्य' कहे जा सकते हैं जो दोष-रहित हों, गुण-युक्त हों और (यदि रसाभिव्यंजक हों तो) अलंकृत हो या न हों।

आचार्य मम्मट ने काव्य-स्वरूप का निरूपण करते हुए शब्द और अर्थ को काव्य का आधारभूत तत्त्व बताया, उन्होंने काव्य में प्रयुक्त शब्दों और अर्थों के (तीन) रूप निरूपित करते हुए लिखा—

'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।'[1]

(3) **काव्यगत शब्दों के त्रिविध शब्द प्रकार और अर्थप्रकार**

'वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः-वाच्य लक्ष्य-व्यंग्याः।[2]
तात्पर्याऽर्थोऽपि केषुचित्।[3]

अर्थात् काव्यगत शब्दों के तीन शब्द-प्रकार हुआ करते हैं —

1 वाचकरूप शब्दप्रकार, 2 लाक्षणिकरूप शब्दप्रकार,
3 व्यंजकरूप शब्दप्रकार।

इन त्रिविध शब्द-रूपों के अर्थ-रूप भी निम्न प्रकार हैं —

1 वाच्यार्थरूप, 2 लक्ष्यार्थरूप, 3 व्यंग्यार्थरूप।

इन शब्दार्थों का बोध कराने वाले व्यापार को क्रमशः अभिधावृत्ति, लक्षणावृत्ति और व्यंजनावृत्ति की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

अभिहितान्वयवादी भट्टमतानुयायी मीमांसकों के अनुसार उक्त पदार्थों के अतिरिक्त भी एक अर्थ हुआ करता है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहना उचित है। यह तात्पर्यार्थ पदार्थ में नहीं, अपितु वाक्यार्थ में निहित रहता है। यह तात्पर्यार्थ पदार्थों के विषयभूत अर्थों के – योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि के कारण परस्पर सम्बद्ध होने पर, वाक्यार्थ के रूप में प्रतीत हुआ करता है। यह वाच्यार्थ से पृथक् एक विशेष अर्थ होता है, परन्तु अन्विताभिधानवादी गुरुमतानुयायी मीमांसकों ने अभिधा के अतिरिक्त इस तात्पर्याख्यावृत्ति को अनावश्यक सिद्ध करते हुए अस्वीकार कर दिया।

अस्तु! आचार्य मम्मट के उपरान्त उनके सभी परवर्ती काव्य मीमांसकों और काव्य-समीक्षकों ने त्रिविधात्मिका शब्द-शक्ति को काव्य के स्वरूप-विधायक, और काव्यार्थ को रमणीयता और चमत्कृति प्रदान करने वाले अनिवार्य तत्त्व के रूप में विवेचित किया है।

'त्रिवेणिकाकार श्री आशाधर भट्ट ने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को क्रमशः शक्ति, भक्ति और व्यक्ति की संज्ञा प्रदान करते हुए गंगा, यमुना और सरस्वती के समान अमोघ प्रभाव-सम्पन्न कहा[4] तथा इन तीनों के अर्थज्ञान को चारु,

---

1 काव्यप्रकाश : (डा. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित, पंचम संस्करण), प्रथम उल्लास, कारिका-6, सूत्र-5।

2 काव्यप्रकाश : द्वितीय उल्लास, कारिका-6, सूत्र-6।

3 वही—द्वितीय उल्लास, कारिका-6, सूत्र-7।

4 "शक्तिभक्ति व्यक्ति गंगायमुनागूढनिर्भराः।
निर्वाहयन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका।" (पृ, 1 पद श्लोक 2)

चारुतर और चारुतम रूप में निरुपित किया।[1]'

रीतिकालीन (काव्य) अंलकार-साहित्य के अध्येता डॉ. ओमप्रकाश शर्मा ने अलंकारों के जन्म, विकास एवं प्रयोग में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को क्रमशः बीज, बीजांकुर तथा सौरभ सदृश स्थान प्रदान किया है।[2]

(4) शब्द-शक्तियां—

यहाँ यह स्मरणीय है कि वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक, इन तीनों प्रकार के शब्द-रूपों का विभाजन वास्तव में शब्दों पर आधारित न होकर उनकी (अर्थ-गर्भित) उपाधियों पर आधारित होता है, अर्थात् एक ही शब्द, प्रकरण आदि विशिष्ट कारणों से, कभी वाचक, कभी लाक्षणिक और कभी व्यंजक-रूप हो जाता है। कोई एक निश्चित शब्द सदैव वाचक, लाक्षणिक या व्यंजक हो यह आवश्यक नहीं। वस्तुतः शब्दों को प्रभविष्णुता और अर्थपूर्ण रंजकता प्रदान करने का श्रेय शब्द-शक्तियों को ही है। शब्द-शक्ति ही किसी शब्द को सामान्य और विशिष्ट अर्थ से गर्भित कर उसे वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द होने की प्रतिष्ठा प्रदान कराती है। अतः इन तीनों शब्द-शक्तियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। सर्वप्रथम अभिधा-शक्ति को लेते हैं

(क) अभिधा-शक्ति—

'वाचक-शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का, बिना किसी क्लिष्ट-कल्पना के, बोध कराने वाली शक्ति अभिधा ही है।'[3]

आचार्य मम्मट द्वारा दी गई अभिधा-शक्ति की उक्त परिभाषा को संस्कृत व हिन्दी के प्रायः सभी काव्य-मीमांसकों ने[4] किंचित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया है।

वाचक-शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाले साधनों में व्यवहार, व्याकरण, कोश, उपमान, सादृश्य, आप्तवाक्य और प्रसिद्ध शब्द-सन्निधि प्रमुख हैं। इनमें से किसी एक के योग से शब्द के मुख्यार्थ या वाच्यार्थ का ग्रहण किया जाता है।

वैयाकरणों के अनुसार, वाचक-शब्द जिस संकेतित अर्थ का अभिधायक हुआ करता है, वे संकेतित अर्थ मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—1 जातिरूप अर्थ, 2 गुणरूप अर्थ, 3 क्रियारूप अर्थ और 4 यदृच्छा (संज्ञा) रूप अर्थ।

इन वाचक या अभिधेय-शब्दों के सामान्यतः तीन रूप होते हैं—
1. रूढ़ि. 2. योग और 3. योग-रूढ़ि। इसी रूपभेद के आधार पर शब्द और

---

1 "काव्यादिषु शब्दजन्यमर्थज्ञानंत्रिविधं चारुः, चारुतरं, चारुतमंचेति।"
(त्रिवेणिका पृ. 2)

2 "रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन" पृ. 153

3 'साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।'
—आचार्य मम्मट—काव्यप्रकाश: द्वितीय उल्लास, कारिका-7, सूत्र-9।

4 क-'रस-मीमांसा' - पृ. 371
ख-'काव्य-कल्पद्रुम'—पृ. 54।

अर्थ को भी रूढ़, यौगिक और योग-रूढ़ कहते हैं ।[1]

1 रूढ़ शब्द —

इन शब्दों का प्रयोग सहज-अभिव्यक्ति को स्वाभाविकता और सरलता प्रदान करता है, परन्तु इनमें किसी प्रकार के अभिव्यंजना-कौशल के लिये अवकाश नहीं होता ।

2 यौगिक-शब्द—

यौगिक-शब्दों के प्रयोग से अभीप्सित अर्थ स्पष्ट और औचित्यपूर्ण होते हैं। ये शब्द भाषा के विकास के साथ विकसित और परिवर्द्धित होते हैं ।

3 योगरूढ़-शब्द—

ये शब्द यौगिक होते हुए भी किसी अन्य विशेष अर्थ के द्योतन के लिये रूढ़ हो जाते हैं ।

इन तीनों प्रकार के शब्द में अभिधा-शक्ति निहित रहती है, जो क्रमशः रूढ़ अभिधा, यौगिक अभिधा और योगरूढ़ अभिधा-शक्ति कहलाती है ।

(ख) लक्षणा-शक्ति—

काव्य में अभिधा-शक्ति के अनन्तर लक्षणा-शक्ति का स्थान आता है। शब्द का अर्थ से जो सम्बन्ध होता है वह कभी साक्षात् संकेतित होता है और कभी असाक्षात् या परोक्ष संकेतित । साक्षात् संकेतित अर्थ जहां अभिधा-व्यापार का विषय है, वहां परम्परा अथवा प्रयोजन आदि से प्राप्त असाक्षात् संकेतित अर्थ लक्षणा-व्यापार का । लक्षणा के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है —

> 'मुख्यार्थवाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
> अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥'[2]

वाचकरूप शब्द ही जब अपने मुख्य अर्थ की अविवक्षा अथवा अनुपपत्ति में अपने मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य (लक्ष्यरूप) अर्थ का प्रतिपादन, किसी रूढ़ि अथवा परम्परा या प्रयोक्ता के प्रयोजन विशेष के कारण, करने लगता है, तब उसे लाक्षणिक-शब्द कहते हैं, और लक्ष्यार्थ को लक्षित कराने वाली शक्ति या वृत्ति ही लक्षणा-शक्ति कही जाती है ।

शब्द अपने मुख्य अर्थ के द्वारा अमुख्य अर्थ का जो प्रतिपादन करता है वह (प्रतिपादन) शब्द के एक आरोपित काल्पनिक-व्यापार से सम्बद्ध होता है । अतः शब्द के अमुख्यार्थबोधक इस लक्षणा-व्यापार को व्यवहित-व्यापार कहना उचित है, क्योंकि शब्द और अमुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के बीच मुख्यार्थ का व्यवधान पड़ा हुआ है । 'इस प्रकार 'अभिधा' जहां शब्द का निरन्तरार्थनिष्ठ-अव्यवहित अर्थ-विषयक-व्यापार है, वहां 'लक्षणा' सान्तरार्थनिष्ठ-व्यवहित अर्थविषयक-व्यापार है ।'[3]

लक्षणा में, मुख्यार्थ की अविवक्षा होने पर उसी से सम्बद्ध जो अन्य अर्थ

---

1 डा. पुरुषोत्तमदास अग्रवाल—'शब्द-शक्ति', पृ. 24 ।

2 'काव्यप्रकाश' : द्वितीय उल्लास, कारिका-9, सूत्र-12 ।

3 डॉ. सत्यव्रतसिंह-'हिन्दी-काव्यप्रकाश, पृष्ठ 31 ।

ग्रहण किया जाता है, वह सामान्यतः निम्न सम्बन्धों पर आधारित होता है—
1—सादृश्य-सम्बन्ध, 2—सामीप्य-सम्बन्ध, 3—तादार्थ्य-सम्बन्ध, 4—अंगांगी-सम्बन्ध, 5—तात्कर्म्य-सम्बन्ध, 6—कार्यकारण-सम्बन्ध ।

लक्षणा-शक्ति के प्रथम दो लक्षण-मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ की लक्ष्यार्थ से सम्बद्धता-सामान्य होने के कारण, सभी लाक्षणिक शब्दों में होते हैं, परन्तु तीसरा लक्षण—अर्थात् लक्ष्यार्थ के हेतु रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई एक ही, किसी लाक्षणिक प्रयोग में उपलब्ध होता है। 'हेतु' के आधार पर ही लक्षणा के दो भेद किये गये हैं—

क—रूढ़ि-लक्षणा, ख—प्रयोजनवती-लक्षणा ।

**क रूढ़ि-लक्षणा—**

"जहाँ केवल रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर, उससे सम्बन्ध रखने वाला दूसरा परम्परागत अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है वहाँ रूढ़ि-लक्षणा होती है।[1] डॉ. ओमप्रकाश शर्मा ने रूढ़ि-लक्षणा को अभिधा की छोटी बहन माना है।[2]

श्री रामचन्द्र वर्मा ने मुहावरों को रूढ़ि-लक्षणा के अन्तर्गत ग्रहण किया है[3] और डॉ. ओमप्रकाश गुप्त ने रूढ़ि-लक्षणा को मुहावरों का विशिष्ट कार्य-क्षेत्र अथवा टकसाल बताया है।[4]

वस्तुतः मुहावरे शब्दों और क्रियाओं के सम्मिलित योग से गठित ऐसे वैचित्र्यपूर्ण पद होते हैं जो किसी विशिष्ट लक्ष्यार्थ को लक्षित करते हैं, परन्तु कालान्तर में अति प्रचलित और प्रसिद्ध होने के कारण अपने परम्परागत अर्थ में ही रूढ़ हो जाते हैं। अतः रूढ़ि-लक्षणा को प्रयोजनवती-लक्षणा का ही अति-प्रचलित रूप मानना न्यायोचित है।

**ख प्रयोजनवती-लक्षणा—**

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती-लक्षणा होती है।[5]

सामान्यतया जिसे लक्षणा कहा जाता है वह प्रयोजनवती-लक्षणा ही होती है। प्रारम्भ में आचार्यों ने इसके केवल दो भेद किये—1 शुद्धा, 2 गौणी। बाद में अवान्तर भेदों के आधार पर मम्मट ने कुल छः भेद किये,[6] किन्तु 'साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने अवान्तर भेदों सहित लक्षणा के सोलह भेद बताए। इसके पूर्व कि इनके अवान्तर भेदों का ज्ञान हो, इन दोनों लक्षणा-भेदों - गौणी और शुद्धा के स्वरूप का ज्ञान हो जाना आवश्यक है।

---

1 सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, 'काव्य-कल्पद्रुम', पृ. 58
2 डॉ. ओमप्रकाश शर्मा 'रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का विवेचन', पृ. 1[illegible]3 ।
3 श्री रामचन्द्र वर्मा : 'अच्छी-हिन्दी', पृ. 1 9 ।
4 डॉ. ओमप्रकाश गुप्ता : 'मुहावरा मीमांसा', पृ. 23 ।
5 कन्हैयालाल पोद्दार : 'काव्य-कल्पद्रुम', पृ. [illegible]0 ।
6 आचार्य मम्मट : 'काव्य प्रकाश' : द्वितीय उल्लास, कारिका-12, सूत्र-17 ।

**(1) गौणी-लक्षणा—**

जहां सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है वहां गौणी-लक्षणा होती है। इस लक्षणा का मूल उपचार है। अत्यन्त समप्रभावी होने के कारण भेद की प्रतीति न होना ही उपचार कहलाता है। प्रकारान्तर से गौणी-लक्षणा के भी दो विभेद किये गये हैं—(अ) सारोपा-गौणी-लक्षणा और (ब) साध्यवसाना-गौणी-लक्षणा।

**अ—सारोपा-गौणी-लक्षणा—**

जहां आरोप्यमाण अर्थात् विषयी और आरोप के विषय दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है और विषयी के साथ विषय की तादात्म्य-प्रतीति होती है, वहां सारोपा-गौणी-लक्षणा होती है।[1] 'रूपक' अलंकार के अन्तर्गत यही लक्षणा-शक्ति कार्य करती है।

**ब—साध्यवसाना-गौणी-लक्षणा—**

जहां आरोप के विषय का शब्द द्वारा कथन न होकर केवल आरोप्यमाण (विषयी) का ही कथन हो वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है।[2] सारोपा में विषय और विषयी में भेद की प्रतीति होते हुए भी उनमें अभेद का अर्थात् तद्रूपता का ज्ञान कराया जाता है, जबकि साध्यवसाना में विषय और विषयी की पृथक्-पृथक् प्रतीति कराए बिना ही विषयी में विषय के तादात्म्य-प्रतीति-परक अभेद का ज्ञान कराया जाता है। रूपकातिशयोक्ति तथा सादृश्यमूलक प्रतीक में यही लक्षणा-शक्ति निहित होती है।

**(2) शुद्धा-लक्षणा—**

'सादृश्य-सम्बन्ध के अभाव में जहां अन्य किसी सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का ग्रहण होता है वहां शुद्धा-लक्षणा होती है।'[3]

गौणी-लक्षणा में जहां सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है, वहां शुद्धा-लक्षणा में सामीप्य, तादार्थ्य, अङ्गाङ्गी-भाव तथा तात्कर्म्य-सम्बन्धों के आधार पर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है। गौणी-लक्षणा की भांति इसके भी दो उपभेद किये गये हैं—(क) सारोपा-शुद्धा-लक्षणा, (ख) साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा।

**क—सारोपा शुद्धा-लक्षणा—**

इसमें भी सादृश्य-सम्बन्धेतर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है तथा सारोपा-गौणी-लक्षणा की भांति विषय और विषयी का स्पष्ट कथन किया जाता है।

**ख—साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा—**

यहां भी सादृश्य-सम्बन्धेतर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है तथा साध्यवसाना-गौणी-लक्षणा की भांति विषयी में विषय का अन्तर्भाव कर दिया जाता है अर्थात् आरोप के विषय का कथन नहीं किया जाता।

1 काव्यकल्पद्रुम, पृष्ठ 6।
2 काव्यकल्पद्रुम, पृष्ठ 70।
3 काव्यकल्पद्रुम, पृष्ठ 63।

इन लक्षणा-भेदों के अतिरिक्त लक्षणा-शक्ति के अन्य दो भेद और भी हैं, जिन्हें उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा के नाम से अभिहित किया जाता है।

**उपादान-लक्षणा—**

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'वाक्यार्थ में अङ्गरूप से अन्वित मुख्यार्थ जहां अन्य अर्थ का आक्षेप कराता है, वहां मुख्यार्थ के भी बने रहने के कारण उपादान लक्षणा कहलाती है।'[1] उपादान का अर्थ है 'लेना' अर्थात् यहां मुख्यार्थ अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अपना अर्थ (वाच्यार्थ) न छोड़कर अन्य अर्थ को भी खींच कर ले जाता है, इसीलिए इसे 'अजहत्स्वार्था' (नहीं छोड़ा है—स्व-अर्थ जिसने) लक्षणा भी कहते हैं।

**लक्षण लक्षणा—**

आचार्य शुक्ल ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है जहां किसी शब्द का मुख्यार्थ अपने स्वरूप का समर्पण करके अन्य अर्थ का उपलक्षण मात्र बन जाए, वहां लक्षण-लक्षणा होती है।[2]

उपादान-लक्षणा में जहां मुख्यार्थ अपना अर्थ नहीं छोड़ता है अर्थात् लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ भी संलग्न रहता है, वहां लक्षण-लक्षणा में मुख्यार्थ अपने वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग कर अन्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसलिए इसे 'जहत्स्वार्था' (छोड़ दिया है स्व-अर्थ जिसने) भी कहते हैं।

सामान्यतः लक्षणा के उपर्युक्त भेद प्रमुख माने जाते हैं। प्रयोजनवती-लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहा जाता है वह वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ न होकर व्यंग्यार्थ होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने व्यंग्यार्थ के आधार पर प्रयोजनवती-लक्षणा के निम्न भेद वर्णित किये हैं -

1—गूढ़-व्यंग्या-लक्षणा
2—अगूढ़-व्यंग्या-लक्षणा
3 धर्मिगत-लक्षणा
4 धर्मगत लक्षणा।[3]

जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ होता है अर्थात् जिसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही जान सकते हैं, वहाँ गूढ़-व्यंग्या-लक्षणा होती है तथा जहाँ ऐसा व्यंग्य हो, जो सहज ही में समझा जा सके, वहाँ अगूढ़-व्यंग्या-लक्षणा होती है। इसी प्रकार जहाँ लक्षणा का प्रयोजन-रूप-फल लक्ष्यार्थ के धर्म में हों, वहाँ धर्मगत-लक्षणा होती है। इसे (धर्मिगत-लक्षणा को) रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता भी कहा जा सकता है। लक्ष्यार्थ के आयाम के आधार पर इसके दो भेद मान्य हैं— 1. पदगत-लक्षणा, 2. वाक्यगत-लक्षणा।

**ग - व्यंजना-शक्ति—**

लाक्षणिक पद-प्रयोग में जो प्रयोजन रहा करता है, वह शब्द के उस

---

1 रस-मीमांसा, पृष्ठ 374।
2 रस-मीमांसा, पृष्ठ ·75।
3 क – रस मीमांसा, पृष्ठ—279-380।
ख - काव्यकल्पद्रुम, पृष्ठ — 75 और 78

व्यापार द्वारा गम्य हुआ करता है जिसे 'व्यंजना' (अथवा ध्वनन या प्रत्यायन) कहते हैं।[1]

वस्तुत: व्यंजना-शक्ति ऐसे अर्थ को बताती है जो अभिधा, लक्षणा या तात्पर्याख्यावृति द्वारा उपलब्ध नहीं होता है। अभिधा या लक्षणा-शक्तियों में अपने-अपने एक-एक अर्थ का बोध करा कर शान्त हो जाने के पश्चात् किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराने की सामर्थ्य नहीं रह जाती है। ऐसी अवस्था में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतीति व्यंजना-शक्ति द्वारा ही सम्भव होती है।

अभिधा और लक्षणा का व्यापार केवल शब्दों तक ही सीमित रहता है अर्थात् यदि वे वाचक या लक्षक शब्द हटा दिये जाएँ या उनके स्थान पर कोई पर्यायवाची शब्द रख दिये जाएँ तो उन अर्थों की प्रतीति नहीं हो सकेगी; परन्तु व्यञ्जना का व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में रहता है।[2] वस्तुत: वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों प्रकार के अर्थ व्यञ्जक ही होते हैं।

आचार्य शुक्ल ने तीन प्रकार की व्यञ्जना मानी है—
(अ) भाव-व्यञ्जना, (ब) वस्तु-व्यञ्जना, (स) अलङ्कार-व्यञ्जना[3]; 'ध्वनि' के क्षेत्र में इन्हें भावादि-ध्वनि (रसादि-ध्वनि), वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि कहा जाता है। इनमें से पहली असंलक्ष्यक्रम वाच्य-ध्वनि और शेष दो संलक्ष्यक्रम वाच्य-ध्वनि के अन्तर्गत आती हैं।

स्वरूप के आधार पर व्यञ्जना के दो भेद मान्य हैं—(क) शाब्दी-व्यञ्जना और (ख) आर्थी-व्यञ्जना। इन दोनों के भी प्रकारान्तर से अन्य अनेकों उपभेद किये गये हैं, जिनमें से शाब्दी-व्यञ्जना के दो और आर्थी-व्यञ्जना के दस उपभेद सर्वस्वीकृत हैं, जो निम्नानुसार हैं –

**क—शाब्दी-व्यञ्जना—**

**(1) अभिधामूला शाब्दी-व्यञ्जना—**

अभिधामूला-व्यञ्जना, अनेकार्थक पद-प्रयोगों में, उनकी वाचकता के संयोग-आदि कारणों से नियन्त्रित हो जाने पर, एक ऐसे अर्थ का प्रत्यायन करा देती है जिसे अभिधेयार्थ-रूप अर्थ कभी नहीं कहा जा सकता।[4]

पद की वाचकता के नियन्त्रक कारण निम्न हैं – संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य-शब्द-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर।[5]

**(2) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—**

'जिस प्रयोजन के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस

---

1 यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।
आचार्य मम्मट : 'काव्यप्रकाश : द्वितीय उल्लास, कारिका, 14, सूत्र-23

2 सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : काव्य-कल्पद्रुम पृ. 80।

3 रस-मीमांसा पृ. 381।

4 काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, कारिका—19, सूत्र 32।

5 काव्य-प्रकाश, द्वितीय उल्लास, कारिका-19

प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणामूला-व्यञ्जना कहलाती है ।'[1]

प्रयोजनवती-लक्षणा-शक्ति में निहित प्रयोजन सर्वदा व्यंग्यार्थ होता है, उसे अभिधा और लक्षणा दोनों ही प्रतीत नहीं करा पातीं । अतः प्रयोजन की प्रतीति लक्षणामूला-व्यंजना द्वारा होती है ।

उपर्युक्त शाब्दी-व्यंजना में व्यंजित अर्थ किसी विशेष-शब्द तक ही परिमित रहता है, उसके आगे नहीं बढ़ता । अभिधा-मूला व्यंजना अनेकार्थी शब्दों पर निर्भर होती है और लक्षणामूला-व्यंजना लाक्षणिक शब्दों पर ।

**ख — आर्थी-व्यंजना —**

आर्थी-व्यंजना में वक्ता, बोधव्य (जिसके प्रति बात कही जाय) वाक्य, अन्य-संन्निधि, वाच्य (अर्थ), प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल, काकु, चेष्टा आदि के वैशिष्ट्य के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है ।

शाब्दी-व्यंजना में व्यंग्यार्थ किसी विशिष्ट शब्द पर आश्रित होता है । यदि उस व्यंजक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द प्रयुक्त किया जाय, तो उक्त व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता, जबकि आर्थी-व्यंजना में अमुक शब्द के स्थान पर उसी अर्थ का अन्य पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त करने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है । आर्थी-व्यंजना के सभी भेदों में पर्यायवाची शब्द-परिवर्तन करने पर उसका कोई प्रभाव व्यंग्यार्थ पर नहीं पड़ता है ।

आर्थी-व्यंजना के मुख्य भेद निम्नांकित हैं जिन्हें आचार्यों ने मान्यता प्रदान की है ।[2]

**1 वक्तृ वैशिष्ट्यजन्य-व्यञ्जना —**

वाक्य के कहने वाले को वक्तृ कहते हैं । वक्ता (जो सामान्यतया कवि या कवि-निबद्ध पात्र होता है) की उक्ति की विशेषता से जहाँ व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वहाँ वक्तृ-वैशिष्ट्यजन्य-व्यंजना होती है ।

**2 बोधव्य वैशिष्ट्यजन्य व्यञ्जना —**

(श्रोता को बोधव्य कहते हैं) जहाँ वाक्य को सुनने वाले की विशेषता से व्यंग्यार्थ का सूचन हो, वहाँ बोधव्य-वैशिष्ट्यजन्य-व्यंजना होती है ।

**3 अन्य सन्निधि वैशिष्ट्यजन्य व्यंजना —**

जहाँ वक्ता और सम्बोध्य के अतिरिक्त तीसरे व्यक्ति की समीपता के कारण व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वहाँ यह व्यञ्जना होती है ।

**4 काकु वैशिष्ट्यजन्य व्यंजना -**

एक विशेष प्रकार की कण्ठ-ध्वनि से कहे हुए वाक्य को 'काकु' कहते हैं । जहाँ केवल काकु-उक्ति मात्र से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ 'काक्वाक्षिप्त' गुणीभूत-

---

1 काव्यकल्पद्रुम, पृ. 89 ।

2 वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः । सूत्र 21
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्मान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।"
आचार्य मम्मट : काव्यप्रकाश : तृतीय उल्लास, कारिका 37, सूत्र 22 ।

व्यंग्य होता है, परन्तु जहाँ काकु-उक्ति की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ काकु-वैशिष्ट्यजन्य-व्यञ्जना होती है।

5 **वाक्य वैशिष्ट्यजन्य व्यंजना—**

जहां पूरे वाक्य की विशेपता से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहां यह भेद माना जाता है।

6 **वाच्य-वैशिष्ट्यजन्य-व्यंजना—**

जहां उत्कृष्ट विशेषणों वाले वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वहां यह भेद होता है।

7 **प्रकरण-वैशिष्ट्यजन्य-व्यंजना—**

जहां विशेष प्रकरण होने के कारण व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वहां प्रकरण-वैशिष्ट्यजन्य-व्यञ्जना होती है।

8 **देश-वैशिष्ट्यजन्य व्यंजना—**

जहां स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ व्यञ्जित होता है, वहां देश-वैशिष्ट्य-जन्य-व्यञ्जना कार्य करती हैं।

9 **काल-वैशिष्ट्यजन्य व्यंजना—**

समय की विशिष्टता के कारण व्यंग्यार्थ का सूचन, काल-वैशिष्ट्यजन्य-व्यञ्जना के अन्तर्गत होता है।

10 **चेष्टा-वैशिष्ट्यजन्य व्यंजना—**

जहां शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा व्यंग्यार्थ को सूचित किया जाता है, वहां चेष्टा-वैशिष्ट्यजन्य व्यञ्जना होती है।

कहीं-कहीं एक ही पद में एकाधिक प्रकार की आर्थी व्यञ्जनाएं भी सम्मिलित रूप में व्यंग्यार्थ का सूचन करती हैं।

आर्थी-व्यञ्जना का व्यंग्यार्थ कवि की इच्छानुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों अर्थों में हो सकता है। अतः उपर्युक्त वर्णित वक्तृ-वैशिष्ट्य आदि जन्य व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है—

1 **वाच्यसंभवा-व्यञ्जना—**

यहां वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक होता है।

2 **लक्ष्यसभवा व्यंजना—**

यहां लक्ष्यार्थ द्वारा व्यंग्यार्थ का ध्वनन होता है। लक्ष्यसंभवा-आर्थी-व्यञ्जना और लक्षणामूला शाब्दी-व्यञ्जना साथ-साथ रहती हैं, क्योंकि प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजन व्यंग्यार्थ-रूप होता है।

3 - **व्यंग्यसंभवा व्यञ्जना—**

व्यंग्यसंभवा-व्यञ्जना में एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यग्यार्थ का व्यञ्जक होता है। पहले व्यंग्य को प्रतीत कराने वाली वाच्यसंभवा और दूसरे व्यंग्य को प्रतीत कराने वाली व्यंग्यसंभवा-व्यञ्जना है।

उपरि विवेचित शब्द-शक्तियों के पारस्परिक अंतर को, उनका निम्नांकित विविध दृष्टियों से अध्ययन कर और भी स्पष्ट किया जा सकता है—

**क—स्रोत की दृष्टि से :**

यों तो अभिधा - लक्षणा - व्यञ्जना—तीनों शब्द-शक्तियों का निवास सामान्यतः भाषा में होता है, किन्तु इनके द्वारा सूच्य अर्थ के स्रोत में परस्पर भेद है। अभिधा की आधारभूमि या मूल-स्रोत परम्परा है। किसी वस्तु, पदार्थ, क्रिया, व्यापार आदि को जिस नाम से पुकारने की परम्परा पड़ जाती है, वही उसका वाचक शब्द बन जाता है। प्रत्येक नया प्रयोग कालान्तर में रूढ़ होकर अभिधात्मक बन जाता है।

सामान्यतः हमारी भाषा स्थूल पदार्थों एवं सामान्य विचारों की सूचना देने में सक्षम होती है, किन्तु कभी-कभी वह हमारी सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में असमर्थ हो जाती है। अकथ्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के समय भाषा अपने सामान्य (अभिधात्मक) मार्ग से च्युत होकर वक्र हो जाती है। वक्रता की इसी स्थिति का नाम 'लक्षणा-शक्ति' है। लक्षणा का मूलस्रोत भावातिरेकता या आशय की गंभीरता अथवा प्रयोजन की विशेषता होती है, जिसे, संक्षेपतः प्रयोजन-वैशिष्ट्य की संज्ञा दी जा सकती है।

लक्षणा की ही भाँति व्यञ्जना के पीछे भी वक्ता का विशेष प्रयोजन या विशेष आशय होता है। अभिधा की भांति व्यञ्जना सामान्य परिस्थिति में उद्दीप्त नहीं होती, किन्तु लक्षणा और व्यञ्जना के स्रोत में भी अन्तर है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार—

"लक्षणा और व्यञ्जना दोनों का लक्ष्य विशेष भाव की अभिव्यक्ति करना होता है, किन्तु एक में स्वच्छन्द भावातिरेक होता है, जबकि दूसरी में भावातिरेक बौद्धिक कौशल द्वारा नियंत्रित रहता है या यों कहिये कि व्यञ्जना में बौद्धिक कौशल द्वारा अपने आशय को अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। संक्षेप में हम व्यञ्जना का स्रोत बुद्धि-नियन्त्रित भावातिरेक या नियंत्रित भावातिरेक को मानते है।[1]

**ख—अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से :**

सूच्य की अर्थ प्रकृति की दृष्टि से अभिधा का सम्बन्ध सामान्य, स्थिर एवं निश्चित अर्थ से होता है, जबकि शेष दोनों से सम्बन्धित अर्थ (लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ) विशिष्ट, अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं। वाच्यार्थ प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक अवस्था में अपरिवर्तित एवं निश्चित रहता है, जबकि लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का प्रयुक्त शब्दावली से केवल क्षणिक एवं अस्थिर सम्बन्ध रहता है। व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध तो लक्ष्यार्थ से भी अधिक क्षीण, परिवर्तनशील एवं अस्थायी होता है।

**ग—कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से :**

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के कार्यक्षेत्र में भी परस्पर गहरा अन्तर है। अभिधा का कार्यक्षेत्र शब्दों से आरंभ हो जाता है। अलग-अलग शब्दों का व्याकरण, कोश, सादृश्य, उपमान, आप्तवाक्य, परम्परा आदि से जो (मुख्य) अर्थ हम प्राप्त करते हैं, वह अभिधेयार्थ होता है। जब तक शब्दों का मूल अर्थ

1 साहित्यविज्ञान, पृष्ठ 295।

वाक्य या प्रसंग में भी अपरिवर्तित रहता है, तब तक ही उस वाक्य या प्रसंग में अभिधा-शक्ति मानी जाती है। शब्दार्थ के परिवर्तन के साथ ही अभिधा लक्षणा या व्यञ्जना में परिवर्तित हो जाती है। जब शब्द या शब्दों का संगठन वाक्य या उक्ति के रूप में होता है, तब विशेष परिस्थिति में लक्षणा-शक्ति उद्दीप्त होती है। इस प्रकार लक्षणा का क्षेत्र वाक्यांश या वाक्य है।

व्यंजना का क्षेत्र लक्षणा की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उसकी उद्दीप्ति अकेले वाक्य में न होकर वाक्य-समूह या प्रकरण के क्षेत्र में होती है। जब तक कोई वाक्य किसी प्रसंग से सम्बद्ध नहीं हो जाता या वह किसी प्रसंग का अंग नहीं बन जाता, तब तक उससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती, यहां तक कि व्यंग्यार्थ होते हुए भी प्रसंग-ज्ञान के अभाव में उसका बोध नहीं हो पाता है।

संक्षेप में शब्द, वाक्य और प्रसंग को तीनों शक्तियों के कार्यक्षेत्र की प्रारम्भिक सीमा माना जा सकता है। इन शक्तियों के कार्यक्षेत्र का आयाम इन सीमाओं से आगे बढ़ता जाता है, यथा—'शब्द' अभिधाशक्ति की प्रारम्भिक सीमा है, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह वाक्य अथवा प्रसंग में नहीं रहती; वस्तुतः जब तक वाक्य अथवा प्रसंग में लक्षणा या व्यंजना उत्पन्न नहीं होती तब तक अभिधा ही कार्यरत रहती है। इतना ही नहीं, इन शक्तियों के उद्दीप्त होने पर भी सहचारी के रूप में अभिधा-शक्ति सक्रिय रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य अथवा प्रसंग में लक्षणा या व्यंजना उद्दीप्त हो, यह आवश्यक नहीं। केवल विशेष परिस्थितियों में ही ये शक्तियां उद्दीप्त होती हैं, अन्यथा अभिधा-शक्ति ही कार्यरत रहती है। अतः यों कह सकते हैं कि जहां अभिधा का प्रसार शब्दों से लेकर सामान्य प्रसंग-योजना तक है, वहां लक्षणा का विशिष्ट-वाक्य-योजना से लेकर प्रसंग-योजना तक है, जबकि व्यंजना का क्षेत्र विशिष्ट प्रसंग-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक माना जा सका है।

घ—प्रभाव की दृष्टि से :

प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक है। अभिधा में कथन-शैली सामान्य रहती है, अतः उसका अपना कोई विशेष प्रभाव या आकर्षण नहीं होता। उसमें (अभिधा में) केवल तथ्य की विशेषता और मार्मिकता का ही आकर्षण रहता है।
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में—'अभिधा में द्रव्यगत (विषयवस्तुगत) आकर्षण ही हो सकता है, रूपगत अथवा शैलीगत नहीं।'[1]

लक्षणा और व्यंजना में शैलीगत आकर्षण रहता है। यदि इसके साथ ही विषय-वस्तुगत आकर्षण भी हो, तो काव्य की प्रभावक्षमता में द्विगुणित वृद्धि हो जाती है। लक्षणा से अधिक प्रभविष्णुता व्यंजना में निहित होती है। संक्षेप में इसे यों भी कह सकते हैं कि अभिधा में मुख्यतः स्थूल विषयगत ऐन्द्रिय आकर्षण लक्षणा में भावात्मक आकर्षण और व्यंजना में बौद्धिकता-समन्वित सूक्ष्म भावात्मक आकर्षण निहित होता है। काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य के लिये इन तीनों की उपस्थिति

1—साहित्यविज्ञान, पृष्ठ 297।

आवश्यक है, तथापि काव्य को सौन्दर्यान्वित करने में इनका महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है।

अस्तु ! उपर्युक्त विवेचित अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शक्ति से युक्त काव्य का नामकरण भी उसमें निहित शक्ति की प्रधानता के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है—व्यञ्जनाशक्तियुक्त-काव्य को 'व्यंग्यप्रधान' काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है।

व्यंग्यार्थ के गौण होने पर काव्य को 'गुणीभूतव्यंग्यप्रधान-काव्य' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार के काव्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ दोनों निहित होते हैं, परन्तु वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारिक होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की सत्ता गौण होने के कारण यह 'गुणीभूत-व्यंग्य' कहलाता है।

जिस काव्य में वाच्यार्थ ही प्रमुख होता है तथा काव्य के चित्रात्मक सौन्दर्य में अभिवृद्धि करता है, उसे चित्र-प्रधान काव्य कहते हैं।

व्यंग्यप्रधान काव्य के अन्तर्गत 'ध्वनि' सिद्धान्त का व प्रतीकों का समावेश किया जाता है तथा लक्षणा-प्रधान-काव्य वक्रोक्ति-सिद्धान्त को अपने में समेट लेता है। अभिधा-प्रधान चित्रात्मक काव्य में बिम्बात्मकता और वर्णनात्मकता का चारु-संयोजन किया जाता है। आचार्य मम्मट ने ध्वनि-काव्य, गुणीभूत-व्यंग्यकाव्य और चित्रकाव्य को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर काव्य कहा है। उनकी दृष्टि में जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार-युक्त हो वही ध्वनिकाव्य उत्तम काव्य है।

शब्द-शक्तियों के उपर्युक्त सैद्धान्तिक विवेचन के अनन्तर अब हम आगामी में मीरां-पदावली में निहित शब्द-शक्तियों का विवेचन और विश्लेषण करेंगे।

## ब—मीरां के काव्य में शब्द-शक्तियां : विवेचन और विश्लेषण—

मीरां के काव्य को सहजता, सरसता, स्वाभाविकता, प्रतीतात्मकता, रहस्यमयता, चमत्कारिता, ध्वन्यात्मकता, मर्मस्पर्शिता, हृदयहारिता एवं सर्वसंवेद्य रमणीयता से आविष्ट करने का श्रेय इन त्रिविधात्मक शब्द-शक्तियों को है। अभिधा-शक्तियों को है। अभिधा-शक्ति ने जहाँ उनके काव्य को स्वाभाविकता, सरसता, बोधगम्यता और संगीतात्मकता से युक्त किया है, वहाँ लक्षणा-शक्ति ने उनकी सूक्ष्म-भावानुभूतियों को रंजकतापूर्ण मार्मिकता, हृदयग्राह्यता व रहस्यपूर्ण प्रभविष्णुता से आवेष्टित किया है। उनके दिव्य प्रणय-सम्बन्धों को रागमय अलौकिकता, सर्वसंवेद्य रमणीयता व चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य से ओत-प्रोत करने में व्यंजना-शक्ति का महत्त्वपूर्ण सहयोग है।

डा. प्रभात ने मीरां के काव्य में अभिधा और व्यञ्जना की प्रधानता स्वीकार करते हुए लक्षणा का स्थान गौण माना है।[1] डा. सावित्री सिन्हा ने उनके काव्य में अभिधा का स्वाभावोक्तिपूर्ण मार्मिक चमत्कार ही निखरा हुआ पाया है।[2]

---

1 डा. प्रभात : 'मीरांबाई'; पृष्ठ 463

2 डा. सावित्री सिन्हा : 'ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प', पृष्ठ 162।

वस्तुतः मीरां के काव्य में त्रिविध-शब्द-शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण यथोचित प्रसार हुआ है। अध्ययन की सुविधा के लिये इनका क्रमिक विवेचन करना उचित होगा, अतः पहले अभिधा-शक्ति को लेते हैं—

**क—अभिधा-शक्ति :**

मीरां के काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी सरस स्वभावोक्तियां हैं। उनकी स्वभावगत निर्लिप्तता, स्पष्टता, निश्छलता आदि विशेषताएं उनके काव्य में सर्वत्र प्रतिभासित होती हैं। वस्तुतः ये गुण अभिधा के भी हैं, अतः इन अभिधा-शक्ति-जन्य गुणों के कारण ही उनका काव्य सार्वजनीन लोकप्रियता प्राप्त कर सका। उनके पदों में स्थान-स्थान पर अभिधा-शक्ति के सौन्दर्य-पूर्ण दर्शन होते हैं। व्याख्यात्मक[1], इतिवृत्तात्मक[2], वर्णनात्मक[3] तथा (स्व) सिद्धान्त कथनात्मक[4] स्थलों में तो अभिधा के दर्शन सामान्यतः होते ही हैं, इनके अतिरिक्त आराध्य के सौन्दर्यमय रूप बिम्बों में तथा उनकी (मीरां की) ऋजु भावानुभूतियों में भी अभिधा-शक्ति का सुष्ठु संचरण देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ नीचे कुछ पद प्रस्तुत हैं, जो मीरां के काव्य में निहित अभिधा-शक्ति के सौन्दर्यपूर्ण विन्दुओं को उभारते हैं।

सर्वप्रथम आराध्य के रूप का चित्रण करने वाला (अभिधा-वाची शब्दों से युक्त) यह पद प्रस्तुत है—

> "बस्या म्हारे णेणण मां नंदलाल।
> मोर मुगट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक सोहां भाल।
> मोहन मूरत सांवरां सूरत णेणा वण्या विशाल।
> अधर सुधा रस मुरली राजां उर बैजंती माल।
> मीरां प्रभु संतां सुखदायां, भक्त वछल गोपाल।[5]

इस पद में प्रयुक्त सभी शब्द अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ को ही संकेतित करते हैं और उसकी (वाच्यार्थ) सहायता से ही कृष्ण की मनोहर झांकी को सहृदय के मानसपटल पर सफलतापूर्वक अंकित कर देते हैं। ऐसे ही उनकी (आराध्य की) लीलाओं से सम्बन्धित पदों में भी अभिधा-शक्ति का रससिक्त सौन्दर्य देखा जा सकता है—

> "आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारी हे माय।
> म्हारे गेल पड्यो गिरधारी. हे माय।
> मैं जल जमुना भरन गई थी आ गयो कृष्ण मुरारी हे माय।
> ले गयो सारी अनारी म्हारी, जल में ऊभी उघारी, हे माय।
> सखी साइनि मोरी हंसत हैं, हंसि हंसि दे मोहि गारी, हे माय।
> सास बुरी अर नणद हठीली, लरि लरि मोहि तारी हे माय।
> मीरां के प्रभु गिरधर नागर; चरण कमल की वारी; हे माय।[6]

---

क्रम संख्या (पद संख्या)—1. (542), 2. (508), 3. (456), 4. (432)

5 मी. पदा, पद 3

6 मी. पदा., पद 169

तथा—

कहां कहां जाऊं तेरे साथ कन्हैया
विन्द्रावन की कुन्ज गलिन में गहे लीणो मेरो हाथ ।
दध मेरो खायो मटकिया फोरी, लीणो भुज भर साथ ।
लपट झपट मोरी गागर पटकी, सांवरे सलोने गात ।
कवहुं न दान दियो मनमोहन, सदा गोकुल आत जात ।'[1]

आराध्य के रूप-चित्रण व उनकी लीलाओं के अतिरिक्त उनके प्रिय लीला-धामों का भी सुरुचिपूर्ण, सजीव-चित्रात्मक वर्णन करने में अभिधा का योगदान उल्लेखनीय है—

'आली म्हांने लागां वृन्दावन नीकां ।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविन्दजी का ।
निरमल नीर वह्या जमणा मां, भोजन दूध दही का ।
रतण सिंघासन आप विराज्यां, मुगट धर्‌या तुलसी का ।[2]

वृन्दावन धाम के उपर्युक्त सफल चित्रण के समान ही एक अन्य पद में द्वारिका-धाम का भी सजीव चित्रण कवयित्री ने प्रस्तुत किया है ।[3] इन धाम-वर्णन वाले पदों में अभिधा-शक्ति का चित्रात्मक-व्यापार दर्शनीय है ।

मीरां के पदों में अनेक ऐसे पद उपलब्ध होते हैं जिनमें गत्यात्मकता व प्रवाहमयता तथा आह्लादपूर्ण संवेदनीयता उत्पन्न करने का कार्य अभिधा द्वारा सम्पन्न हुआ है । मीरां द्वारा किये गये रंगोत्सव के चित्रात्मक-वर्णन ऐसे ही हैं, जो अपनी वाच्यार्थमयता के कारण ही आकर्षक लगते हैं—

'होरी खेलत हैं गिरधारी ।
मुरली चंग वजत डफ न्यारो, संग जुवति ब्रजनारी ।
चन्दन केसर छिरकत मोहन, अपने हाथ विहारी ।
भरि-भरि मूठि गुलाल लाल चहुं देत सवन पै डारी ,
छैल-छवीले नवल कान्ह संग, स्यामा प्राण पियारी ।
गावत चारु धमार राग तहं, दे दे कल कर तारी ।
फाग जु खेलत रसिक सांवरो, वाढ़्यो रस ब्रज भारी '[4]

मीरां के काव्य में निहित अभिधा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशिष्टिता उसका रसपूर्ण होना है । कुछ कवियों के अभिधात्मक-वर्णन जहां नीरस हो जाते हैं, वहां मीरां के अभिधात्मक वर्णनों में चित्रात्मकता, मधुरता व सरसता सर्वत्र छाई रहती है, चाहे वह स्वजीवन से सम्बन्धित कोई घटना-प्रसंग हो या कोई भावपूर्ण प्रकरण । उदाहरण द्रष्टव्य है—

'सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कांई कर लेसी ।
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यां हो माई ।
राणोजी रूठ्यां वांरो देस रखासी ।

1—मी. पदा., पद. 176 ।
2—मी. पदा., पद 160 ।
3—मी. पदा. पद, 202 ।
4—मी. पदा. पद-175 ।

हरि रूठ्यां कुम्हलास्यां हो माई।
लोक लाज की काण न मानूं।
निरभै निसांण घुरास्यां हो माई।[1]

जहां उपर्युक्त पद में राणा के प्रति अवज्ञा-भाव व आराध्य के प्रति अनन्य श्रद्धा-भाव दृढ़तम शब्दों में स्पष्टतः व्यक्त हो रहा है, वहां निम्नोक्त पद में आराध्य का चिर-साहचर्य प्राप्त करने की मृदु-आकांक्षा अभिधेयवाचक-शब्दों में सहज ही व्यक्त हो उठी है—

'मोहने गुपाल फिरूं, ऐसी आवत मण में।
अवलोकत वारिज वदन विवस भई तन में।
मुरली कर लकुट लेऊं, पीत बसन धारूं।
काछी गोप भेष मुकुट, गोधन संग चारूं।
हम भई गुलफाम लता, वृन्दावन रैनां।
पशु पंछी मरकट मुनि श्रवण सुनत बैना।
गुरुजन कठिन कानि कासौं री कहिए।
मीरां प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए।[2]

यद्यपि मीरां की भावात्मकता में व्यञ्जना का पुट अधिक है, तथापि कहीं-कहीं उनकी सहज भावानुभूतियों में अभिधा की झलक भी दिखलाई पड़ती है। जैसे कि निम्न पद में सौतिया-डाह का भाव स्पष्ट व्यञ्जित हो रहा है; परन्तु इस भाव को व्यञ्जित करने के लिये उन्होंने जो स्वभावोक्तियां की हैं, वे व्यञ्जना के सौन्दर्य को द्विगुणित कर रही हैं। भाव-व्यञ्जक होते हुए भी निम्न पद का वाच्यार्थ अपना अस्तित्व व्यञ्जना के लिये समाप्त नहीं करता अपितु अपने अस्तित्व का सौन्दर्यपूर्ण परिचय सर्वत्र देता है—

"श्याम म्हासूं ऐंडो डोले हो।
औरन सूं खेले धमार म्हांसूं मुख सूं न बोलै हो।
म्हांरी गलियां ना फिरै वांके अंगना डोलै हो।
म्हारी अंगुली ना छुवै वांकी बहियां मोरै हो।
म्हारो अंचरा ना छुवै, वांको घूंघट खोलै हो।"[3]

प्रियतम के उपेक्षा-भाव और प्रेयसि के असूया-भाव को व्यञ्जित करने वाले उक्त पद में गुणीभूत-व्यंग्य है। गुणीभूत-व्यंग्य में, जैसा कि पूर्वकथित है, व्यञ्जना और अभिधा दोनों की सहस्थिति रहती है; परन्तु वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यपूर्ण और मुखरित रहता है।

गुणीभूत-व्यंग्य का ही एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें प्रियतम के स्वप्न में आने और विना मिले लौट जाने से उत्पन्न पश्चात्ताप का भाव व्यञ्जित हो रहा है। यहां भी व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक मुखरित और प्रभावपूर्ण है—

---

1 मी. पदा., पद-35।
2 मी. पदा. पद—184।
3 मी. पदा. पद—181।

"सोवत ही पलका में मैं तो पलक लगी पल में पिउ आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूं जाग परी पिउ ढूंढ न पाए।
और सखी पिउ सोय गंमाए मैं जु सखी पिय जागि गमाए।
आज की बात कहा कहूं सजनी सपने में हरि लेत बुलाए।
वस्तु एक जब प्रेम की पकड़ी आज भये सखि मन के भाए।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां के काव्य में निहित अभिधा अन्य कवियों की भांति नीरसता उत्पन्न नहीं करती; अपितु वह सर्वत्र एक अनिर्वचनीय रसात्मकता और सहजता से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होती है।

इसके अतिरिक्त अभिधात्मकता शब्द-व्यापार के कारण ही उनके काव्य में लयात्मकता की सृष्टि हुई है। अनुप्रास अलङ्कार का तारपोर अभिधा-शक्ति से बंधा रहता है और मीरां के काव्य में वर्ण-अनुप्रास (विशेषतः छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास) की छटा यत्र-तत्र ; परन्तु अन्त्यनुप्रास की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है, जो उनके काव्य की संगीतात्मकता में अपूर्व सौन्दर्य-वर्धन करती है।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अभिधा-शक्ति ने मीरां के काव्य को सुबोधता और सहजता प्रदान की है। रसात्मकता व संगीतात्मकता के संवर्धन में अभिधा ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है और भावानुभूतियों की व्यञ्जकता को सर्वसंवेद्य बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण सहयोगी भूमिका निभाई है। समग्र रूप में यों कह सकते हैं कि मीरां के काव्य में निहित अभिधा-शक्ति केवल सहजता और सरलता का पर्याय न होकर सरसता, चित्रात्मकता और संगीतात्मकता की भी विधायिनी है।

ख—लक्षणा-शक्ति—

प्रथम दृष्टि में सामान्य से लगने वाले मीरां के पद अनेको मार्मिक अर्थपूर्ण भावों से ओत-प्रोत हैं। हृदय के सूक्ष्मतम जटिल भावों को सरलतम संक्षिप्त शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना मीरां की प्रमुख विशिष्टता है। उनके भावपूर्ण हृदय की स्पष्ट झांकी कराने में जहां अभिधा अशक्य हो जाती है, वहां लक्षणा उसका सुरुचिपूर्ण दर्शन करा देती है।

डॉ. प्रभात ने मीरां के काव्य में लक्षणा-शक्ति को गौण माना है,[2] जबकि डॉ. सावित्री सिन्हा ने उनकी कविता की भाषा को 'लक्षणा के हल्के संस्पर्शों से शक्ति-प्राप्त' बताया है।[3]

मीरां के काव्य में लक्षणा के अस्तित्व को दोनों विचारकों ने स्वीकार तो किया है, परन्तु उसे हल्के संस्पर्शों तक ही सीमित करके अन्य दोनों शब्द-शक्तियों की तुलना में गौण मान लिया है। अब देखना यह है कि क्या वास्तव में मीरां के काव्य में लक्षणा का व्यापार अत्यल्प और गौण है या अन्य शब्द-शक्तियों के

1 मी. पदा. (परिशिष्ट ग, पृ. 238), पद - 2।
2 डॉ. प्रभात : 'मीरांबाई' : पृ. 463।
3 डॉ. सावित्री सिन्हा : ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प, पृ. 170।

समान संतुलित है ?

लक्षरणा के व्यापार की सबसे छोटी इकाई शब्द है। शब्द के अनन्तर वाक्यांश और वाक्य तक इसका विस्तार हो सकता है। मीरां के काव्य में भी लक्षरणा का विस्तार इन्हीं तीनों रूपों में मिलता है। इन्हें निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

1—शब्दगत लक्षरणा, 2—वाक्यांश या शब्दसमूहगत लक्षरणा, 3—वाक्यगत अथवा पूर्णपदगत लक्षरणा। इन तीन वर्गों में निहित लक्षरणा-व्यापार दो रूपों में उपलब्ध हैं—1—रूढ़ि-लक्षरणा के रूप में। 2 - प्रयोजनवती लक्षरणा के रूप में।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, प्रयोजनवती लक्षरणा से युक्त लाक्षरिणक पद अत्यन्त प्रचलित होने पर रूढ़ होकर रूढ़ि-लक्षरणा के अन्तर्गत आ जाते हैं। जो प्रयोग आज प्रयोजनवती लक्षरणा के अन्तर्गत आता है, वही कल अत्यधिक प्रचलित होने पर रूढ़ि-लक्षरणा में परिवर्तित हो सकता है। आगामी पंक्तियों में मीरां के काव्य में प्रयुक्त कुछ लाक्षरिणक-शब्द-प्रयोग प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(1) शब्दगत-लक्षरणा - शब्दगत-लक्षरणा का सौन्दर्य विशेषत: क्रिया-पदों और क्रिया-विशेषणों में दिखाई पड़ता है। मीरां द्वारा प्रयुक्त कुछ लाक्षरिणक क्रियाएं एवं क्रिया-विशेषरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इन्हें भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

क –रूढ़ लाक्षरिणक-क्रिया-प्रयोग और ख—विशिष्ट लाक्षरिणक क्रिया-प्रयोग

क—रूढ़-लाक्षरिणक-क्रिया-प्रयोग

1 'बसो मोरे नैनन में नंदलाल'।[1]

2 म्हां मोहन रे रूप लुभाणी।[2]
वांको चितवन नैनां समाणी।[3]

चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत, हिवड़ा अणी गड़ी।[4]
सब लयां सीस चढ़ाय।[5]
बोल्यां बोल बनाय।[6]
थे विण फटां हिया।[7]
हिल मिल बात बनावत मीठी।[8]
लोकलाज कुलकानि जगत की दइ बहाय जस पानी।[9]
निरख वदन म्हारो मनड़ो फस्यो।[10]
म्हारे रोणां निपट वंकट अटके।[11]
माई म्हारो मोहने मण हर्यो।[12]
मग जोवां दिन रातों।[13]
मैं जन तेरा पंथ निहारूं।[14]
मीरां हरि रंग राच्यां री।[15]

---

मी. पदा., क्रम सं. - (पद संख्या)
1. (3), 2. (11), 3. (11), 4. (14), 5. (13), 6. (13), 7. (52), 7. (54). 9. (38), 10. (8), 11. (10), 12. (172); 13. (23), 14. (95), 15. (14)।

उपर्युक्त उद्धरणों में रेखांकित क्रिया-पदों (व क्रियाविशेषण पदों) में लक्षणा का चमत्कार देखा जा सकता है। ये रेखांकित क्रियाएं भी विशिष्ट भावों को लक्षित करती हैं। प्रारम्भ में इनका प्रयोग विशेष अर्थ का द्योतन करने के लिये किया गया होगा, परन्तु अब ये लाक्षणिक क्रियाएं अति प्रचलित हो गई हैं, यद्यपि इनकी लाक्षणिकता समाप्त प्रायः नहीं हुई है, फिर भी इन क्रियाओं द्वारा लक्षित अर्थ को समझने के लिये किसी प्रकार की क्लिष्ट-कल्पना नहीं करनी पड़ती है। प्रायः सभी कवियों ने इन क्रियाओं का प्रयोग अपने काव्य को विशेष रागात्मक अर्थों से गर्भित करने के लिये किया है। अत्यधिक प्रयुक्त होने के कारण ये लाक्षणिक क्रिया-प्रयोग रूढ़ हो गये हैं।

**ख—विशिष्ट (अरूढ़) लाक्षणिक क्रिया प्रयोग—**

देस्यूं प्राण अंकोर।[1]
परहथ गया विकाय।[2]
म्हारे णेणा बाण पड़ी।[3]
पुरवला पुन्न जगावां री।[4]
ओगुण म्हां विसराज्यो जी।[5]
विणता दीस्यो काण।[6]
मीरां गिरधर हाथ विकाणी। [7]
लोग कहें विगड़ी।[8]
चरण कमल मीरां विलमाणी।[9]
विरह कलेजो खाय।[10]
म्हां तो स्याम डसी[11]
वेदन कूण बुतावै[12]
स्याम विना जिवड़ो मुरझावै[13]
पिया परदेस सजावां[14]
कब की ठाढ़ी म्हा मग जोवां निसदिन विरह जगावां[15]
प्राण गमाया झूरतां नैण गमाया रोय[16]
सावणियो लूम रह्यो छै।[17]
णेणा म्हांरा सांवरा रांज्यां डरतां पलक न लावां।[18]

मीरां द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त क्रियापद उनके किसी विशिष्ट भाव को लक्षित करते हैं। इन क्रिया-पदों का वाच्यार्थ ग्रहण करने पर पद का कवि-अभिप्रेतार्थ द्योतित नहीं हो पाता है, अतः इनके वाच्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ को ग्रहण करना पड़ता है। कवयित्री ने इनका प्रयोग विशेष प्रयोजन से किया है। जैसे—'प्राण अंकोर देना' क्रिया का वाच्यार्थ होगा 'प्राणों की भेंट देना', परन्तु प्राण

---

मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (5), 2. (13), 3. (14), 4. (24), 5. (129), 6. (134), 7. (14), 8. (14), 9. (11). 10. (101), 11. (88), 12. (74), 13. (80), 14. (78), 15. (78), 16. (102), 17. (122), 18. (15)।

कोई मूर्त वस्तु तो है नहीं जिसे किसी को स्थूलत: भेंट किया जा सके, अत: यहां इससे 'सर्वस्व समर्पण, कर देने का लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि प्राण ही जीवन का मूल आधार है, अतएव उसे 'जीवन-सर्वस्व' के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। सभवत: कवयित्री भी यहां इसी को लक्षित करना चाहती हैं।

इसी प्रकार 'परहथ गया विकाय' का वाच्यार्थ है किसी अन्य के हाथों बिक जाना; किन्तु किसी ने मीरां को क्रय तो किया नहीं था, अत: वाच्यार्थ का ग्रहण करने पर अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। मीरां अपना सर्वस्व गिरधर पर न्योछावर कर चुकी थीं तथा उन्होंने अपनी सभी आकांक्षाएं भी उन्हें अर्पित कर दी थीं। जिस प्रकार क्रीत मनुष्य निराकांक्ष होकर अपने स्वामी की इच्छाओं पर ही जीता है उसी प्रकार मीरां भी सर्वथा निराकांक्ष हो कर गिरधर की आश्रिता हो गई थीं। अपनी इसी इच्छाहीन पराश्रित या परमुखापेक्षी अवस्था को सूचित करने के लिए उन्होंने उक्त लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया है।

तीसरे उद्धरण में मीरां ने 'वाण पड़ी' शब्द का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग किया है। वाण से तात्पर्य 'तीर' (अस्त्र विशेष) से नहीं अपितु आदत, अभ्यास, लत या टेव से है। उक्त पंक्ति का वाच्यार्थ होता है—मेरे नैनों को लत पड़ गई है। मगर किसकी ? यह वाच्यार्थ द्वारा ज्ञात नहीं होता है। यहां कवयित्री कहना चाहती हैं कि मेरे नैनों को निरन्तर प्रियतम की प्रतीक्षा करते रहने की लत पड़ गई है अर्थात् मुझे प्रतीक्षा करते हुए एक लम्बी अवधि हो गई है; परन्तु मेरी कामना पूर्ण नहीं हो पाई है। लम्बी अवधि तक एक ही कार्य को करते रहने पर ही उसकी लत पड़ती है। यह अपर अर्थ (लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा) लक्ष्यार्थ को ग्रहण करने पर ही लक्षित हो पाता है।

'पुन्न जगावां' क्रिया भी एक विशिष्ट भाव को लक्षित करती है। इसका वाच्यार्थ (किसी सुप्त व्यक्ति को जागृत करना) ग्रहण करने पर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती है, अत: यहां इसका लक्ष्यार्थ, विशेष पुण्य कार्यों के सुफल का उदित होना है। विशेष पुण्यों के फलस्वरूप ही अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता है। गिरधर से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होने को मीरां अपने पूर्वजन्मकृत पुण्य कर्मों का सुपरिणाम मानती हैं और इसी भाव को उन्होंने उक्त लाक्षणिक प्रयोग द्वारा व्यक्त किया है।

इसी प्रकार 'कान देना' का अर्थ—अङ्ग विशेष का दान नहीं है, अपितु इससे किसी विषय पर विशेष ध्यान देने का अर्थ लक्षित होता है।

ऐसे ही 'हाथ विकाणी' लाक्षणिक पद पूर्ववर्णित निराकांक्ष अवस्था को लक्षित करता है। 'विगड़ी' शब्द का वाच्यार्थ है—किसी वस्तु का विकृत या विकारयुक्त होना; परन्तु यहां 'बिगड़ी' का तात्पर्य चरित्रहीनता या पथभ्रष्टता से है। 'चरण कमल मीरां विलमानी' में 'विलमानी' क्रिया द्वारा गिरधर के 'प्रेम में निमग्न हो जाने' के भाव को लक्षित किया गया है।

'विरह कलेजो खाय' पद का अर्थ वाच्यार्थ द्वारा किसी प्रकार स्पष्ट नहीं हो पाता है। इसका लक्ष्यार्थ है विरह के कारण निरन्तर क्षीण होते जाना। ऐसे ही 'म्हां तो स्याम डसी' में सर्प द्वारा दंशित किये जाने का अर्थ संकेतित

होता है, परन्तु यहाँ स्याम का अर्थ कालिय-नाग न होकर श्यामसुन्दर कृष्ण से है जिनकी वियोगजन्य व्यथा से व्यथित मीरां, अपने कष्ट को सर्प-दंश की व्यथा द्वारा प्रकट करती हैं।

इसी प्रकार 'वेदन कूण बुतावै' पद में 'बुतावै' का अर्थ 'बुझाना' नहीं, अपितु 'विरह-व्यथा को शान्त करना' है जो लक्षणाशक्ति द्वारा ज्ञात होता है। 'जियड़ो मुरझावैं' पद में 'मुरझावैं' क्रिया का विपर्यय हुआ है। मुरझाना या खिलना पुष्प का धर्म है, हृदय का नहीं। यहां मुरझाने से तात्पर्य खिन्न होने से है। इसी प्रकार 'सजाना' क्रिया का सामान्य अर्थ सज्जित करना है; किन्तु प्रियतम कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसी स्थान-विशेष को सज्जित करे। यहां 'सजावां' से तात्पर्य है, प्रिय का विदेश जाकर वहीं आनन्दपूर्वक रह जाना। उनके पुनरागम के लिए विरहिणी विशेष पूजा-अर्चा कर रही है यह भाव 'निसदिन विरह जगावां' पद द्वारा लक्षित होता है। जिस प्रकार किसी सिद्धि की प्राप्ति के लिए वाममार्गी 'मसान जगाते' हैं अर्थात् विशेष साधना करते हैं, उसी प्रकार विरहिणी प्रियतम के पुनरागमन के लिए एकटक मार्ग जोहती हुई विशेष-साधना कर रही है। उसी साधना में विरहिणी ने अपने प्राण और नैन गँवा दिये हैं। वस्तुतः 'प्राण गँमाया झूरता, नैण गमाया रोय' से उनका तात्पर्य उक्त भाव को व्यञ्जित करना है, तो वाच्यार्थ द्वारा नहीं, अपितु लक्ष्यार्थ द्वारा ही घोषित होता है।

ऐसे ही 'लूम रह्यो' और 'राज्यां' क्रियाएँ भी विशेष लक्ष्यार्थ का सूचन करती हैं।

मीरां के पदों में लाक्षणिक क्रिया-रूप और क्रियाविशेषण रूप अधिकांशतः मिलते हैं, संज्ञापदों में चमत्कृति उत्पन्न करने वाले लाक्षणिक विशेषणों का स्वतंत्र प्रयोग अपेक्षाकृत कम है।

शब्दगत लक्षणा के बाद अब वाक्यांशगत या शब्दसमूहगत लाक्षणिक प्रयोगों का विवेचन प्रस्तुत है—

(2) शब्द-समूहगत या वाक्यांशगत लक्षणा—

इन्हें भी स्वरूप की दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है—क—रूढ़ि-लक्षणा, ख—विशिष्ट-लक्षणा। शब्द-समूहगत लक्षणा के अन्तर्गत 'मुहावरे' आते हैं, जो अतिप्रचलित होते हुए भी वैचित्र्यपूर्ण शब्दों से संगठित रहते हैं तथा काव्य को रम्य रंजकता, सहज सौन्दर्य और प्रभविष्णुता से मंडित करते हैं। शब्द-समूह- गत विशिष्ट-लक्षणा ही वास्तव में लक्षणा का वास्तविक रूप होती है। प्रयोजनवती-लक्षणा का समस्त सौन्दर्य इन्हीं (शब्दसमूहगत विशिष्ट-लक्षणा) पर आधारित होता है। वस्तुतः प्रयोजनवती-लक्षणा एक ही अर्थ में परम्परागतरूप से प्रयुक्त होते रहने के कारण कालान्तर में रूढ़ि-लक्षणा में परि- त हो जाती है। इससे प्रायः सभी, रूढ़-लाक्षणिक प्रयोग या मुहावरे प्रयोजनवती-लक्षणा के अन्तर्गत आ सकते हैं; परन्तु सभी प्रयोजनवती-लक्षणा से युक्त विशिष्ट लाक्षणिक प्रयोग मुहावरे नहीं कहे जा सकते।

मीरां के काव्य में शब्दसमूहगत रूढ़ि-लक्षणा के उदाहरण इस प्रकार है—

मीरां लागो रंग हरी औरन अंटक पड़ी ।[1]
सुपणा मां गह्या हाथ ।[2]
जग रा वोल सह्या ।[3]
दुरजन जलो जा अंगीठी ।[4]
कड़वा वोल लोक जन बोल्या करस्यां म्हारी हांसी ।[5]
देखो माई हरि मन काठ किया ।[6]
वालपनां की प्रीत रमइया कदे नहीं आयो था॰ो तोल ।[7]
अवध वढ़ीती अजहूँ न आए ।[8]
जोगिया री प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ।[9]
मीरां कहे प्रभु तुमरे दरस विन, लगत हिवड़ा सूल ।[10]
जगत वढ़ीत करी मनमोहन, कहा वजावत ढोल ।[11]
अंग भभूत गले मृग छाला, तू जन गुढ़िया खोल ।[12]
अव तो निभायां वांह गह्या री लाज ।[13]
माई म्हारी हरि हूँ न वूझ्यां वात ।[14]
दरद की मार्‌या दर दर डोल्यां ।[15]
विरहण वैठ्यां रंग महल मां णेण लड़्या पोवां ।[16]
तारा गिणतां रेण विहानां सुख घड़ियारी जोवां ।[17]
चोंच कटाऊं पपइयारे ऊपर कालर लूण ।[18]
नैण विछास्यूं हिवड़ा डास्यूं सिर पर राखूं विराज ।[19]
लेतां लेतां राम नाम रे लोकड़ियां तो लाजां मरे छै ।[20]
आपहि आप पुजाइकेरै फूल अग णा समात ।[21]
वृन्दावन की कुंजगलिन में आंख लगाइ गयो मनमोहना ।[22]
हो गये श्याम दूहज के चन्दा ।[23]
यो देही रो गरज णा करना माटी मां मिल जासी ।[24]
तेरो भरम नहीं पायो रे जोगी ।[25]

उपर्युक्त उदाहरणों में रेखांकित शव्द-समूह अपने वाच्यार्थ से पृथक् किसी अन्य अर्थ को लक्षित करते हैं । लक्षणाशक्ति से युक्त ये शव्द-समूह किसी विशिष्ट परम्परागत अर्थ में निरन्तर प्रयुक्त होते रहने के कारण, रूढ़ हो चुके हैं, तो भी भापा को वैचित्र्यपूर्ण चमत्कार प्रदान करने में इनका महत्वपूर्ण योग है । इन रूढ़ लाक्षणिक-प्रयोगों के अर्थ प्रायः सर्वविदित हैं अतः इनके लक्ष्यार्थों का विवेचन करना अनावश्यक प्रतीत होता हैं ।

---

क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (25), 2. (27), 3. (29), 4. (33), 5. (45), 6. (52), 7. (100), 8. (95), 9. (54), 10. (54), 11. (58), 12. (58), 13. (62), 14. (65), 15. (70), 16. (86), 17. (86), 18. (84), 19. (109), 20. (157), 21. (158), 22. (177), 23. (180), 24. (195), 25. (188) ।

शब्दसमूह या वाक्यांशगत विशिष्ट-लक्षणा—※

मीरां के काव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग मिलता है। उपमा, रूपक और प्रतीक आदि अलंकारों की प्राणदायिनी शक्ति (प्रयोजनवती) लक्षणा ही है। अतः मीरां की रूपक-योजनाओं में सारोपा-गौणी-लक्षणा और प्रतीक-प्रयोगों में साध्यवसाना-गौणी एवं शुद्धा-दोनों प्रकार की लक्षणा मिलती है। इनके साथ ही उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ती है। अध्ययन सुविधा की दृष्टि से इन लक्षणा भेदों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जा रहा है—

**सारोपा-गौणी-लक्षणा—**

मीरां-पदावली में रूपक अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है और रूपक अलंकार सारोपा-गौणी-लक्षणा-शक्ति से सम्पन्न रहता है, इस कारण उनके (मीरां के) द्वारा प्रयुक्त रूपकों में सारोपा-गौणी-लक्षणा शक्ति का चमत्कार सहज ही देखा जा सकता है। मीरां की रूपक-योजना पर अलग से विचार किया गया है और उदाहरण भी दिये गये हैं अतः उन्हीं उदाहरणों को फिर से उद्धृत करना उचित प्रतीत नहीं होता, इसलिये यहां केवल कुछेक उदाहरण ही दिये जा रहे हैं—

"भौंहि कमान वान वांके लोचन, भारत हियरे कसिके।'[1]

उक्त पंक्ति में रूपक अलंकार होने के कारण सारोपा-लक्षणा है। भौंह मौंह और लोचन तथा चितवन के मुग्धकारी प्रभाव पर तीर-कमान जैसे तीक्ष्ण मारक प्रभाव वाले उपकरणों का आरोपण किया गया है। यहां विषयी और विषय में तात्कर्म्य-सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा-लक्षणा है, अतः उक्त पंक्ति में सारोपा-शुद्धा-लक्षणा-शक्ति का कार्य कर रही है।

मीरां ने आराध्य की आराधना के लिये अपने शरीर को दीपक बना लेने का निश्चय निम्न पद में व्यक्त किया है—

या तन को दियना करों मनसा करों वाती हो।
तेल भरावों प्रेम का, वारों दिन राती हो।[2]

यहां भी वाच्यार्थ को ग्रहण करने पर उद्दिष्ट कार्य सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है, परन्तु इसका लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करने पर यह उदाहरण मीरां की दिव्य प्रेम-भावना का द्योतन करता है। यहां ज्ञान, ध्यान और प्रेम का अद्भुत सामंजस्य दिखलाई पड़ता है। इस पद में, तात्कर्म्य सम्वन्ध पर आधारित शुद्धा-लक्षणा तथा विषय और विषयी का स्पष्ट कथन होने के कारण सारोपा-लक्षणा है।

निम्नोद्धृत उदाहरण में नेत्रों की प्रतीक्षातुरता बताने का प्रयोजन होने के कारण प्रयोजनवती-लक्षणा तथा नेत्रों पर कपाट का आरोपण होने के कारण

---

※ यहां विशिष्ट-लक्षणा से तात्पर्य प्रयोजनवती-लक्षणा के ऐसे प्रयोग से है जो रूढ़ नहीं है।

1 मी. वृ. पदा., पद-500।

2 मी. पदा., परिशिष्ट—ग, पृष्ठ 241, पद-9।

सारोपा-गौणी लक्षणा भी है—

"खाण पाण म्हारे नेक ण भावां, नैणा खुला कपाट ।[1]

मीरां के अधिकांश पद ऐसे हैं जिनमें पहले की कुछ पंक्तियों में वाच्यार्थ प्रधान होता है, परन्तु अंतिम पंक्ति तक पहुंचते-पहुंचते अभिधा का स्थान लक्षणा या व्यंजना ले लेती है। इसी कारण प्रथम दृष्टि में तो उनके सभी पद वाच्यार्थ-प्रधान-से ही प्रतीत होते हैं, परन्तु गहनता से विचार करने पर उस वाच्यार्थ से जिस अपर अर्थ—लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ का ध्वनन होता है, वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय और आकर्षक होता है तथा वह कवयित्री की नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा और गहन विचार-क्षमता का द्योतन करता है। उदाहरणार्थ निम्न पद लिया जा सकता है—

माई म्हां गोविन्दा गुण गास्यां।
चरणाम्रित रो नेम सकारे, नित उठ दरसण जास्यां।
हरि मंदिर मां निरत करावां, घूंघर्‌या घमकास्यां।
**स्याम नाम रो झांझ चलास्यां, भौसागर तर जास्यां।**
यों संसार वीड़ रो कांटो, गेल प्रीतम अटकास्यां।[2]

इस पद की प्रथम तीन पंक्तियां वाच्यार्थ-प्रधान हैं। चौथी और पांचवीं पंक्ति में रूपक अलंकार होने से सारोपा-गौणी-लक्षणा है। चौथी पंक्ति का रूपक अगूढ़ अर्थात् सहज वोधगम्य है, क्योंकि प्रायः सभी कवियों ने इस संसार को सागर तथा हरि-नाम को जहाज मान कर इस रूपक का प्रयोग किया है। बहु-प्रयुक्त होने के कारण इस लाक्षणिक शब्द की चारुता नष्टप्रायः हो गई है। इसकी अपेक्षा पांचवी या अंतिम पंक्ति से प्रयुक्त रूपक में कुछ नवीनता व मौलिकता के दर्शन होते हैं। इसमें कवयित्री ने संसार पर वीड़ के तीक्ष्ण कांटे का आरोपण किया है। जिस प्रकार 'वीड़ का कांटा' पथिकों के पैरों में चुभ कर उन्हें पीड़ित करता है तथा उनकी यात्रा को कष्टकर बना देता है, उसी प्रकार यह संसार (यहां संसार से तात्पर्य संसार में रहने वाले प्राणियों से है) भी प्रियतम से मिलने जाने वालों अर्थात् भक्तों के मार्ग में तरह-तरह के रोड़े अटकाता हुआ उन्हें निरन्तर पीड़ित करता रहता है। वीड़ के कांटे चुभने से उत्पन्न पीड़ा और सांसारिक लोगों द्वारा पहुंचाई गई पीड़ा की कसक को वही समझ सकता है जो भुक्तभोगी हो। मीरां को जीवन के कटु-अनुभव हो चुके थे, अतः इस पंक्ति में संसार के प्रति उनका स्वानुभव ही व्यंजित हुआ है। पूरे पद में धर्मगत सारोपा-गौणी-लक्षणा का चमत्कार दृष्टिगत होता है।

साध्यवसाना-गौणी-लक्षणा—

मीरां के काव्य में प्रयुक्त सादृश्यमूलक रूपकातिशयोक्ति अलंकार में साध्यवसाना-गौणी-लक्षणा-शक्ति निहित है। उदाहरणार्थ कुछ पद प्रस्तुत हैं, जिनमें साध्यवसाना-गौणी-लक्षणा कार्यरत है—

1 मी. पदा., पद. 99।
2 मीरां पदा., पद 31।

"चौमास्यां री वावड़ी ज्याकूं नीर रण पीवां।"[1]

यहां विकार युक्त संसार को चौमास्यां के दूषित अपेय जल द्वारा लक्षित किया गया है। विषयरूप संसार का शब्दरूप में स्पष्ट कथन न होने के कारण यहां साध्यवसाना-गौणी-लक्षणा निहित है। इसी प्रकार निम्न पंक्ति में—

"पिया पियाला अमर रस का, चढ़ गई घूम घुमाय।
यो तो अमल म्हारे कबहूँ न उतरे कोटि करो उपाय।"[2]

भक्ति के दिव्य उन्मादक प्रभाव को 'पिया पियाला अमर रस का' के द्वारा लक्षित किया गया है, क्योंकि वस्तुतः भक्ति या ईश्वरीय प्रेम कोई पेय द्रव्य नहीं है जिसे पिया जा सके। दूसरी पंक्ति में भक्ति के स्थायी प्रभाव को कभी न उतरने वाले अमल अर्थात् नशे द्वारा लक्षित किया गया है। यहाँ पर भी साध्यावसाना-लक्षणा है। उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के लक्ष्यार्थ गूढ़-व्यंग्या-लक्षणा के द्वारा ज्ञात होते हैं, इन लक्ष्यार्थों को, मीरां की गूढ़ भक्ति-भावना को समझने वाले पाठक, स्वतः ही ग्रहण कर सकते हैं।

**लक्षण-लक्षणा—**

'मीरां-बृहत्-पदावली' में उपलब्ध संयोग-शृङ्गार सम्बन्धी पदों में लक्षण-लक्षणा प्रतीकात्मक अर्थों का द्योतन करती है। इन शृङ्गारिक पदों का वाच्यार्थ नितान्त लौकिक और भोगपरक है; परन्तु इनका लक्ष्यार्थ अलौकिक और अध्यात्म-परक है। वैसे भी मीरां के प्रियतम अलौकिक और देहातीत थे। उनके द्वारा ऐसी भोग-विलासपूर्ण केलि-क्रीड़ाएँ करना स्थूलतः सम्भव नहीं था, अतः इन पदों के लक्ष्यार्थ को ग्रहण करना आवश्यक है। निम्नोद्धृत पदों में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग कर लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने पर ही कवयित्री की अन्तःस्थ दिव्य-प्रणय-भावना को जाना जा सकता है—

"करके सिङ्गार पलंग पर वैठी, रोम रोम रस भीना।
चोली के मेरे बन्द तरक गये, श्याम भये परवीना।"[3]

"पचरङ्ग मेरा चोला रङ्ग दे, झुरमुट खेलन जाती।
झुरमुट में मेरा सांई मिलेगा, खोल अडम्वर गाती।"[4]

पहले पद में व्यक्त शृंगारिक भाव नितान्त स्थूल हैं; परन्तु इनका लक्ष्यार्थ है—प्रियतम (परमात्मा) से संयोग होने पर सी (आत्मा) के सभी लौकिक मर्यादा के बन्धनों का टूट जाना। इसी प्रकार दूसरे पद में झुरमुट में प्रियतम से मिलने का तथा उससे रस-केलि करने का लक्ष्यार्थ है—प्रेम-भक्ति के मार्ग में माया के आवरण से अनावृत होकर प्रियतम आराध्य का साक्षात्कार प्राप्त करना। इन लक्ष्यार्थों का ग्रहण वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् है, अतः यहां लक्षण-लक्षणा-शक्ति और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि अभिप्रेतार्थ को व्यक्त करती हैं। ऐसे ही निम्न पद में ईश्वरीय प्रेम के अलौकिक माधुर्य और उसके कभी न उतरने वाले चिरन्तन उन्मादक प्रभाव को लक्षण-लक्षणा के द्वारा लक्षित किया गया है—

---

1 मी. पदा., पद—28, 2 मी. पदा., पद—40।
3 मी. पदा., पद—३6३ 4 मी. पदा., पद—23 (पाठान्तर)

ग्रीर सखी मद पी पी माती, मैं बिन पिये मदमाती ।
प्रेम भटी को मैं मद पीयो, छकी फिरूँ दिनराती ।[1]

तथा —

पिया पियाला ग्रमर रस का, चढ़ गई घूमघुमाय ।
यों तो ग्रमल म्हारे कबहुँ न उतरे कोटि करी उपाय ।[2]

इसी प्रकार—

डारि गयो मनमोहन पासीं ।
ग्रांबा की डालि कोइल इक बोले, मेरो मरण ग्ररु जग केरी हांसी ।[3]

उक्त पद की प्रथम पंक्ति में साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा है। जिस प्रकार 'पाश' (रस्सी) मनुष्य को जकड़ कर बांध देता है, उसी प्रकार प्रेम भी मनुष्य को बांध देता है। दोनों ग्रर्थात् (प्रेम ग्रौर पाश) विषय ग्रौर विषयी एक सा कार्य करते हैं। दोनों में तत्कर्म्य सम्बन्ध होने, तथा विषयी का कथन होने के कारण ही यहां साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा ग्रभीष्ट ग्रर्थ को लक्षित करती है।

दूसरी पंक्ति में ग्रांबा की डाल पर कोयल के बोलने ग्रौर विरहिणी के मरण होने व जगत के हँसने की क्रियाएँ वाच्यार्थ का ग्रहण करने पर स्पष्ट नहीं हो पाती हैं तथा परस्पर ग्रसम्बद्ध व ग्रसंगत सी लगती हैं। यहां लक्ष्यार्थ का ग्रहण लक्षण-लक्षणा-शक्ति के प्रयोग से ही होता है। कोयल के कूकने पर विरहिणी का विरह ग्रौर भी उद्दीप्त हो जाता है। विरहोत्तेजन के कारण विरहिणी की दशा ग्रत्यन्त दयनीय हो जाती है। उसकी इस करुणोत्पादक दशा को देख जगत् के लोग उसके प्रेम की गहराई को न समझ कर उसका उपहास उड़ाने लगते हैं। सांसारिक व्यक्तियों का यह उपहास विरहिणी पर घातक प्रभाव डालता है ग्रौर वह मरणोन्मुखी हो जाती है। यह ग्रर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा ग्रलग है। ग्रतः यहां लक्षण-लक्षणा होने के कारण ग्रत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि द्वारा ग्रर्थ ध्वनित होता है। सारोपा-शुद्धा-लक्षणा के उदाहरण के लिए यह पद प्रस्तुत है —

रमैया बिन नींद न ग्रावै ।
नींद न ग्रावै विरह सतावै, प्रेम की ग्रांच ढुलावै ।
बिन पिया जोत मंदिर अंधियारो दीपक दाय न ग्रावै ।
पिया बिना मेरी सेज ग्रलूनी, जागत रैण बिहावै ।[4]

इसमें 'प्रेम' की ग्रांच में कार्य-कारण सम्बन्ध होने के कारण सारोपा-शुद्धा-लक्षणा है। जिस प्रकार ग्रग्नि में दाहकता होती है। उसी प्रकार विरह में भी दाहकता होती है। इसी दाहकता से ग्रभिप्रेरित होकर विरही व्याकुल हो इधर-उधर भटकता रहता है।

दूसरी पंक्ति में प्रिय पर ज्योति का ग्रारोपण किया गया है, ग्रतः यहां सारोपा-गौणी-लक्षणा है। तीसरी पंक्ति में 'ग्रलूनी' के वाच्यार्थ (लवणहीन) का

---

1 मी. वृ. पदा., पद—500 2 मी. पदा., पद—40
3 मी. पदा., पद—65 4 मी. पदा., पद-74 ।

बाध होने से इसका स्वादहीन आनन्दविहीन अर्थ ग्रहण करने पर पद का तात्पर्य द्योतित होता है, इस कारण 'अलूनी' में लक्षण-लक्षणा-शक्ति है।

(3) पूर्ण-पदगत-लक्षणा—

मीरां-पदावली में कई स्थानों पर पूरे पद में रूपक-योजना की गई है। यह रूपक-योजना कहीं सांग-रूपक के रूप में है, कहीं परम्परित रूपक के रूप में। इनका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। यहां कुछ ऐसे पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं जिनमें लक्षणा-शक्ति का विशेष चमत्कार दिखाई पड़ता है। इनमें सारोपा-शुद्धा-लक्षणा, साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा और उपादान-लक्षणा से सम्पन्न कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

क—सारोपा-शुद्धा लक्षणा—

'मीरां वृहत् पदावली' के 61 वें पद में सारोपा-शुद्धा-लक्षणा का प्रसार सम्पूर्ण पद में उपलब्ध होता है। इस पद में कवयित्री ने दिव्य आन्तरिक गुणों पर वाह्य आभूषणों का आरोपण किया है और उन दिव्य-गुण-रूपी आभूषणों को अपने अंग-प्रत्यंगों पर धारण किया है। जिस प्रकार कुंडल, कंकण, किंकिणी आदि अलंकार शरीर के वाह्य सौन्दर्य को द्विगुणित करते हैं, उसी प्रकार लज्जा, धैर्य, समता, विश्वास, दया, दान, प्रेम आदि दिव्य गुण आन्तरिक सौन्दर्य को वर्द्धित करते हैं—

ओढ़ूं लज्या चीर धीरज को घाघरो।
समता कांकण हाथ, सुरति को मूंदड़ी।
अंगिया है विसवास, चूड़ो चित ऊजलो।
दुलड़ी दिल दरियाव, सांच को दोवड़ो।
दातां इम्रत मेख, दया को बोलवो।
ऊवटणो गुर ग्यांन, ध्यांन को धोइवो।
नकवेसर हरि नांव, काजलि म्हारे धरम को।
विंदलो जग उजियार, तिलक ततसार को।
ग्यांन अंगूठी कान, जुगति का झूंठणा।
जेलड सील संतोप, निरति का घूघरा।
पटली ब्रह्म ज्ञान, हरी वर राखड़ी।
पहरि सुहागण नार, झरोखे आ खड़ी।

उक्त पद में आभूपण और आभूपित व्यक्ति में आधेय-आधार सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा-लक्षणा है और दिव्य गुणों पर आभूपणों का आरोप होने से सारोपा-लक्षणा भी है। अतः उक्त पद को सारोपा-शुद्धा-लक्षणा का उदाहरण माना जा सकता है। इस पद के अतिरिक्त 'मीरां वृहत् पदावली' के ही 298, 299, 434 तथा 499 में पदों भी सम्पूर्ण पदगत सारोपा-लक्षणा उपलब्ध होती है।

ख—साध्यावसाना-शुद्धा-लक्षणा—

मीरां-पदावली के निम्नांकित पद में साध्यावसाना-शुद्धा-लक्षणा का चमत्कार देखा जा सकता है—

मण थे परस हरि रे चरण।

+ + + +

इण चरण प्रहलाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण ।
इण चरण ध्रुव अटल करस्यां, सरण असरण सरण ।
इण चरण ब्रह्माण्ड भेट्यां, नख सिखा सिरी भरण ।
इण चरण कलियां नाथ्यां, गोपीलीला करण ।
इण चरण गोवरधन धार्यां, गरब मघवा हरण ।[1]

प्रथम पंक्ति में 'परस' का अर्थ 'स्पर्श' न होकर 'उन्मुख होना' है । कवयित्री ने मन को उद्‌बोधित करने के विशेष प्रयोजन से इस लक्षक-शब्द का प्रयोग किया है । अगली पंक्तियों में 'हरि के चरणों को संकेतित करते हुए हरि की विविध भक्त-हितकारी लीलाओं के वर्णन के माध्यम से उनकी शरणागत-वत्सलता और सर्वसमर्थता को लक्षित किया है । उक्त पद में 'चरण' से तात्पर्य अंग विशेष से नहीं अपितु अंगीरूप 'हरि' से है । अंगांगी सम्बन्ध होने के कारण यहां साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा है ।

ग—उपादान-लक्षणा—

अब तो निभायां सरैगी बांह गह्यां री लाज ।[2]

इस पद में 'बांह गह्यां री लाज' लाक्षणिक प्रयोग है । बांह गहना का सामान्य अर्थ बांह पकड़ना है, परन्तु इसका 'परिणय' के विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है । यह लक्ष्यार्थ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य-ध्वनि द्वारा लक्षित होता है, मूल वाच्यार्थ ने भी अपना अर्थ नहीं त्यागा है, अतः यहां उपादान-लक्षणा द्वारा अभिप्रेतार्थ लक्षित होता है ।

मीरां के पदों में प्राप्त लक्षणा-शक्ति-समन्वित स्थलों के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उनके पदों में प्रयुक्त लाक्षणिक-शब्द सौन्दर्ययुक्त और प्रभावोत्पादक हैं । यह कहना कि मीरां के काव्य में लक्षणा-शक्ति का स्थान नगण्य है, सर्वथा असंगत और अतिरंजित है । मीरां के पदों में उन स्थलों पर, जहां वे अपनी प्रेमभावना और ईश-आराधना की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति करती हैं, लक्षणा-शक्ति का सौन्दर्य सहज ही देखा जा सकता है । यह बात पृथक् है कि उनमें लक्षणा के सभी सूक्ष्म भेदोपभेद प्रचुर मात्रा में नहीं है, परन्तु लक्षणा-शक्ति का यथोचित प्रयोग उन्होंने अवश्य किया था, जिससे उनके काव्य की रहस्यात्मकता में वृद्धि हुई है और उनका काव्य अलौकिक रसमयता से परिपूर्ण हो गया है । कवयित्री की गहन प्रेमानुभूतियों को व्यक्त करने में लक्षणा-शक्ति का महत्त्वपूर्ण योग है तथा इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

ग व्यञ्जना-शक्ति—

मीरां का काव्य मूलतः अनुभूतिप्रधान है, अतः उसमें अन्य शब्द-शक्तियों की तुलना में व्यञ्जना का स्वर अधिकाधिक मुखरित हुआ है । मीरां के काव्य का मूलस्वर 'मधुरा-भक्ति' है जो सर्वत्र व्यंग्य ही है । अलौकिक माधुर्य भाव की जैसी सहज-स्वाभाविक, निश्छल और मर्मस्पर्शी व्यञ्जना मीरां ने की है, वैसी अन्यत्र सहज-सुलभ नहीं होती ।

---

1 मी. पदा., पद. 1 2 मी. पदा., पद-62

वस्तुत: मीरां के काव्य को चिर-नूतन सौन्दर्य से मण्डित करने तथा उसे काल के निर्मम थपेड़ों से बचाये रखने की सामर्थ्य प्रदान करने वाली यही शक्ति है।

यों तो व्यञ्जना-शक्ति के सभी प्रकार मीरां के काव्य में उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन प्रकारों में भी प्रधानता भाव-व्यञ्जना की है। 'व्यञ्जना' और 'ध्वनि' एक ही वस्तु होने के कारण व्यञ्जना के प्रकारों में ध्वनि के भी प्रकारों को अन्तर्लीन कर लेना युक्तिसंगत होगा।

आगामी पृष्ठों में मीरां के काव्य में निहित विविध व्यञ्जना-प्रकारों का विवेचन किया गया है—

(1) अभिधामूला-शाब्दी—व्यञ्जना (विवक्षित वाच्य-ध्वनि)

मीरां का काव्य व्यंग्यार्थ प्रधान होते हुए भी सहज बोधगम्य है, इसका मूल कारण उनके काव्य में निहित अभिधामूला-शाब्दी-व्यञ्जना है। अभिधामूला-व्यञ्जना द्वारा व्यञ्जित अर्थ 'विवक्षित वाच्य-ध्वनि' कहलाता है। मीरां के काव्य की यह प्रधान विशेषता है कि उसमें व्यंग्यार्थ के साथ-साथ वाच्यार्थ की भी विवक्षा बनी हुई है; परन्तु इन दोनों अर्थों की प्रतीति इतनी त्वरित गति से होती है, कि इनका पूर्वापर-क्रम लक्षित नहीं हो पाता। मीरां का काव्य भाव-व्यञ्जना प्रधान होने के कारण उनके अधिकांश पदों में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि और उसमें भी भावादि-ध्वनि का चारु चमत्कार स्पष्ट परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ कुछेक पद प्रस्तुत हैं—

> आओ सहेल्यां रली करांहे, पर घर गवन निवार।
> झूठा माणिक मोतिया री, झूठी जगमग जोति।
> झूठा आभूषण री, सांची पियाजी री पोति।
> झूठा पाट पटंबरा रे, झूठा दिखणी-चीर।
> सांची पियाजी री गूदड़ी, जामैं निरमल रहै सरीर।
> छप्पन भोग बुहाइ दे है, इन भोगनि में दाग।
> लूण अलूणो ही भलो है, अपणे पियाजी को साग।
> देखि विराणे निवांण कूं है, क्यूं उपजावै खीज।
> कालर अपणो ही भलो है, जामें निपजै चीज।
> छैल विराणो लाख को है, अपणे काज न होइ।
> ताके संग सिधारतां है, भला न कहसी कोइ।
> वर हीणों अपणों भलो है, कोढ़ी कुष्टी कोइ।
> जाके संग सीधारतां है, भला कहै सब कोइ।
> अविनासी सूं वालवां है, जिनसूं सांची प्रीत।
> मीरां कूं प्रभु मिल्या है, ऐसी भगति की रीत।[1]

उक्त पद में कवयित्री अपनी सखियों को 'आनन्द केलि' का रहस्य समझाते हुए उन्हें एकनिष्ठता व अनन्यता की सीख दे रही है। यह व्यंग्यार्थ पूरे पद से

---

1 मी. पदा., पद—26।

ध्वनित हो रहा है। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति साथ-साथ होने के कारण इनका पूर्वापरक्रम लक्ष्य नहीं हो पा रहा है। व्यंग्यार्थ की रमणीयता को वर्धित करते हुए वाच्यार्थ की भी विवक्षा बनी हुई है। अतः यहां अभिधामूला-व्यञ्जना और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि का सुष्ठु प्रयोग देखा जा सकता है।

मीरां के कई पदों में अभिधात्मक या वाचक शब्दों के योग से अतीव सुन्दर भावों की व्यञ्जना हुई है। इन शब्दों ने पद की व्यञ्जकता में अपूर्व वृद्धि की है। उदाहरणार्थ एक पद प्रस्तुत है, जिसमें दधि के स्थान पर कृष्ण का ही विक्रय करने वाली गोपिका की आत्म-विस्मृत, तन्मय भावावस्था की सुन्दर व्यञ्जना हुई है—

कोई स्याम मनोहर ल्योरी सिर धरै मटकिया डोलै।
दधि को नाम बिसर गयो ग्वालिन 'हरि ल्यो, हरिल्यो' बोलै।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर चेरी भई विण मोले।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिन औरहि औरे बोलै।[1]

अभिधामूला-ध्वनि या व्यञ्जना के, मीरां में, तीनों रूप मिलते हैं—

(अ) भाव-व्यञ्जना,
(आ) वस्तु-व्यञ्जना,
(इ) अलङ्कार-व्यञ्जना।

(अ) भाव-व्यञ्जना—

मीरां के विरह गीतों में उनके आकुल अन्तर की असीम वेदना और उत्तप्त मन की मर्मान्तक पीड़ा समाई हुई है। उनकी पीड़ा को साकार रूप देने और उसे सर्वसंवेद्य बनाने वाली शक्ति अभिधामूला-भाव व्यञ्जना ही है जो असंलक्ष्य है—

सखी म्हारी नींद नसाणी हो।
पिय रो पंथ निहारतां सब रैण बिहाणी हो।
सखियन सब मिल सीख दई मन ऐसी ठानी हो।
बिन देख्यां कल ना पडां मन रोस णा ठानी हो।
अंग खीण व्याकुल भया मुख पिय पिय वानी हो।
अन्तर वेदन विरह री म्हारी पीड़ न जाणी हो।
ज्यूं चातक घण कूं रटै मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीरां व्याकुल विरहणी, सुध-बुध बिसराणी हो।[2]

प्रियतम की पाषाणी उपेक्षा और प्रेयसि की विरह-कातरता को साकार करने वाला यह पद भाव-ध्वनि से ओत-प्रोत है। ऐसे ही एक अन्य पद में अपना विरह-निवेदन करने के पश्चात् विरहिणी उसे दूर करने के लिये प्रियतम से आग्रह-पूर्वक प्रार्थना करती है। विरहिणी की मर्म-व्यथा एवं उसकी हार्दिक अभिलाषा को व्यञ्जित करने वाला निम्नांकित पद भी व्यञ्जना-शक्ति द्वारा संपुष्ट है—

---

1 मी. पदा., पद—178।
2 मी. पदा., पद—87।

भुवणपति थे घरि आज्यां जी।
बिथा लगां तण जारां जीवण, तपता बिरह बुझाज्यां जी।
रोवत-रोवत डोलतां सब रैण बिहावां जी।
भूख गयां निदरा गयां पापी जीव णा जावां जी।
दुखिया णा सुखिया करो, म्हाणे दरसण दीज्यां जी।
मीरां व्याकुल बिरहिणी अब बिलम णा कीज्यां जी।[1]

मीरां के पदों में प्रेम के साथ ही दीनता के भावों का भी अद्वितीय सामञ्जस्य हुआ है। दीनता और विरह के भावों का मिला-जुला रूप व्यञ्जित करने वाला एक पद प्रस्तुत है—

सजण सुध ज्यूं जाणे त्यूं लीजे हो।
तुम बिन मोरे अवर न कोई, क्रिपा रावरी कीजे हो।
दिन नहिं भूख रैन नहिं निदरा, यूं तण पल पल छीजे हो।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, मिल बिछड़न मत कीजे हो।

मीरां के काव्य का रूप मुख्यतः अनुभूति-परक होने के कारण उनके प्रायः सभी पद किसी न किसी भाव को व्यंजित करते हैं। अतः उन सभी पदों को उद्धृत करना न तो संभव है और न आवश्यक ही। अतएव इतने उदाहरण ही पर्याप्त हैं, जो उनके रसात्मक सम्बन्धों और विरह के भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं।

मीरां के काव्य में निहित असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि में रसादि-ध्वनि की प्रधानता न होकर भावादि-ध्वनि की प्रधानता मानना उचित है। वैसे, उनके काव्य में ये दोनों तत्त्व ऐसे घुल-मिल गये हैं कि इन्हें पृथक् करना संभव नहीं है। रसादि-ध्वनि लौकिक प्रेम-सम्बन्धों के विविध रूपों को और भावावस्थाओं को व्यंजित करती है, जबकि भावादि-ध्वनि देवादिविषयक रति को ध्वनित करती है।[2] मीरां के आराध्य या प्रियतम अलौकिक थे अतएव उनके काव्य में भावादि-ध्वनि मानी जा सकती है, परन्तु साथ ही अलौकिक प्रियतम के साथ मीरां ने दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, अतः उनके काव्य में निहित व्यंजना रसादि-ध्वनि भी कही जा सकती है। वस्तुतः इन दोनों—अर्थात् आराध्य की अलौकिकता और उसके साथ प्रेम-सम्बन्ध की लौकिकता के अपूर्व मेल ने मीरां के काव्य को एक विलक्षण चमत्कृति और दीप्ति से आलोकित कर दिया है। उनके पदों में रस का जो अजस्र स्रोत निहित है, वह वास्तव में व्यंजना-शक्ति से ही प्रसूत हुआ है। अतः उनके काव्य में भावादि-ध्वनि और रसादि-ध्वनि की सरस अभिव्यक्ति मिलना स्वाभाविक ही है।

आ—वस्तु-व्यजना—

अभिधामूला-व्यञ्जना या ध्वनि के दो भेद हैं—

1—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि,
2—संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि

---

1 मी. पदा., पद—96।

2 काव्यप्रकाश : चतुर्थ उल्लास : कारिका—35, सूत्र—48.

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत रसादि-ध्वनि व भावादि-ध्वनि आती हैं तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि आती हैं। मीरां में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि का प्राधान्य तो है ही परन्तु संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है।

उदाहरण के लिये 'वस्तु-ध्वनि' से व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाला निम्न पद प्रस्तुत है—

रमइया मेरे तो ही सूं लायी नेह।
लगी प्रीत जिन तोड़ै रे वाला, अधिक कीजै नेह।

+ + + + + +

प्रीत करै ते वावला रे, करि तोड़े ते कूर।
प्रीत निभावण दल के षंभण, ते कोइ विरला सूर।
तुम गजगीरी को चूंतरो रे, हम वालू की भीत।
अव तो म्यां कैसे वणे रे, पूरव जणम की प्रीत।
एकै थागे रोपिया रे, इक आंवो इक वूल।
वाको रस नीको लगै रे, वाको लागे सूल।
ज्यूं डूंगर का वाहला रे, यूं ओछा तणा संनेह।
वहता वहे जी उतावला रे, वे तो अटक वतावै छेह।

इसमें कवयित्री अपने प्रियतम से पूर्व स्थापित प्रेम-सम्वन्ध को वनाए रखने की प्रार्थना करती है, इसके साथ ही वे अनेकों उदाहरण देती जाती हैं कि प्रेम करने वाला पागल होता है, परन्तु करके तोड़ देने वाला क्रूर होता है। प्रीत निभाना तो शूरवीरों का काम है। और ऐसा शूर-वीर कोई विरला ही होता है। इस वाच्यार्थ द्वारा यह वस्तु-व्यञ्जना ध्वनित होती है कि आप शूर-वीर हैं, सहृदय हैं, अतः आपको प्रेम-सम्वन्ध दृढ़ता पूर्वक निभाना चाहिए।

दूसरे पद्यांश में उन्हें (प्रियतम को) गजगीरी का चवूतरा और स्वयं को वालू की भीत वताती हुई मीरां कहती हैं कि अव तुम्हारी पूर्व जन्म की प्रीत कैसे वने। यहां कवयित्री यह अर्थ व्यञ्जित करना चाहती हैं कि तुम (आराध्य) तो सुदृढ़ और स्थायी हो और मैं कमजोर और अस्थायी हूं। अतः हमारी तुम्हारी प्रीत तभी निभ सकती है जव तुम निभाना चाहो। इस व्यंग्यार्थ से यह अपर व्यंग्यार्थ भी व्यञ्जित होता है कि प्रियतम अविनाशी और शाश्वत है और प्रेयसि क्षण-भंगुर तथा अनित्य है। वह (प्रेयसि) जीव है उसे वारम्वार शरीर धारण करना और त्यागना पड़ता है, अतः उसकी (प्रेयसि की) प्रीत तो अस्थाई हो सकती है परन्तु प्रियतम के अनश्वर होने से उसे तो अपना प्रीति-सम्वन्ध निभाने के लिये दृढ़ होना चाहिये।

तीसरे पद्यांश में मीरां एक ही स्थान में लगे दो वृक्षों का उदाहरण देती हुई कहती हैं कि एक ही स्थान पर लगे आम और ववूल वड़े होने पर अपने पृथक्-पृथक् स्वभाव के अनुसार सुमधुर फल और तीक्ष्ण शूल देते हैं। इस वाच्यार्थ से यह वस्तु-ध्वनि निकलती है कि आप (प्रियतम) सुमधुर फल देने वाले आम्र-वृक्ष हैं, अतः मन को आनन्द देने वाला कार्य (प्रीति निभाने का) कीजिए।

तीसरे पद्यांश में ओछे व्यक्तियों की प्रीति की तुलना बरसाती पहाड़ी झरने से करती हुई कवयित्री कहती हैं कि इन दोनों का स्वभाव एक जैसा होता है—प्रारम्भ में वेग से बहना परन्तु कालान्तर में समाप्त हो जाना है। इस उदाहरण द्वारा कवयित्री यह व्यंजित करना चाहती है कि आपका स्नेह ऐसा उद्दाम प्रवाही नहीं होना चाहिये, आप महान व्यक्ति हैं अतः आपका प्रेम भी निरन्तर प्रवाहित होने वाला और गम्भीरता-युक्त होना चाहिये अर्थात् छिछलापन आपको शोभा नहीं देता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त पद में भाव-व्यंजना नहीं, अपितु वस्तु-व्यंजना है साथ ही तीसरे पद्यांश में उदाहरण अलंकार का प्रयोग होने से अलंकार-व्यंजना भी लक्षित होती है, अतएव पूरे पद में संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि है, क्योंकि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने में जो पूर्वापर क्रम है उसे सरलता पूर्वक लक्ष्य किया जा सकता है।

**इ—अलंकार-व्यंजना –**

मीरां के काव्य में भाव-व्यंजना की तुलना में वस्तु-व्यंजना अत्यल्प है। अलंकारों का संयोजन मीरां के काव्य में आग्रहपूर्वक नहीं किया गया है। फिर भी जो अलंकार स्वाभाविक रूप से स्वतः ही प्रयुक्त हो गये हैं वे उनकी भाव-व्यंजना के सहज सौन्दर्य को और भी दीप्ति प्रदान करते हैं। अतः उनके काव्य में अलंकार-व्यंजना पर पृथक् से विचार करना यहां उचित नहीं है। (अलंकार-योजना अध्याय के अन्तर्गत ही उनकी विवेचना की जाएगी।)

**2 लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना** (अविवक्षित वाच्य-ध्वनि)

लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना की अवस्थिति लाक्षणिक शब्दों के विशिष्ट अर्थों में होती है, जहां वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है। जहां वाच्यार्थ अविवक्षित होने पर अपने से सम्बद्ध अन्य अर्थ में परिवर्तित हो जाता है, वहां अर्थान्तर संक्रमित वाच्य-ध्वनि होती है और जब वाच्यार्थ अपने से सर्वथा पृथक् किसी अन्य अर्थ को लक्षित करने लगता है, तब वहां अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि होती है।

मीरां के काव्य में यद्यपि लक्षणा का विस्तार अपेक्षाकृत कम ही है, तथापि जहां-जहां उन्होंने लाक्षणिक प्रयोग किये हैं, वहां-वहां लक्षणामूला-व्यंजना का चमत्कार देखा जा सकता है। पिछले पृष्ठों में लक्षणा-शक्ति के अन्तर्गत जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणामूला-व्यंजना भी है। यहां कुछेक ऐसे पद दिये जा रहे हैं, जिनमें अविवक्षित वाच्य-ध्वनि ने पद के अर्थ को विशेष सौन्दर्य से युक्त किया है—

तुम बिन स्याम सुनै कौन मेरी।
ठाढ़ी सेवगी अरज करत है, मलवा ने नाव पछिम को फेरी।
नदिया गहरी नाव पुराणी, अध पर बीच भंवर ने घेरी।
बांदी है प्रभु पार लगाओ डूब जाय तो कहा रहै तेरी।[1]

नेहा समद बिच नाव लगी है, पाल न लगत बही जात अकेली।
लाज की लंगर छूट गयो है बही जात त्रिन दाम की चेरी।

1 मी. वृ. पदा., पद. 197।

मलहन कर से छांड दई है, आस बड़ी गोपाल ज्यों तेरी।
अब के पार लगावो नांतर, लोग हंसेंगे बजा के हतैरी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, मेरी सुध लीज्यो प्रभु आन सवैरी।"[1]

उपर्युक्त दोनों पदों में एक सी रूपक-योजना की गई है। पहले पद में गूढ़ व्यंग्या-साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा है। दूसरे पद की प्रथम दो पंक्तियों में सारोपा-लक्षणा है और तृतीय पंक्ति के पूर्वार्द्ध में साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षणा है। शेष पद में गूढ़-अगूढ़ व्यंग्या-लक्षणा है। इसका प्रथम अर्थ या वाच्यार्थ मल्लाह व नावपरक है और दूसरा ईश्वर और जीवपरक है, जो अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि द्वारा व्यंजित होता है। संसार-सागर में साधक की जीवन-नौका निराधार बही चली जा रही है जिसे सही दिशा में मोड़ने तथा लक्ष्य तक पहुंचने में केवल वही (ईश्वर) समर्थ है। अतः उसी से प्रार्थना की गई है कि वह अपनी कृपा का दान कर जीव को उसके वास्तविक लक्ष्य (ईश्वर-भक्ति, मोक्ष) की ओर उन्मुख कर दे।

यह दूसरा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय और अर्थपूर्ण है। अतः यहां लक्षणामूला शाब्दी-व्यञ्जना-शक्ति का चमत्कार देखा जा सकता है। निम्नोक्त पद में अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्यध्वनि लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराती है—

कित गयो पंछी बोलतो।
कची मटी दा महल चुणाया, गोखां ही गोखां डोलतो।
गुरु गोविन्द को कह्यो न मान्यों, एंडो ही ऐंडो डोलतो।
एंठी रे टेढ़ी पाग झुकातो, छाया निरखतो चालतो।[2]

इस पद में 'पंछी' और 'कची मटी दा महल' पद द्वयर्थक हैं। पंछी का सामान्य अर्थ पक्षी है, परन्तु यहां उसका लक्ष्यार्थ आत्मा है। 'कची मटी दा महल' पंचभौतिक पार्थिव शरीरपरक अर्थ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि द्वारा व्यञ्जित होता है, वह बहुत ही चमत्कारपूर्ण है। मनुष्य मृत्यु होने पर इस शरीर को त्याग देता है। यह त्यक्त शरीर वही है जिस पर वह मनुष्य गर्व करता था तथा अपने घमंड और अहंकार के दर्प में वह किसी की नहीं सुनता था, अपनी अकड़ में ही रहता था, कभी हरि-स्मरण नहीं करता था, परन्तु मरणोपरान्त उसकी वह देह यों ही पड़ी रह गई और वह स्वयं उसे छोड़ गया।

इस पद द्वारा मीरां यह व्यञ्जित करना चाहती हैं कि मनुष्य को अपने जीवन-काल में तन और धन का घमंड न कर हरिभक्ति की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। इस पद में लक्षणामूला-व्यञ्जना इस अपर अभीष्ट अर्थ को ध्वनित कर रही है। ऐसे ही निम्न पद में भी लक्षणामूला-व्यञ्जना-शक्ति द्वारा पद का व्यंग्यार्थ व्यञ्जित होता है। इस पद में अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्यध्वनि द्वारा ध्वनित व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारिक और सौन्दर्यमय है—

माई री म्हा लियां गोविन्दा मोल।
थे कह्या छाणे म्हां कां चोड्डे लियां बजन्ता ढोल।
थे कह्या मुंहोघो म्हां कह्यां सस्तो, लिया री तराजां तोल।

---

1 मी. वृ. पदा., पद. 263। 2 मी. वृ. पदा., पद-96।

तण वारां म्हां जीवण वारां, वारां अमोलक मोल।
मीरां कूं प्रभु दरसण दीज्यां, पूरव जनम को कोल।[1]

इस पद की पहली पंक्ति में 'गोविन्दां' शब्द के प्रयोग के कारण पंक्ति के मुख्यार्थ की प्रतीति में बाधा पड़ती है। 'गोविन्द' (साक्षात् परमब्रह्म परमेश्वर) मोल लेने की वस्तु नहीं है। उन्हें न तो खरीदा जा सकता है न बेचा जा सकता है। यहां मीरां का आशय गोविन्द की भक्ति से है। उन्होंने अनन्य अनुरक्ति के बल पर गोविन्द को वश में कर लिया था। इसके लिए उन्होंने अपना सर्वस्व (तन-मन-धन-जीवन) अर्पण कर दिया था। इसी भावार्थ को उन्होंने उक्त पंक्ति में प्रकट किया है। शेप पद उसी मोल-भाव की तथा क्रय की हुई वस्तु की उत्कृष्टता की व्याख्या करता है।

पूरे पद में वक्तृ-वैशिष्ट्यजन्य तथा वाच्य-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना की चमत्कारिक शोभा परिलक्षित है।

मीरां के निर्गुण साधनापरक पदों का अर्थ प्रायः व्यञ्जना-शक्ति द्वारा व्यञ्जित होता है। इसमें कहीं अभिधामूला-व्यञ्जना कार्य करती है और कहीं लक्षणामूला-व्यञ्जना। उदाहरणार्थ निम्न पद द्रष्टव्य है, जिसमें दोनों ही प्रकार की व्यञ्जना अर्थ का ध्वनन करती हैं—

लगी मोहि राम खुमारी हो।
रिमझिम बरसे मेहड़ा भीजैं तन भारी हो।
चहुंदिस चमके दामड़ी, गरजैं घन सारी हो।
सतगुर भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो।
सब घट दीसै आतमा, सबहीं सूं न्यारी हो।
दीपक जोऊं ज्ञान का चढ़ूं अगम अटारी हो।
मीरां दासी राम की, इमरित बलिहारी हो।[2]

यहां 'मेहड़ा', 'दामणी', 'घट', 'दीपक', 'अगम अटारी' आदि पद द्वयर्थक हैं। मेहड़ा का सामान्य अर्थ वर्षा है; परन्तु यहां यह केवल वर्षा नहीं अपितु अनुराग की वर्षा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'घट' का वाच्यार्थ घड़ा होता है; परन्तु यहां इसका अर्थ 'मानवशरीर' है। 'दीपक' अन्धकार को प्रकाशित करने वाला उपकरण है, यहां ज्ञान को दीपक पर आरोपित किया गया है क्योंकि यह भी अज्ञानावस्था का विनाशक है। इसी प्रकार 'अगम अटारी' का सामान्यार्थ वह ऊँचा कक्ष है जहां चढ़ना असम्भव हो, यहां इसका तात्पर्यार्थ 'ईश्वर-प्राप्ति' है।

यह सम्पूर्ण पद ही द्वयर्थक है, परन्तु वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक रमणीय और चमत्कारिक है। इस पद में उपरि विवेचित शब्दों में अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि और शेप पद में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि विद्यमान है। दोनों प्रकार की ध्वनियों के सम्मिलित योग से व्यंग्यार्थ की सुन्दरता में अत्यधिक निखार आ गया है।

---

1 मी. पदा., पद-22
2 मी. पदा. (परिशिष्ट—ग), पद—14।

प्रतीकात्मक शब्दों के अर्थ का ध्वनन करने वाली यही लक्षणामूला-व्यंजना होती है। मीरां ने कुछ पदों में सर्वथा नवीन प्रतीकों का प्रयोग किया है, जिनके अर्थ की प्रतीति अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि एवं अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि के सम्मिलित योग से होती है। निम्नोक्त पद में लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना के साथ ही लक्ष्यसंभवा आर्थी-व्यंजना को भी देखा जा सकता है—

बड़े घर तालो लागां री, पुरबला-पुन्न जगावां री।
झीलर्‌या की कामणा म्हारो डाबरां कुण जावां री।
गंगा जमणा कामणा म्हारे म्हा जावां दरियावां री।
हेल्या-मेल्या काम णा म्हारे, पेठ्या मिल सरदारां री।
कामदारां सूं काम णा म्हारे, जावां म्हां दरबारां री।
काथ-कथीर सूं काम णा म्हारे, चढ्स्यां घण री सार्‌यां री।
सोना-रूपा सूं काम णा म्हारे, म्हारे हीरां रो बौपारां री।
भाग हमारो जाग्यां रे, रतणाकर म्हारी सीरचां री।
अम्रत प्यालो छाड्यां रे, कुण पीवां कड़वा नीरा री।"[1]

यह सम्पूर्ण प्रतीकात्मक पद गूढ़-व्यंग्यार्थ-व्यंजक है। झीलर्‌या (सामान्य अर्थ—छिछला गड्ढ़ा-तलैया), डाबरां (पोखरी), गंगा-जमणा (नदियाँ), और दरिया—(समुद्र) आदि शब्दों के वाच्यार्थ इस पद में निहित गूढ़ अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ हैं। इन छोटे-बड़े जलाशयों को मीरां ने विविध देवों की उपासना के प्रतीकार्थ में प्रयुक्त किया है। यथा 'झीलर्‌या' ग्राम-देवता का, 'डाबरां कुल-देवता का', 'गंगा-जमणा' विविध अवतारों का और 'दरिया' पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का प्रतीक है। इन प्रतीकार्थों को ग्रहण करने पर यह व्यंजित होता है कि मीरां बहुदेवोपासना की नहीं, अपितु एकदेवोपासना की पक्षधर थीं और अपने इसी विचार को उन्होंने इस पद में अभिव्यक्त किया है।

'हेल्या-मेल्या' का वाच्यार्थ सामान्य श्रमजीवी प्राणी है, तथा 'सरदार' का वाच्यार्थ (उन श्रमिकों का) नायक है। इसी प्रकार 'कामदारां' का वाच्यार्थ 'सामान्य-प्रशासन-अधिकारी' है और 'दरबारां' का मुख्यार्थ-प्रशासन का सर्वोच्च-अधिकारी' है। मीरां के इन वाच्यार्थों को ग्रहण करने से यह अर्थध्वनित होता है जिसका सम्पर्क राज-प्रमुख और जन-नायक से हो उसे छोटे-मोटे अधिकारियों या श्रमिकों से मेल-जोल बढ़ाने की क्या आवश्यकता है? इस वाच्यार्थ से यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि जिसने सर्वसमर्थ परमेश्वर से सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो, उसे अपर सिद्धिदायक देवताओं की उपासना करने की आवश्यकता नहीं है। अपर देवों के अनुग्रह को जहां मीरां ने 'काथ-कथीर' की भांति अल्प आघात मात्र से विनष्ट हो जाने वाला तथा अस्थायी माना है, वहां पूर्ण पुरुष, परमब्रह्म परमेश्वर के अनुग्रह को लोहे घन की भांति दृढ़, अविनश्वर और स्थायी माना है। सकाम-भक्ति को कवयित्री ने 'सोना-रूपा' के व्यापार के रूप में निरूपित किया है और निष्काम-भक्ति को 'हीरों के व्यापार' से तुलित कर, सकाम-भक्ति से उसकी (निष्काम

1 मी. पदा., पद—24।

भक्ति की) श्रेष्ठता व उत्कृष्टता को प्रमाणित किया है, साथ ही ईश्वर के अनन्य प्रेम को 'रत्नाकर' के सदृश अक्षय और अगाध माना है।

हरि-भक्ति को अमृत की तरह मधुरतम बताते हुए उन्होंने सांसारिक वैभवों और भोग-विलास को कड़वे जल की भांति क्षारयुक्त और दुष्पेय माना है। हरि-कृपा जहां जीवन को शान्त, संतोपमय और विशुद्ध बनाती हैं, वहां सांसारिक सुख-सुविधाएं और वैभव जीवन में अशान्ति, अस्थिरता और चिंता आदि उत्पन्न करते हैं। प्रारम्भ में सुखदायक लगने वाले भौतिक साधन कालान्तर में दुखदायी और नीरस लगने लगते हैं।

उपरिवर्णित व्यंग्यार्थों को ग्रहण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पद कवयित्री की एकनिष्ठ भक्ति भावना एवं गूढ़ प्रेम की व्यञ्जना करता है, अतः यह सम्पूर्ण पद विचारोत्तेजक तथा चमत्कारपूर्ण है। इस पद का समस्त सौन्दर्य व्यंग्यार्थ में ही निहित है, अतः यहां वाच्यवैशिष्ट्यजन्य गूढ़-व्यंग्य-संभवा-व्यञ्जना का व्यापार मानना ही उचित और न्यायसंगत होगा।

**आर्थी-व्यजना—**

अभिधामूला-व्यञ्जना और लक्षणामूला शाब्दी-व्यञ्जना के अतिरिक्त आर्थी-व्यञ्जना का भी सुरुचिपूर्ण सन्निवेश मीरां के काव्य में उपलब्ध होता है। यदि यह कहें कि मीरां-पदावली में शाब्दी-व्यञ्जना की अपेक्षा आर्थी-व्यञ्जना ही अधिक चमत्कारपूर्ण, प्रभावोत्पादक और रमणीय है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यों तो मीरां के काव्य में आर्थी व्यञ्जना के अनेक भेदोपभेद मिलते हैं, परन्तु वक्तृवैशिष्टयजन्य वाच्यसंभवा एवं व्यंग्यसम्भवा-व्यञ्जना का प्रयोग अधिकतर मिलता है। आगामी पृष्ठों में मीरां के काव्य में निहित आर्थी-व्यञ्जना के कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

**(1) वक्तृवैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यंजना—**

जैसाकि पूर्वकथित हे, वक्ता की उक्ति की विशेषता या वैचित्र्य से जहां व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वहां वक्तृवैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना का चमत्कार देखा जा सकता है। मीरां के पदों में निहित मर्मस्पर्शी वेदना और करुणा भाव को सर्वसंवेद्य और सतीव्र बनाने में वक्तृ-वैशिष्ट्यजन्य व्यञ्जना का अपूर्व योग हैं। मीरां द्वारा रचित सुप्रसिद्ध पद—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई[1]' में पद की सम्पूर्ण अर्थवत्ता एवं कलात्मकता 'तो' शब्द में सिमट गई हैं। कवयित्री का आशय, 'सानुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्यविसर्जनम्' तथा 'अन्याभिलापिता शून्यं' इस एक पंक्ति द्वारा ही दृढ़तापूर्वक व्यञ्जित हो रहा है। ऐसे ही निम्न पद में कवयित्री के हृदय की सम्पूर्ण व्यथा 'हरिहूं न' दद में साकारतः व्यञ्जित हो रही है—"माई म्हारी हरि हूं न बूझी बात।"[2] यह पंक्ति गूढ़ार्थ व्यञ्जक है। जिसके लिये लोकापवाद और प्रताड़णाएं सहीं; वही जब उपेक्षा करने लगा, तब प्रेमिका की सहिष्णुता का बांध टूट गया। वह सर्वथा निराश हो गई, उसे अपनी भौतिक

1 मी. वृ. पदा., पद—443।

2 मी. पदा., पद—66।

देह भी भारस्वरूप लगने लगी और जीवन निस्सार और व्यर्थ लगने लगा। प्रेमिका की अनन्य निष्ठा और करुणा को तथा प्रियतम की पाषाणी उपेक्षा के भाव को व्यञ्जित करने वाले उक्त पद में भी वाच्यसंभवा आर्थी व्यञ्जना की मार्मिकता स्पष्ट परिलक्षित है।

ऐसे ही निम्नांकित पद में अपने प्रेम की अनिर्वचनीय पीड़ा को उन्होंने 'घायल की गति' के द्वारा व्यञ्जित किया है—

> घायल री गत घायल जाण्यां, हिवड़ा अगण संजोय
> जौहर की गत जौहरि जाणे, क्या जाण्या जिण खोय।[1]

विरह-व्यथा को घायल की अवस्था से और प्रिय के खो जाने अर्थात् अनुपलब्ध रहने को उन्होंने अनमोल जवाहरात के खो जाने से उत्पन्न दुःख के द्वारा व्यञ्जित किया है। यहां भी वाच्यसंभवा वक्तृवैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना अर्थ अर्थ को ध्वनित कर रही है।

लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् प्रवासी प्रियतम के लौटने पर आगतपतिका को जो हार्दिक उल्लास, तथा प्रफुल्लता प्राप्त होती है, उसकी व्यञ्जना मीरां ने निम्नांकित पद में की है—

> म्हारा ओलगिया घर आज्योजी।
> तण री ताप मिट्यां सुख पास्यां, हिलमिल मङ्गल गाज्यो जी।
> घण री धुण सुण मोर मगण भया म्हारे आंगण आज्यो जी।
> चन्दा देख कमोदण फूलां, हरख भयां म्हारे छाज्यो जी।
> रूम रूम म्हारा सीतल सजणी, मोहण आंगण आज्यो जी।[2]

इस पद में कवयित्री ने नायिका की या स्वयं की प्रसन्नता को मधुर और कुमुदिनी के उपमानों द्वारा व्यञ्जित किया है तथा सूक्ष्म भावों की संयत अभिव्यञ्जना करने में वे सफल भी हुई हैं। मिलनोपयुक्त अनुकूल स्थिति की तथा मिलन की उत्कट कामना की अभिव्यक्ति यहां वक्तृ-वैशिष्ट्यजन्य-व्यञ्जना के साथ ही वाच्य-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना के द्वारा की गई है।

मीमां के पदों में निहित गहन वेदना, भावप्रवणता तथा दिव्य रसात्मकता को व्यंजित करने में वक्तृ-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यंजना का सर्वाधिक योगदान है; परन्तु इसके साथ ही वाक्य-वैशिष्ट्यजन्य, वाच्य-वैशिष्ट्यजन्य, चेष्टा-वैशिष्ट्यजन्य तथा प्रकरण-वैशिष्ट्यजन्य व्यञ्जना भी मीरां के हृदयगत भावों को अभिव्यञ्जित कराने में सक्रिय रही हैं। यहां हम इनके कुछेक उदाहरण ही देंगे—

**वाक्य-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी व्यञ्जना –**

मीरां के पदों में वाक्य-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना के स्वतन्त्र उदाहरण प्रायः नहीं मिलते हैं। इसका प्रयोग वाच्य-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना के साथ ही हुआ है। निम्नांकित पद में दोनों प्रकार की व्यञ्जनाओं की सहस्थिति स्पष्टतः देखी जा सकती है—

---

1 मी. पदा., पद—70।

2 मी. पदा., पद—119।

नागर नन्दकुमार लाग्यो थारो नेह ।
मुरली धुण सुण बीसरां म्हारो कुणबो गेह ।
पाणी पीर णा जाणई, मीण तलफ तज्या देह ।
दीपक जाण्या पीर णा, पतंग जल्या जल खेह ।
मीरां रे प्रभु सांवरे रे, थे विण देह अदेह ।

मुरली की धुन सुनकर देह-गेह की व कुल-कानि की सुधबुध बिसर जाना वाच्यार्थ प्रेमिका की प्रेमविह्वल अवश-दशा का व्यंजक है। मीन की विरहोत्कंठा तथा पतंगे के आत्मोत्सर्ग से पानी और दीपक की अनभिज्ञता, तथा उनके प्राणार्पण की अवहेलना के व्याज से मीरां ने अपनी विरह-विकल अवस्था और प्रियतम की अपने प्रति उदासीनता के भावों की मार्मिक व्यंजना की है। अंतिम पंक्ति में 'देह-अदेह' के रूप में उन्होंने अपनी विरहजन्य आत्मचेतनाशून्य अवस्था का अभिव्यंजन किया है। यहां तीसरी और चौथी पंक्ति में वाक्यवैशिष्ट्यजन्य आर्थीव्यञ्जना और शेष स्थलों पर वाच्य-वैशिष्ट्यजन्य आर्थीव्यञ्जना की चारुता दर्शनीय है।

**वाच्यवैशिष्ट्यजन्य और बोधव्य वैशिष्ट्यजन्य आर्थी व्यजना—**

यों तो मीरां के काव्य में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है, पर कहीं-कहीं उन्होंने अपनी सखियों को कुछ सीख भी दी है। यह सीख कभी 'परघरगवण निवार' कर 'आत्मकेलि' की ओर उन्हें प्रोत्साहित करती है, तो कभी प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों तथा विपत्तियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर इस पथ की दुर्गमता बताती है। निम्नांकित पद में प्रत्यक्षतः तो प्रेम-मार्ग की कठिनाइयाँ बता कर सखी को इस पथ से विरत होने की सीख दी गई है, परन्तु परोक्षतः उसे दृढ़ता, अनन्यता, आत्मोत्सर्गता, सहिष्णुता, नम्रता आदि से सम्पन्न कर आत्मविश्वासपूर्वक इस पथ पर सतत आगे बढ़ते जाने का परामर्श दिया गया है। पद इस प्रकार है—

लगण को नांव न लीजैरी भोली ।
लगण लगी को पैंडो ही न्यारो, पांव धरत तन छीजै ।
जै तूं लगण लगाई चावै, तो सीस को आसन कीजै ।
लगण लगी जैसे पतंग दीप से, वारि फेर तन दीजै ।
लगण लगी जैसे मिरघे नाद से, सनमुख होय सिर दीजै ।
लगण लगाई जैसे चकोर चंदा से, अगनी भक्षण कीजै ।
लगण लगी जैसे जल मछियन से, बिछड़त तन ही दीजै ।
लगण लगी जैसे पुसप भंवर से, फूलन बीच रहीजै ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल चित दीजै ।[1]

उपर्युक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में बोधव्य-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना है। सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई प्रौढ़ा सखी नवीना नायिका को प्रेम-पथ की विचित्रता बताते हुए उसे इस मार्ग की ओर प्रवृत्त न होने का परामर्श दे रही है; परन्तु इसका अपर अर्थ यह है—जब तू (नवीना नायिका)

---

1 मी. पदा., पद. 19।

इस पथ की ओर अनायास ही अग्रसर हो गई है, तो लोकापवादों तथा सामाजिक निन्दा आदि की चिन्ता न कर दृढ़तापूर्वक इस पथ पर बढ़ती चली जा। अन्ततः तुझे अभीष्ट की प्राप्ति अवश्य होगी।

अगली पंक्तियों में भी प्रत्यक्षतः तो कवयित्री प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन कर रही है, परन्तु परोक्षतः पतंग-दीप, मृग-नाद, चकोर-चन्द्र, जल-मीन और पुष्प-भ्रमर आदि लोकविदित प्रेम-प्रतीकों का उल्लेख करती हुई सच्चे और स्वार्थरहित प्रेम का प्रतिपादन कर रही है।

वस्तुतः यह परामर्श किसी सखी के लिये ही नहीं है, अपितु उन समस्त साधकों के लिये है जो इस भक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इन नवीन साधकों को अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपने अहंकार को, पृथक् अस्तित्वबोध को, समाप्त कर आराध्य से तादात्म्य स्थापित करना चाहिये। फिर लोकापवादों, सामाजिक आलोचनाओं, प्रलोभनों, लोक-प्रतारणाओं आदि से निःस्पृह रहते हुए प्रिय की प्रसन्नता हेतु आत्मोत्सर्ग के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। भ्रमर की भांति प्रेमाकुल होकर अपनी समस्त दुष्प्रवृत्तियों को सर्वथा त्याग देना चाहिये तथा मीन की तरह विरह-विकल होकर प्राण त्याग देना चाहिये। जिस साधक के प्रेम में इतनी उत्कटता होगी वह अवश्य ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकेगा। यह व्यंग्यार्थ यहां व्यंग्यसंभवा वाच्यवैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना द्वारा अभिव्यंजित हुआ है।

ऐसे ही निम्नोक्त पद में भी कवयित्री के अभीष्ट अर्थ का ध्वनन लक्ष्य-वैशिष्टजन्य आर्थी-व्यंजना द्वारा हो रहा है –

> पचरंग चोला पहरया सखी म्हां झिरमिट खेलण जाती।
> वा झिरमिट मां मिल्या सावरो, देख्या तण मण राती।[1]

यहां मीरां ने 'पचरंग चोला' तथा 'झिरमिट के खेल' के प्रतीकों द्वारा आत्मा के मानवशरीर धारण करने और हरि-भक्ति रूपी झिरमिट के खेल द्वारा सांवरे को प्राप्त करने तथा उन्हें पाकर तन्मय हो जाने की अवस्था को व्यञ्जित किया है।

मीरां के कतिपय प्रतीकप्रयोगों में लक्ष्यसंभवा-वाच्यवैशिष्ट्यजन्य-आर्थी-व्यञ्जना का चारु चमत्कार देखा जा सकता है।

**चेष्टावैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना —**

चेष्टावैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यञ्जना के भी उदाहरण मीरां-पदावली में मिलती हैं; परन्तु वे अपेक्षाकृत कम ही हैं। नीचे विरहिणी नायिका का एक शब्द-चित्र प्रस्तुत है, जिसमें व्यक्त विविध चेष्टाएं उसकी विरहावस्था की व्यंजना करती है—

> विरहन वावरी सी भई।
> ऊंची चढ़ चढ़ अपने भवन में टेरत हाय दई।
> ले अंचरा मुख अंसुवन पूंछत, उघरे गात सही।[2]

---

1 मी. पदा., पद—23 2 मी. वृ. पदा., पद—330।

ऐसे ही एक अन्य पद में प्रियतम को सन्देश भेजने को प्रस्तुत विरहिणी विरहोद्रेक के कारण न तो पत्र लिख पाती है और न ही मौखिक सन्देश कह पाती है। उसकी यह विषम स्थिति निम्न पद में इस प्रकार व्यक्त हुई है –

पतियां मैं कैसे लिखूं लिख्योरी न जाय।
कलम धरत मेरो कर कंपत है, नैन रहे झड़ लाय।
बात कहूँ वो कहत न आवै, जीव रह्यो डर्राय।
विपत हमारी देख तुम चाले, कहिया हरिजी सूं जाय।[1]

इन उपर्युक्त पदों में चेष्टावैष्टि्यजन्य आर्थी-व्यन्जना द्वारा विरहिणी की शोकातुर अवस्था की व्यंजना हुई है।

**प्रकरण वैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यजना** -

मीरां के कतिपय पदों का अर्थवैशिष्ट्य उनके प्रकरण में निहित है। पद-सम्बन्धी प्रकरण का पूर्ण ज्ञान हुए बिना पद का वाच्यार्थ भले ही ज्ञात हो जाय, परन्तु पद के मूल अर्थ तक पहुंचपाना सम्भव नहीं हो पाता है। जैसे कि निम्नांकित पद का व्यंग्यार्थ मीरां को कपटपूर्वक दिये गये विष के प्रकरण से सम्बन्धित है—

राणाजी थे जहर दियो हम जाणी।
जैसे कंचन दहत अग्नि में निकसत बारा वानी।
+ + + +
तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे, गरक गयो सनकाणी।[2]

इस पद द्वारा मीरां यह अर्थ व्यंजित करना चाहती हैं कि, उनकी चाहे कितनी भी कठिन परीक्षाएं ली जाए, कैसा भी प्राणान्तक दण्ड दिया जाय फिर भी वे अपने सत्पथ से विचलित नहीं होंगी; इन प्रतिकूल कठिन परीक्षाओं की अग्नि में तप कर वे और भी प्रांजल और दीप्तिमान हो उठेंगी। मीरां की यह स्पष्टोक्ति राणा को बहुत बड़ी चुनौती थी। मीरां को अपने प्रेम-पात्र पर और उनके भक्ति-भाव पर अखण्ड श्रद्धा और अटूट विश्वास था। उनका यही आत्मविश्वास उक्त पद में ध्वनित हो रहा हैं। चूंकि मीरां रचित यह पद पूर्वोक्त प्रकरण पर आधारित है, अतः यहां प्रकरणवैशिष्ट्यजन्य आर्थी-व्यंजना की अवस्थिति स्वीकार की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरां के काव्य की आर्थी-व्यन्जना ने अनेकविध अर्थपूर्णता व प्रभविष्णुता प्रदान की है तथा उनकी गहन प्रेमानुभूतियों को सहृदय के हृदय तक सम्प्रेषित करने में अपूर्व योग दिया है।

**स—शब्द-शक्तियां : अभिव्यञ्जना शिल्प पर प्रभाव—**

मीरां के काव्य में निहित शब्द-शक्तियों के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उन्होंने आवश्यकतानुसार सभी शब्द-शक्तियों से अपने काव्य को सम्पन्न किया है। तीनों शब्द-शक्तियां उनके काव्य को यथोचित शक्ति तथा सौन्दर्य प्रदान करती है, तथापि मूलतः अनुभूतिप्रधान होने के कारण उनके पदों में व्यन्जना का ही प्राधान्य दिखलाई पड़ता है।

---

1 मी. पदा., पद—70। 2 मी. पदा., पद—38।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मीरां के काव्य को साहित्यिक जगत् में प्रतिष्ठित करने वाला तत्त्व उनके काव्य की 'व्यन्जना-प्रधानता' ही है। आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित श्रेष्ठ काव्य की कसौटी पर कसने से मीरां का काव्य खरा उतरता है, क्योंकि वह माधुर्य और प्रसाद गुण से युक्त होने के साथ ही अर्थव्यंजक तथा रसाभिव्यंजक भी है। मीरां का काव्य, जो कि अन्यथा सहज और सरल है वह इसी व्यंजना-शक्ति के कारण ही भावोद्‌बोधक, भावाभिव्यंजक तथा रसात्मक हो उठा है। सच तो यह है कि मीरां के काव्य में निहित सबसे बड़ी शक्ति उनकी स्वानुभूति ही है। उनके पदों में उपलब्ध काव्य की तीनों शक्तियों का स्रोत वस्तुतः उनकी स्वानुभूति की शक्ति ही है। उनकी स्वानुभूति के मर्म को समझे बिना उनके काव्य में निहित इस शक्ति-त्रय की गरिमा को नहीं समझा जा सकता तथा उनकी अभिव्यंजना-शैली के विवेचन के सन्दर्भ में उनकी शब्दशक्ति के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सूक्ष्मता से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर-ऊपर से सरल और अकलात्मक-सा लगने वाला मीरां का काव्य न केवल शब्द-शक्ति-त्रय से सम्पन्न है, वरन् उनके भेदोपभेद भी उसमें उपलब्ध हैं और शब्द-शक्तियों के इन विविध भेदों की उपस्थिति ने उनकी अभिव्यंजना-शैली को वक्रता और ध्वनि के सौन्दर्य से समृद्ध किया है तथा समग्रतः उनके काव्य को अर्थ की विविध भङ्गिमाओं से गरिमामण्डित किया है।

# तृतीय अध्याय

## उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-योजना

### उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार :

प्रत्येक काव्य अपनी अभिव्यक्ति में उक्ति का वैचित्र्य लिये हुए होता है फिर वह किसी भी प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य हो। यह उक्ति-वैचित्र्य अपने व्यापक अर्थ में उक्ति-सौन्दर्य कहा जाएगा। उक्ति-सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य धर्म ही नहीं है, एक दृष्टि से वह स्वयं काव्य ही है, इस व्यापक अर्थ में अलंकारादि प्रसाधन उक्ति-सौन्दर्य के ही सौन्दर्योत्पादक अथवा सौन्दर्यवर्धक तत्त्व हो जाते हैं। अपने सीमित अर्थ में यह उक्ति-सौन्दर्य उक्ति-वैचित्र्य का रूप धारण कर लेता है। उक्ति-वैचित्र्य का ही एक पक्ष या अंग उक्ति या वक्रोक्ति है। यही वक्रोक्ति जब अत्यधिक महत्त्व पाकर एक सिद्धान्त के रूप में निरूपित हुई, तो वक्रोक्ति काव्यशास्त्र के क्षेत्र में 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' और 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के रूप में प्रस्तुत हुई। एक अलंकार से लेकर एक सिद्धान्त तक की वक्रोक्ति की यात्रा उसके विकास की ही यात्रा है। वक्रोक्ति अलङ्कार के रूप में कथन को दूसरे के द्वारा भिन्न अर्थ में ग्रहण किये जाने से ही सम्बन्ध रखती है। वहां एक सिद्धान्त के रूप में वक्रोक्ति की व्याप्ति एक वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक विस्तृत हो गई।

सामान्य अर्थ में वक्रोक्ति स्वभावोक्ति से भिन्न और विपरीत कथन-प्रणाली की द्योतक है। जहां स्वभावोक्ति में किसी वस्तु, व्यक्ति या क्रिया का सामान्य और सहज ढंग से कथन होता है, वहां वक्रोक्ति में उक्तिगत एक वैचित्र्य या वैशिष्ट्य आ जाता है। आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को आद्य अलंकृति मानते हुए साहित्य को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के दो क्षेत्र में विभक्त किया। दण्डी ने स्वभावोक्ति का अधिक पक्ष लेते हुए भी वक्रोक्ति का विरोध नहीं किया। स्वभावोक्ति को प्रथम स्थान देने का कारण, उसका जीवन की यथार्थता के साथ निकट का सम्बन्ध होना था। आगे चलकर भोज ने वक्रोक्ति को फिर से काव्य में प्रथम स्थान दिया और साथ ही वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति के बीच रसोक्ति की स्थिति मानी। भामह के काल से वक्रोक्ति अलंकारों की आधारभूमि बनी हुई थी और दण्डी के प्रयत्नों के उपरान्त भी स्वभावोक्ति वक्रोक्ति से उच्च स्थान ग्रहण नहीं कर पाई। वामन ने तो वक्रोक्ति का सम्बन्ध लक्षणा से जोड़कर उसे अर्थालंकार ही बना दिया था। भोज वक्रोक्ति का महत्त्व अलङ्कार के क्षेत्र में बहुत अधिक मानने लगे और आगे चलकर कुन्तक ने तो वक्रोक्ति को लेकर एक सम्प्रदाय-विशेष की स्थापना ही कर दी। भोज के पश्चात् ध्वनिवादी मत के प्राबल्य के कारण वक्रोक्ति सम्प्रदाय कुछ शिथिल पड़ गया और वक्रोक्ति एक अलङ्कार मात्र बनकर रह गई। यद्यपि आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के एक सम्प्रदाय को रूप में प्रतिष्ठित किया, किन्तु उनके तथा परवर्ती आलङ्कारिकों के द्वारा निरूपित वक्रोक्ति

अलंकार का आधार भामह की वक्रोक्ति-सम्बन्धी उक्ति ही है, जिसके अनुसार वक्रोक्ति अलंकृति का द्योतक है और वह 'वाचाम् इष्टा' है। वस्तुतः भामह की उक्ति को ही विस्तार देने का प्रयास आचार्य कुन्तक ने किया है। आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को सादृश्य लक्षणा से लक्षणा ही माना और आचार्य रुद्रट ने इसे शब्दालङ्कार बताया, परन्तु वक्रोक्ति में अर्थवहन की भी प्रवृत्ति होती है। इसलिये वक्रोक्ति शब्दालङ्कार और अर्थालंकार दोनों रूपों में मानी गई है, चाहे औचित्य उसे अर्थालंकार मानने में ही है। वक्रोक्ति अलंकार के रूप में काकु और श्लेष पर आधारित होती है, परन्तु वक्रोक्ति का महत्त्व अलंकार रूप से बढ़कर सम्प्रदाय रूप में स्थापित होने पर ही बढ़ा। कुन्तक ने इसे सर्वातिशायी और अत्यन्त आवश्यक तत्त्व माना है, लेकिन डा. ओम प्रकाश शर्मा के मतानुसार, कुन्तक ने इसे (वक्रोक्ति को) अलंकार ही माना है और भामह के बीजात्मक सिद्धान्त को व्यापक रूप दे दिया है।[1] उन्होंने (कुन्तक ने) इसे काव्य के विस्तृत क्षेत्र तक प्रभावी सिद्ध कर दिया है। यही उनकी विशिष्ट देन है। आचार्य कुन्तक को यही सिद्ध करना अभीष्ट था कि ध्वनि यदि वस्तु, अलंकार और रस तक व्याप्त हो सकती है, तो वक्रोक्ति भी उतनी व्यापकता रखने में समर्थ है।

इस प्रकार स्वयं वक्रोक्तिकार कुन्तक के दृष्टिकोण को सामने रख कर देखें, तो वक्रोक्ति और अलकार में तात्त्विक सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। वक्रोक्ति के साथ अलंकृति जुड़ी हुई है।

अलंकार अभिव्यञ्जना-शैली के सौन्दर्यवर्धक तत्त्व हैं। शैली का व्यक्ति-तत्त्व अलंकार के चमत्कार-तत्त्व से अलंकृत होकर सहृदय को चमत्कृत करने में समर्थ होता है। वास्तव में भाव-सहजात अलंकार काव्य के लिये अनिवार्य हैं। सिद्धान्त के लिये कोई कुछ भी माने, परन्तु कोई भी श्रेष्ठ काव्य ऐसा न होगा जो अलंकार से रहित हो। भावावेश की अवस्था में अलंकार स्वयं उद्भूत होते हैं।[2] कल्पना या भावावेश से भाषा अलंकृत हो ही जाती है।

**अलंकारों का उद्भव और स्वरूप —**

अलंकार का सम्बन्ध किसी विशिष्ट भाव से न होकर भावसाम्य से है। सभी भावों में उद्दीपन होता है और उद्दीपन ही अलङ्कार का जनक है। यही कारण है कि सभी अलङ्कार मन के किसी भी भाव को अभिव्यक्त करने का साधन बन सकते हैं। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का भावोद्दीपन के लिये प्रयोग सुख, दुःख की किसी भी अभिव्यक्ति के हेतु किया जा सकता है। अलङ्कारों के मूल में कल्पना रहती है। मन का आवेग जब अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति चाहता है, तब उसकी इस सहज सेवा का कार्य कल्पना को करना पड़ता है। कल्पना ही मन के भाव के लिये उपमान-योजना करती है, कभी उसका अतिशय (सीधा) विस्तार करती है तो कभी उसे विरोध, वक्रता द्वारा प्रस्तुत करती है। यह समस्त विलास कल्पना

---

1 रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ. 205

2 डॉ. ओमप्रकाश शर्मा—रीतिकालीन अलकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ 471, 472।

का ही है।[1]

डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि में सभी अलङ्कारों का मूल आधार अतिशय तत्त्व है। यह अतिशय है—भाव का अतिशय, जिसमें मन का ओज मूल में रहता है और इसी से अलङ्कार की सृष्टि होती है।[2] वास्तव में अतिशय को मूलाधार मान कर डॉ. नगेन्द्र ने एक ऐसी आधारभूमि प्रस्तुत की है, जो सभी अलंकारों के लिये समान रूप से आधार ही नहीं बनाती, वरन् उनकी मूलप्रेरणा और उत्स को भी प्रकट कर देती है।

अतिशय, वक्रता और चमत्कार—इन तीन तत्त्वों को समस्त अलङ्कारों का आधार तत्त्व मानते हुए उन्होंने लिखा है—

"उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये हम लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बिठाते हैं, बात को बढ़ा-चढ़ा कर उसके मन का विस्तार करते हैं, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, अनुक्रम या औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं, बात को घुमा-फिरा कर वक्रता के साथ कह कर उसकी जिज्ञासा का उद्दीपन करते हैं अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं।"[3]

**विकास—**

वस्तुतः अलंकार अपने प्रयोगपक्ष में कला है और उस अलंकार-कला के विवेचन पक्ष में वह (अलंकार) शास्त्र का रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकारों को साध्य अथवा साधन रूप में स्वीकार करने वाले विद्वानों के दो वर्ग हैं। आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में कुछ अलंकारों का निरूपण किया है; परन्तु अलग से अलंकार की कोई परिभाषा नहीं दी। भरत के अनन्तर भामह ने अलंकारों को काव्य में आवश्यक माना और स्पष्टतः अलंकार का पक्ष लेकर वक्रोक्ति को सर्वालंकार-बीजा या मूलवर्तिनी सिद्ध किया। भामह के मतानुसार शब्द और अर्थ की वक्रता या वैचित्र्य का नाम अलंकार है।

"वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।"[4]

यहां वक्रोक्ति का तात्पर्य शब्द और अर्थ की विचित्रता है। इस तरह भामह ने काव्य-क्षेत्र में अलंकार का पक्ष लेकर उसे काव्य-प्राण प्रमाणित किया। भामह ने वक्रोक्ति पर बल दिया और दण्डी ने अतिशयोक्ति तथा श्लेष पर; परन्तु अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म सिद्धकर भामह की अलंकार-सम्बन्धी मान्यता को दण्डी ने आगे बढ़ाया।

"काव्यशोभाकरान् धर्मालंकारान् प्रचक्षते' के रूप में उन्होंने अलंकारों

---

1 डॉ. ओमप्रकाश शर्मा - रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ 473।

2 डॉ. नगेन्द्र—रीति-काव्य की भूमिका, पृष्ठ 86।

3 डॉ. नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ. 86-87।

4 आ. भामह : काव्यालंकारः, पृ. 5 (श्लोक 136)।

को काव्य का शोभाकारक धर्म माना। धर्म की स्थिति स्थिरता की है, सहज गुण की सी है और शोभा या सौन्दर्य का भार भी अलंकारों पर है। भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति प्रायः एक ही मानी गई हैं; परन्तु अलंकार की व्यापकता एवं प्रकार की दृष्टि से दण्डी का दृष्टिकोण अधिक उदार है। दण्डी की परिभाषा ने अलंकारों का पक्ष सुदृढ़ कर दिया।

आचार्य वामन ने अलंकारों का दोहरा विवेचन किया। परम्परागत लक्षण को वे सहसा अस्वीकार न कर सके, अतः ग्रन्थारम्भ में काव्य की ग्राह्यता अलंकारों से प्रमाणित की—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' जो दण्डी की परिभाषा का परिष्कृत संस्करण था, जिसके अनुसार सन्धि, वृत्ति तथा उनके अङ्गादि सब अलंकारान्तर्गत आ सकते हैं। वामन की परिभाषा ने काव्य के स्वरूप को प्रधानसिद्ध कर दिया और सौन्दर्यमात्र को अलंकार माना—'सौन्दर्यमलंकारः'।

वामन ने दूसरा मत भी प्रस्तुत किया कि 'काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं और उस शोभा की अतिशयता का विस्तार करने वाले अलंकार हैं'। यह परिभाषा स्पष्ट तो है; परन्तु दण्डी के लक्षण पर कठोर आघात सिद्ध हुई, जो कालान्तर में अलंकार-लक्षण-परिवर्तन करने में सशक्त बन गई।[1] वास्तव में वामन ने शोभाकर्त्तव्य और शोभावर्द्धकत्व को लेकर गुणालंकारों का जो विभेद प्रस्तुत किया, उससे अलंकार काव्य में प्रथम दर्जे से द्वितीय पर आ गया।

आचार्य रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में स्पष्टतः रस और अलंकार को पृथक् कर दिया। आचार्य रुद्रट के प्रयास ने अलंकार्य और अलंकार का क्षेत्र खोल दिया और रस की ओर दृष्टि जाने से अलंकारों का स्थान वामन के अनन्तर रुद्रट ने भी पृथक्तः दूसरा बना दिया।

आचार्य कुन्तक ने काव्य में सालंकारता का पक्ष उद्घोषित एवं सम्पुष्ट किया और कहा—'अलंकार काव्य का स्वरूपविधायक धर्म है।'[2] आचार्य भोज भी रस को अलंकार मानने पर विमोहित हो गये, यद्यपि वे रसवादी थे; परन्तु भोज के विचार से रीति-गुण भी अलंकारान्तर्गत आ गये हैं। अलंकार की इस व्यापक परिभाषा ने वाग्भट्ट को भी यह कहने पर विवश किया कि दोषों से मुक्त और गुणों से युक्त होने पर भी अलंकार के विना वचनचमत्कृत नहीं होता—

> दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।
> स्त्रीरूपमिव यो माति तं ब्रुवेऽलं क्रियोच्चयम्।

अर्थ यही हुआ कि अलंकार काव्य का अनिवार्य अङ्ग है और काव्य में इसकी स्वीकृति अनिवार्यतः होनी चाहिये। इस परम्परा को जयदेव ने चरमसीमा पर पहुँचा दिया और अग्नि में उष्णता और काव्य में अलंकार की स्थिति मानने का दुर्भेद्य आग्रह किया।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यलक्षण' में अलङ्कारों की अवस्थिति की अनिवार्यता

---

1 डॉ. ओमप्रकाश शर्मा : रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन—पृष्ठ 2।

2 वही, पृष्ठ 3।

को खुलकर चुनौती नहीं दी; अपितु 'क्वापि' की धीमी आवाज में कहा कि अलङ्कार रहें या कभी नहीं रहें तो भी काव्य का शरीर नीरस और शोभारहित नहीं होगा।[1]

वामन द्वारा प्रस्तुत दूसरा अलंकार-लक्षण संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार की वाह्य सत्ता का संस्थापक सिद्ध हुआ। अलंकार की वाच्यता तो सर्वग्राह्य थी और है ही; परन्तु वामन के गुण-अलंकार के भेद-दर्शक लक्षण से प्रेरित होकर आनन्दवर्धन ने अलंकार को वाह्य सिद्ध कर दिया। उसे कटक-कुण्डलादिवत् ही मान्यता दी। रस को अलंकार्य मानकर अलंकार को साधन प्रमाणित कर दिया। वामन की - 'सौन्दर्यमलंकारः' परिभाषा में 'चारुत्वहेतु' जोड़कर आनन्दवर्धन ने अलंकार को चारुत्वहेतु माना—'अलंकारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः' अलंकार के साधनरूप में स्वीकरण का ही अनुसरण परवर्ती आचार्य ने किया।[2]

इस प्रकार अलंकार को काव्य का आन्तरिक और वाह्य तत्त्व मानने वाले विचारकों के दो वर्ग वन गये। पहला वर्ग अलंकार के व्याकरणगत व्युत्पत्त्यर्थ 'अलंकरोति इति अलंकारः' का समर्थक था और दूसरा वर्ग 'अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः' अर्थ का। पहले वर्ग में अलंकार काव्य को अलंकृत या सुशोभित करता है—के अर्थ में अलंकार काव्य के विधायक (कर्त्तृत्व) पद पर सुशोभित था; परन्तु दूसरे वर्ग में वह (अलंकार)—'इससे काव्य अलंकृत होता है' के रूप में साधन मात्र वन गया।[3]

वस्तुतः अलंकार वाणी के विभूषण हैं, अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभावोत्पादकता, भाषा में सौन्दर्य उत्पन्न करना इनका कार्य है, तथा पाठकों व श्रोताओं का मनोविनोद करना इनका अंतिम लक्ष्य है। काव्य के प्रकृत रूप या विद्यमान सौन्दर्य की वृद्धि के लिये अलंकारों की उपयोगिता सिद्ध होती है, इसलिये प्रभाव की क्षमता तीव्र करने के लिये अलंकारों का प्रयोग होता है। भावप्रेषणीयता में भी अलंकार योग देता है।[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी अलंकारों को काव्य का सर्वस्व या साध्य न मानकर साधनमात्र मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण तथा क्रिया को अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है।"[5]

**अलंकारों का वर्गीकरण -**

आचार्य भामह ने सर्वप्रथम अलंकारों का वर्गीकरण शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में किया। वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालंकार ही अलंकार-वर्गीकरण का प्राथमिक आधारभूत रूप है। आचार्य भोज ने शब्दालंकार और

---

1 डॉ. ओमप्रकाश शर्मा : रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ 4।

2 वही, पृ. 5।

3 डॉ. ओमप्रकाश शर्मा : रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ 4।

4 वही, पृ. 16।

5 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-रसमीमांसा, पृ, 358।

अर्थालंकार के व्युत्पत्त्यर्थ के सम्बन्ध में लिखा है, जो अलंकार शब्द का अलंकरण करता है वह शब्दालंकार है और जो अर्थ का अलंकरण करता है वह अर्थालंकार कहा जाता है।[1] आचार्य मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त को ही इनका नियामक माना हैं। शब्दालंकार में शब्द-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध रहता है और अर्थालंकार में शब्द परिवर्तित हो जाने पर भी अर्थ-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध बना रहता है। जो अलंकार शब्द-अर्थ में जिसका आश्रित होता है, वह उसी का अलंकार होता है।[2]

इनके अतिरिक्त अलंकारों का एक तीसरा वर्ग भी है जो 'उभयालंकार' कहलाता है। 'उभय' शब्द द्विसंख्यावाची है। इससे यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि जहां दो अलंकार मिलें वहां 'उभयालंकार' होता है, चाहे वे दोनों शब्दालंकार हों या दोनों अर्थालंकार, या एक अर्थालंकार और दूसरा शब्दालंकार। दो से अधिक अलंकार भी किसी पद में आ सकते हैं। दो तो न्यूनतम सीमा का स्पर्शक है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी इसी व्युत्पत्ति को उचित माना है।[3] उभयालंकार के दो भेद हैं - एक संसृष्टि और दूसरा संकर। 'संकर' में अलंकार नीरक्षीरवत् और संसृष्टि में तिल-तण्डुलवत् मिश्रित रहते हैं। इसीलिये उभयालंकारों का दूसरा नाम मिश्रालंकार भी है।

इन्हीं तीनों वर्गों के अन्तर्गत अलङ्कारों का विवेचन करने की परिपाटी सर्व-सामान्य तथा सर्वस्वीकृत रही है। आचार्य रुय्यक ने अर्थालङ्कारों का वर्गीकरण नवीन आधारपर प्रस्तुत किया है। इस वर्गीकरण में रचना-शैली के आधार का भी ध्यान रखा गया है। उन्होंने पहले अर्थालङ्कारों के पांच वर्ग बनाए हैं। ये वर्ग निम्नांकित हैं—

1—सादृश्यगर्भ
2—विरोधगर्भ
3—शृङ्खला बन्धोपचिता
4—न्यायमूल
5 - गूढार्थप्रतीति मूल।[4]

यद्यपि आचार्य रुय्यक ने इन अलङ्कार वर्गों के अवान्तर भेद भी किये हैं किन्तु चूंकि वे सभी भेद मीरां के काव्य में उपलब्ध नहीं होते इसलिये उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता हमें प्रतीत नहीं होती। उक्तिवैचित्र्य और अलङ्कारों के इस शास्त्रीय विवेचन के पश्चात् आगामी पृष्ठों में मीरां के काव्य में उपलब्ध उक्ति-वैचित्र्य और अलङ्कारों का विवेचन किया जा रहा है। हम पहले मीरां के काव्य

---

1 डा. ओमप्रकाश शर्मा - रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ. 438।

2 काव्यप्रकाश:— (सम्पादक-डा. नगेन्द्र), पृ. 565।

3 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र - वाङ्मयविमर्श, पृ. 368-370।

4 डॉ. ओमप्रकाश शर्मा—रीतिकालीन अलङ्कार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ—448।

में प्राप्त उक्तिवैचित्र्य को लेंगे और तत्पश्चात् उनके काव्य में निहित अलङ्कारों पर विचार करेंगे।

मीरांकाव्य में उक्ति वैचित्र्य (उक्तिवक्रता)

यद्यपि अनेकानेक विचारकों ने मीरां के काव्य में सर्वत्र स्वभावोक्ति के सहज-सौन्दर्य के ही दर्शन किये हैं, तथापि यह कहना अत्युक्ति होगी कि उनका काव्य, उक्ति-वैचित्र्य से सर्वथा रहित है। मीरां के काव्य में उक्ति-वैचित्र्य अथवा उक्ति-वक्रता के विविध प्रयोग मिलते हैं, जिन्होंने उनके काव्य को मर्मस्पर्शी और प्रभावी बना दिया है। आचार्य कुन्तक द्वारा किये हुए वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों के अनेकों प्रयोग मीरां में मिलते हैं, जिनमें से कुछ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

क—वर्णविन्यास-वक्रता—

वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत वर्ण-सम्बन्धी सभी प्रकार के प्रयोग आ जाते हैं। अतः अनुप्रास, यमक, रीति, वृत्तियों आदि सभी को वर्णवक्रता का नाम दिया जा सकता है। मीरां के पदों में अनुप्रासिकता प्रचुर मात्रा में है। इसे नाद-सौन्दर्य भी कहा गया है। तुकान्तता या अन्त्यानुप्रासिकता का निर्वाह प्रायः समस्त पदों में हुआ है। दो मात्रा से लेकर आठ मात्राओं तक के अन्त्यानुप्रास मीरां के कतिपय पदों में मिलते हैं। जिनका उल्लेख हम छन्द-प्रकरण में करेंगे। अन्त्यानुप्रास भी वर्ण-वक्रता का ही एक प्रकार है। इसके अतिरिक्त कोमल वर्णों का प्रयोग भी मीरां के पदों में अधिकांशतः हुआ है। उदाहरणार्थ मीरां-पदावली के निम्न पदों को लिया जा सकता है—

गोहने गुपाल फिरूं ऐसी आवत मण में।
अवलोकत वारिज वदन विवस भई तण में।
मुरली कर लकुट लेऊं, पीत वसन धारूं।
काछी गोप भेष मुकुट गोधन संग चारूं।
हम भई गुलफाम लता, वृन्दावन रैनां।
पशु पंछी मरकट मुनी श्रवण सुनत वैनां।[1]

तथा -

रङ्ग भरी राग भरी राग सूं भरी री।
होली खेल्यां स्याम संग रंग सूं भरी री।
उड़त गुलाल लाल बादला रो रंग लाल।
पिचकां उड़ावां रंग-रंग री झरी री।[2]

वर्ण-वक्रता ने मीरां के पदों को सुमधुर गति और लयात्मकता प्रदान की है, जिससे मीरां के पदों का सौन्दर्य-वर्द्धन हुआ है तथा उनमें अतीव संगीतात्मकता स्वतः आ गई है।

ख—पदपूर्वार्द्ध-वक्रता—

इस वर्ग के अन्तर्गत पद के पूर्वार्द्ध भाग से सम्बन्धित सभी प्रकार के अलंकृत प्रयोगों का समावेश कर लिया गया है। विशेषण-वक्रता, पर्याय-वक्रता तथा उपचार-

1 मी. पदा., पद सं. 184। 2 मी. पदा., पद सं. 148।

वक्रता आदि इसके प्रमुख भेद हैं। मीरां के पदों में पदपूर्वार्द्ध-वक्रता के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं—

म्हारे नैणां निपट बंकट छब अटके।[1]

तथा—

तनक हरि चितवां म्हारी ओर।[2]

इन रेखांकित पदों में वक्रता का सौंदर्य दर्शनीय है। बांकी छवि के आकर्षण को 'निपट' विशेषण ने और भी चमत्कृत कर दिया है। इसी प्रकार उदासीन प्रिय से कृपा-दृष्टि की कामना करने वाली प्रेयसी के हृदय की समस्त वेदना व आकुलता 'तनक' पद में सिमट आई है। इसे अव्यय-वक्रता कहा जा सकता है। ऐसे ही अनेक पद हैं, जिनमें मीरां ने अपनी अन्तर्व्यथा को उंडेल दिया है और उस वेदना की अनुभूति कराने में विशेषणवक्रता ने अद्भुत योग दिया है। एक अन्य पद द्रष्टव्य है—

पिया बिना मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बिहावै।[3]

प्रिय के अभाव में सेज वैसी ही स्वादहीन हो गई है जैसे लवण के अभाव में अन्य मसालों से युक्त फीका भोजन। विशेषण-विपर्यय ने यहाँ मन के भावों को कुशलतापूर्वक अभिव्यञ्जित किया है। ऐसे अनेक उदाहरण मीरां के पदों में मिल जाते हैं।

विशेषण-वक्रता के साथ ही पर्यायवक्रता भी पदपूर्वार्द्ध-वक्रता का एक मुख्य भेद है। मीरां ने प्रिय के नामों के पर्यायवाची रूपों का सटीक प्रयोग कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। यथा—

गिरधारी शरणां थारी आया, राख्यां किर्पानिधान।[4]

तथा—

हरि तुम हरो जन की भीर।[5]

तथा—

रमैया बिन नींद न आवै।[6]

उपर्युक्त पंक्तियों में मीरां ने प्रभु के नाम-पर्यायों का प्रसंगानुकूल प्रयोग किया है। गिरधारी, जिन्होंने सम्पूर्ण शरणागत ब्रजवासियों की रक्षा गिरवर को धारण कर की तथा कृपापूर्वक उन्हें रख लिया, उन्हीं 'कृपानिधान' से स्वयं को रख लेने की प्रार्थना करना समीचीन ही है। इसी प्रकार हरण करने वाले 'हरि' से 'भवभीर' हरने की अनुनय भी उचित ही है। आनन्ददायक 'रमैया' के अभाव में नींद का न आना भी स्वाभाविक ही है।

मीरां के विविध पदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने पर्यायवक्रता का सुन्दर संयोजन किया है। उनकी गुणगाथा के समय अन्य प्रकार के नाम-पर्याय प्रयुक्त हुए हैं और विरह तथा मिलन के प्रसंग में सर्वथा भिन्न तथा अतिप्रिय व आत्मीयतापूर्ण पर्यायों का प्रयोग मीरां ने किया है।

---

मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (10), 2. (5), 3. (74), 4. (134), 5. (61), 6. (74)।

पर्याय-वक्रता के साथ ही कहीं-कहीं उपचार-वक्रता के प्रयोग भी मीरां-पदावली में उपलब्ध होते हैं। निम्नांकित पद में मीरां ने बादलों का मानवीकरण करके उन पर मतवाले संदेशवाहक का आरोपण किया है –

मतवारो बादर आए रे, हरि को सनेसो कबहुं न लाय रे ।[1]

वास्तव में मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय के कारण उक्ति में जो वैशिष्ट्य आ जाता है, उसके मूल में वही उपचार-वक्रता कार्य करती है।

कभी-कभी अपने भावों को स्पष्टत: व्यक्त न कर, मीरां ने उन्हें संवृत कर दिया है—कहीं विशेषणों में और कहीं अव्यय में। प्रियतम को रिझाने के लिये वे उन विधियों को भी अपनाना चाहती हैं, जो सामान्यत: अकथनीय व गोप्य होती हैं। निम्न पद में इस संगोपन को उन्होंने किस सुन्दर ढंग से संवृत कर दिया है यह दर्शनीय है—

जिह-जिह विध रीझै हरी सोई विधि कीजै हो ।[2]

ऐसे ही पद पूर्वार्द्ध-वक्रता के अनेकों प्रयोग मीरां-पदावली में उपलब्ध होते हैं।

**ग – पदपरार्द्ध-वक्रता—**

इसके अन्तर्गत पद के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त होने वाले समस्त अलंकृत प्रयोग आ जाते हैं। पदपरार्द्ध-वक्रता का सर्वाधिक सौन्दर्य प्रत्यय-वक्रता के कारण वर्द्धित होता है, मीरां ने भी प्रत्ययों के सुष्ठु संयोजन द्वारा उक्ति को सौन्दर्यान्वित किया है। मीरां द्वारा प्रयुक्त प्रत्ययों में भी 'ड़ा' 'ड़ो' 'ड़ी' आदि प्रत्ययों ने उनकी उक्ति को सर्वाधिक मर्मस्पर्शी व स्निग्ध बना दिया है।

नहि सुख भावै थारो देसलड़ो रंगरूड़ो ।[3]

इस पंक्ति में मीरां के हृदय की सारी वितृष्णा 'देसलड़ो' पद द्वारा व्यक्त होती है। ऐसे ही निम्न पद में नेह लगा कर चले जाने वाले प्रियतम के प्रति आक्रोश, अनुनय और उपालम्भ सभी भावों को एक साथ व्यक्त करने के लिये मीरां ने कहा है—

हरि थे कितगये नेहड़ा लगाय ।[4]

अपनी अशक्यता और प्रिय की सर्वसमर्थता को भलीभांति जानकर मीरां उनसे विनयपूर्वक आग्रह करती हैं—

स्याम म्हां बांहड़ियां जी गह्यां ।[5]

यहां मीरां की समस्त कोमल भावनाएं बांह के स्थान पर 'बांहड़ियां' प्रयोग द्वारा अभिव्यंजित हो रही हैं। प्रत्यय-वक्रता के अनेकानेक प्रयोग मीरां-पदावली में प्राप्त होते हैं। निम्न पद में अवधूत बन गये प्रियतम पर कैसा कटाक्ष मीरां ने फेंका है—

धूतारा जोगी एकरसूं हंसि बोल ।[6]

---

मीरां पदावली, क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (81), 2, (16), 3. (32), 4. (179 पाठान्तर), 5. (138), 6. (58)।

इस पद का सौंदर्य 'धूतारा' और 'एकरसू' पद में प्रत्यय-वक्रता के योग द्वारा व्यञ्जित हो रहा है।

इनके अतिरिक्त उपसर्ग और निपात-वक्रता का भी सौन्दर्य मीरां के काव्य में मिलता है। निम्नपद में 'हूँ' निपात पर अत्यधिक बल देने के कारण वाक्य में व्यञ्जकता आ गई है—

माई म्हारी हरिहूँ न बूझी बात।[1]

उक्त पद में जहाँ 'हूँ' निपात की वक्रता मीरां की अन्तर्व्यथा को अभिव्यञ्जित करती है, वहाँ निम्न पद में मीरां के हार्दिक विश्वास व एकनिष्ठ प्रेम की व्यञ्जना 'तो' निपात में मूर्तिमंत हो उठी है—

मैं तो तेरी सरण परी रे रामा ज्यूं जाणे त्यूं तार।[2]

मीरां के लोकप्रिय भजन 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा ना कोई' में 'तो' पद पर ही सम्पूर्ण पद का सौंदर्य अवलम्बित है। मीरां की स्पष्टोक्तियों को व्यञ्जनात्मक सौंदर्य से आवेष्टित करने में इन पद-पूर्वार्द्ध और पद-परार्द्ध वक्रताओं का महत्त्वपूर्ण योग है।

**वाक्य-वक्रता—**

सामान्यत: मीरां ने अपने प्रिय से सीधे-सादे शब्दों में ही वार्तालाप किया है, परन्तु कहीं-कहीं जब उनकी पीड़ा अत्यधिक घनीभूत हो गई है तब वह वक्रोक्ति के रूप में फूट पड़ी है। मीरां के वाक्यों को वक्रता प्रदान कराने में लक्षणा-शक्ति तथा मुहावरों ने अपूर्व योगदान दिया है, उन सबों का उल्लेख यथास्थान किया गया है, अत: यहाँ दो-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

मीरां हरि रे हाथ विकानी लोग कहें भटकी।[3]

तथा—

माई री म्हाँ लियां गोविन्दा मोल।[4]

न तो हरि के हाथों विकना संभव है और न हरि को मोल लेना, अत: यहाँ 'वक्रोक्ति' द्वारा ही वाक्य का अर्थ ग्राह्य हो पाता है। सीधे शब्दों में बांकी बातें कहना मीरां को खूब आता था। अपने भक्तिरस में डुबो कर उन्होंने जो शब्द पदों में जड़ दिये हैं, वे अपना सौन्दर्यात्मक प्रभाव सदा-सदा के लिए छोड़ गये हैं। सरलतम शब्दों में हृदय की क्लिष्टतम अभिव्यक्ति मीरां ने कर दिखाई है। अत: यदि कोई यह कहे कि मीरां में स्वभावोक्ति का ही चमत्कार है, तो यह मत उसके एकांगी दृष्टिकोण को ही व्यक्त करेगा। मीरां ने सरलतम भावों को वक्रोक्ति द्वारा न कह कर, गहनतम भावों को इस ढंग से अभिव्यक्त किया है कि उसमें स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दोनों ही प्रकार का सौंदर्य समानरूप से आ गया है। वस्तुत: वाक्य-वक्रता में वाक्यसम्बन्धी विभिन्न वक्र प्रयोग आ जाते हैं, जिनमें प्राय: सभी अर्थालंकारों का समन्वय हो जाता है।

**प्रकरण-वक्रता**

प्रकरण-वक्रता को प्रसंग-वक्रता भी कहा जाता है। इसमें प्रसंग या प्रकरण-

---

मी. पदा., क्रम संख्या (पद संख्या)
1. (66), 2. (133), 3. (14), 4. (22)।

गत विशिष्टता-सम्बन्धी सभी प्रयोग आ जाते हैं। वक्रोक्तिवादियों ने व्यञ्जना और ध्वनिगत वैशिष्ट्य को भी इसके अन्तर्गत ले लिया है।

मीरां-पदावली में प्रकरण-वक्रता के अनेक भावपूर्ण और रमणीय उदाहरण मिल जाते हैं। निम्न पद में मीरां ने एक ऐसी दुःखिनी नारी की पीड़ा को साकार किया है, जो निरन्तर अपने प्रियतम की राह देखती रहती थी; परन्तु जब उसके प्रियतम आये तब निगोड़ी नींद ने उसे धर दबाया, प्रियतम आये और लौट गये, उनके लौटते ही नींद भी उचट गई; परन्तु अब वे कहाँ? अब तो केवल कल्पना और बिलखना ही रह गया—

जाण्यां णा प्रभु मिलण विध क्या होय।
आया म्हारे आंगणा, फिर गया मैं जाण्या खोय।
जोवतां मग रैण बीतां दिवस बीतां जोय।
हरि पधारां आंगणा गया मैं अभागण सोय।
विरह व्याकुल अनल अन्तर कल णा पड़ता दोय।
दासी मीरां लाल गिरधर मिल णा विछड़्यां कोय।[1]

सचमुच कितना दारुण रहा होगा वह पश्चाताप! कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसी प्रसंग से प्रभावित होकर एक गीत रचा जिसका अनुवाद इस प्रकार है—

वह पास आकर बैठ गया, तब भी मैं जागा नहीं—
हतभाग्य! तुझे ऐसी नींद कैसे आ गई?
जब वह आया था, प्रशान्त रात की वेला थी,
उसके हाथों में वीणा थी,
मेरे स्वप्न उसकी झंकार में बह गये थे!
जागकर मैंने देखा, दक्षिण दिशा का पवन चारों ओर
अन्धकार में अपना गन्ध प्रसार करता हुआ चल रहा था।
मेरी सब रातें जाने क्यों इसी तरह निकल गई?
जाने क्यों, उसके श्वासों का स्पर्श तो हुआ लेकिन दर्शन नहीं हुए।
हतभाग्य! उसके कंठहार का तो वक्ष से स्पर्श हुआ लेकिन आलिंगन न हो पाया।[2]

परन्तु जितनी संयत, मार्मिक और तीखी वेदना मीरां की 'गया मैं अभागण सोय' में, तथा जैसा हृदय-विदारक पश्चात्ताप 'मिल णा विछड़्यां कोय' उक्ति में अभिव्यक्त हो रहा है, वैसा टैगोर की 'हतभाग्य! तुझे ऐसी नींद कैसे आ गई' में उत्पन्न नहीं हो पाया। साथ ही अन्तिम पंक्ति में मीरां की पीड़ा सार्वजनीन हो गई है, परन्तु टैगोर की उक्त कविता में वह बात नहीं आ सकी है।

ऐसे वैयक्तिक अनुभूतिरक पदों के अतिरिक्त मीरां ने पौराणिक लोकप्रसिद्ध प्रकरणों का भी संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर कथन किया है, परन्तु इन प्रकरणों का

1 मी. पदा., पद (43)।
2 मूल—श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर—गीताञ्जलि, (अनु. सत्यकाम विद्यालंकार) पृ. 72।

सौन्दर्य अन्तिम पंक्ति में वहां जाकर वड़ा ही मर्मभेदी और तीक्ष्ण हो जाता है, जहां मीरां इनके व्याज से अपनी हार्दिक आकांक्षा को व्यक्त करती हैं। मीरां-पदावली के 139 वें पद में मीरां कतिपय भक्तों पर की गई प्रभु की कृपा का उल्लेख करती हुई अपनी दशा और आकांक्षा को भी चतुरता से व्यक्त कर जाती हैं।

.... .... .... .... .... .... ....

सब सन्तों का काज सुधारा, मीरां सूं दूर रहन्द ।[1]

ऐसे ही एक अन्य पद में वे अपने को स्वजनों द्वारा त्यागी हुई वताती हैं तथा हरि से अनुनय करती हैं कि उन पर कृपा दृष्टि करें तथा उनकी बाधाएं दूर करें। अपनी इच्छा को मीरां ने अहल्या के प्रसंग के साथ कितनी कुशलता से जोड़ा है, यह निम्न पद में दर्शनीय है—

पत्थर की तो अहल्या तारी वनके वीच पड़ी ।
कहा वोझ मीरां में कहिये सौ पर एक घड़ी ।[2]

मीरां के इस उक्ति-चातुर्य को देखकर यह मानना पड़ता है कि वे प्रकरण वक्रोक्ति का भी यथा स्थान समुचित और सटीक प्रयोग करने में सक्षम थीं।

**प्रबन्ध-वक्रता—**

प्रवन्ध-वक्रता के अन्तर्गत कथावस्तु से सम्वन्धित प्रायः सभी विशेषताओं— कथानक की नवीनता, मौलिकता, प्रवन्धात्मकता आदि का सन्निवेश हो जाता हैं।

मीरां ने चूं कि प्रवन्ध काव्य की रचना नहीं की, अतः उनकी प्रवन्धवक्रता के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि मीरां के काव्य में जहां स्वभावोक्तियों का नैसर्गिक सौन्दर्य निखरा है, वहां वक्रोक्ति का भी चमत्कारिक सौन्दर्य अपनी छटा विखेरता है। इस सौन्दर्य में कृत्रिमता की गन्ध नहीं है, वल्कि अनायास ही फूट पड़ने वाले काव्य में जो अनोखापन और जीवन्तता होती है, वह मीरां के काव्य में सर्वत्र परिलक्षित होती है। उक्ति-वक्रता के उपर्युक्त उदाहरणों को देखने के पश्चात् यह कहना कठिन है कि उनमें वाग्वैचित्र्य नहीं है तथा उनके काव्य में सपाट वयानी है। अनुभूति की गहनता और अभिव्यक्ति की सहजता अनायास ही किस प्रकार वक्रोक्ति को अलंकृत करती हैं, इसका स्वयं प्रकाश्य उदाहरण मीरां का काव्य है।

वस्तुतः वक्रोक्तिवादियों ने वक्रोक्ति का प्रसार सम्पूर्ण काव्य तक व्यापक कर दिया है। अतः काव्य की प्रत्येक विशेषता, चाहे वह विषयगत हो या शैलीगत अथवा उसका सम्वन्ध वर्ण से हो या वाक्य से अथवा प्रवन्ध से, वक्रोक्ति के सीमा क्षेत्र में आ जाती है। इस अतिव्याप्ति की स्थिति में काव्य के अन्य तत्त्वों— अनुप्रास श्लेष, अलंकार, गुण, ध्वनि, प्रतीक आदि—की पारस्परिक विशिष्टता का लोप हो जाता है और वे सव वक्रोक्ति में ही अन्तर्लीन हो जाते हैं, परन्तु इन तत्त्वों में प्रकृति, स्वरूप एवं क्षेत्र की दृष्टि से परस्पर गहरा अन्तर है। एक का स्थान दूसरा

1 मी. पदा., पद—139।  2 मी. पदा., पद—118।

नहीं ले सकता अतः इनका परस्पर सन्तुलन बनाए रखने के लिये इनकी क्षेत्रसीमा निर्धारित कर दी गई है। अलंकार और वक्रोक्ति की सीमा का निर्धारण डा. गणपतिचन्द्र गुप्त ने निम्न प्रकार से किया है—

अलंकार और वक्रोक्ति में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहां अलङ्कार में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का समावेश होता है वहां वक्रोक्ति में प्रस्तुत को ही ऐसी वक्रभंगिमा के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें अप्रस्तुत के संयोग की आवश्यकता नहीं रहती।"[1]

मीरां की उक्ति-वक्रता पर विचार करने के अनन्तर अब प्रस्तुत है मीरां की अलंकार योजना का विवेचन—

### मीरां की अलंकार-योजना—

मीरां के काव्य में अलंकारों की अवस्थिति नगण्य-प्राय मानी जाती है; परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। यद्यपि मीरां ने केशव आदि आलंकारिकों की भांति काव्य के पोर-पोर को विविध अलंकारों से आवृत नहीं किया है; तथापि उनका काव्य अत्यावश्यक अलंकारों से विहीन भी नहीं है। अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग को हरि-नाम रूपी दिव्य अलंकारों से विभूषित करने वाली मीरां की सात्त्विक वृत्ति केवल भावसहजात अलंकारों को ही ग्रहण कर पाई है। उन्होंने अपने कथ्य को सुस्पष्ट और प्रभावी बनाने के लिए उपमा-रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का अनायास ही सुन्दर विधान कर लिया है। अतः ये अलंकार मीरां के काव्य व्यक्तित्व के सहज अङ्ग से बन गये हैं। ये मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली में इतने घुल-मिल गये हैं कि सामान्य दृष्टिपात् करने पर इनका पृथक् अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं हो पाता है। यही कारण है कि कुछ आलोचकों ने मीरां के काव्य को सर्वथा अलंकारहीन मान लिया है।

मीरां की अलंकार-योजना पर अपना मत प्रकट करते हुए डॉ० कृष्णदेव झारी ने लिखा है—

"मीरां का काव्य तीव्र विरहानुभूति का काव्य है। भावानुभूति व्यक्त करना ही मीरां का उद्देश्य था। न तो भाषा को अलंकृत करने या सजाने-सँवारने का उसे ध्यान था, न किसी प्रकार के चमत्कार-प्रदर्शन का ही उसे अवकाश था; फिर भी मीरां की भावमयी अभिव्यक्ति स्वतः ही सशक्त और प्रभाव पूर्ण बन गई है।"[2]

डॉ० श्रीकृष्णलाल ने मीरां बाई के पदों का सबसे अद्भुत् कौशल यही माना है कि उनकी समस्त रचना कला के आडम्बर से रहित है। डॉ० सावित्री सिन्हा के अनुसार—"मीरांबाई कलाकार नहीं थीं, कला की साधना को लक्ष्य बनाकर उन्होंने अपने पदों की रचना नहीं की; परन्तु भावोत्तेजन की स्पष्ट अभिव्यक्ति की चेष्टा में यत्र-तत्र अलंकारों की योजना स्वतः हो गई है।"[3]

---

1 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त : साहित्य-शैली के सिद्धान्त, पृ. 153।

2 मध्यकालीन कृष्णकाव्य, पृ.

3 मध्यकालीन कवयित्रियां, पृ. 150।

इस दृष्टि से स्वामी आनन्दस्वरूप का मत भी उल्लेखनीय है। उनके ही शब्दों में – "मीरां ने कोई कविता बनाने की चेष्टा नहीं की; परन्तु उसके प्रेम के उफान ने अनायास ही कविता का रूप ले लिया जिसमें सरसता, प्रासादिकता, मधुरता, कोमलता, सरलता एवं तन्मयता से ओत-प्रोत होकर प्रास, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त एवं रूपक इत्यादि अलंकार तथा गुण आप ही उनकी कविता में उतर आये।"※

उपर्युक्त मतों में इस बात का समर्थन सभी ने किया है कि मीरां का काव्य स्वतःप्रसूत है तथा उसमें उच्चकोटि की भावात्मकता है; परन्तु अलंकार की अवस्थिति को भी उन्होंने गौणतः ही सही, स्वीकार किया है। अब हम आगामी पंक्तियों में देखेंगे कि वास्तव में मीरां के पदों में अलंकारों की क्या स्थिति है? सर्वप्रथम हम मीरां द्वारा प्रयुक्त शब्दालंकारों को लेंगे तत्पश्चात् अर्थालंकारों व उसके अन्यान्य भेदों पर विचार करेंगे।

**शब्दालंकार—**

मीरां-पदावली में अनुप्रास और यमक शब्दालंकार का प्रयोग ही सामान्यतः उपलब्ध होता है। अतः पहले अनुप्रास तदुपरान्त यमक के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

**अनुप्रास**

यद्यपि अनुप्रास के अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं, तथापि मीरां-पदावली में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास ही विशेषतः प्रयुक्त हुए हैं। मीरां ने छेकानुप्रास का सर्वाधिक प्रयोग किया है, सम्भवतः अत्यधिक सरल व ऋजु होने के कारण यह अनुप्रास अनायास ही मीरां की भावाभिव्यक्ति के लयात्मक प्रवाह में आ मिला होगा। प्रायः प्रत्येक पद में छेकानुप्रास उपलब्ध होता है; परन्तु यहाँ कुछेक उदाहरण ही दिये जा रहे हैं—

**छेकानुप्रास—**

> सब जग कूड़ो कंटक दुनिया दरध न कोई पिछाणे हो।[1]
> माई गोविन्द गुण गाणा।[2]
> गुमंट घटा ऊलर होई आई दामिन दमक डरावे।[3]
> पिया पियाला अमर रस का चढ़ गई घूम घुमाय।[4]
> तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे गरक गयो सनकाणी।[5]
> कांई दिन याद करोगे रमता राम अतीत।[6]
> लोक लाज कुलकाण जगत की दई बहाय जस पाणी।[7]
> मैं भोली भोलापण कीन्हों राख्यो नहीं विलमाइ।[8]
> छैल छबीले नवल कान्ह संग स्यामा प्राण पियारी।[9]

---

※ मीरां सुधासिन्धु, (प्रथम खण्ड), पृ. 75।

1. (73), 2. (39), 3. (74), 4. (40), 5. (38), 6. (55), 7. (38), 8. (44), 9. (17)।

उपर्युक्त उद्धरणों में कहीं एक वर्ण और कहीं दो वर्णों का साम्य व आवृति है।

वृत्यनुप्रास—

सखि म्हारो कानूडो कलेजे की कोर।[1]
चंचल चित्त चल्या णा चाल्यां।[2]
माई म्हारो मोहणे मण हर्‌यो।[3]
सुन्दर स्याम सुघर सलोना।[4]
हरि हितू से हेत कर संसार आसा त्याग।[5]
साजां सिंगार सुहावां सजणी, प्रीतम मिल्यां धाय।[6]
वर णा वर्‌या बापुरो री जणम्या जणम नंसाय।[7]
माला मुंदरा मेखला रे खप्पर लूंगी हाथ।[8]
भोजन भवन भलो नहीं लागे, प्रिय कारण भई गैली।[9]
बावल बैद बुलाइ्या री म्हारी बांह दिखाय।[10]
स्याम मिलण सिंगार सजवां सुख री सेज बिछावां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर वार वार बलि जावां।[11]
कै कहूं काज किया संतन का कै कहूं गैल भुलावना।[12]
सांवरियो रंग राचां राणा सांवरियो रंग राचां।[13]
सकल कुटुम्बां बरजतां बोल्या बोल बनाय।[14]
दरसण कारण भई बावरी विरह विथा तन घेरी।[15]

मीरां ने सामान्यतः कोमलावृत्ति के अनुसार वर्णविन्यास किया है। इसके साथ उपनागरिका वृत्ति भी कहीं-कहीं मिल गई है, परन्तु परुषा वृत्ति का सर्वथा अभाव है। वैसे भी प्रेम और विरह के कोमल भावों को व्यक्त करने में कोमल और उपनागरिका वृत्ति का प्रयोग ही उपयुक्त रहता है। अतः वर्णविन्यास की दृष्टि से मीरां ने भावानुकूल वर्णों का यथोचित प्रयोग कर अपनी काव्य-कुशलता का अनायास ही परिचय दिया है।

लाटानुप्रास –

स्याम कन्हैया स्याम कमरिया स्याम जमण रो नीर।[16]
सांवरो उमरण सांवरो सुमरण सांवरो ध्यान धरां री।[17]
सूनो गांव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी विरहिन पिव बिण डोले तज गया पीव पियारी।[18]
झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति।
झूठा सब आभूषण री सांची पियाजी री पोति।[19]

मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (164), 2. (155), 3. (172), 4. (177), 5. (158), 6, (201), 7. (201), 8. (117), 9. (80), 10. (72), 11. (15), 12. (85), 13. (36), 14. (13) 15. (94), 16. (166), 17. (21), 18. (77), 19. (26)।

आप रंगीला सेज रंगीली और रंगीलो थारो साथ छै जी ।[1]

मीरां-पदावली में सामान्यतः एक शब्द की आवृत्ति वाले 'लाट' अनुप्रास के उदाहरण मिलते हैं। कई शब्द या वाक्यांश की आवृत्ति मीरां ने प्राय: नहीं की है, केवल मीरां-पदावली के निम्न पद में ही वाक्यांश की आवृत्ति हुई है—

लगण को नांव न लीजै री भोली ।
लगण लगी को पैंडों ही न्यारो पांव धरत तन छीजै ।
जै तूं लगण लगाई चावै तो सीस को आसन कीजै ।
लगण लगी जैसी पतंग दीप से वारि फेर तन दीजै ।
लगण लगाई जैसे मिरघे नाद से, सनमुख होय सिर दीजै ।
लगण लगाई जैसे चकोर चंदा से अगनी भक्षण कीजै ।
लगण लगी जैसे जल मछीयन से विछड़त तन ही दीजै ।
लगण लगी जैसे पुसप भंवर से, फूलन वीच रहीजै ।'[2]

**अन्त्यानुप्रास—**

अन्त्यानुप्रास को तुकान्त भी कहा जाता है। तुकान्तता मीरां के पदों का प्रधान गुण है। पद के चरणान्त में तो अन्त्यानुप्रास का सर्वत्र समान विन्यास हुआ ही है, परन्तु कहीं-कहीं शब्दों के अन्त में भी अन्त्यानुप्रास का विधान मिलता है—

तन मन धन करि वारणे, हिरदे धरि लीजै हो ।[3]
कोई निन्दो कोइ बिन्दो म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यां ।[4]
पांव न चालै पंथ दुहेलो आड़ा औघट घाट ।[5]
छैल छवीले नवल कान्ह संग ।[6]
अधर मधुर धर वंशी बजावां ।'[7]
मीरां पीड़ा सोइ जाणै, मरण जिवण जिण हाथ[8]
सदा उदासी रहै मोरी सजनी निपट अटपटी रीत ।[9]

मीरां के पदों को लयात्मकता और संगीत से ओतप्रोत करने में अनुप्रास अत्यधिक सहायक हुए हैं। पदों के आन्तरिक सौन्दर्य को निखारने तथा उनमें अद्वितीय श्रुतिमाधुर्य उत्पन्न करने में अनुप्रास का सुन्दर संयोजन मीरां ने किया है। इससे उनके (पदों में) अन्त: और वाह्य संगीत की सुमनोहरता आ गई है।

**यमक—**

निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थवाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुन: श्रवण को यमक कहते हैं। चूंकि यमक में भी वर्णों का एक विशेष प्रकार से न्यास ही होता है, अतः सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने यमक को एक विशेष प्रकार का अनुप्रास ही माना है।[10]

---

1. (मी. वृ. पदा.) पद संख्या—549 (मी. पदा. पद-145 में यह पंक्ति नहीं है)
2. (191), 3. (16), 4. (25) 5. (44), 6. (175), 7. (2), 8. (75), 9. (57), 10. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग, चतुर्थ-संस्करण पृष्ठ 80)।

मीरां-पदावली में यमक अलंकार का भी प्रयोग किया गया है। कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं –

> इण चरण ध्रुव अटल करस्यां सरण असरण सरण ।[1]
> रेजा रेजा भयो करेजा अन्दर देखो धंसिके ।[2]
> सांवरो उमरण सांवरो सुमरण सांवरो ध्यान धरां री ।[3]
> ज्यां ज्यां चरण धरणां धरणी धर त्यां त्यां निरत करां री ।[4]
> तुम गुणवंत वड़े गुणसागर मैं हूं जी औगुण हारा
> मैं निगुणी गुण एको नाहीं तुम हो वगसणहारा ।[5]
> लपट झपट मोरी गागर पटकी सांवरे सलोने लोने गात ।[6]
> सावण आवण हरि आवण री सुण्या म्हारो बात ।[7]
> मदरो सो बोल मोरा, मोरा स्याम विणा जिव दोरा ।[8]
> दुरजन लोग हंसो क्यों ने मोसों, दे वे कर कर तारी ।[9]

उपर्युक्त उद्धरणों में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी में निरर्थक वर्णों की आवृत्ति है। अंतिम से प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'मोरा' शब्द क्रमशः 'मयूर' और 'मेरा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और केर क्रमशः 'करना', 'क्रिया' और 'हाथ' के लिये।

**वीप्सा—**

तीव्र मनोवेग-व्यञ्जक शब्दों की पुनरुक्ति में वीप्सा अलंकार होता है। मीरां ने विस्मय, प्रेम, शोक आदि मनोवेगों को व्यक्त करने के लिए इनका सुन्दर प्रयोग किया है और यह अलंकार मीरां की भावाभिव्यक्ति को सुतीव्र और मार्मिक बनाने में विशेष रूप से सफल हुआ है। कुछेक उदाहरण अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं—

> रूम रूम नख सिख लख्या ललक ललक अकुलाय ।[10]
> जोगी मत जा मत जा मत जा, पांइ परूं मैं तेरी चेरी हों ।[11]
> जावादे जावा दे जोगी किसका मीत ।[12]
> अजहुं न मिल्या राम अविनासी वन-वन बीच फिरूं री
> रोऊं, नित टेरी-टेरी ।[13]
> अंग खीण व्याकुल भई, मुख पिय पिय वानी हो ।[14]
> सूनी सेज जहर ज्यूं लागे सिसक सिसक जिय जावै ।[15]
> ऊंचा चढ़ चढ़ पंथ निहारूं, कलप कलप अखियां राती ।[16]

**श्लेष—**

श्लेष अलंकार सामान्यतः द्वयर्थक होता है। मीरां की प्रवृत्ति गोपनीयता

---

मी. पदा., क्रम संख्या-(पद संख्या)
1. (1), 2. (7), 3. (21), 4. (21), 5. (112), 6. (176), 7. (66), 8. (मी., वृ. पदा., पद संख्या 358), 9. (मी. वृ. पद., पद—11), 10. (13), 11. (46), 12. (57), 13. (94), 14. (87), 15. (मी. वृ. पदा., पद सं. (133), 16. (106)।

या चमत्कारिता की ओर न होने के कारण इस अलंकार का विधान मीरां के पदों में नहीं हो पाया है। मीरां वृहत्पदावली में केवल एक पंक्ति ही ऐसी है जिसमें श्लेप अलंकार माना जा सकता है—

मन हमारो वांध्यो भाई कमल नयन अपने गुन ।[1]

यहां गुन शब्द में अभंग पद श्लेप है। 'गुन' से 'गुण' का अर्थ भी ध्वनित होता है और रस्सी का अर्थ भी।

मीरां-पदावली में उपलब्ध होने वाले प्रमुख शब्दालंकार ये ही हैं। इनके विवेचन के पश्चात् अव हम मीरां द्वारा प्रयुक्त अर्थालंकारों का विवेचन करेंगे—

**अर्थालंकार—**

सामान्यतः काव्य के वर्ण्य विषय को अधिक स्पष्ट, चमत्कारपूर्ण और प्रभविष्णु वनाने के लिए अर्थालंकारों का प्रयोग किया जाता है। मीरां ने भी इन्हीं कार्यों की सिद्धि के लिए अर्थालंकारों का प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इन अर्थालंकारों ने यथास्थान स्वयं प्रकट होकर मीरां की भावाभिव्यक्ति को हृदयस्पर्शिता एवं अभिव्यञ्जना-शैली को अपूर्व सौष्ठव प्रदान किया है। पीछे हमने अर्थालंकारों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह सर्वमान्य रहा है; परन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि मीरां-पदावली में समस्त वर्गीकृत अलंकार उपलब्ध नहीं होते। उसमें केवल उन्हीं अलंकारों का संयोजन किया गया है जो उनकी भावाभिव्यक्ति को सुस्पष्ट और सर्वग्राह्य वनाने में सहायक हुए हैं। उन्होंने सादृश्यमूलक अलंकारों को ही विशेप रूप से अपनाया है। वैसे भी समस्त अलंकारों का समावेश किसी एक काव्य में हो पाना न तो सम्भव है और न ही स्तुत्य। प्रत्येक युग की अपनी-अपनी प्रवृत्तियां होती हैं। रीतिकाल में जहां अलंकार काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व वन गया था, वहां भक्तिकाल में इसकी स्थिति गौण थी। समस्त भक्तिकाव्य में और विशेपकर कृष्णभक्ति काव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों की ही प्रधानता रही है। यह वात पृथक् है कि सूर प्रभृति महाकवियों के काव्य में अलंकारों की अनोखी छटा मिल जाती है और कहीं-कहीं अपना कौशल प्रकट करने के लिये सूर ने गोपन-मूलक चमत्कारप्रधान अलंकारों का भी प्रयोग कर लिया है; परन्तु सामान्यतः ऋजु अभिव्यक्तियों के सौन्दर्य को वर्द्धित करने के निमित्त सादृश्यमूलक अलंकार ही प्रयुक्त किये गये हैं। अतः मीरां के काव्य में भी सादृश्यमूलक अलंकार की अधिकता को तात्कालिक प्रभाव माना जा सकता है।

**1—सादृश्यमूलक अलंकार—**

इसे साधर्म्यमूलक अथवा औपम्यमूलक भी कहा जा सकता है। इन अलंकारों का स्थान काव्य-क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। रीति में सरल होने के साथ ही इस वर्ग के अलंकारों की सवसे वड़ी विशेपता यह है कि यह अलंकार-वर्ग हमें वर्ण्यविपय के साथ ही अप्रस्तुतों की एक नवीन मनभावनी दुनियां में ले जाता है। 'अप्रस्तुत-योजना से कवि का अन्तर्जगत् सहज ही प्रकाशित हो जाता

---

1 (मी. वृ. पदा., पद सं. 368)।

है, क्योंकि अप्रस्तुत के रूप में वह अपने हृदय के ही संचित संसार को पाठक के समक्ष खोल कर रखने की चेष्टा करता है। कवि-हृदय के वस्तु-रूप, एवं प्रतीकों का सर्वाधिक सुन्दर और समर्थ प्रदर्शन इसी वर्ग में होता है।'[1]

साधर्म्य, सादृश्य या औपम्य, सभी शब्द, कम से कम दो वस्तुओं की स्पष्ट अपेक्षा रखते हैं। किन्हीं दो वस्तुओं में ही सदृशता, सधर्मता या तुलना का कार्य हो सकता है। अलंकार-क्षेत्र में ये दो वस्तुएं या पक्ष ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत अथवा उपमेय और उपमान कहे जाते हैं। काव्य-रचना के समय चूंकि कवि के मन की उद्दीप्तावस्था होती है, अतः वह साधारण को असाधारण और असाधारण को साधारण रूप में अनुभव करती है। दोनों ही दृष्टियों से यह भावना का विकास है और ऐसी स्थिति में मन का सन्तोष वस्तु की साधारणता से नहीं हो पाता। उसी की पूर्ति अप्रस्तुत-योजना द्वारा की जाती है।

उपमेय के उत्कर्ष के लिये उपमान का प्रयोग किसी निश्चित सीमा में नहीं होता है, अपितु अलंकार हमारे समस्त अनुभवों के प्रतिनिधि हैं। आचार्य शुक्ल जी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए लिखा है—'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाल उक्ति अलंकार है।'[2] यहां वस्तुओं की स्पष्टता को उन्होंने तीन क्षेत्रों—रूप गुण और क्रिया—में बांटा है। पदार्थ के ये तीनों ही पक्ष हमारी ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। पदार्थों का समस्त व्यक्तित्व इन्हीं तीनों में समाया रहता है और ये ही हमारे प्रत्यक्ष जीवन के अनुभवों के रूप में हमारे मन में संचित रहते हैं। जिस प्रकार प्रस्तुत के सम्वन्ध में यह सत्य है कि कवि अपने चतुर्दिक् जगत् से ही उसका चयन करता है, उसी प्रकार अप्रस्तुत भी उसके इसी अनुभूतविश्व के पदार्थ होते हैं। यह वात पृथक् है कि वे पदार्थ कवि की कल्पना का आलम्वन या अतीव सौन्दर्य से विभूषित हो उठते हैं तथा अपने वास्तविक सौन्दर्य की अपेक्षा अनन्त गुणा वढ़कर एक नवीन सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

कवियों द्वारा गृहीत उपमानों को उनके ग्रहण-क्षेत्र के आधार पर निम्न प्रकार वर्गीकृत किया गया है—1—प्राकृतिक उपमान, 2—सांस्कृतिक उपमान, 3—वैयक्तिक उपमान, 4—साहित्यिक उपमान और 5—सामयिक उपमान।[3]

मीरां ने भी ऐसे उपमानों को ग्रहण किया है और इन उपमानों का प्रयोग कर अपने कथ्य को अधिक आकर्षक, स्पष्ट और ग्राह्य वनाया है। सादृश्यमूलक अलंकारों के पूर्ववर्णित भेदों में प्रथम वर्ग (भेदाभेद तुल्यप्रधान) का प्रतिनिधि अलंकार है—उपमा। अतः यहां मीरां द्वारा प्रयुक्त उपमा अलंकार का विवेचन सर्वप्रथम प्रस्तुत है—

---

1 डा. ओमप्रकाश शर्मा—रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ. 486।

2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिंतामणि—(भाग 2) पृ. 181

3 डा. ओमप्रकाश शर्मा—रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ. 490।

उपमा—

मीरां ने रंग, रूप, गुण, भावादि का साम्य दर्शाने के लिये उपमा अलंकार का प्रयोग किया है। यद्यपि यह अलंकार मीरां द्वारा बहुल प्रयुक्त अलंकारों में से एक है, अतः इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं, परन्तु उन सबों को उद्धृत करना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही, अतः यहां कुछेक उदाहरण ही दिये जा रहे हैं—

(1) रंग-साम्य—

> पानां ज्यूं पीली पड़ी री लोग कहें पिंडवाय।[1]
> ऐसी राधे रूप बनी कंचन सी देह ठनी।[2]
> मीरां प्रभु गिरधर मिले (ज्यों) पाणी मिल गयो रंग।[3]

उपर्युक्त प्रथम दो उदाहरणों में पूर्णोपमा है परन्तु अन्तिम उदाहरण में वाचकशब्द लुप्त-उपमा है। इन उपमानों का चयन मीरां ने प्रकृतिजगत् से किया है।

(2) रूप-साम्य—

> अब तो बात फैल गई जैसे बीज बट की।[4]
> मदमाते हस्ती सम फिरत प्रेम लटकी।[5]
> सहस गोप बिच स्याम बिराजे ज्यों तारा बिच चंद।[6]
> स्याम तुम्हारे कारण राधा सूक गई तिनका सी।[7]

यहां भी चारों उपमान प्रकृति-जगत् से लिये गये हैं, जिनमें दूसरा उपमान (मदोन्मत्त हाथी का) सर्वाधिक जीवन्त है। अंतिम उपमान में कुछ-कुछ ऊहात्मकता आ गई है जिसमें विरहाधिक्य से उत्पन्न कृशता की तुलना तिनके से की गई है।

(3) गुण-साम्य—

> ऐसी प्रीत लगी मनमोहन ज्यूं सोने में सुहागा।[8]
> मात पिता सुत कुटुम्ब कबीला, टूट गया ज्यूं धागा।[9]
> ठोर ठोर अलेव फिरत हो, फूल भंवर की सी रीत।[10]
> थे तो राणाजी म्हांने इसड़ा लागो ज्यों ब्रच्छन में कैर।[11]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम दो में मीरां ने सांस्कृतिक जगत् से उपमान ग्रहण किया है तो अंतिम दो उपमान प्रकृति-जगत् से लिये गये हैं। प्रकृति-जगत् से गृहीत पुष्प-भ्रमर का उपमान तो परम्परागत है, परन्तु पीड़ादायक कैर वृक्ष से राणा की तुलना करके मीरां ने सर्वथा नवीन उपमान प्रस्तुत किया है। यह राजस्थान में उत्पन्न होने वाला एक कंटीला वृक्ष है। अतः इसका प्रयोग अन्य ब्रजभाषा के कवियों ने प्रायः नहीं किया है। यह मीरां-प्रदत्त मौलिक उपमान है।

भाव-साम्य

> खिण आंगण खिण डागलै रे खिण खिण ऊभी जोय।

---

मी. पदा., पद संख्या—
1. (72), 2. (208), 3. (113), 4. (130), 5. (130), 6. (139), 7. (88), 8-9. (108), 10. (28), 11. (38)।

घायल ज्यूं घूमत फिरूं री, म्हारो मरम न जाणै कोय[1]
ज्यूं चातक घण कूं रटै मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीरां व्याकुल विरहिणी, सुधबुध विसराणी हो।[2]
रात दिवस कल नाहि परत है जैसे मीन बिन पानी।[3]
साधु हमारी आतमा जी हम साधुन की देह।
रोम रोम में रम रही जी, ज्यूं वादल में मेह।[4]
स्याम विणा बौरा भयां मण काठ ज्यूं घुण खाय।[5]

भाव-साम्य दर्शाने के लिये मीरां ने उपमा अलंकार की सुन्दर योजना की है। उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम को छोड़कर शेष सभी उपमान प्रकृति-जगत् से लिये गये हैं। पहला उपमान मीरां ने अपने वैयक्तिक परिवेश से लिया है, वैसे इसे राज-परिवार से या राज-महल से गृहीत उपमान भी माना जा सकता है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि मीरां ने उपमा अलंकार में प्राकृतिक उपमानों का ही प्रयोग अधिक किया है तथा पूर्णोपमा ही मीरां-पदावली में अधिक मिलती है।

रूपक—

रूपक अभेद-प्रधान अलंकार है। उपमेय और उपमान में जब तक उसके गुणों के आधार पर भिन्नता का भाव रहता है, तब तक उसका क्षेत्र उपमा रहता है, परन्तु जब दोनों (उपमेय उपमान) के गुणों की एकता अपने पूर्ण वेग से कवि-मानस को बांध लेती है, तब रूपक अलंकार की सृष्टि होती है। अरस्तू ने रूपक को 'अलंकारों का बादशाह' माना है। मीरां के काव्य में भी रूपक अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। इसे मीरां का अतिप्रिय अलंकार कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उन्होंने तद्रूप रूपक की अपेक्षा निरंग, सांग और परम्परित रूपक का प्रयोग अधिक किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त रूपकों में से कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं—

**निरंग रूपक—**

असुवां जल सींच सींच प्रेम बेल बूयां।[6]
गायां गायां हरिगुण निसदिन, काल-व्याल री बांची।[7]
णेणा वणज बसावां री, म्हारा सांवरा आवां।[8]
विरह नागन मोरी काया डसी है लहर लहर जिव जावै हो।[9]
भौ समुन्द अपार देखां, अगम ओखीधार।
लाल गिरधर तरण तारण, वेग करस्यो पार।[10]
स्याम नाम री झाझ चलास्यां भवसागर तर जास्यां।[11]
विरह अनल लागां उर अन्तरि, व्याकुल म्हारा सरीर।[12]
विरह समंद में छोड़ गया छो नेह री नाव चलाय।[13]

---

1. मी. बृ. पदा., पद संख्या—(253), 2. मी. पदा., पद—(87), 3. (130), 4. मी. बृ. पदा., पद—(26), 5. मी. पदा., पद (90), 6. (18), 7. (19), 8. (15), 9. (74), 10. (196), 11. (35), 12. (155), 13. (64)।

वदन चंद परगासतां मन्द मन्द मुसकाय ।[1]

तन मन धन गिरधर पर वार्यां चरण कंवल मीरां लपटाणी ।[2]

निरंग रूपक की प्रक्रिया वड़ी ही सहज और सरल है । सांग रूपक में जहां रूपकों का विस्तार कई पंक्तियों में और कभी-कभी पूर्ण पद में भी होता है, वहां निरंग रूपक अपेक्षाकृत छोटे और स्वतंत्र होते हैं । इसी कारण मीरां ने इन्हें सहज ही अपना लिया हैं । रूपक सगुण-भक्तों का प्रिय अलंकार है जिस प्रकार निर्गुण-संतों ने प्रतीकों का सुन्दर संयोजन कर अपने वर्ण्य को रहस्यमय चमत्कृति से मण्डित किया है, उसी प्रकार सगुण-भक्तों ने रूपक-योजना का सुरुचिपूर्ण विन्यास कर अपने आराध्य के स्वरूप को सर्वग्राह्य और सुस्पष्ट किया है । मीरां ने दोनों प्रणालियों को अपनाया है ।

**सांग-रूपक—**

निम्नांकित पद में कवयित्री ने सुहागिन नारी का आरोपण ब्रह्मवादिनी स्त्री के ऊपर किया है और उसके द्वारा धारण किए हुए सुहाग-चिह्नों व शृंगार-प्रसाधनों का आरोपण भक्तिमती नारी के दिव्य गुणों पर किया है । अतः निम्नोक्त सांग रूपक वड़ा ही रम्य और आकर्षक वन पड़ा है—

ओढ़ूं लज्या चीर, धीरजि को घाघरो ।
समता कांकण हाथ सुरति को मूंदड़ो ।
अंगिया है विसवास, चूड़ो चित ऊजलो ।
दुलड़ि दिल दरियाव, सांच को दोवड़ो ।
दातां अमृत मेख, दया को वोलवो ।
ऊवटणों गुरज्ञान, ध्यान को धोइवो ।
नकवेसर हरि नांव, काजलि म्हारे धरम को ।
विदलो जग उजियार, तिलक ततसार को ।
ग्यान अगूंठी, कान जुगति का झूठणां ।
जेलड़ सील संतोष, निरति का घघरा ।
पहली व्रल ग्न्यान, हरीवर राखड़ी ।
पटरि सुवागण नारि, झरोके आ खड़ी ।
पतिवरता की सेज, साहिव जी पधारिया ।
मीरां हरि की सरण, परम पद पाइया ।[3]

इसमें प्रयुक्त उपमान मीरां ने वैयक्तिक जीवन से व सामाजिक परिवेश से लिये हैं । वैसे मीरां की रुचि सांगरूपक की अपेक्षा निरंग रूपक में ही अधिक रही है । उन्होंने एक और पद में ढोल का सांग-रूपक में प्रयोग किया है, परन्तु उक्त पद को परशुराम चतुर्वेदी जी ने प्रक्षिप्त माना है । पद इस प्रकार है—

जाको नाम सुरति की डोरी, कड़ियां प्रेम चढ़ाऊं ए माय ।
ज्ञान को ढोल वन्यो अति भारो, मगन होय गुण गाऊं ए माय ।

---

मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (13), 2. (11), 3. मी. वृ. पदा., पद—(61) ।

तन करूं ताल मन करूं मोर चंग सोती विरह जगाऊं ए माय ।[1]

परम्परित रूपक—

मीरां-पदावली के कई पदों में परम्परित रूपक अलंकार का अच्छा निर्वाह मिलता है । उदाहरणार्थ निम्न पद प्रस्तुत है—

मुज अबलाने मोटी नीरांत थई रे
शामलो घरेणु मारे सांचु रे ।
वाली घड़ावुं विट्ठल वर केरी, हार हरी नो मारे हैयेरे ।
चित्त माला चतुरभुज चुड़लो, शिद सोनी घरे जैय रे ।
झांझरियां जगजीवन केरा, कृष्णाजी कडला रे कांबी रे ।
वींछियां घूंघरा रामनारायण ना अणवट अन्तरजामी रे ।
पेटी घड़ावुं पुरुषोत्तम केरी, त्रीकम नामनुं तालूं रे ।
कूंची करावुं करुणानन्द केरी, तेमां घरेणु मारूं घालू रे ।[2]

उक्त पद में मीरां ने श्याम रूपी गहने को सच्चा आभूषण माना है और क्रमश: उन्हीं के विविध नामों पर अंग-प्रत्यंग के विविध आभूषणों का आरोपण किया । निश्चय ही उपर्युक्त अप्रस्तुत मीरां की नारी-भावना का तथा आभूषण-प्रिय अभिरुचि का द्योतन करता है, भले ही वे आभूषण अमूर्त रूप में धारण किये गये हों । इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना अन्य भक्त कवियों में प्राय: कम मिलती है । यह मीरां का वैयक्तिक उपमान है । उपर्युक्त पद में उपमान परम्परागत होते हुए भी नवीन रूप में अभिव्यक्त हुए हैं, परन्तु निम्नोक्त पद में परम्परागत उपमानों का परम्परागत रूप में निर्वाह हुआ है ।

'काम कूकर लोभ डोरी, बांधि मोहि चण्डाल ।
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिलै गोपाल ।
बिलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत ।
दीन हीन ह्वै छुधारत से राम नाम न लेत ।
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अंग न समात ।
अभिमान टीला किये वहु कहु जल कहां ठहरात ।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरां-पदावली में अभेदरूपक का सुन्दर विधान हुआ है । मीरां ने तद्रूप रूपकों का प्रयोग नहीं किया है । उपमा और रूपक अलंकार के पश्चात् अब उन अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत है जिनका विधान इन दोनों अलंकारों की तुलना में कम हुआ है ।

उत्प्रेक्षा -

उत्प्रेक्षा साधर्म्यमूलक अभेदप्रधान अलंकार होते हुए भी विशेषत: अध्यवसायमूलक अलंकार है । सामान्यत: उत्प्रेक्षा में उपमान कल्पना पर अधिक आधारित दिखाई देता है, कल्पना के अतिरेक के कारण ही मन की वृत्ति दो

1 मी. पदा.—(परिशिष्ट – ग, पद-7) ।
2 मी. पदा. (पद—141) ।
3 (मी. पदा., पद—158) ।

वस्तुओं की निश्चयात्मक सत्ता पर न टिक कर संभावना के रूप में रह जाती है।[1] क्योंकि उपमेय के स्वरूप, हेतु तथा फल को अन्य रूप में सम्भावित किया जाता है, इसलिये इन तीनों के आधार पर उत्प्रेक्षा भी त्रिविधा हो जाती है-स्वरूपोत्प्रेक्षा या वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। मीरां ने वस्तूत्प्रेक्षा का ही प्रयोग अधिक किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

कुण्डल झलकां कपोल अलकां लहूराई
मीरा तज सरवर ज्यों मकर मिलण धाई।[2]
कुल कुटुम्बी आन बैठे मनहु मधुमाखी[3]
सूली सेज राणा ने भेजी, मीरां दीजो सुलाय।
सांझ भई मीरां सोवन लागी, मानों फूल बिछाय॥[4]
उमग्या इन्द्र चहूँ दिस बरसे, दामिन छोड्या लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलण रे काज।[5]
नेण नीरज में अंव वहे रे (बाला) गंगा वहि जाती।[6]

अन्तिम दो उदाहरणों में गम्योत्प्रेक्षा है, शेष सभी में पूर्ण वस्तूप्रेक्षा है।

**अर्थान्तरन्यास—**

साधर्म्यादि के लिये विशेष से सामान्य अथवा सामान्य से विशेष का समर्थन किये जाने में अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। मीरां ने भी अपने कथ्य को पुष्ट करने के लिये इनका प्रयोग किया है। निम्न पद में मीरां अपनी अकथनीय व्यथा, घायल व्यक्ति की पीड़ा के अप्रस्तुत द्वारा वर्णित कर रही हैं—

हे री म्हां दरद दिवाणां म्हांरा दरद न जाण्यां कोय।
घायल री गत घायल जाण्यां, हिवड़ा अगण संजोय।
जौहर की गत जौहर जाणे, क्या जाण्यां जिण खोय।[7]

इसी प्रकार निम्नोक्त पद में भी मीरां ने एक सत्य का कथन कर उसे प्रकारान्तर से पुष्ट किया है—

करमगति टारां णाही टरां।
सतवादी हरिचन्दा राजा, डोम घर णीरां भरां।
पांच पांडु री राणी द्रुपता, हाड़ हिमालां गरां।
जाग कियां वलि लेण इन्द्रासण जायां पाताल परां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर विखरू अमृत करां।[8]

ऐसे ही निम्न पद में भी लोक-प्रसिद्ध उक्ति का उन्होंने विविध प्राकृतिक व लौकिक उपमानों से समर्थन किया हैं, इसे भी हम अर्थान्तरन्यास अलंकार मान सकते हैं—

1 डा. ओमप्रकाश शर्मा, रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ. 506।

मीरां-पदावली—क्रम संख्या—(पद संख्या)
2. (12), 3. (परिशिष्ट—ग, पद—4), 4. (41), 5. (41), 6. (185), 7. (70), 8. (189)।

विध विधणा री न्यारां ।
दीरघ नेण मिरघ कूं देखां वण वण फिरतां मारां ।
उजलो वरण वागलां पावां, कोयल वरणां कारां ।
नदयां नदयां निरमल धारां, समुंद किया जल खारां ।
मूरख जण सिंघासण राजां पण्डित फिरतां द्वारां ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरां ने सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग के प्रमुख अलंकारों का ही अपने काव्य में विधान किया है और यह विधान भी निरायास ही है, जो मीरां की तीव्र भावाभिव्यक्तियों के प्रवाह में उसे स्पष्टता प्रदान करने के लिये स्वयं ही आ मिला है ।

**अतिशयोक्तिमूलक अलंकार—**

आचार्य रुय्यक ने अतिशयोक्तिमूलक अलंकारों को सादृश्य गर्भ, अध्यवसायमूलक अलंकार ही माना है । अतिशयोक्ति समानता पर आधारित अलंकारों की अन्तिम सीमा है । कहा गया है कि अलंकारों का मूल अतिशयता का प्रदर्शन है, परन्तु अतिशयता का पूर्वफलन अतिशयोक्ति अलंकार में ही सम्भव है । दो वस्तुओं में समानता दिखाते-दिखाते एक स्थिति ऐसी भी आती है कि जब चित्त-वृत्तियां अतिरेक के कारण केवल उपमान पर ही टिक जाती हैं । अतिशयता के चरम रूप में प्रदर्शित होने से वर्णन में लोकातिशयता का आ जाना स्वाभाविक है । इसलिए अतिशयोक्ति में साधर्म्य गौण और अतिशयता प्रधान हो जाती है । अतिशयता की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि लोकमर्यादा के विरुद्ध वर्णन को (प्रस्तुत के वढ़ा-चढ़ा कर कहने को) अतिशयोक्ति अलंकार कहा जाता है ।

मीरां की विरहाभिव्यक्तियां यथार्थ होते हुए भी कभी-कभी अतिशयता की सीमा को छूने लगी हैं, परन्तु वे ऊहा के स्तर तक नहीं पहुँची हैं और न ही वे हास्यास्पद प्रतीत होती हैं । उनमें हृदय की करुणा को विलोडित कर देने की अपूर्व क्षमता है, विरहिणी की विरहकातर अवस्था का अतिशयतापूर्ण वर्णन उसके प्रति सहानुभूति और संवेदना ही जगाता है । विहारी की नायिका की भांति उनमें अयथार्थ प्रतीति नहीं है, मीरां का विरहातिशय भोगा हुआ है, कल्पित नहीं है, अतः उसमें हृदय को छू लेने की अद्भुत सामर्थ्य है—डा. सावित्री सिन्हा के शब्दों में—

'विरह की तीव्र उत्कटता की व्यञ्जना अनेक स्थलों पर उन्होंने (मीरां ने) अत्युक्तियों द्वारा की है, परन्तु इन अत्युक्तियों का भावपक्ष इतना प्रवल है कि अत्युक्तिजन्य उपहास नहीं आने पाता और विरहानुभूतियो की तीव्रता की करुणा, पूर्ण रूप से हृदय पर व्याप्त हो जाती है ।......................मीरां की अत्युक्तियों का प्रभाव करुणात्मक है ।[2]

**अत्युक्ति—**

आकुल व्याकुल रैण विहावां, विरह कलेजो खाय ।

---

1 मीरां पदावली—क्रम संख्या - (पद संख्या) 190 ।

2 डॉ. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, पृ. 151 ।

दिवस णां भूख ण निदरा रैणां, मुख सूं कह्या ण जाय ।[1]
तलफत तलफत बहु दिन बीतां पड़ी की पासड़ियां ।
नैण दुखी दरसण कूं तरसैं, नामिन वैठी सांसड़ियां ।[2]
सावण आवण कह गया बाला, कर गया कौल अनेक ।
गिणता-गिणता धंस गई रे, म्हांरा आंगलियां री रेख ।[3]

वस्तुतः मीरां ने अत्युक्ति का प्रयोग चमत्कार-सृष्टि के लिये कहीं भी नहीं किया । यद्यपि जायसी और सूर प्रभृति महाकवि काल्पनिक विरह के ऊहात्मक चित्र उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर पाये, परन्तु मीरां इससे सर्वथा मुक्त और निर्लिप्त रहीं । विरहप्रधान होते हुए भी ऊहात्मकता का सर्वथा अभाव मीरां के काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

**अतिशयोक्ति—**

अतिशयोक्ति अलंकार के पांच भेद किये गये हैं, परन्तु मीरां के काव्य में केवल दो का ही विधान किया गया है—

**रूपकातिशयोक्ति -**

पाश्चात्य अलंकारों के प्रभाव से रूपकातिशयोक्ति को आजकल 'प्रतीक' की संज्ञा दे दी गई है । मीरां के काव्य में प्रतीक-योजना का विवेचन अन्य अध्याय में किया गया है, अतः यहां कुछेक उदाहरण ही प्रस्तुत हैं—

दध मथ घृत काढ़ लयां डार दयां छूयां ।[4]
चौमास्या री बावड़ी ज्याकूं नीर णा पीवां ।[5]
अमृत प्यालो छाड़यां रे कुण पीवां कड़वा नीरां री ।[6]
री म्हारे पार निकल गया सांवरे मार्‌या तीर ।[7]

**भेदकातिशयोक्ति —**

रूपकातिशयोक्ति में जहां भेद में अभेद होता है वहां भेदकातिशयोक्ति में अभेद में भेद होता है, अर्थात् वास्तव में भेद न होने पर भी भेद कथन किया जाता है । मीरां-पदावली में इसके कुछ प्रयोग इस प्रकार मिलते हैं—

दधि को नाम बिसरि गयो ग्वालिन, हरिल्यो हरिल्यो बोलै ।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिन, औरहि और बोलै ।[8]
जावो निरमोहिया जाणां थारी प्रीत ।
लगन लगी और प्रीत छी, अब कछु अवली रीत ।[9]

यहां क्रमशः 'औरहि और बोलै' तथा 'अब कछु अवली रीत' पद द्वारा भेदकता दर्शाई गई है ।

इनके अतिरिक्त अतिशयोक्ति के अन्य भेद-पदावली में नहीं मिलते हैं ।

**2. विरोधमूलक अलंकार—**

विरोधमूलक अलंकारों के मनोवैज्ञानिक पक्ष के सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र का

---

मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (101), 2. (108), 3. (117), 4. (18), 5. (28), 6. (24), 7. (155), 8, (178). 9. (56, पाठान्तर) ।

कथन है कि इनमें वाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके आश्चर्य की उद्भावना की जाती है। साधारणतः देखने में किन्हीं दो वस्तुओं में दिखाई देने वाला विरोध वास्तविक प्रतीत होता है, परन्तु विषय के अनुसार वह वास्तविक नहीं होता। आरम्भ में विरोध-अर्थात् बुद्धि का दो विरोधी पदार्थों पर टिकाव दो प्रकार के अनुभव और कवि द्वारा उल्लिखित उसका सामंजस्य, वृत्तियों में संघर्ष उत्पन्न करता है, परन्तु दूसरे ही क्षण उनमें समन्वय हो कर आश्चर्य की उद्भावना हो जाती है और इस प्रकार का समन्वयजनित कौतूहल स्वयं में आनन्दमय हो जाता है। समस्त विरोधमूलक अलंकारों में, विभिन्न रूपों में यही विरोध और सामंजस्य की प्रक्रिया छिपी रहती है।[1]

मीरां के काव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों की अपेक्षा विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग प्रायः कम ही हुआ है। केवल विरोधाभास और विभावना अलंकारों के एक-एक उदाहरण उनमें मिलते हैं।

**विरोधाभास—**

फूलन सेज सूल होय लागी, जागत रैण विहावै।[2]

**विभावना—**

विन करताल पखावज वाजै, अणहद की झणकार रे।
विन सुर ताल छतीसों गावै, रोमरोम रंग सार रे।[3]

यद्यपि मीरां-पदों में संत-मत का प्रभाव दिखलाई पड़ता है, तथापि संतों की आश्चर्यपूर्ण विरोधमूलक उलटवांसी शैली का कोई प्रभाव उनकी अलंकार योजना पर दिखाई नहीं देता। शृंखलावन्धोपचिता और न्यायमूलक अलंकारवर्ग के अलंकारों का मीरां-पदावली में सर्वथा अभाव है। हां, गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक वर्ग कुछ अलंकारों का प्रयोग मीरां ने किया है।

**गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार—**

इस वर्ग के अन्तर्गत सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति आदि अलंकार माने गये हैं। इस वर्ग के अलंकारों में वक्रोक्ति की प्रधानता रहती है। वात को सीधे ढंग से न कह कर घुमा फिरा कर कहा जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने इन अलंकारों को जिज्ञासामूलक माना है; परन्तु डॉ० ओमप्रकाश शर्मा इन्हें गोपनमूलक कहना अधिक संयत समझते हैं। वैसे इस वर्ग के अलंकारों में गोपन की जिज्ञासा और उसकी समन्विति दोनों का ही आनन्द रहता है।

मीरां ने भी इस वर्ग के अलंकारों का यथास्थान प्रयोग किया है। इन अलंकारों में व्यञ्जना द्वारा अभीष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। मीरां द्वारा प्रयुक्त प्रमुख गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार ये हैं—

**पर्यायोक्ति —**

पर्यायोक्ति में अभीष्ट अर्थ विशेष भंगिमा से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें

---

1 रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ. 522।
2 (मी. पदा., पद-92)।
3 (मी. पदा., परिशिष्ट - ग, - पद—10)

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों प्रस्तुत रहते हैं। इसका मूल आधार वहाना होता है तथा कौतूहलपूर्ण वाक्‌चातुर्य चित्त को चमत्कृत कर देता है।

यथा –

पत्थर की तो अहल्या तारी वन के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीरां में कहिये सौ पर एक घड़ी।[1]

यहां मीरां कहना चाहती हैं अपने उद्धार की व्यथा; परन्तु कहती हैं अहल्या की कथा। इस प्रकार अपनी आकांक्षा व्यक्त करने के विलक्षण ढंग से मीरां ने पद के सौन्दर्य को चमत्कृति प्रदान की है।

**वक्रोक्ति—**

मीरां की वक्रोक्तियों का उल्लेख पीछे उक्तिवक्रता प्रकरण के अन्तर्गत किया जा चुका है, अतः उन्हीं उदाहरणों को पुनः उद्धृत करना उचित नहीं है।

**व्याजस्तुति—**

मीरां की सम्पूर्ण वक्रता और वाग्विदग्धता कृष्ण के प्रेम की ज्वाला में विगलित हो चुकी थी। अतः उपालम्भ देने के अवसर मीरां को प्रायः नहीं मिले। केवल 'मीरां बृहत्-पदावली' के निम्न पद में ही व्याजस्तुति अलंकार दृष्टिगत होता है—

अहो कांई जाणे गुवालियो वेदरदी पीड़ पराई।
जनमत ही कुल त्यागन कीनो वन वन धेनु चराई।
चोर-चोर दधि माखन खायो, अवला नार सताई।
सोला सैंस गोपी तज दीनी, कुवजा संग लगाई।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, कुंण करै थारी रे वड़ाई।[2]

इस पद में मीरां प्रत्यक्षतः कृष्ण की निन्दा करते हुए भी परोक्षतः इनकी स्तुति कर रही हैं।

**परिकरांकुर—**

मीरां ने अपने प्रभु को साभिप्राय संज्ञाओं से सम्वोधित किया है। कुछेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मीरां सिरि गिरधर नटनागर भगति रसीली जांची।[3]

यहां 'नटनागर' पद का साभिप्राय प्रयोग है। नट जो समस्त रसों को इन्द्रिय संवेद्य कराने में समर्थ होता है वह अवश्य ही रसपूर्ण भक्ति का दान दे सकता है। ऐसे ही निम्न पद में 'मदनमोहन' संज्ञा का साभिप्राय प्रयोग द्रष्टव्य है—

देख्यां रूप मदन मोहन रो पियत पियूखन मटके।[4]

मदन (कामदेव) को भी मोहित करने वाले सौन्दर्य का निरन्तर अपलक दर्शन करने पर भी नयनों का अतृप्त ही रहना सहज स्वाभाविक है; क्योंकि सौन्दर्य

---

1 (मी. पदा., पद—118)।
2 (मी. वृ. पदा., पद—11),
3 (मी. पदा., पद—19), 4. (10)।

का जितना अधिक पान किया जाय, शान्त होने की अपेक्षा तृषा उतनी ही बढ़ती जाती है।

इस उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मीरां ने अर्थालंकारों का आवश्यकतानुकूल सुन्दर संयोजन किया है।

उभयालंकार—

एक ही पंक्ति में शब्दालंकार और अर्थालंकार के संयुक्त संयोजन से मीरां पदावली में उभयालंकार की सृष्टि हुई है। इन अलंकारों में सामान्यतः अनुप्रास, पुनरुक्ति, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का ही सहविन्यास किया गया है। उदाहरणार्थ कुछ पद्यांश प्रस्तुत हैं—

सुभगसीतल कंवल कोमल जगतज्वाला हरण।[1]

उक्त पद में 'स', 'क' और 'ज' वर्णों की आवृत्ति में छेकानुप्रास है और 'कंवल कोमल' में वाचकलुप्त उपमा है। ऐसे ही निम्नोक्त पद में रूपक और वृत्यनुप्रास तथा पुनरुक्ति अलंकार का सम्मिश्रित प्रयोग किया गया है—

वदन चन्द परगासतां, मन्द मन्द मुस्काय।[2]

तथा—

प्रीतम पन्नग डस्यो कर मेरो लहर लहर जिय जावै हो।[3]

इसी प्रकार निम्न पद में छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा अलंकार का संयुक्त प्रयोग किया गया है।

कुल कुटुम्बी आन बैठे मनहु मधु माखी।[4]
काई करां कित जावां सजणी म्हां तो स्याम डसी।[5]

उपर्युक्त पद में वृत्यनुप्रास और 'श्याम' पद में श्लेष अलङ्कार है। 'स्याम' कृष्ण का भी द्योतक है और काले सर्प का भी, साथ ही विरह का वर्ण भी श्याम ही होता है, अतः 'विरह' के अर्थ में भी इस शब्द को लिया जा सकता है। पूर्व वर्णित उभयालंकारों में जहां अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का मिश्रण दिखाई पड़ता है वहां इस अन्तिम उद्धरण में दो शब्दालंकारों का ही सम्मिलित प्रयोग उपलब्ध होता है।

निष्कर्ष—

मीरां के काव्य में स्वाभाविक उक्ति के साथ उक्ति-वक्रता का अद्भुत समन्वय है और आश्चर्य की बात तो यह है कि ऊपर-ऊपर से अनलंकृत लगने वाले उनके काव्य में वर्ण से लेकर प्रकरण-वक्रता तक की सभी वक्रताएं उपलब्ध होती हैं। इन वक्रताओं को देखने के पश्चात् यह नहीं कहा जा सकता कि मीरां में वाग्वैचित्र्य नहीं है और केवल सपाट-बयानी है। अनुभूति की गहनता के कारण अभिव्यक्ति की सहजता भी किस प्रकार वक्रोक्ति का रूप धारण कर सकती है, मीरां के पद इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। किन्तु मीरां की वक्रोक्तियां अपने स्वाभाविक

---

मी. पदा., क्रम संख्या (पद संख्या)
1. (1), 2. (13), 3. (92), 4. (मी. पदा., परिशिष्ट-ग, पद-4),
5. (मी. पदा., पद-86)।

सौन्दर्य के धरातल को छोड़कर कहीं भी ऊहात्मकता तक नहीं पहुँची हैं। यही उनकी सहजता और सफलता है।

सहज वक्रोक्तियों के समान ही मीरां ने भावसहजात अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। उनके काव्य में अलंकार भावों को स्पष्टता और भावोद्बोधकता प्रदान करने के लिये निरायास ही प्रयुक्त हो गये हैं। वर्ण्य विषय को सर्वसंवेद्यता और मार्मिकता प्रदान करने के निमित्त किया गया अप्रस्तुत-संयोजन ऋजु होते हुए भी आकर्षक है और मीरां की अभिव्यञ्जना को अनोखी दीप्ति से मंडित करता है। सामान्यत: अलंकरणप्रिय प्रवृत्ति नहीं होते हुए भी मीरां ने अलङ्कारों का भावों की आवश्यकता के अनुकूल प्रयोग किया है तथा अपने इस प्रयोग में वे सफल रही हैं। सरल अलंकारों के प्रयोग ने उनके काव्य के सहज सौन्दर्य को बढ़ाया है तथा भावानुभूति की संप्रेषणीयता को स्पष्टता और हृदयग्राहकता प्रदान करने में अनजाने ही महत्त्वपूर्ण योग दिया है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि बहुत वैविध्यपूर्ण न होते हुए भी मीरां की अलंकार-योजना अपने अभीष्ट की पूर्ति करने में सक्षम है तथा उनकी स्वाभावोक्तियों को रम्य आकर्षण प्रदान करने में समर्थ है।



# चतुर्थ अध्याय

## प्रतीक–प्रयोग

साहित्य मानव जीवन की संवेग-जन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सबसे अधिक सम्पन्न माध्यम है; किन्तु प्राय: भाषा संवेग-जन्य अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है। जब लेखक अपनी भावना और भाषा को समानान्तर नहीं पाता है, तो वह ऐसी कलात्मक युक्ति की खोज करता है जो उसकी अनुभूति को सफलतापूर्वक व्यक्त कर चिरस्थायी बना सके। प्रतीकों की भाषा एक ऐसी ही युक्ति है, जिसे कुशल लेखक अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को व्यापक एवं पूर्ण बनाने के लिये प्रयुक्त करता है।[1]

अर्थ—

'हिन्दी शब्दसागर' में प्रतीक के चिह्न, अंग-अवयव, मुख, आकृति, प्रतिरूप, स्थानापन्न वस्तु (वह वस्तु जिसमें किसी दूसरी वस्तु का आरोप किया गया हो), प्रतिमा, मूर्ति आदि अर्थ दिये गये हैं।[2] अंग्रेजी शब्द 'सिम्बल' का प्रयोग सामान्यत: प्रतीक के लिये किया जाता है।[3] 'प्रतीक' एवं 'सिम्बल' के विभिन्न अर्थों का समन्वय करते हुए डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने लिखा है, 'प्रतीक (सिम्बल) वह विशेष संकेत-चिह्न होता है जिसका प्रयोग स्वेच्छा से या परम्परा से किसी अन्य अर्थ के प्रतिनिधित्व के लिये होता है।'[4]

**प्रतीकों की परिभाषा एवं लक्षण—**

प्रतीक की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है।

डॉ. चन्द्रकला ने प्रतीक की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'प्रतीक हमारे भावों और विचारों के आदान-प्रदान का एक साधन हैं; परन्तु ये हमें वाच्यार्थ का

---

1 डॉ. रामकुमार वर्मा-'हिन्दी साहित्य में प्रतीक-योजना' (लेख)—
'हिन्दी अनुशीलन'-(डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), पृष्ठ 386। (मई, 1960)

2 'हिन्दी शब्द सागर',-भाग-3, पृष्ठ 2228, (ना. प्र. स. द्वारा प्रकाशित)

3 अ—'ए रिटन कैरेक्टर ऑर मार्क यूज्ड टू रिप्रेजेन्ट समथिंग, ए लेटर, फिगर ऑर साइन कानवेन्शनली स्टैन्डिंग फार सम आब्जेक्ट, प्रोसेस'।

ब—'समथिंग देट स्टैन्ड्स फार, रिप्रेजेन्टस् ऑर डिनोट्स समथिंग एल्स (नाट एक्जेक्ट रिजेम्बलेन्स बट वेग सजेशन, ऑर वाइ सम एक्सीडेन्टल ऑर कन्वेन्शनल रिलेशन), ए मैटेरियल आब्जेक्ट रिप्रेजेन्टिंग ऑर टोकन टू रिप्रेजेन्ट समथिंग इम्मेटिरियल ऑर एब्सेट्रेक्ट, एज ए बीइंग, आइडिया, क्वालिटी ऑर कन्डीशन, ए रिप्रेजेन्टेटिव ऑर टिपिकल फिगर, साइन ऑर टोकन'।

—'दि आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी'-वाल्यूम-10, पेज 362।

4 'साहित्य शैली के सिद्धान्त', पृ. 136।

बोध नहीं कराते, बल्कि शब्द के भावसमूह की ओर संकेत करते हैं।'[1]

'पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद' पुस्तक में 'प्रतीक-वाद' का विवेचन करते हुए प्रतीक के विषय में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं—

'यह कुछ ऐसी वस्तु है जो (पूर्ण सादृश्य के कारण नहीं वरन्) धुंधली व्यञ्जना या आकस्मिक अथवा रूढ़िगत सम्बन्ध के कारण किसी दूसरी वस्तु को संकेतित, प्रतिनिहित या सूचित करती है।.......... प्रतीक अपने उचित आशय के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की भी व्यञ्जना करता है, विशेषतः एक आदर्श की, जिसे वह पूर्णतः आत्मसात् नहीं कर सकता।'[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं की तुलना में 'हिन्दी साहित्य-कोश' में दी गई प्रतीक की निम्नोद्धृत परिभाषा अधिक सारगर्भित कही जा सकती है, जिसके अनुसार- 'किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। प्रतीक अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।'[3]

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं में कोई भी स्वतः पूर्ण नहीं कही जा सकती, तथापि इन सबको मिलाकर प्रतीक के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं—

1 यह विशेष संकेतचिह्न होता है जो मूल वस्तु का प्रतिरूप और स्थानापन्न होता है।
2 इसका प्रयोग स्वेच्छा या परम्परा से होता है।
3 यह आवश्यक नहीं कि प्रतीक का मूलवस्तु से सादृश्य हो।
4 प्रतीक किसी मूर्त या अमूर्त वस्तु अर्थात् किसी भाव, विचार, क्रिया, गुण, स्थिति आदि के लिये प्रयुक्त होता है।
5 प्रतीक शब्द अधिकांशतः लाक्षणिक और कभी-कभी व्यञ्जनात्मक होते हैं।
6 इसमें अप्रत्यक्ष तथा विशेष अर्थ की महत्ता प्रत्यक्ष एवं सामान्य अर्थ से अधिक होती है।

**प्रतीकों के कार्य—**

उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार प्रतीकों का मुख्य कार्य मानसस्थित अमूर्त व अप्रस्तुत भावों एवं अनुभूतियों को मूर्त व प्रस्तुत रूप प्रदान करना है। कतिपय विद्वानों ने प्रतीक के विविध कार्य बताए हैं जिनमें प्रमुख हैं—1—विचारों की व्याख्या करना, 2—उन्हें अनुभूतिगम्य बनाना, 3—उन्हें आवृत करना, 4—विषय को अलंकृत करना तथा उसमें चमत्कार उत्पन्न करना।[4] इन कार्यों के साथ ही प्रतीक का सबसे बड़ा काम है—भाषा को सामासिक एवं आकर्षक रूप प्रदान

---

1 प्रतीक तथा प्रतीकवाद, पृ. 2
2 प्रतीक-वाद 'पाश्चात्य काव्य शास्त्र सिद्धान्त और वाद', (प्रधान सम्पादक—डॉ. नगेन्द्र), पृ. 228-229।
3 हिन्दी साहित्य-कोश (भाग - 1) पृष्ठ 51।
4 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त - साहित्य विज्ञान, पृ. 332

करना। इनके अतिरिक्त जिन विषयों को प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा समझाया नहीं जा सकता, उन्हें प्रतीक घनीभूत कर मुखरित कर देते हैं।

**प्रतीकों का क्षेत्र –**

प्रतीक-वादियों ने प्रतीक क्षेत्र-विस्तार सम्पूर्ण मानवजीवन तक कर दिया;[1] उनके मतानुसार, प्रतीकीकरण मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य अपने चिन्तन, मनन और अभिव्यक्तिकरण के अधिकांश कार्य प्रतीकों के माध्यम से सम्पन्न करता है। मानव-सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ-साथ प्रतीकों का भी विकास होता है और उनका कार्य-क्षेत्र व्यापक होता जाता है। विस्तृत व सुसंस्कृत समाज में व्यष्टि से लेकर समष्टि तक के व्यवहार का बहुत बड़ा अंश प्रतीकों पर आश्रित रहता है। कुछ प्रतीकों का प्रसार सार्वभौमिक होता है, जैसे-वीरता के लिये सिंह, कायरता के लिये शृगाल, पवित्रता के लिये श्वेत रंग आदि प्रतीक सभी देशों में इन्हीं प्रतीकार्थों के लिये प्रयुक्त होते हैं, और कुछ प्रतीकों का क्षेत्र किसी विशेष सभ्यता, संस्कृति, धर्म अथवा राष्ट्र तक सीमित रहता है। विभिन्न राष्ट्रों के राष्ट्रीय ध्वज, विभिन्न संस्कृतियों से सम्बन्धित रीति, रिवाजों एवं धार्मिकता का द्योतन करने वाले प्रतीक इसी तथ्य के उदाहरण हैं।

**प्रतीक-प्रयोग का प्रयोजन—**

अपने मूल स्वरूप में भाषा भी प्रतीकात्मक ही है, जिसका मुख्य प्रयोजन व्यक्ति के भावों व विचारों को दूसरे व्यक्तियों तक संप्रेषित करना है, किन्तु यहां हमारा सम्बन्ध साहित्यिक भाषा से है, जिसमें प्रतीक-प्रयोग का मुख्य प्रयोजन काव्य में गोपनीयता, चमत्कारिता, अनुभूतिगम्यता, व्यञ्जनात्मकता तथा अलंकारिकता उत्पन्न करना माना गया है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार भी, 'प्रतीकों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का ऐसा संयोग रहता है कि, जिससे वह कथन को अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक रूप प्रदान कर देता है।[2]

प्रतीक के उदात्त प्रयोजनों के विषय में टामस कार्लाइल ने जो लिखा है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—'जिसे हम प्रतीक कह सकते हैं उस प्रतीक में सदा ही असीम का कुछ न कुछ मूर्तीकरण और प्रकाशन होता है, कम या अधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष। सान्त को अनन्त से संपृक्त कर दिया जाता है ताकि वह गोचर रूप में स्थिर रह सके और मानो अपनी जगह साध्य हो।"[3]

वस्तुतः प्रतीक-योजना का प्रयोजन दोहरे अर्थों के माध्यम से तथ्य और भाव, विचार और अनुभूति को संयुक्त करके साहित्य में आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति करना होता है।[4]

---

1 प्रतीकवाद —'पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद,' पृ. 238।

2 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त—'साहित्य शैली के सिद्धान्त,' पृष्ठ 140।

3 प्रतीकवाद—'पाश्चात्य काव्यशास्त्र: सिद्धान्त और वाद', पृष्ठ 238।

4 डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, 'साहित्य-शैली के सिद्धान्त', पृष्ठ-141

**प्रतीकात्मक शब्दों की संकेतात्मक शब्दों, उपमानों और बिम्बात्मक शब्दों से भिन्नता—**

कभी-कभी प्रतीकात्मक शब्दों व सामान्य संकेतात्मक शब्दों को एक मान लिया जाता है, जबकि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। सामान्य संकेतात्मक शब्द एकार्थक होते हैं तथा सभी परिस्थितियों में वाच्यार्थ को ही संकेतित करते हैं, जबकि प्रतीकात्मक शब्दों में अपर अर्थ की प्रधानता होती है। प्रतीक सामान्यत: द्व्यर्थक होते हैं, जिनमें एक अर्थ सामान्य व प्रस्तुत रहता है तथा दूसरा विशेष और अप्रस्तुत होता है। अप्रस्तुत व विशेष अर्थ, प्रस्तुत व सामान्य अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली होता है।

प्रतीकों में सादृश्यमूलक उपमानों की प्रधानता होने के कारण कभी-कभी उपमान व प्रतीक को भी एक ही समझ लिया जाता है;[1] परन्तु सभी सादृश्यमूलक उपमान प्रतीक नहीं होते, क्योंकि उपमान में जहां अंगविशेष अथवा प्रभावांश का सादृश्य व साधर्म्य प्रधान होता है वहां प्रतीक में वस्तु का बिम्ब, वातावरण की सजीवता, प्रसंगों की अन्विति आदि सजीव आकार धारण किये रहती है।[2] इस प्रकार प्रतीक का क्षेत्र उपमान से कहीं व्यापक होता है।

इसी प्रकार कभी-कभी बिम्ब और प्रतीक को भी भ्रमवश एक ही समझ लिया जाता है[3] किन्तु इन दोनों में भी पर्याप्त अन्तर है। प्रतीक जहां प्रभाव-साम्य उत्पन्न करते हैं, वहां बिम्ब केवल प्रस्तुत विषय के रूप का बोध कराते हैं। प्रतीकों में अनेकार्थकता सन्निहित होती है, जबकि बिम्ब एकार्थक होते हैं। प्रतीकों के प्रयोग से काव्य में चित्रात्मकता आती है। प्रतीकों का प्रधान गुण चमत्कृति उत्पन्न करना होता है, जबकि बिम्ब स्वाभाविकता को जन्म देते हैं। प्रतीकों का लक्ष्य बौद्धिक आकर्षण को उद्दीप्त करना है, जबकि बिम्ब ऐन्द्रिक आकर्षण को उत्पन्न करते हैं।[4] इस प्रकार प्रतीक और बिम्ब पृथक्-पृथक् हैं, इन्हें एक मानना समीचीन नहीं। प्रतीकों में निहित व्यञ्जनात्मकता, तथा व्यञ्जना उत्पन्न करने की अपरिमित शक्ति की उपस्थिति, एक ऐसा बिन्दु है, जहां प्रतीकवादी, दार्शनिक एवं कवि एक दूसरे से मिल जाते हैं।[5]

**प्रतीकों के प्रकार—**

व्यवहारिक जीवन में अनेक प्रकार के प्रतीक देखने को मिलते हैं, जैसे-वाणी से सम्बन्धित (कोड लैंग्वेजेज़) प्रतीक, संकेतों से सम्बंधित (परिवहन के आवागमन-सूचक) प्रतीक, गौरव-चिह्नों से सम्बन्धित (राष्ट्रीय चिह्न-ध्वज, पताकाएं आदि)

---

1 'प्रतीक एक प्रकार के रूढ़ उपमान का ही दूसरा नाम है।'
डॉ. नगेन्द्र : 'काव्यबिम्ब', पृ. 8।

2 डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र : 'हिन्दी सन्तों का उलटवांसी-साहित्य', पृ. 107।

3 'प्रतीक एक प्रकार के अचलबिम्ब हैं, जिसके आयाम सिमट कर अपने भीतर बंद हो जाते हैं, डॉ. नगेन्द्र—'काव्य-बिम्ब', पृष्ठ 8।

4 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त-'साहित्य-शैली के सिद्धान्त-पृ. 133।

5 'प्रतीकवाद'-पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद (प्र. स. डॉ. नगेन्द्र) पृ. 228।

प्रतीक, देव (प्रतिमाओं के स्वरूप व निर्माण से) सम्बन्धित प्रतीक आदि। इन सभी प्रतीकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-संघनित व संदर्भीय। संघनित प्रतीकों में, धार्मिक अनुष्ठानों की साकार भावना से सम्बन्धित तथा स्वप्न-शकुन आदि से सम्बन्धित विशेष आकार-प्रधान चिह्न आते हैं, जबकि संदर्भीय प्रतीकों में वाणी और लिपि से सम्बन्धित, तार-संदेशों के संचरण में प्रयुक्त होने वाले संकेतों से सम्बन्धित तथा रासायनिक तत्त्वों से सम्बधित विशेष चिह्न आते हैं।[1] मानव के व्यावहारिक जीवन में दोनों प्रकार के प्रतीकों का समावेश होता है।

**प्रतीकों का वर्गीकरण—**

भाषा में उपलब्ध विविध प्रकार के प्रतीक-प्रयोगों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। विषय की दृष्टि से इन प्रतीक-प्रयोगों को निम्नोक्त प्रकार से वर्गीकृत किया गया है-धर्म-संबंधी प्रतीक-प्रयोग, समाज-सम्बन्धी प्रतीक-प्रयोग, संस्कृति-सम्बन्धी प्रतीक-प्रयोग, राजनीति-सम्बन्धी प्रतीक-प्रयोग, प्रकृति-सम्बन्धी प्रतीक-प्रयोग, विज्ञान-सम्बन्धी प्रतीक-प्रयोग, व्यवसाय-सम्बन्धी प्रतीक-प्रयोग आदि।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने विषय के अतिरिक्त प्रतीक-प्रयोगों के स्वरूप व उनमें निहित शब्द-शक्ति के आधार पर भी इनका वर्गीकरण किया है।[2] उनके अनुसार प्रतीक-प्रयोगों को निम्नांकित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता हैं—
1) संकेतात्मक प्रतीक-प्रयोग, 2) अभिव्यञ्जनात्मक प्रतीक-प्रयोग,
3) आरोपात्मक प्रतीक-प्रयोग। उक्त प्रतीक वर्गों में उत्तरोत्तर प्रतीकात्मकता की वृद्धि होती है।

संकेतात्मक प्रतीक-प्रयोगों के अन्तर्गत वे रूढ़ प्रतीकात्मक शब्द आते हैं जो बारम्बार एक ही प्रतीकार्थ के लिये प्रयुक्त होने के कारण अपनी व्यञ्जकता खोकर सामान्य संकेतों के रूप में परिवर्तित हो गये हैं। ईश्वर के स्वरूप, गुण व क्रियाओं से सम्बन्धित विविध नाम-संज्ञाएँ ऐसे ही रूढ़ संकेतात्मक प्रतीक-प्रयोग हैं।

किसी विशेष भाव, विचार, आदर्श या अनुभूति को प्रकट करने के लिये जिन परम्परागत प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे अभिव्यञ्जनात्मक प्रतीक कहलाते हैं। इस वर्ग के प्रतीक-प्रयोगों में लक्ष्यार्थ की प्रधानत्ता रहती है। उदाहरणार्थत मीन, चकोर, चातक जैसे परम्परागत प्रतीक-प्रयोगों को लिया जा सकता है।

आरोपात्मक प्रतीकों में प्रस्तुत के ऊपर अप्रस्तुत का आरोपण किया जाता है। यह आरोपण साम्यमूलक भी होता है और वैपम्यमूलक भी। इन प्रतीक-प्रयोगों में वाच्यार्थ से अधिक व्यंग्यार्थ का महत्व होता है; अनेकार्थक होने के कारण ये प्रतीक-प्रयोग विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं। इन प्रतीक-प्रयोगों में भी गोपन व चमत्कार की प्रवृत्ति मिलती है और इनके प्रयोग से काव्य में बौद्धिक आकर्षण व रंजकता की अभिवृद्धि होती है। उदाहरणार्थ-'पाणी पीर ण जाणइ, मीण तलफ तज्या देह'-इस पंक्ति को

1 हिन्दी साहित्य-कोश (भाग – 1) पृ. 515।

2 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, 'साहित्य-शैली के सिद्धान्त, पृ. 138।

लिया जा सकता है।

**प्रतीक-प्रयोगों की परम्परा—**

प्रतीक-प्रयोगों की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितना कि मानव। भाषा स्वयं प्रतीकात्मक संयोजना है। साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्दों का विशेष महत्त्व होता है। सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में प्रतीकों का सम्यक् प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आया हुआ ब्रह्म-जीव की परिस्थिति को सूचित करने वाला 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (1-164-20) मंत्र पक्षी और वृक्ष के रूपक से एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही है। इन प्रतीकों के द्वारा ब्रह्म, जीव और संसार का सम्पूर्ण सम्बन्ध मुखरित हो उठा है। विभिन्न स्थानों में गो के प्रतीक द्वारा वाणी का चित्रण किया गया है। उपनिषदों में हंस या पक्षी को अप्रस्तुत बनाकर आत्मा का प्रस्तुत रूप में वर्णन है। इसी प्रकार रथ, रथी, सारथि, आदि प्रतीकों द्वारा शरीर, आत्मा बुद्धि और मन की स्थिति का रूपक प्रस्तुत किया गया है।[1] पुराणों में देवताओं के वाहन-विशेष ही देवताओं के प्रतीक बन गये, जैसे नंदी शिव का, गरुड़ विष्णु का, हंस ब्रह्म का, मूषक गणेश का, मयूर कार्तिकेय का और सिंह दुर्गा का।

वैदिक मंत्र-युग के उपरान्त शाक्तो के तंत्र-युग में प्रतीक-शैली की प्रतिष्ठा विशेष रूप से बढ़ी। तांत्रिक क्रियाएं प्रतीकों के माध्यम से सम्पन्न होने लगीं। तांत्रिकों ने अपनी गुह्य साधना-पद्धति की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। बौद्धसिद्धों की साधना-पद्धति के प्रसार के लिये रचत चर्या-गीतों में इन प्रतीक-प्रयोगों को प्रमुख स्थान मिला। प्रतीकों के विपुल-प्रयोग के कारण सिद्धों की दुरूह, अस्पष्ट रहस्य-प्रधान भाषा संध्याभाषा के रूप में प्रसिद्ध हुई, जिसे सम्यक्रूपेण समझने के लिये सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित होना अनिवार्य हो गया।

नाथ-युग में प्रतीकों का प्रयोग और भी बढ़ा। इस युग में सिद्धों की वाममार्गी-साधना-पद्धति-बोधक प्रतीक-प्रयोगों के स्थान पर हठ-योग-साधना पद्धति-सूचक अनेकों नये प्रतीकों की संरचना की गई, जिससे भाषा में प्रतीक-प्रयोगों की अभिवृद्धि हुई। जगत् की द्विविधात्मक मायावी स्थिति तथा हठयोग की विविध सिद्धियों को अभिव्यञ्जित करने में प्रतीकात्मक-शैली विशेष सहायक हुई। प्रतीकों का प्रयोग दो रूपों में किया जाने लगा—सादृश्यमूलक और विरोधमूलक। सादृश्यमूलक प्रतीकों के संयोजन से विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये गए और विरोध-मूलक प्रतीकों के संयोजन से उलटवांसी-शैली का विकास हुआ।

मध्ययुगीन सगुणोपासक भक्त कवियों के साहित्य में सादृश्यमूलक रूपकात्मक प्रतीकों का संयोजन किया गया, जबकि निर्गुणोपासक संत कवियों ने विरोधमूलक उलटवांसी वाले प्रतीकों को भी अपने काव्य में प्रश्रय दिया।

तंत्रयुग में ईश्वर-आराधना का जो रूप ज्ञानोन्मुखी और अति प्रयत्न-साध्य होकर एक विशिष्ट वर्ग तक सीमित हो गया था, वह भक्तियुग में प्रेमोन्मुखी होकर जन-जन में फैल गया। ईश्वर आराधन की इस प्रेमोन्मुखी प्रवृत्ति ने साधना-पद्धति

---

1 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥' — कठोपनिषद्, 1-3-3

में रूढ़ प्रतीकों के स्थान पर नये प्रतीकों की प्रतिष्ठापना की। साधना-पद्धति के इन नये प्रतीकों का चयन लौकिक-जीवन से हुआ और इन लौकिक प्रतीकों में आध्यात्मिक अर्थों की अवतारणा की गई। इस युग के सगुणोपासक कवियों में सामान्यतः गोपन की प्रवृत्ति नहीं थी। ईश्वर आराधना को सर्वसुलभ बनाना उनका मुख्य ध्येय था, अतः इनके काव्य में चमत्कारिता व रहस्यात्मकता के स्थान पर बोधगम्यता को अधिक महत्त्व दिया गया. फलतः उनके साहित्य में सादृश्यमूलक प्रतीकों व रूपकों का ही संयोजन अधिक हुआ। पर, सिद्धों व नाथपंथियों की चमत्कारिक सिद्धियों व यौगिक प्रक्रियाओं का प्रभाव भी परम्परागत रूप से चल रहा था। संत कवियों ने शुष्क-ज्ञानमार्ग को प्रेमरस से अभिसिंचित कर सरस बना दिया था। इन संत कवियों ने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए साम्यमूलक रूपकों के साथ ही वैषम्यमूलक उलटबांसियों का भी परम्परागत प्रयोग किया।

**प्रतीक परम्परा और मीरां—**

मीरां मूलतः सगुणोपासक थीं। परमवैष्णव वातावरण में रहने के कारण गिरधर की जिस मूर्ति को उन्होंने बालसुलभ कौतुक के रूप में अपनाया था, यह साधारण गुड़िया की श्रेणी से निकल कर भगवान् के दिव्य प्रतिरूप में परिणत हो गई।[1] लौकिक पति के देहान्त के उपरान्त लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को अपना पति मान कर व मूर्ति को उनकी प्रतिकृति समझ कर, मीरां उनका (गिरधर का) गुणगान करने लगी और उन्हें रिझाने के विविध प्रयास करने लगीं, जिनमें गेय पदों की संरचना भी सम्मिलित थी। श्रीकृष्ण के निमित्त रचे गये इन पदों में उन्होंने सादृश्यमूलक प्रतीकों व रूपकों को अपनी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाया। तीर्थाटन व सत्संग के फलस्वरूप उन्हें निर्गुणोपासकों की साधना-पद्धति के रहस्यों को समझने और उनकी प्रतीकात्मक पारिभाषिक शब्दावली से परिचय प्राप्त करने का भी पर्याप्त अवसर मिला। साधुसंगति के इन सुअवसरों के परिणाम-स्वरूप मीरां की साधना-पद्धति में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। उनकी परम्परागत सगुणोपासक वैष्णव-भावधारा निर्गुणब्रह्म के सर्वव्यापी प्रेमसिन्धु में समाहित हो गई। मीरां अध्यात्म के उस उच्च धरातल पर जा पहुंची, जहां उपास्य और उपासक की भेदकता समाप्त हो जाती है।

मीरां की इस विकसित उच्च मनःस्थिति की स्पष्ट छाया उनके आगामी पंक्तियों में निर्दिष्ट विविध प्रतीक-प्रयोगों में पूर्णतया परिलक्षित होती है।

**मीरां के काव्य में प्रतीकों के रूप—**

मीरां के विविध प्रतीक-प्रयोग उनकी विभिन्न मानसिक स्थितियों तथा उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए वैचारिक व बौद्धिक स्तरों को उद्घाटित करते हैं। मीरां के पदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

'मीरां पदावली' में प्राप्त पदों को उनमें निहित धार्मिक भावना के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग के पद वे हैं, जिनमें मीरां गिरधर

1 आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, 'मध्यकालीन प्रेम-साधना', पृ. ४०।

नागर की विविध लीलाओं का तथा उनके भक्तवत्सल विविध स्वरूपों का गुणगान करती हुई उनसे दर्शन देने व अपना उद्धार करने की प्रार्थना करती हैं। दूसरे वर्ग के पदों में मीरां गिरधर के रूप पर आसक्त होकर उनसे प्रणय की याचना करती हैं तथा गिरधर के प्रति दिनानुदिन प्रगाढ़ होती हुई अपनी प्रीति का उल्लेख करती हुई उनके संयोग व वियोग की विविध स्थितियों की नाना प्रकार से भावाभिव्यक्ति करती हैं। तीसरे वर्ग के पदों में मीरां गिरधर नागर को व्यापक ब्रह्मस्वरूप में ग्रहण कर उस सर्वान्तिर्यामी से अपने जन्मजन्मान्तर के सम्बन्धों का कथन करतीं हुई, अपने अन्तर्घट में ही उसका साक्षात्कार प्राप्त कर लेने की महती उपलब्धि को अभिव्यञ्जित करती हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के पदों में मीरां के आन्तरिक भाव विविध प्रतीक-प्रयोगों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। पहले प्रकार के पदों में मीरां ईश्वर के विविध भक्तवत्सल स्वरूपों, गुणों व क्रियाओं को अभिव्यक्त करने वाले नामवाची संकेतात्मक प्रतीकों का प्रयोग करती है। दूसरे प्रकार के पदों में कवयित्री ने अपने प्रेम की प्रगाढ़ता, अनुरक्ति की अनन्यता, हृदय की तन्मयता व विरह की तीव्रता को दर्शाने के लिये सादृश्यता-मूलक व्यञ्जनात्मक प्रतीक-प्रयोगों का आयोजन किया है। तीसरे वर्ग के पदों में मीरां ने सम्पूर्ण चराचर जगत् में अपने प्रिय के व्यापक स्वरूप का आरोपण किया है। प्रस्तुत में अप्रस्तुत का यह आरोपण, आरोपात्मक प्रतीक-प्रयोगों के माध्यम से व्यक्त हुआ है।

मीरां के पदों में उपर्युक्त तीन प्रकार के प्रतीक-प्रयोगों या प्रतीक-योजनाओं के अतिरिक्त अन्य दो प्रकार की ऐसी शब्द-योजनाएँ भी मिलती है, जो स्वयं प्रतीक न होते हुए भी प्रतीकात्मकता का आभास देती हैं। इनमें पहली है सगुणोपासनापद्धति में प्रचलित रूपात्मक शब्द-योजना और दूसरी है निर्गुणोपासना-पद्धति में प्रचलित पारिभाषिक शब्द-योजना।

रूपात्मक शब्द-योजना में रूपकों का प्रयोग दो प्रकार से होता है। एक, सादृश्य के आधार पर और दूसरा, रूपान्तरण के आधार पर। प्रथम प्रकार के रूपक सामान्य अलंकार के रूप में प्रचलित हैं जिनमें प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोपण मात्र होता है, जैसे चरणकमल, भवसागर आदि। द्वितीय प्रकार के अर्थात् रूपान्तरण पर आधारित रूपकों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सादृश्य हो ही। इस प्रकार के रूपकों के प्रयोग में प्रयोक्ता की वैयक्तिक परिस्थिति, रुचि, आदर्श और आकांक्षा कार्य करती है, इन्हीं से प्रेरित होकर प्रयोक्ता अप्रस्तुतों को दूसरे क्षेत्र में चुनकर और आवश्यकतानुसार उनका रूप परिवर्तित कर प्रस्तुतों पर आरोपित कर देता है। मीरां द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के रूपान्तर पर आधारित रूपकों में कहीं सांग रूपक[1] है और कहीं परम्परित रूपक है।[2] रूपान्तरण पर आधारित रूपकात्मक शब्द-योजना और प्रतीकात्मक शब्द-योजना में अन्तर यह है कि रूपकात्मक शब्द-योजना में जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन किया जाता है, वहां प्रतीकात्मक शब्द-योजना में केवल अप्रस्तुत का कथन होता है, जो प्रस्तुत की व्यञ्जना करता है।

1 मी. बृ. पदा., पृ- 67, पद—137
2 मी. पदा., पृ. 114, पद—141

रूपकात्मक शब्दयोजना के अतिरिक्त पारिभाषिक-शब्दयोजना के अन्तर्गत उन शब्दों का प्रयोग होता है, 'जो शास्त्र विशेष में साम्प्रदायिक अर्थ का द्योतक करते हैं। सम्प्रदाय-विशेष की मान्यता अथवा व्यवहार में रूढ़ होने के कारण इन्हें शास्त्रीय अथवा रूढ़ शब्द कहा जा सकता है। परम्परा से व्यवहृत होने के कारण इनकी रूढ़ता भी पारिभाषिकता को पुष्ट करती है। अर्थग्रहण की दृष्टि से पारिभाषिक शब्दों की एक सीमा होती है, जिसके आगे वे अर्थ-विस्तार नहीं कर पाते।'[1] मीरां के पदों में प्रयुक्त हठयोगिक साधनापद्धति-वाची शब्दों में पारिभाषिक शब्द योजना परिलक्षित होती है।

**मीरां के प्रतीकों के आधार-स्रोत और प्रयोग-स्वरूप**

आदिकाल से साहित्य-जगत् में प्रतीक-चयन का मुख्य स्रोत प्रकृति रही है। सभी युगों के कवियों व रचनाकारों ने प्रकृति के क्षेत्रों से प्रतीकों का चयन कर अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। प्रतीक-चयन के इन प्राकृतिक क्षेत्रों को सुविधा के लिए निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[2]—1—पशुवर्गीय, 2—पक्षीवर्गीय, 3—जन्तुवर्गीय, 4—वनस्पतिवर्गीय, 5 नैसर्गिक प्रकृतिवर्गीय।

प्रकृति के अनन्तर प्रतीक-ग्रहण का दूसरा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मानव का व्यावहारिक जगत् है। व्यावहारिक जगत् से चयनित प्रतीकों के अन्तर्गत वे प्रतीक आते हैं जो पारिवारिक जीवन से, सामाजिक व सांस्कृतिक जगत् से तथा मानव-निर्मिति के विविध विषयों व वस्तुओं आदि से सम्बन्धित हैं। प्रकृति-जगत् और मानव का व्यावहारिक जगत्, ये दोनों ही ऐसे शाश्वत क्षेत्र है, जहां से नित्य नये प्रतीक ग्रहण किये जाते रहे हैं।

मीरां के प्रतीक-प्रयोगों के भी ये ही आधार स्रोत हैं। इन्हीं स्रोतों से गृहीत प्रतीकों का पारम्परिक व मौलिक प्रयोग कवयित्री के किया है।

साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से मीरां के अधिकांश प्रतीक मुख्यत: दो प्रतीक-परम्पराओं से गृहीत हैं, जिसमें एक है-निर्गुणोपासक भक्तकवियों में प्रचलित प्रतीक-परम्परा और दूसरी है सगुणोपासक भक्त कवियों में प्रचलित प्रतीक-परम्परा। आगे इन्हीं को केन्द्र बनाकर मीरां के प्रतीक-प्रयोगों का विवेचन किया जा रहा है—

**(क) निर्गुणोपासनापरक प्रतीकों का प्रयोग :—**

मीरां में निर्गुणोपासनापरक प्रतीकों का प्रयोग तीन रूपों में मिलता है।

अ—आराध्यवाचक प्रतीकात्मक शब्दों के रूप में,

ब - आराधकसूचक प्रतीकों के रूप में,

स आराधनापद्धतिबोधक प्रतीकात्मक शब्दों के रूप में।

**अ—आराध्यवाचक प्रतीक**

ब्रह्म से जीवात्मा के शाश्वत सम्बध को व्यक्त करने वाले निगुण सन्त कवियों ने उसे जननी, पिता, गुसांई आदि विविध नामों और प्रतीकात्मक संज्ञाओं से अभिहित किया है, किन्तु ब्रह्म के साथ जीवात्मा के द्योतित सम्बन्धों में प्रधानता

---

1 डा. रमेशचन्द्र मिश्र, 'हिन्दी सन्तों का उलटवांसी साहित्य', पृ. 136।

2 डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र, 'हिन्दी सन्तों का उलटवांसी साहित्य,' पृ. 134- 35।

दाम्पत्यभाव की होने के कारण निर्गुण कवियों ने उस परात्पर ब्रह्म को अधिकांशत: पति या प्रिय अथवा तदर्थबोधक पर्यायवाची सामान्य अथवा प्रतीकात्मक अभिधाओं से सम्वोधित किया है। मीरां ने भी, अपनी कला द्वारा संसार का संचालन करने वाले परम-पुरुष को ब्रह्माण्डव्यापी वर के रूप में अभिहित किया है—

जिनकी कला से हालत चालत धरण अकास अधारा।
जिनको कल में सब जग भूल्यो ये ही पुरुष है न्यारा।
कोटि ब्रह्माण्ड में व्यापि रह्यो है सो निज वर है हमारा।[2]

—और घट-घट में व्याप्त होने पर भी सबसे पृथक रहने वाले ब्रह्म को अपना 'जन्म-जन्म का पति परमेश्वर' माना है—

'व्यापक होय रह्यो घट घट में है सबही से न्यारो।
जन्म जन्म से पति परमेश्वर······················।'[3]

ब्रह्म से उपर्युक्त रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेने के कारण ही मीरां ने उसे तत्कालीन प्रचलित समस्त प्रियवाची शब्दों से संबोधित किया।

उन के पदों में ऐसे अनेक आराध्यवाचक प्रतीकात्मक शब्द उपलब्ध होते जो अधिकतर निर्गुण संतों द्वारा प्रयुक्त हो चुके हैं, जैसे-साहिब, भरतार, बालम, पिव, सइयां आदि। नीचे उन आराध्यवाची प्रतीकात्मक शब्दों के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

हब—इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊं री।'[4]
सगनां साहिब सुमरतां रे, मैं थारे कोठे खटकी।[5]
जनम जनम को साहिब मेरो वाही सों लौ लागी।[6]
भरतार—साधु ही पीहर साधु ही सांवरियो भरतार है।[7]
तुम तजि और भरतार को, मन मैं नहिं आनों हो।[8]

1 माता पुत्र का सम्बन्ध—'हरि जननी मैं बालक तोरा काहे न वकसहु अवगुण मोरा।' कबीर ग्रंथावली, पद-111।
पिता-पुत्र का सम्बन्ध – 'पूत पियारौ पिता को गौंहन लागा धांई—
लोभ मिठाई हाथ दे आपण गया भुलाई।
(कबीर ग्रंथावली, पृ. 10)
दास और स्वामी का सम्बन्ध—'मैं गुलाम मोहि बेंचि गुसांई। तन मन धन मेरा रामजी के तांई।
आनि कबीरा हाट उतारा। सोई गाहक सोइ बेचन हारा।'
—कबीर ग्रंथावली, पद—113।

2 मी. वृ. पदा., पद—486।
3 मी. वृ. पदा., पृ. 250, पद. 509।
4 मी. वृ. पदा., पृ. 127 पद. 266।
5 मी. वृ. पदा., पृ. 10, पद. 20।
6 मी. वृ. पदा., पृ. 14 पद. 27।
7 मी. वृ. पदा., पृ. 177, पद. 375।
8 मी. वृ. पदा., पृ. 142, पद. 298।

ओढ़ी चूनर प्रेम की गिरधर जी भरतार।[1]

वालम—बहुरि कहां यह तन धर पैहों, वालम भये मुरार री।[2]

वाल्हा में वैरागिण हूंगी हो।[3]

पिव-पिया—'होरी खेल पीव घर आये,.....................'[4]

'तन मन मेरो पिया पर वारूं वार वार वलिजाय।'[5]

संइयां—'मैं अपणे सैंया संग सांची।'[6]

'तुम हो पूरे सांइयां. पूरा सुख दीजै हो।'[7]

उपर्युक्त दाम्पत्य सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले प्रतीकों के अतिरिक्त मीरां ने अपने आराध्य को अपर प्रतीक-रूप भी प्रदान किये हैं, जिनमें से एक है 'वैद्य' का रूप। मीरां की प्रेम-रुग्णता का निदान करने में केवल वही वैद्य समर्थ है—

रोगी अन्तर वैद वसत है वैद ही औखद जाने हो।[8]

उसी 'अन्तरवासी' 'वैद' की खोज में वे 'दरद की मारी' 'वन-वन डोला' करती थीं किन्तु कोई उन्हें उस 'वैद' के घर का पता नहीं वताता था। एक दिन अकस्मात् 'सतगुरु' ने उन्हें 'वैद' के घर का सही पता वता दिया और उन्हें अपने ही घर (अन्तर्घट) में वेद मिल गये। उस 'वेद' से मिलते ही सारी 'पीर वुझ' गई।[9] यह 'वैद्य' कोई लौकिक पुरुष नहीं वल्कि अलौकिक ब्रह्म का लौकिक प्रतीक मात्र है।

इसी प्रकार मीरां ने गुरु को भी ब्रह्म का प्रतीक माना है। मीरां अपने 'सतगुरु' से शीघ्र पधारने की विनय करती हैं और उनके विरह में 'कोयल ज्यूं कुरलाती' हैं, परन्तु अपनी दुरवस्था को किसी पर प्रकट नहीं करती हैं—

म्हांरा सतगुरु वेगा आज्यो जी म्हांरे सुखरी सीर वुवाज्यो जी।[10]

मैं कोयल ज्यूं कुरलाऊं जी कछु वाहर कह न जनाऊं जी।

यहां मीरां को विरह-व्यथित करने वाले 'सतगुरु' 'परमब्रह्म' ही हैं। इन्हीं के 'तीर' से मीरां घायल हैं—

री मेरे पार निकस गया सतगुर मार्‌या तीर

विरह भाव लाग्या उर अन्तर व्याकुल भया सरीर।[11]

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 162, पद. 344।
2 मी. वृ. पदा., पृ. 118, पद. 246।
3 मी. पदा. (परि.-ग), पृ. 242, पद-11।
4 मी. पदा. (परि.—ग) पृ. 242, पद—10।
5 मी. वृ. पदा., पृ. 140, पद—294।
6 मी. पदा., (परि. ग), पृ. 240, पद—4।
7 मी. वृ. पदा., पृ. 142, पद—298।
8 मी. पदा., पृ. 121, पद—73।
9 मी. पदा. (परि. ग), पृ. 244, पद—18।
10 मी. पदा. (परि. ग) पृ. 241, पद—8।
11 मी. वृ. पदा., पृ. 271, पद—545

'मीरां को विरह के वाण से घायल कर उनका प्रिय उनकी ओर से तथा अपने पूर्वस्थापित प्रेम-सम्बन्ध की ओर से उदासीन हो गया। प्रिय की इस उदासीनता को मीरां ने गृहत्यागी, सांसारिक सम्बन्धों के प्रति उदासीन योगी के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया। ब्रह्म के लिये प्रयुक्त इस प्रतीक का चयन मीरां ने तत्कालीन सामाजिक क्षेत्र से किया है और यह प्रतीक उनकी मौलिक कल्पना का परिचायक है—

'चढ़तीवयस' और 'अणियाले नेत्र' वाले, कानों में कुण्डल, गले में सेली पहने, तथा अंगों में भभूत रमाये, कंथा धारण किये, ध्यानमग्न रहने वाले[1] इस उदासीन योगी को मीरां 'अपने देस' आने का निमन्त्रण देती हैं[2] तथा निसदिन उसकी वाट जोहती हैं[3], एक दिन उसके आने पर उसे 'आदेस' (प्रणाम) करती हैं[4] तथा उससे एक वार 'हंस-वोलने' की प्रार्थना करती हैं।[5] अपने पूर्व-प्रेमी अवधूत को वे पिछली मित्रता का स्मरण कराती हैं, पर उसके प्रत्युत्तर न देने पर उपालम्भ देते हुए कहती हैं कि 'योगी के लिए कैसी मित्रता'[6], योगी किसी का मित्र नहीं होता;[7] पर उससे यह कहना नहीं भूलतीं कि, 'रमतेराम किसी दिन अतीत को भी याद करोगे।[8] अन्ततः वे स्वयं उसके साथ योगिनी होने का निश्चय करती हैं[9] और यह घोषणा कर देती हैं कि अपने प्रियतम के कारण मैं भी वैरागण हो गई हूं।[10] वे भी वैरागण का सा शृंगार कर अपने 'रावलिया' के साथ जग—में डोलना चाहती हैं।[11] पर उनकी यह आकांक्षा अधूरी रह जाती है और वह जोगी (प्रियतम) उनका साथ छोड़ अन्यत्र जाना चाहता है। जोगी की यह निष्ठुरता मीरां को चीर कर रख देती है और वे चीत्कार कर उठती हैं— 'जोगी मत जा मत जा मत जा...............।' 'प्रेम पंथ' से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करती हुई वे उससे मार्गदर्शन की प्रार्थना करती हैं; परन्तु जोगी सहमत नहीं होता। तव मीरां आत्मोत्सर्ग के लिए तत्पर हो जाती हैं, 'अगर चन्दन' की चिता वनाती हैं और जोगी से प्रार्थना करती हैं कि उस चिता को अपने हाथ से जला दे, (इससे प्रियतम के हाथों मरने का सौभाग्य प्राप्त होगा) चिता जलाने के वाद वे उससे अनुनय करती हैं कि, मैं जव जल कर भस्म की ढेरी हो जाऊं तव अपने अंग में उस भस्म को रमा लेना। ('भस्म रमाना' जोगी का शृंगार है तथा सद्यः 'मुर्दे की' भस्म सर्वोत्तम मानी जाती है)।

---

1 मी. पदा., पृ. 117, पद—58 ।
2 मी. पदा., पृ. 134, पद—116 ।
3 मी. पदा., पृ. 113, पद—44 ।
4 मी. पदा., पृ. 134, पद—117 ।
5 मी. पदा., पृ. 117, पद - 58 ।
6 मी. पदा., पृ. 116, पद—57 ।
7 मी. पदा., पृ. 115, पद—53 ।
8 मी. पदा., पृ. 116, पद—55 ।
9 मी. पदा., पृ. 142, पद—11 (परि. ग)
10 मी. वृ. पदा., पृ. 4, पद—7 ।
11 मी. पदा., पृ. 134, पद—117 ।

अपने प्रियतम के सामीप्य के लिए कितना मार्मिक प्रस्ताव, कितना बड़ा उत्सर्ग, कितनी गहन प्रेमानुभूति ! सचमुच मीरां दिव्य थीं, वे प्रेम के उस ऊँचे धरातल पर पहुँची हुई थीं जहां प्रियतम के अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। संसार के सारे पुरुष उस एक में ही समाहित हो जाते हैं। सारा संसार उसी एक के तेज से प्रतिभासित है, उसकी छाया मात्र है और है केवल प्रतीक, प्रतीक के अतिरिक्त उसका और कुछ भी महत्त्व नहीं है।

**ब—आराधक और उसकी अवस्था-सूचक प्रतीक—**

आराध्य और आराधक के परस्पर सम्वन्ध को व्यक्त करने के लिए सन्त कवियों ने दाम्पत्य भाव को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने आराध्य को पति और आराधक को उसकी पतिपरायणा पत्नी का प्रतीकात्मक रूप प्रदान किया। आराधक में पत्नीत्व का आरोपण कर उन्होंने उसका चरम लक्ष्य 'पिउ-प्यारी' होने में माना। 'परमात्मा रूपी पति से दूरी अथवा भ्रमदशा की दृष्टि से और खसमावस्था की प्राप्ति के रूप में, जीवात्माओं के पांच रूप देखे जा सकते हैं—(क) भूली नारी अथवा बद्ध जीव, (ख) दुलहिनी अथवा दायित्व समझने वाली जीवात्मा, (ग) विरहिणी अथवा उत्कृष्ट जिज्ञासु साधक (घ) गृहिणी अथवा अलौकिक जीवन-क्रम वाले साधक (ङ) पिउ-प्यारी जीवात्माएँ अथवा जीवनमुक्त सिद्धावस्था वाले साधक।'[1]

मीरां ने भी आराधक जीवात्मा के इन्हीं रूपों का वर्णन किया है। मीरां स्वयं को ईश्वर की परिणीता मानती हैं और अपने 'आदि-अनादि साहिब' को केवल 'सांचे प्रेम के नाते' से ही रिझाती हैं; क्योंकि वह केवल 'सांचे प्रेम के नाते' से ही रीझता है—

> मैं पतिवरता नार प्रभूजी काहूँ तैं न पतीजो।
> सांचो प्रेम प्रीत को नातो ताही ते तुम रीझो।[2]

बद्ध जीव या अपने अभीप्सित लक्ष्य (ईश्वर-प्राप्ति) से भटके हुए जीवों की स्थिति का चित्रण मीरां ने पिंजरे में स्वयं को सुखी समझने वाली तोती के प्रतीक के माध्यम से किया है—

> एक हि तोती ढूंढत आई लटक दिवानी मोल।
> दाना खावै तोती पानी पीवै पिंजरे में करत किलोल।[3]

तोती (जीवात्मा) एक को (ब्रह्म को) ढूंढती हुई आई, परन्तु बहेलिये (माया) के फैलाए प्रलोभन-जाल में फंस गई। अब तोती दाना खाती है, पानी पीती है (सांसारिक ऐश्वर्यों का सुखोपभोग करती है) और पिंजरे (मायावी जगत्) में किलोल करती है। उसे अपने मूल लक्ष्य (ब्रह्म के अनुसंधान) का स्मरण ही नहीं आता है। जीव अपने प्रधान लक्ष्य को भूल सांसारिक आकर्षणों के भ्रमजाल में एक बार फंसने के बाद फिर बार-बार उन्हीं की इच्छा करता हुआ जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है—इस केन्द्रीय भाव की मीरां ने निम्नांकित पद्यांश में

---

1 डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र : हिन्दी सन्तों का उलटवांसी साहित्य, पृ. 148।
2 मी. वृ. पदा., पृ. 87, पद—182।
3 मी. वृ. पदा., पृ. 101, पद—212।

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की है—

सागर सूख कमल मुरझाना, हंसा कियो पयाना।
भौंरा रह गये प्रीत के धोके, फेर मिलन को जाना।[1]

उपर्युक्त पद में 'सागर' आयु का, 'कमल' शरीर का, 'हंसा' प्राण का, 'भौंरा' भ्रमित जीवात्मा का एवं प्रीत सांसारिक मोह का प्रतीक है। 'फेर मिलन को जाना' पद जीव के भौतिक आकर्षणों में लुब्ध हो भटक जाने के प्रतीकार्थ को व्यक्त करता है।

ऐसे ही निम्न पद में हंस (जीवात्मा) के सरवर (परमतत्त्व) को छोड़कर तलैया (मायावी जगत्) में जा बैठने और उसके पंख (मन) के गारे (वासनाओं) में लिपट जाने के प्रतीक के माध्यम से मीरां ने जीवात्मा की बद्धता की स्थिति को स्पष्ट किया है—

एक समै मोतियन के धोके, हंसा चुगत जुवार
सरवर छांड तलैया बैठे पंख लपट रही गार।[2]

अन्यत्र इन्हीं बद्ध जीवों को सखियों का प्रतीकात्मक रूप प्रदान कर वे जीवन्मुक्तता का संदेश देती हैं—

आवो सहेल्या रली करां हैं, पर घर गवण निवारि।
झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति।
झूठा (जग) आभूषण री सांची पियाजी री पोति।
झूठा पाट पटंवरा रे, झूठा दिखणी चीर।
सांची पियाजी री गूदड़ी जामे निरमल रहै सरीर।[3]

इस पद में मीरां ने सांसारिक वस्तुओं के आकर्षणों को झूठा—निस्सार मानते हुए ईश्वर-भक्ति को ही एकमात्र सारवान् वस्तु माना है। अपने इसी विचार को अभिव्यक्त करने के लिये उन्होंने सखियों के साथ रली (क्रीड़ा-विनोद) करने का प्रतीक चुना है। 'पर घर गवण' प्रतीक का प्रयोग ब्रह्मेतर सम्बन्धों के लिये किया है। अविनासी बालम का प्रेम ही सच्चा आभूषण है, इसी को धारण करने पर प्रियतम रीझता है—मीरां को यह भलीभांति ज्ञात हो गया था। इसीलिये वे भगवान् के विविध नाम—स्मरण का आभूषण धारण करती हैं। ईश्वर के विविध नाम—स्मरण के आभूषणों को धारण कर वे ससुराल (ईश्वर के निवास स्थल पर) जाने के लिये तैयार हो जाती हैं। उन्हें विश्वास है कि ईश्वर रूपी वर उन्हें लेने अवश्य पंहुचेंगे, क्योंकि उन्होंने मीरां को (आराधक को) अंगीकार कर लिया है और अंगीकार कर लेने के कारण-स्वरूप ही, ये दिव्य आभूषण उन्हें भेजे हैं[4]—

ईश्वर की कृपा होने पर ही उनके नामों का स्मरण कर चित्त शुद्ध होता है, चित्त-शुद्धि के उपरान्त ही प्रियतम से साक्षात्कार सम्भव है—इसी विचार को

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 41, पद—83।
2 मी. वृ. पदा., पृ. 185, पद—392।
3 मी. पदा., पृ. 107, पद—26।
4 मी. पदा., पृ. 141, पद—141।

मीरां ने निम्न प्रतीक के माध्यम से स्पष्ट किया है—

हेरी सुरत सोहागन नार, सुरत मेरी राम से लगी।
लगनी लहंगा पहिर सोहागिन, बीती जाय बहार।
राम (नाम) को चूड़लो हो, निरगुन सुरमो सार।
+ + + +
झूठे वर को क्या वरूंगी, अध बिच में तज जाय।
वर वरांला रामजी, म्हारों चूड़ो अमर हो जाय।[1]

ईश्वर-मिलन को उत्सुक साधक को मीरां ने 'सुरत सोहागन नार' का प्रतीकत्व प्रदान किया है। अन्य पंक्तियों में रूपात्मक प्रतीक है। मीरां द्वारा प्रयुक्त यह प्रतीक संतों द्वारा साधकों के लिये प्रयुक्त 'दुलहिनी' प्रतीक के समकक्ष ही है।

मीरां स्वयं भी साधक की प्रतीक हैं। ईश्वर का साक्षात्कार पाने को उत्सुक जीवात्मा की स्थिति को उन्होंने विरहिणी और दरद-दिवानी नारी के प्रतीक के माध्यम से स्पष्ट किया है। प्रियतम का प्रेम उसके (प्रिय के) वियोग में 'हिय की पीर' बन गया है। इस प्रेम-पीड़ित अवस्था को उन्होंने तीर से घायल व्यक्ति व सर्पदंशित व्यक्ति की पीड़ित अवस्था के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है—

री मेरे पार निकस गया, सतगुर मार्‌या तीर।
विरह भाल लागी उर अंतर व्याकुल भया सरीर।[3]
ज्यों हिये पीर तीर सम सालत, कसक कसक कसकानी।[4]

इस दूसरे उदाहरण में कवयित्री का लक्ष्य अपने प्रेम की रह-रह कर उठने वाली कसक को व्यक्त करना है और इसे व्यक्त करने के लिये उन्होंने हृदय में समाये हुए तीर के कारण उठने वाली कसक को उपमा के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

तीर से घायल व्यक्ति की पीड़ा के समान ही सर्पदंशित व्यक्ति की पीड़ा भी बड़ी मार्मिक व असहनीय होती है। सर्पदंश की पीड़ा लहरों के समान ही तीव्र-मन्द होती रहती है। जब पीड़ा का ज्वार आता है, तो पीड़ित व्यक्ति अंड-बंड बकने लगता है, उसकी वाणी अस्पष्ट तथा शब्द अस्फुट-से रहते हैं और जब पीड़ा में उतार आता है, तो रोगी कराहने लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति सुनता तो सबकी ही है पर वाणी अवरुद्ध हो जाने के कारण किसी को कुछ कह नहीं पाता। प्रेमी की दशा भी ऐसी ही होती है। इसी दशा-साम्य के कारण मीरां ने अपने 'हिय की पीड़ा' को 'लहर हलाहल' के प्रतीक के रूप में व्यक्त किया है—

विरह भवंगम डस्यां कलेजा मां लहर हलाहल जागी।[5]

इसी प्रकार, प्रेमी की उन्मत्त अवस्था को व्यक्त करने के लिये, 'घायल' तथा 'मदोन्मत्त' व्यक्तियों का, अप्रस्तुत रूप में प्रयोग किया गया है—

---

1 मी. पदा., पृ. 239, पद 1।
2 मी. पदा., पृ. 113, पद 43।
3 मी. बृ. पदा., पृ. 271, पद 545।
4 मी. पदा., (परि. ग), पृ. 244, पद 18।
5 मी. पदा. पृ. 127, पद 91।

घायल ज्यूं घूमत फिरूं म्हारा दरद न जाणे कोय ।[1]

घायल व्यक्ति अपने 'दरद' को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है, या तो वह कराहता है या छटपटाता है । उसकी पीड़ा वही अनुभूत कर सकता है जिसने स्वयं ऐसी चोट झेली हो—

घायल की गति घायल जाने, की जिन लागी होय ।[2]

विरहोन्मत्त प्रेमी की स्थिति 'घायल' व्यक्ति के सदृश होती है और मिलनोन्मादित प्रेमी अपने प्रिय के साहचर्य के कारण मदोन्मत्त-सा हो जाता है; किन्तु यह मद सामान्य नहीं होता । इस प्रेममद के लिये मीरां ने 'रामखुमारी', 'अमर रस', 'रस', 'अमल' आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है ।

रामखुमारी लगी मोहि **रामखुमारी** हो ।[3]

अमर रस—पिया पियाला **अमर रस** का चढ़ गई घूम घुमाय ।[4]

प्रेमभटी का रस **प्रेमभटी** का मैं **रस** चाख्या, छकी रहूँ दिनराती ।[5]

अमल—यो तो **अमल** म्हारे कबहुँ न उतरे कोटि करो उपाय ।[6]

'हरि-मिलण की विधि' से अनजान साधक उसके विरह में व्याकुल रहता है, उसके प्रेम में उन्मत्त तथा विरह के बाण से घायल हो उसे इतस्ततः खोजता फिरता है । ईश्वर की कृपा से उसे सतगुरु रूपी वैद्य मिलते हैं जो उसके विरह की औषधि बताते हैं । यह 'औषधि' प्रिय का निरंतर नाम-स्मरण है । इस औषधि का सेवन करने पर 'रोम-रोम शीतल' हो जाता है—

सतगुरु **औषद** ऐसी दीन्हीं रूम रूम भई चैना ।[7]

'निरंतर हरि स्मरण' को मीरां ने 'औषधि' के अतिरिक्त 'अमोलक वस्तु' और 'जनम जनम की पूंजी' का भी प्रतीकत्व प्रदान किया है—

**वसतु अमोलक** दी मेरे सतगुरु करि किरपा अपणायो ।

**जनम जनम की पूंजी** पाई जग में सभी खोवायो ।[8]

सतगुरु ने 'अमोलक वस्तु' के साथ ही दीपक (ज्ञान) भी प्रदान किया और भरम की किवाड़ी (माया-मोह का आवरण) खोल दी । सतगुरु द्वारा प्रदत्त इस दीपक से 'झीणा-मार्ग' स्पष्ट हो गया और मीरां (साधक-जीवात्मा) अपने 'जुगन-जुगन से बिछड़े प्रभु (ब्रह्म) से जा मिली तथा प्रियतम ने उन्हें अंगीकार (अन्तर्लीन) कर लिया—

सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किवाड़ी हो ।[9]

+ + + +

---

1 मी. पृ.
2 मी. वृ. पदा., पृ. 28, पद 54 ।
3 मी. पदा.,—पृ. 243, पद—14
4 मी. पदा.—पृ. 112, पद—40 ।
5 मी. वृ. पदा.--पृ. 223, पद 463 ।
6 मी. पदा., पृ. 112, पद—40 ।
7 मी. पदा., पृ. 242, पद—12 ।
8 मी. पदा., पृ. 243, पद—13 ।
9 मी. पदा., पृ. 243, पद—14 ।

जुगन जुगन की बिछड़ी मीरां घट में लीन्हीं लाय ।[1]

मीरां द्वारा वर्णित आराधक की स्थितियों में और संत कवियों द्वारा वर्णित आराधक की स्थितियों में अद्‌भुत साम्य है। अंतर है तो यही कि कबीर आदि संत आराधक जहां पुरुष थे, वहां मीरां स्त्री थीं। संतों को आराधक सम्बन्धी प्रतिव्रता पत्नी का यह प्रतीकत्व अपने ऊपर आरोपित करना पड़ा था, जबकि मीरां को जन्मत: स्त्री होने के कारण किसी आरोपण की आवश्यकता नहीं पड़ी, वैसे मीरां स्वयं ही जीवात्मा का भी प्रतीक हैं। आराधक के स्वरूप तथा उसकी अवस्थाओं व स्थितियों को अभिव्यक्त करने वाले पूर्व-वर्णित प्रतीकों का चयन उन्होंने भाव-साम्य व अवस्थासाम्य के आधार पर प्राकृतिक जगत् व व्यावहारिक जगत् दोनों से किया है।

स—आराधना-पद्धति-बोधक प्रतीक—

वेद-विहित तथा सिद्धों व नाथों द्वारा सेवित निर्गुण-आराधना-पद्धति को, संत कवियों ने अपनाया था तथा तद्‌युगीन बाह्याडम्बरप्रधान आराधना-पद्धति का विरोध करते हुए भाव-मय आराधना-पद्धति का प्रतिपादन किया था। उपर्युक्त दोनों बातें परस्पर विरोधी-सी प्रतीत होती हैं, किन्तु वास्तव में संत-साहित्य में सर्वत्र इस विरोधाभास के दर्शन होते हैं। संत कवि आत्मा और परमात्मा में अद्वैतता स्थापित कर उन्हें एक ही बूंद या एक ही ज्योति मानते हैं और उस परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये साधक पर नारी का प्रतीकात्मक आरोपण कर ब्रह्म-जीव में द्वैतभाव की भी स्थापना कर देते हैं। एक ओर वे नाथ-सिद्धों की हठयोग साधना के द्वारा 'सुन्न महल' में अमृत रस का पान करने की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं, तो दूसरी ओर इन क्रियाओं को केवल शरीर-साधन या व्यायाम मात्र की संज्ञा प्रदान करते हैं। वे सगुण आराधना की कटु आलोचना भी करते हैं और प्रियतम को पाने के लिये उस निर्गुण में सगुण के गुणों का आरोपण भी कर देते हैं। मीरां के पदों में इस प्रकार के विरोधाभास का दर्शन नहीं होता, उनकी प्रवृत्ति खण्डन-मण्डन की न होकर समन्वयात्मक थी, इसलिये उन्होंने किसी भी आराधना-पद्धति का विरोध नहीं किया। यही कारण है कि सगुणभक्त होते हुए भी उन्होंने निर्गुण संतों की आराधना पद्धति में प्रचलित प्रतीकों का समावेश, अपनी साधना-पद्धति का द्योतन करने के निमित्त किया है।

निर्गुण आराधकों की भांति उन्होंने भी मानव-शरीर को साधनाभूमि के रूप में वर्णित किया। हठयोग-साधना में शरीर की बाह्य प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी कर इन्द्रियों व मन पर नियंत्रण किया जाता है। सुरति-निरति के माध्यम से कुंडलिनी शक्ति जगा कर ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है। इन क्रियाओं का मीरां ने कबीर की भांति (षट्‌चक्र-भेदन आदि के द्वारा) वर्णन नहीं किया, अपितु अपने व्यक्तित्व को ही प्रिय के अर्चन के निमित्त दीपक के रूप में प्रदीप्त कर उन्हें प्रस्तुत किया है—

सुरति निरति का दिवला संजोले मनसा की कर बाती।

---

1 मी. पदा., पृ. 243, पद—15।

प्रेमहटी का तेल भरा ले जगा करे दिन राती ।[1]
या तन को दियना करौं मनसा करो वाती हो
तेल भरावों प्रेम का वारौं दिन राती हो ।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में रूपकात्मक प्रतीक-प्रयोग हुआ है । वर्ण्य विषय भी एक ही है और (उपमान) अप्रस्तुत-योजना भी एक सी ही है; और दोनों उद्धरणों में साधनाभूमि शरीर को ही माना गया है, जो निर्गुण आराधना-पद्धति का वोधक है, क्योंकि निर्गुण आराधना में शरीर ही साधना-भूमि के रूप में प्रयुक्त होता है ।

**द—'निर्गुण साधना-पद्धतिवोधक पारिभाषिक शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग—**

यद्यपि हठयौगिक साधना द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत कर विविध सिद्धियां प्राप्त करना मीरां का अभीष्ट नहीं था और कबीर आदि संत कवियों के सदृश सम्पूर्ण हठयोग-साधना-पद्धति-बोधक प्रतीकात्मक पदों की संरचना मीरां ने नहीं की, तथापि उनके निर्गुणोपासना-पद्धति-परक पदों, में निर्गुण साधना-पद्धति में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है । नीचे मीरां द्वारा प्रयुक्त ये निर्गुण साधना-पद्धतिवोधक पारिभाषिक शब्द प्रस्तुत हैं—

सुरत-निरत—'सुरत निरत का दिवला संजो ले मनसा की कर वाती ।[3]
सुषमणा—सेज सुखमणा मीरां सोवै सुभ है आज घरी ।[4]
त्रिकुटी महल, झरोका - त्रिकुटी महल में बना है झरोका तहां से झांकी लगाऊंगी ।[5]
सुन्नमहल – सुन्नमहल में सुरत जमाऊं, सुख की सेज विछाऊंगी ।[6]
सबद सरोवर—मीरां के प्रभु गिरधर नागर सबद सरोवर धंसी ।[7]
अणहद की झणकार—विनि करताल पखावज वाजे अणहद की झणकार रे ।[8]
अगम अटारी दीपक जोऊं ज्ञान का चुढ़ूं अगम अटारी हो ।[9]
अमृत —सगुरा सूरा अमृत पीवै निगुरा प्यासा जाती ।[10]

इन पारिभाषिक शब्दों के साथ ही संत कवियों द्वारा प्रयुक्त संख्यावाची प्रतीकों का भी मीरां ने दो-चार पदों में प्रयोग किया है । यथा—

एक (ब्रह्म का प्रतीक) - एकहि ढूंड़त तोती आई लटक दिवानी मोल ।[11]
पांच-पचीस—पांच पचीसों वस किया मेरा पल्ला न पकड़ै कोय ।[12]

---

1 मी. पदा., पृ. 106, पद—23 (पाठान्तर)
2 मी. पदा., पृ. 241, पद—9 (परि. ग)
3 मी. पदा., पृ. 106, पद 23
4 मी. पदा., (परि. ग) पृ. 240, पद 6 ।
5 मी. वृ. पदा., पृ. 127, पद. 266 ।
6 मी. वृ. पदा., पृ. 127, पद. 266 ।
7 मी. पदा., (परि. ग), पृ. 240, पद 3 ।
8 मी. पदा., (परि. ग), पृ. 242, पद 10 ।
9 मी. पदा., (परि. ग), पृ, 243, पद-14 ।
10 मी. पदा., (परि. ग), पृ. 244, पद-16 ।
11 मी. वृ. पदा., पृ. 101 पद-212 ।
12 मी. वृ. पदा., पृ. 135 पद 136 (पाठान्तर)

पांच—पांच सखी मिल पिव परस आणंद ठामूं ठाम ।[1]
पचरंग चोला—पचरंग चोला पह्र्या सखी मैं झिरमिट खेलण जाती ।[2]
एक—एक संख्या ब्रह्म का प्रतीक है ।[3]
पांच-पचीस—पांच पचीस संख्यावाची प्रतीक पंचभौतिक शरीर का निर्माण करने वाले पांच तत्त्वों को संकेतित करता है और 'पचीस' संख्या इन पांच तत्त्वों की पांच-पांच प्रकृतियों को संकेतित करती है। ये पांच तत्त्व व पचीस प्रकृतियां निम्न हैं—

1—आकाश तत्त्व व उसकी पांच प्रकृतियां—काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय।

2—वायु तत्त्व व उसकी पांच प्रकृतियां—चलन, वलन, धावन प्रसारण, संकोचन।

3—अग्नि तत्त्व व उसकी पांच प्रकृतियां—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा व मैथुन।

4—जल तत्त्व व उसकी पांच प्रकृतियां—लार, रक्त, पसीना, मूत्र और वीर्य।

5—पृथ्वी तत्त्व व उसकी पांच प्रकृतियां—हाड़, मांस, त्वचा, नाड़ी, रोम।[4]

पांच सखी—पंच ज्ञानेन्द्रियां—चक्षु, श्रवण, नासिका, रसना और त्वचा-के लिये 'पांच सखी' प्रतीक का प्रयोग किया गया है।[5]
पचरंग चोला—पंच भौतिक तत्त्व से निर्मित शरीर के लिये पचरंग चोला प्रतक का प्रयोग, मीरां ने, किया है।

पर, निर्गुण साधना में प्रचलित इन संख्यावाची प्रतीकात्मक शब्दों व पूर्व-प्रयुक्त हठयौगिक साधनावाची पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मात्र ही मीरां ने किया है क्योंकि उनकी रुचि हठयौगिक साधना की जटिल प्रक्रियाओं में नहीं थी। वे तो 'दरद दिवानी' थीं। साधनापद्धति के अन्तर्गत ही मीरां ने साधना की स्थितियों को सूचित करने के लिये भी प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने ईश्वर, ब्रह्म या प्रियतम से साक्षात्कार को अभिव्यक्त करने के लिये निर्गुणियों द्वारा 'सुन्न-महल' में 'अविनासी प्रियतम' से मिलन' के प्रतीक का भी उपयोग किया। सुन्न महल 'त्रिकुटी', गगन मंडल, 'सतवे मलीए अजब झरोखे' 'अगम देस' आदि प्रतीकात्मक प्रयोग निर्गुण साधना में भ्रूमध्य स्थित आज्ञाचक्र में प्राणवायु को केन्द्रित कर आत्ममरण की स्थिति की अभिव्यक्ति के लिये होता है। मीरां के विभिन्न पदों में इस स्थिति का निम्न प्रकार उल्लेख मिलता है—

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 142, पद-144।
2 मी. पदा., पृ. 105, पद-23।
3 डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल—'संत साहित्य', पृ. 201।
4 डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल-संत साहित्य', पृ. 213।
5 डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल-'संत साहित्य', पृ. 201।

सुन्न सिखर के द्वारे आके, मोहि मिले अविनासी रे ।[1]
सुन्न महल में सुरति जमाऊं सुख की सेज बिछाऊं ।[2]
सतवे मलीये अजब झरोखे वाही तें हरि लाधो रे ।[3]
गगन मंडल पर सेज पिया की किस विध मिलना होय ।[4]
सतगुर मिलिया सुन्न पिछाणी, ऐसा ब्रह्म में पाती ।[5]

—मीरां ने शून्य के लिये 'अगम देस' प्रतीक का भी प्रयोग किया है—

चालां आगम वा देस, काल देख्यां डरां ।[6]
चालां वाही देस प्रीतम पावां ।[7]

आत्मा और परमात्मा के अपूर्व मिलन की स्थिति के लिये बूंद में बूंद का समाना आदि परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग मीरां ने किया है—

मीरां के प्रभु गिरधर नागर बूंद में बूंद समाय रही ।[8]
मुख पर का आंचल दूर किया तब ज्योति में ज्योति समाय रही ।[9]

प्रेम-पथ की कठिनाइयों व दुर्गमता के कारण मीरां ने उसे 'खांडा री धार' और 'ऊंची-नीची राह रपटीली' का प्रतीकात्मक रूप प्रदान किया। निम्न पद में, उन्होंने सूफी संतों द्वारा वर्णित प्रेम की पीर का वर्णन किया है। इसके लिये सूफियों द्वारा प्रचलित प्रतीकों का ही मीरां ने प्रयोग किया है—

'मीरां मन मानी सुरत सैल असमानी ।
जब जब सुरत लगे वा घर की पल पल नैनन पानी ।
ज्यो हिये पीर तीर सम सालत, कसक कसक कसकानी ।
रात दिवस मोहि नींद न आवत, भावै अन्न न पानी ।
ऐसा पीर विरह तन भीतर जागत रैण बिहाणी ।
ऐसा वैद मिलै कोई भेदी, देश विदेस पिछाणी ।
तासो पीर कहूँ तन केरी, फिर नहीं भरमो खानी ।
खोजत फिरो भेद वा घर को, कोई न करत बखानी ।
+ + + +
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी ।
मीरां खाक खलक सिर डारी, मैं अपना घर जानी ।[10]

उपर्युक्त पद का प्रतीकार्थ व वाच्यार्थ निम्न प्रकार है—

1 मी. वृ. पदा., पृ. 257, पद - 519 ।
2 मी. वृ. पदा., पृ. 127, पद—266 ।
3 मी. वृ. पदा., पृ. 12. पद—24 ।
4 मी. वृ. पदा., पृ. 28. पद—54 ।
5 मी. पदा., (परि. ग), पृ. 243 पद—16 ।
6 मी. पदा., पृ. 156, पद—193 ।
7 मी. पदा., पृ. 144, पद—153 ।
8-9 मी. वृ. पदा., पृ. 11, पद—22 ।
10 मी. पदा., पृ. 244, पद—18 ।

मीरां (साधक) के मन में सुरति का सैल [ईश्वर के प्रति अनुराग का सैलाव (प्लावन)] असीम रूप से बढ़ गया है। उसे जब-जब उस घर की (ब्रह्म को अपने से अलग समझने के कारण यहां उसके निवास स्थल के लिये 'उस घर' प्रतीक का प्रयोग हुआ है) की स्मृति आती है, तब तब (उसके विरह का ज्वार न सह पाने के कारण) नयनों से पानी गिरने लगता है। मीरां (साधक) को उसके विरह की पीड़ा, तीर की भांति, पल-पल 'कसकाती' रहती है और वह अन्न-जल का (सांसारिक उपभोगों का) त्याग कर देती है। मीरां (साधक) को निरंतर उसी की स्मृति रहने के कारण न तो दिन में और न ही रात में नींद आती है (साधक की परम विरहासक्त अवस्था)। वह अपने हिय की पीर का निदान करने वाले वैद्य को देस विदेसों (विभिन्न सम्प्रदायों, धर्मों व धर्मसंस्थानों में) में खोजती फिरती है, परन्तु कहीं भी उस वैद्य का घर (निश्चित निवास-स्थल) नहीं मिलता। अकस्मात् उसकी भेंट सतगुरु (मार्ग दर्शक) से होती है और वे उसे सुख पहुँचाने वाला दान (आत्मज्ञान) देते हैं। गुरु की इस कृपा से मीरां इस खलक (संसार-सांसारिक सम्बन्धों, आकर्षणों व भौतिक सुखों) के सिर पर खाक (धूल) डालकर (उनका त्याग कर उस वैद्य (प्रियतम) को अपने ही घर (अन्तर्घट) में पा लेती है, जिससे उसकी पीर बुझ जाती है तथा उसे आत्मतुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार से जीव की अद्वैतता का ज्ञान तथा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का वर्णन इस सम्पूर्ण पद में किया गया है।

इसी प्रकार 'गली तो चारों बंद हुई है मैं हरि सें मिलूं कैसे जाय।'[1] पद में मीरां ने प्रेम मार्ग की दुर्गमता व दुःसाध्यता का वर्णन किया है – इस पद में, 'हरि' परात्पर ब्रह्म के प्रतीक हैं उन तक पहुँचने की चार गलियां क्रमशः राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग व ज्ञानयोग की प्रतीक हैं। इन मार्गों के अतिरिक्त 'ऊंची-नीची रपटीली संकरी राह'—अर्थात प्रेममार्ग भी है, जो अत्यधिक कंटकाकीर्ण है। इस मार्ग पर सोच-सोच कर पग रखने पर भी साधक बार-बार डिग जाता है। इस प्रतीक के माध्यम से मीरां ने प्रेममार्ग में आने वाले अवरोधों अर्थात् सांसारिक मोह-ममता, लोक-लज्जा व लोकनिन्दा के भय आदि को व्यक्त किया है। प्रियतम का 'ऊंचा महल' आध्यात्मिक लक्ष्य की उच्चता का प्रतीक है और 'झीणा पंथ' साधनापथ की अस्पष्टता व ज्ञान की अपूर्णता को संकेतित करता है। 'सुरति का झकोला' अर्थात् सांसारिक आकर्षण प्रियतम के प्रति लगन को विचलित करता है। इस मार्ग में 'कोस-कोस' पर पहरा व पैंड-पैंड पर बटमार स्थित हैं, जो क्रमशः विविध सम्प्रदायों के धर्मगुरुओं और लोक-आक्षेपों तथा प्रलोभनों के प्रतीक हैं। 'दूर बसा ग्राम' उच्च अभीप्सित लक्ष्य का प्रतीक है। सतगुर अन्तःप्रेरक शक्ति का प्रतीक है। अन्तःशक्ति का भान होते ही झीणा पंथ प्रकाशित हो उठता है। यह प्रकाश आत्मज्ञान का प्रतीक है। आत्मज्ञान होते ही युगों-युगों से भटकी हुई जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेती है और उसी में अन्तर्लीन हो जाती है।

---

1 मी. पदा., पृ. 243, पद—15 (परि. ग)

उपर्युक्त दोनों पदों में मीरां ने प्रेमसाधना-मार्ग की गहनता व अस्पष्टता को, प्रतीकों के माध्यम से, अभिव्यञ्जित किया है। इन पदो में मीरां का निजी अनुभव भी सम्मिलित है। स्वयं के भक्तिमार्ग में आए अवरोध ही विविध प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं।

मीरां द्वारा प्रयुक्त निर्गुण साधनापद्धति-बोधक प्रतीकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां ने हठयौगिक क्रियाओं को संकेतित करने वाले प्रतीकों व उलटवांसियों का प्रयोग न कर प्रधानतः संतों की प्रेमसाधना-पद्धति में प्रचलित प्रतीकों का ही प्रयोग किया है। सूफी संतों की प्रेम-साधना का प्रभाव भी कुछ प्रतीक प्रयोगों में परिलक्षित होता है, परन्तु इन प्रतीकों का प्रयोग संयोग-वशात् ही है। मीरां के पदों में विद्यमान 'दाम्पत्य-प्रेम-भावना' सूफी संतों के प्रेम-मार्ग से गृहीत न होकर सगुण-आराधना-पद्धति में वर्णित माधुर्य भावना के अनुकूल है। सूफी संत किसी लौकिक व्यक्ति व उसकी प्रेमगाथा पर अलौकिक ब्रह्म व दिव्य प्रेम का आरोपण करते थे, जबकि मीरां ने अलौकिक ब्रह्म पर, उसके ही प्रचलित लौकिक रूपों का आरोपण कर उनको प्रतीक के रूप में ग्रहण किया। इसी से अपने सर्वव्यापक अनन्त ब्रह्म को मीरां ने सगुण साकार 'गिरधर नागर' आदि के प्रतीकात्मक स्वरूप में व्यक्त किया है।

### (ख) सगुणोपासनापरक प्रतीकों का प्रयोग—

मीरां के प्रतीक-प्रयोगों पर सगुणोपासक भक्त कवियों में प्रचलित प्रतीकों की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मीरां ने अपने आराध्य को सगुण साकार 'गिरधर नागर' के रूप में प्रतिष्ठापित किया था। यह बात अलग है कि बाद में उनकी भक्ति-भावना के विकास के साथ ही उनके आराध्य का रूप भी व्यापक होकर विराट ब्रह्म में परिणत हो गया। मीरां के पदों में प्राप्त प्रतीकों का स्वरूप अधिकांशतः सगुणपरक ही है, जो उनके सगुण भक्त होने की पुष्टि करता है। अस्तु! मीरां के सगुण प्रतीक-परम्परा-प्रभावित प्रतीकों को भी तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है, अ—आराध्य सम्बन्धी प्रतीक, ब—आराधक सम्बन्धी प्रतीक, स - आराधनापद्धति सम्बन्धी प्रतीक।

**अ—आराध्य सम्बन्धी प्रतीक—**

श्री रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, हित-हरिवंश प्रभृति आचार्यगण निर्गुण ब्रह्म को सगुणावतार श्रीराम व श्रीकृष्ण में प्रतिष्ठापित कर भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए, इन अवतारों की विविध लीलाओं का प्रेमपूर्वक गायन कर रहे थे। इनके द्वारा प्रवाहित सगुणभक्ति-स्रोतस्विनी में सभी वर्गों व वर्णों के श्रद्धालुजन अवगाहन कर पवित्र हो रहे थे। विविध सम्प्रदायों व मार्गों के अनुयायी ब्रह्म का प्रतीक 'कृष्ण' क और जीवात्मा का प्रतीक 'गोपियों' को मानकर, इनकी मधुर लीलाओं का गान कर आनन्दित हो रहे थे। बाल्यकाल से ही सगुण वैष्णव आराधन के संस्कारों में पली मीरां ने भी अपना आराध्य कृष्ण को मान लिया था। अन्य कृष्ण भक्तों के सदृश ही उन्होंने भी श्रीकृष्ण रूपी अपने प्रियतम को उसके विविध रूपों, गुणों व कृत्यों

के आधार पर विविध संज्ञाओं से अभिहित किया। मीरां के पदों में प्रयुक्त आराध्यवाची इन संज्ञाओं में कुछ परम्परागत हैं और कुछ मौलिक। इनके द्वारा प्रयुक्त परम्परागत सगुण आराध्यवाची संज्ञाएं निम्नानुसार हैं—

नामाधारित

(1) व्यक्तिवाची संज्ञाएं—कृष्ण, कन्हैया, कनैया, नन्दनन्दन, नन्दकुमार, नन्ददुलारे, गोविंद, गोविन्दा, गोपाल, राम, रामा, रमइया, रघुनन्दन, रामसनेही, रघुवीर, रघुवीरजी, हरि।[1]

स्थानाधारित—

व्रजवासी, गोकुलवासी, वृन्दावनवासी, श्रीवृन्दावनचन्द्र, व्रजराज, द्वारकावासी।[2]

जाति-आधारित—

गुवालियो, अहीर।[3]

रूप-आधारित—

सांवरा, सांवरिया, वंसीवारो, कारीकामरवालो, वड़ी-वड़ी अखियनवारो, कमलदल लोचना, मनमोहन, स्यामसुन्दर।[4]

गुणाधारित—

कृपानिधान, दयाल, मुरारी, रसिक, दीनानाथ, रणछोड़, गरीवनिवाज, सिरजणहार।[5]

इन परम्परागत नामों के अतिरिक्त मीरां ने कुछ अन्य मौलिक प्रियवाची नामों से भी आराध्य को सम्बोधित किया है, जो इस प्रकार है—

अनन्त धणीं, सबलधणी, जनम जनम रा संगी, रामसंगाती, जनम-जनम के नाथ, सांकड़ा रो साथी, चासा पति, मारूजी, सिरताज वालपणे के वालसनेही, वनाजी, ओलगिया, रसियाछैल, रंगभीना, गुसंइयां, थारो वीर, प्राणप्यारा, निरमोहिड़ा, प्रेम पियारा मीत।[6]

---

1 ये संज्ञाएं 'मीरां वृहत-पदावली' के निम्नांकित पदों में क्रमशः प्रयुक्त हुई है—क्रमशः पद सं. व पृष्ठ सं.—1-1, 2-1, 67-34, 183-88, 215-102, 70-35, 231-111, 26-13, 86-43, 10-5, 191-91, 497-241, 494-239, 541-269, 372-176, 199-94।

2 1-2, 3-5, 34-67, 36-72, 106-220।

3 11-21, 33-66।

4 7-14, 16-32, 307-608, 26-52, 45-90, 146-306, 36-72, 89-187, 88-183, 26-51।

5 9-17, 91-192, 100-210, 107-223, 108-224, 112-232, 196-414, 121-251।

6 क्रमशः पद सं—पृ. सं. 7-14, 218-452, 17-35, 24-48, 40-82, 50-101, 60-121, 111-231, 106-220, 123-255, 149-312, 190-400, 190-401, 17-34, 223-463, 2-4, 106-220, 113-234, 128-158, 78-161।

पूर्वप्रयुक्त परम्परागत ईश्वरवाची नाम अत्यधिक प्रयुक्त होने के कारण प्रतीक न होकर संकेत मात्र बन कर रह गये हैं; परन्तु मीरां ने इन नामों का प्रतीकात्मक अर्थ ही ग्रहण किया है। मीरां ने आराध्यवाची जितनी भी संज्ञाओं का प्रयोग किया है, वे सब ब्रह्म के ही प्रतीक हैं; क्योंकि उनके आराध्य या वर ब्रह्म ही हैं—

> जिनकी कला से हालत चालत धरण अकास अधारा।
> जिनको कल में सब जग भूल्यो ये ही पुरुष हैं न्यारा।
> कोटि ब्रह्माण्ड में व्यापि रह्यो है सो निज वर है हमारा।[1]

इसी ब्रह्म के साथ मीरां ने माधुर्य-भाव (दाम्पत्य-भाव) का सम्बन्ध स्थापित किया था। पता नहीं मीरां ने पति को परमेश्वर माना था या नहीं; पर उन्होंने परमेश्वर को अपना पति अवश्य स्वीकार कर लिया था। उनका यह सम्बन्ध एक जन्म का न होकर जन्मजन्मान्तर का था। अपने इसी 'जन्म जन्म के साथी, पूरबले वर' का मीरां ने इस जन्म में भी वरण किया था। ये तथा अन्य विविध पूर्वोद्धृत नाम उनके लिए प्रतीक मात्र थे, इसीलिए कभी-कभी एक ही पद में वे अपने प्रभु को विविध सम्बोधन दे देती हैं। यथा—

> मीरां हरि की लाड़ली जी, तुम मीरां के **स्याम**।
> मीरां के प्रभु **गिरधर नागर**, दरसण द्यो म्हारे **राम**।[2]

इन दो पंक्तियों में मीरां ने चार नामों का प्रयोग किया है—मीरां हरि की लाडली हैं और वे मीरां के श्याम हैं। प्रभु गिरधर नागर से वे प्रार्थना करती हैं कि उनके राम उन्हें दर्शन दें। यहां चतुर्नामों के प्रयोग को देख यह स्पष्ट होता है कि मीरां का किसी विशेष नाम या रूप वाले प्रभु से तात्पर्य नहीं है, उनके लिये हरि, राम और श्याम एक ही हैं। वे इन स्वरूपों में अभेद-भावना रखती हैं। यही नहीं उन्होंने कृष्णावतार की घटना में रामावतार तक का आरोपण कर दिया है—

> देखत राम हंसे सुदामा को देखत राम हंसे।[3]

ऐसे ही बहुत से पद हैं जिनमें राम-नाम की महिमा गाते हुए अंत में उन्होंने 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' का प्रयोग किया है।[4] आराध्य का विविध-नाम-प्रयोग यह सिद्ध करता है कि मीरां ने नामों का प्रयोग केवल प्रतीकात्मक रूप से किया है उनका आग्रह किसी विशेष अवतार को सूचित करने वाले संज्ञा प्रतीकों पर नहीं था, अपने चिरपरिचित प्रियतम को सम्बोधित करने के लिये वे तो विविध नाम प्रतीकों में ऐसा उपयुक्त प्रतीक खोजना चाहती हैं जो उनकी भावना को भली प्रकार व्यक्त कर सके। नाम विपर्यय द्वारा मीरां ने रूढ़ (व्यक्तिवाचक संज्ञा) प्रतीकों को भी रूपान्तरित कर दिया है। यह उनका मौलिक प्रयास है जिसमें वे एक सीमा तक सफल भी हुई हैं। अतः मीरां द्वारा प्रयुक्त आराध्यवाची संज्ञाओं को, रूढ़ होते हुए

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 235, पद—486।
2 मी. वृ. पदा., पृ. 13, पद—26।
3 मी. वृ. पदा., पृ. 113, पद—235।
4 मी. वृ. पदा. के पद सं. क्रमशः 532, 533, 535, 536, 538।

भी, संकेतात्मक प्रतीक ही माना जा सकता है।

ब – आराधक-सम्बन्धी प्रतीक—

मीरां द्वारा प्रयुक्त आराधक सम्बन्धी प्रतीकों को, विवेचन की सुविधा की दृष्टि से, दो वर्गों में विभक्त करना उचित होगा—

(1) आराधक-आराध्य के विविध सम्बन्ध सूचक प्रतीक।

(3) आराधक की विविध अवस्था व स्थितिसूचक प्रतीक।

(1) आराधक-आराध्य के विविध सम्बन्धसूचक प्रतीक –

मीरां स्वयं आराधक का प्रतीक हैं। उन्होंने सामाजिक और जागतिक मर्यादाओं का उल्लंघन व सांसारिक विरोधों का दृढ़तापूर्वक संवहन करते हुए अपने आराध्य की एकान्तिक भक्ति में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को लवलीन कर गोपीभाव के जिस उच्च-प्रेमादर्श की जीवन्त प्रतिष्ठापना की, वह स्वयं ही प्रतीकात्मक है। "मीरां का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मानों 'गोपी-भाव' में साकार हो उठता है और साथ ही उसके रीतिपूर्ण प्रेम की भावना भी यहां आकर 'मधुर-भाव' में लय हो जाती है। मीरां के 'गोपी-भाव' में तादात्म्य योग का मधुर रूप स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होता है।[1]

मीरां ने अपनी समस्त रंगमयी इच्छाएं और विलासमयी आकांक्षाएं प्रियतम के चरणों में निव ात कर दी थीं। सर्वथा निराकांक्ष होते हुए भी उनके हृदय में केवल एक ही इच्छा शेष रह गई थी अपने प्रियतम को सर्वतोभावेन प्रसन्न रखने तथा येन-केन-प्रकारेण उसे रिझाने की। इसी इच्छा से प्रेरित होकर वह गा उठती हैं—

जीं जीं भेप मेरो साहिब रीझै सोई सोई भेप धरूंगी।[2]

तथा—

जिह जिह विध रीझै हरी सोई विधि कीजै हो।[3]

एवं —

गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं।
रैण दिणा वाके संग खेलूं ज्यूं त्यूं वाहि रिझाऊं।
जो पहिरावै सोई पहरूं जो दे सोई खाऊं।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी उण बिण पल न रहाऊं।
जहां बैठावे तित ही बैठूं, बेचै तो बिक जाऊं।[4]

प्रियतम के प्रति आत्मनिवेदन का भाव उनमें इतना प्रवल है कि उसकी इच्छा के अनुकूल पहनने, खाने और रहने पर भी यदि प्रियतम उसे बेचना चाहें तो आराधिका कोई प्रतिकार नहीं करेगी। इसी प्रवल आत्म समर्पण की भावना से वशीभूत होकर मीरां कभी प्रियतम की दासी बन जाती है, तो कभी वाल सहचरी, कभी प्रियतमा बन जाती है, तो कभी पतिव्रता पत्नी।

1 डॉ. वीरेन्द्रसिंह : 'आयाम', पृष्ठ—47।
2 मी. पदा., पृ. 242, पद—11।
3 मी. पदा., पृ. 103, पद—15।
4 मी. पदा., पृ. 144, पद—154।

एक स्थान पर तो वे अपने आराध्य से स्वयं को चाकर बना कर रख लेने की अनुनय विनय करती दृष्टिगोचर होती हैं। प्रियतम की दासी बनकर वह स्वामी की दास्योचित शुश्रूषा-सेवा के सभी कार्य करेंगी। उनके निमित्त बाग लगाएंगी, नये-नये कुञ्ज बनाएंगी और बीच-बीच में क्यारियां रखेंगी, जब स्वामी उन बागों में टहलने आएंगे तो वे दूर-दूर से उनके दर्शन कर कृतार्थ हो लेंगी और उनका गुण-गान करती रहेंगी। यदि उनके स्वामी उन्हें दासी के कार्य का प्रतिदान देना चाहेंगे तो वे उनसे निम्न वस्तुओं की याचना करेंगी—

चाकरी में दरसण पास्यूं, सुमिरण पास्यूं खरची।
भावभगति जागीरी पास्यूं, जणम जणम री तरसी।[1]

स्वामी द्वारा इन वस्तुओं को पारिश्रमिक के रूप में पाकर उनकी जन्म-जन्मान्तर की तृष्णा शान्त हो जाएगी। जब स्वामी कुछ न कुछ देना ही चाहेंगे, तभी वे इन वस्तुओं की याचना करेंगी अन्यथा वे तो उनकी जनम-जनम की चेली हैं।[2] उनके हाथ बिना मोल ही बिक चुकी हैं,[3] और उनकी कृपा पर ही आश्रित हैं; स्वामी को हर प्रकार से सन्तुष्ट करना उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है।[4]

आराध्य और आराधक के बीच स्थापित स्वामी और सेविका का यह प्रतीकात्मक सम्बन्ध मीरां ने मानव के व्यावहारिक जीवन से ग्रहण किया है। मीरां द्वारा प्रयुक्त इस प्रतीक में तद्‌युगीन राजपरिवारों में स्थित स्वामी और दासी का सम्बन्ध अप्रस्तुत रूप में साकार हो उठा है। राजमहल में दासियां जिस प्रकार राजा और राजपुत्रों की सेवा करती थीं, उसी प्रकार मीरां ने अपने आराध्य की सेवा का वर्णन उपर्युक्त पदों में किया है। स्वामी और दासी के प्रतीकात्मक सम्बन्ध विषयक इन पदों में आत्मसमर्पण व सानुकूलता का भाव प्रमुख रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

मीरां ने गिरधर के प्रति अपने आकर्षण एवं प्रेम को 'बालपने के सहचर-सहचरी के आपसी प्रेम के क्रमिक-विकसित रूप के प्रतीक के माध्यम से भी अभिव्यक्त किया है। कृष्ण को उन्होंने अपने बालपने के मित्र के रूप में वर्णित किया है। जिस प्रकार बालपने के अधिकांश सखा-सखी युवावस्था में प्रेमी-प्रेमिका रूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार मीरां और गिरधर भी (भाव की दृष्टि से) बाल्यकाल से साथ-साथ रहने के कारण अब प्रिया-प्रियतम के रूप में परिणत हो गये हैं। अपनी इस मित्रता को मीरां 'गिरधर और ग्वालिन' के क्रमिक-विकसित प्रेम के प्रतीक के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करती हैं—गिरधर और गोपी बाल्यावस्था के मित्र हैं।[5] नित्य प्रति एक दूसरे के घर आने-जाने के कारण इनकी

---

1 मी. पदा. पृ. 144. पद—154
2 मी. वृ. पदा., पृ. 46, पद—94
3 मी. वृ. पदा., पृ. 15, पद—30
4 मी. वृ. पदा., पृ. 192, पद—405
5 मी. वृ. पदा., पृ. 18, पद—37

मित्रता प्रगाढ़ होती गई है।[1] किशोरावस्था के आगमन के साथ ही अचानक उनकी मित्रता में परिवर्तन आया। प्रतिदिन की भांति उस दिन भी गोपी जल भरने जा रही थी, माथे पर कलश रखा हुआ था, तभी मार्ग में उसकी भेंट अपने किशोर मित्र से हुई। नयनों का मिलाप हुआ; किन्तु आज सहचर की दृष्टि में कुछ ऐसी अद्भुत चावनी थी जिसे देख गोपी मन्त्र-मुग्ध हो गई। उस चितवन का जादू इतना प्रबल था कि गोपी लोक, लाज सब विस्मृत कर उसके साथ हो गई। उसने 'छाने-चुपके' उसी मित्र का जीवनभर के लिये वरण कर लिया—

हूं जल भरने जात थी सजनी, कलस माथे धर्‌यो।
सांवरी सी किसोर मूरत, कछुक टोनों कर्‌यो।
लोक लाज बिसारि डारी, तवहीं काज सर्‌यो।
दासि मीरां लाल गिरधर, छाने ये वर वर्‌यो।[2]

इस प्रकार बाल्यावस्था के सखी-सखा युवावस्था के प्रेयसी-प्रियतम बन गये। सामाजिक रूप से प्रेयसी का विवाह अन्यत्र हो जाने पर भी बाल्यावस्था का प्रेमी ही उसे अपने पति की अपेक्षा अधिक प्रिय लगता है। परकीया-भाव के इस प्रेम सम्बन्ध को भी मीरां ने प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया है—

छांड़ो लंगर मोरी बहियां गहो ना।
मै तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना।
जो तुम मेरी बहियां गहत हो नयन जोर मेरे प्राण हरो ना।[3]

कृष्ण की यह छेड़-छाड़ गोपिका को अच्छी तो लगती है, परन्तु लोक-लज्जा व सामाजिक आलोचनाओं के भय से ही वह कृष्ण को डांटती है। निम्न उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण को अपने घर आने से वर्जन करने का मुख्य कारण यह सामाजिक लोक-भय ही है—

मत आवै रे नंद का म्हांकी गली।
म्हांकी गली की बांकी गुवालिन मत ना लोग हंसावै रे।
सास बुरी मेरी नंणद हठीली, पाड़ोसण लख जावे रे।[4]

गोपिका का यह भय समाप्त करने के लिये कृष्ण वेणु-वादन करते हैं। प्रिय के वेणु-नाद का श्रवण कर गोपिका सारी लौकिक मर्यादाएं भूल कर उससे मिलने को दौड़ पड़ती है—

सप्त सुरन मुरली बाजी, कहुँ कालिन्दी के तीर।
श्रवन सुनत सुध ना रही, मेरी कित गागर कित चीर।[5]
कलेजे म्हारे बांसुरी री धुन लागी।
हूं अपने गृह काज करत रही, श्रवण सुनत उठ भागी।[6]

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 167, पद 351
2 मी. पदा., पृ. 150, पद—172।
3 मी. वृ. पदा., पृ. 69, पद—142।
4 मी. वृ. पदा., पृ. 168, पद—355।
5 मी. वृ. पदा., पृ. 122, पद—321।
6 मी. वृ. पदा., पृ. 38, पद—78

अब तो गोपिका कृष्ण के अधीन हो जाती है, निरंतर उन्हीं के ध्यान में डूबी रहती है और कृष्ण का तनिक-सा संकेत पाकर उनके पास चली जाती है। कृष्ण से मिलने पर यही विनय करती है कि इतनी प्रीति बढ़ा कर हमें भूलना नहीं, निरन्तर इस प्रेम-सम्बन्ध को निभाना—

भूल न जाना म्हारी और निभाना।
हमरी तुमरी लगन लगी है नित प्रति आना जाना।
मन भावै सो कहै जगत सब, नेक नहीं सरमाना।[1]

गोपिका का स्वजनों के स्नेह का बन्धन व लौकिक-मर्यादाओं का बन्धन स्वतः खुल जाता है और वह निःशंक हो कृष्ण के साथ-साथ कुंजों में फिरने का निश्चय कर लेती है—

रमित भई हों सांवरे के संग लोग कहै भटकी।
छुटी लाज कुल-कानि लोक डर रह्यो न घर हट की।
बिना गोपाल लाल बिन सजनी को जानै घट की।
मीरां प्रभु के संग फिरेगी, कुंज-कुंज लटकी।[2]

उपरिवर्णित गोपिका-कृष्ण की सभी लीलाएं प्रतीकात्मक हैं। प्रारम्भिक स्थिति में आराधक के हृदय में अपने आराध्य के प्रति प्रेम-भाव तो रहता है, परन्तु वह पारिवारिक और सामाजिक बन्धनों व आलोचना आदि के भय से उसे प्रकट नहीं करता। इस प्रतीकार्थ की अभिव्यक्ति गोपिका के पारिवारिक संकोचों के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त हुई है—

बाजे छे रे बाजे छे, पैला वन मांही मीठी वेणु बाजे छ।
हारे दुर्जन को डर लागे छे
सासू सूती म्हारी सुख निद्रा में, जाउं तो नणदल जागे छे।
ससुरो म्हारो परम सोहागो, देवरियो दिल में दाझे छे।[3]

कालान्तर में आराध्य का निरंतर स्मरण करने रहते के कारण आराध्य की ओर से आराधक को ऐसी प्रेरणा मिलती है, जिससे उत्साहित हो वह समस्त लोकलाज के बन्धनों को विश्रृंखलित कर देता है और अपने आराध्य के प्रेम में उन्मत्त रहने लगता है। आराध्य की मोहिनीशक्ति की प्रतीक मुरली इसमें सहायक होती है। आराधक की इस स्थिति का वर्णन ही कवयित्री ने पूर्वोक्त पद (रमित भई हो…… ) में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां ने गोपिका के माध्यम से आराधक की परकीया-भाव की भक्ति को ही स्पष्ट किया है।

मीरां स्वयं को पूर्वजन्म की गोपिका मानती थीं—यह जन्म तो उन्हें किसी दुर्घटनावश ग्रहण करना पड़ा है—

पूरब जनम की होती गोपक्या, चूक पड़ी मुझि मांही।
जगत लाज उपजी घट भीतर, तब हरि ने छिटकाई।[4]

---

1 मी. वृ, पदा., पृ, 167, पद—351।
2 मी. वृ. पदा., पृ. 181, पद—484।
मी. वृ. पदा., पृ. 153, पद—322।
मी. वृ. पदा., पृ. 255, पद—517।

इस प्रकार पूर्वजन्म में वे कृष्ण की परकीया थीं, परन्तु इस जन्म में वे स्वयं को कृष्ण की स्वकीया मानती हैं। अपने इस दाम्पत्य सम्बन्ध को वैधानिकता प्रदान कराने के हेतु वे गिरधर से अपने आध्यात्मिक विवाह की चर्चा करती हैं, किन्तु इस अलौकिक विवाह की सभी रस्में और रीतियां लौकिक जगत में प्रचलित विवाह पद्धति के सदृश ही बताई गई हैं—

हल्दी तो पीठी म्हारे अंग लिपटाई, मेंहदी सूं रच्या म्हारा हाथ।
छप्पन कोड़ (करोड़) जादू जान, पधारया, दूल्हो श्री नन्द कुंवार।
सेवरियो सिर पेच कलंगी सोरठड़ी तलवार।[1]

+ + + +

सुपणा मां तोरण बंध्या री सुपणा मां गह्या हाथ।
सुपणा मां म्हारे परण गया पायां अचल सोहाग।[2]
बांह पकड़ि हरि चल्या, मोहे दीन्हों छे अविचल राज।[3]

उपर्युक्त पदों में मीरां ने अपने आध्यात्मिक विवाह का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। यह विवाह जाग्रत अवस्था में न होकर स्वप्नावस्था में हुआ था। मीरां के आराध्य ने दूल्हे का रूप धारण कर उनका पाणिग्रहण किया और उनकी बांह पकड़ कर ले गये तथा अपनी पटरानी बनाकर उन्हें अविचल राज्य प्रदान किया।

मीरां की ससुराल भी अनोखी थी। अपनी इस अनोखी ससुराल का भी मीरां ने प्रतीक के माध्यम से वर्णन किया है—

सासू हरी सुमरना रे, सुसरो परम सन्तोष।
जेठ जुगां रो राजवी, पीव रह्यो निरदोष।
लख चोरासी चूड़लो रे बाला पहरयो पिया जी रे काम।

+ + + +

साधों में म्हारो सासरो रे पिया को वैकुंठां में वास।[4]

कवयित्री ने अपनी साधु-मंडली को ससुराल का प्रतीकात्मक रूप प्रदान किया है। इस ससुराल में पहुँच कर मीरां अपने (अर्थात आराधक के) आराध्य की इच्छा के अनुकूल सात्विक गुणों को धारण कर दिव्य शृंगार करती हैं।[5] उनका यह अनुपम शृंगार प्रियतम को रिझाने में समर्थ सिद्ध होता है और प्रियतम अंगीकार कर लेते हैं—इस भाव को मीरां ने निम्न पद में रूपान्तरण पर आधारित रूपक के माध्यम से व्यक्त किया है—

ओढूं लज्या चीर, धीरजि को घाघरो।
समता कांकण हाथ, सुरति को मूंदड़ो।
अंगिया है बिसवास, चूड़ो चित ऊजलो।
दुलड़ी दिल दरियाव, सांच को दोवड़ो।
दातां अमृत मेख, दया को बोलबो।

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 178, पद—378।
2 मी. पदा, पृ. 108, पद – 27।
3 मी. वृ. पदा., पृ. 121, पद—251।
4 मी. वृ. पदा., पद. 251
5 मी. वृ. पदा, पद. 61

ऊबटणों गुरज्ञान, ध्यान को धोइवो ।
नकवेसर हरिनांव, काजलि म्हारे धरम को ।
विदलो जग उजियार, तिलक ततसार को ।
ग्यांन अंगूठी कान जुगति का झूंठणां ।
जैलड सील संतोष, नरत का घूंघरा ।
पटली ब्रह्म ज्ञान, हरीवर राखड़ी ।
पहरि सुवागण नार, झरोखे आ खड़ी ।
अविरता की सेज, साहिवजी पधारिया ।

उक्त पद में मीरां ने अपने लौकिक वैधव्य को आध्यात्मिक सुहाग में रूपान्तरित कर लिया है। इस रूपान्तरण के परिणाम-स्वरूप ही वे स्वयं को सुहागिन के रूप में मानती हुई आध्यात्मिक शृंगार से स्वयं को सुसज्जित करने का प्रयत्न करती हैं और आराध्य से मिलने की प्रतीक्षा करती हुई दिखलाई पड़ती हैं। पतिव्रता की इस निष्ठा के कारण ही उसका साहिव (प्रियतम) उसकी मनोकामना पूर्ण करने के लिये आ जाता है। उक्त पद की अंतिम दो पंक्तियों में ही प्रतीक-प्रयोग हुआ है जो पूर्ववर्ती रूपकविधान का सहज परिणाम है। इस रूपान्तरण पर आधारित रूपकात्मक प्रतीक-योजना में मीरां ने निज के रूपान्तरण के साथ ही प्रसंग सम्बद्ध शृंगारिक अलंकरणों व प्रसाधनों का भी, रूपक-योजना के द्वारा रूपान्तरण कर दिया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां ने आराधक के विविध रूपों एवं सम्बन्धों को, पारिवारिक व सामाजिक क्षेत्र के रागात्मक सम्बन्धों से गृहीत प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन विविध स्वामी-सेविका, वाल सखा-सखी, प्रियतम-प्रियतमा और पति-पत्नी आदि के प्रतीकात्मक सम्बन्ध-रूपों में मीरां; ने अंतिम रूप-(पति-पत्नी) को ही सर्वोपरि माना है। मीरां और उनके आराध्य के बीच स्थापित इन प्रतीकात्मक सम्बन्धों में आत्मसमर्पण, अनन्यता, एक-निष्ठता उत्कट रागात्मकता के भाव प्रवलतः अभिव्यक्त होते हैं।

**(2) आराधक की विविध अवस्था व स्थिति-सूचक प्रतीक—**

मानवीय-सम्बन्धों से गृहीत उपर्युक्त आराध्य-आराधक सम्बन्ध-सूचक प्रतीकों के अतिरिक्त मीरां ने आराधक की प्रेमजनित विविध अवस्थाओं, स्थितियों व मनोभावों को व्यंजित करने के लिये भी प्रकृतिजगत् के विविध क्षेत्रों से, सादृश्य के आधार पर, विविध प्रतीकों का चयन किया है। प्रिय की अभावजन्य विकलता को व्यक्त करने के लिए विरह-विधुरा मीन का प्रतीक मीरां को सर्वप्रिय था। 'मछली की विरहाकुल-अवस्था' का प्रतीक, मीरां के आकुल-अन्तर की छटपटाहट को अभिव्यंजित करने में सफल व सक्षम रहा है—

मीण जल बिछुड़्या णा जीवां तलफ मर मर जाय।

उपर्युक्त 'मीण' और 'जल' के प्रतीक के व्याज से मीरां अपनी स्थिति को ही व्यंजित करती हैं। जिस प्रकार मीन जल से वियुक्त होते ही तड़प-तड़प कर मर जाती है, उसी प्रकार यदि मीरां को उसके प्रिय से विलग कर दिया जाय तो वह भी उसके (प्रिय के) वियोग में अपने प्राणों का त्याग कर देगी। एक अन्य

पद में मीरां अपनी स्थिति व अन्य सांसारिक जीवों की स्थिति की पृथकता प्रतीकों के माध्यम से निम्न प्रकार स्पष्ट करती हैं—

कमठ-दादुर बसत जल में, जल से उपजाई
मीण जल से बाहर कीना, तुरत मर जाइ।

कमठ-दादुर और मीन तीनों ही जलचर-जन्तु हैं, किन्तु कमठ और दादुर उभय-जीवी हैं वे स्थल में भी आराम से जी लेते हैं और जल में भी; किन्तु मीन जल से पृथक् होते ही बुरी तरह तड़पने लगती है और अन्ततः जलाभाव के कारण प्राणोत्सर्ग कर देती है। यहां कमठ-दादुर उन संसार-प्रवाही जीवों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जो ईश्वर-भक्ति या अनुरक्ति के अभाव में भी जीवन-यापन कर लेते हैं। जबकि मीन उस आराधक के प्रतीक के रूप में, जो अपने प्रिय की अनुरक्ति या प्रपत्ति के अभाव में अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और तुरन्त अपने प्राणों का विसर्जन कर देता है; परन्तु जिस प्रकार मीन के प्रेमजन्य आत्मोत्सर्ग को जल नहीं जान पाता उसी प्रकार आराधक का यह प्रेममय आत्मोत्सर्ग भी एकपक्षीय रह जाता है। आराध्य आराधक के इस उत्सर्ग से अनभिज्ञ ही रह जाता है। आराधक की इस अज्ञात प्रेमावस्था को कवयित्री ने निम्न रूप में प्रकट किया है-

'पाणी पीर ण जाणइ मीण तलफि तज्या देह।'

यहां भी 'पाणी' और 'मीण' अपने पूर्ववर्णित प्रतीकार्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। अपने एकपक्षीय प्रेम निर्वाह की अभिव्यक्ति के लिये शलभ (पतंग) चकोर और चातक का प्रतीक-चयन भी परम्परागत है। मीरां के पदों में भी इन प्रतीकों का प्रयोग परम्परागत अर्थ में ही हुआ है—

दीपक जाण्या पीर ण पतंग जल्या जल खेह।[1]
लगण लगी (जैसे) चकोर चन्दा से अगनी भक्षण कीजे।[2]
अन्तर वेदन विरह री म्हारी पीर ण जाणी हो।
ज्यूं चातक घण कूं रटै मछरी ज्यूं पाणी हो।[3]

उक्त उदाहरणों में प्रयुक्त दीपक और पतंग, चकोर और चन्दा, चातक और घन, मछली और पाणी प्रेम की एकपक्षीय अनन्यता को व्यक्त करने के सार्वभौमिक प्रतीक बन गये हैं (उपर्युक्त एक पंक्ति को छोड़कर शेष दो पंक्तियों में इन प्रतीकों का प्रयोग उदाहरण के रूप में किया गया है)। सूफी सन्त कवियों में भी दीप-शलभ के प्रतीक का प्रयोग 'शमा-परवाना' के रूप में मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी प्रेम-भक्ति को चातक-चकोर के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया था।

रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजे।[4]

आराधक द्वारा निरन्तर प्रिय-स्मरण की भावपूर्ण स्थिति को मीरां ने चातक व मेघ की प्रतीकात्मक स्थिति के माध्यम से व्यक्त किया है—

चातग स्वाति बूंद मन माहीं, पीव पीव उकलाणे हो।[5]

---

1. मी. पदा., पृ. 131, पद—105।
2. मी. पदा., पृ. 155, पद – 191।
3. मी. पदा., पृ. 1·6, पद—87।
4. वियोगी हरि सम्पादित -विनय [illegible] त्रि पृ. 188, पद 80।
5. मी. पदा., पृ, 121, पद - 73।

मीरां ने निरन्तर प्रिय-स्मरण के भाव को उपर्युक्त चातक के परम्परागत प्रतीक के अतिरिक्त 'गो-वत्स' के मौलिक प्रतीक के माध्यम से भी व्यक्त किया है—

दुग्धा आरण फिरे दुखारी, सुरत बसी सुत माने हो ।[1]

जिस प्रकार दुग्धा (धेनु) अरण्य में चरने जाती है परन्तु उसका ध्यान अपने प्रिय वत्स में ही लगा रहता, उसी प्रकार आवश्यक सांसारिक कार्य-कलाप करते हुए भी आराधक के स्मृति-पटल पर उसके प्रियतम आराध्य ही छाये रहते हैं। वह (आराधक) यही इच्छा करता है कि कैसे शीघ्र ही अपने प्रियतम का साक्षात्कार करे।

आराधक अपने प्रिय के सार्वकालिक सान्निध्य की आकांक्षा करता है। इसके लिये वह हर प्रकार का रूप धारण कर लेने को तत्पर है। यदि उसका प्रिय सरोवर बन जाय तो वह मीन बनने की इच्छा करता है और यदि प्रिय तरुवर बन जाय तो वह पक्षी बन कर निरंतर उस वृक्ष पर किलोल करने का आकांक्षी है। यदि प्रिय गिरवर बन जाय भक्त मयूर बन कर निरन्तर उस गिरि पर नृत्य करना चाहता है, यदि प्रिय चन्द्र बनकर आकाश में चमकने लगे तो आराधक चकोर बनकर निरन्तर उस गिरि पर नृत्य करना चाहता है, यदि प्रिय चन्द्र बनकर आकाश में चमकने लगे तो आराधक चकोर बनकर निरन्तर उस चन्द्र को निहारा करे, यदि प्रिय मोती का रूप धारण कर ले तो भक्त धागा बनकर सर्वदा उसका साहचर्य प्राप्त करना चाहता है, यदि प्रिय स्वर्ण के रूप में परिवर्तित हो जाय तो भक्त सुहागा बन कर निरन्तर उस स्वर्ण की प्रभा को अधिकाधिक दीप्ति प्रदान करना अपना धर्म समझता है और यदि प्रिय ठाकुर बन जाय तो भक्त दास बनकर सर्वदा उसकी सेवा करते रहने का आकांक्षी है। भक्त या आराधक को अपने प्रिय का क्षणार्ध का वियोग भी असह्य है। यदि प्रिय चाहे तो भले ही उससे सम्बन्ध तोड़ ले पर आराधक तो उसी को चाहता रहेगा, आराध्य से तो बहुत से लोग प्रीति जोड़ने वाले मिल जाएंगे आराधक का तो एकमात्र प्रेमावलम्ब प्रिय ही है—

जो तुम तोड़ो पिया मैं नाहीं तोड़ूं रे।
तेरी प्रीत तोड़ी प्रभु कौन संग जोड़ूं ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मीरां ने आराधक आराध्य के सम्बन्धों को संकेतित करने के लिये मानवीय सम्बन्धों पर आधारित विविध प्रतीकों का परम्परा-गत व मौलिक विधान किया है तथा आराधक की विभिन्न भाव-दशाओं व अवस्थाओं की स्पष्टाभिव्यक्ति के लिए प्रकृति-जगत् से प्रतीकों को चुना है।

आराध्य और आराधक संबंधी प्रतीक प्रयोगों के उपरांत अब मीरां की सगुण आराधना-पद्धति को सूचित करने वाले प्रतीक-प्रयोगों की चर्चा करना भी आवश्यक है आगामी पृष्ठों में मीरां की सगुण आराधना-पद्धति को द्योतित करने वाले इन प्रतीकों का विवेचन किया गया है।

**(स) सगुण आराधना-पद्धति सम्बन्धी प्रतीक -**

प्रत्यक्षतः मीरां किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित नहीं थी। भावसंकुल

---

1 मी. पदा., पृ. 121, पद—73

2 मी. वृ. पदा., पृ. 79, पद 164।

हृदय से नि:सृत उनकी आराधना-पद्धति विविध सम्प्रदायों की आराधना-पद्धति के नियमों से सर्वथा निरपेक्ष थी। उनके हृदय के उन्मुक्त भावावेश को परिपाटीबद्ध करने की सामर्थ्य किसी सम्प्रदाय-विशेष में नहीं थी। उनकी प्रेम धारा की वेगपूर्ण अविराम गति उस तूफ़ानी नदी-सी थी, जो सारे बन्धनों को छिन्न-भिन्न करती हुई मार्ग में आने वाले सभी अवरोधों को अपने साथ ही बहा ले जाती है तथा तटवर्ती सभी वस्तुओं को आत्मसात् कर लेती है। ऐसी स्थिति में यह पहचानना कठिन हो जाता है कि उस नदी में बहने वाले अमुक तत्त्व का स्वरूप क्या है, तथा वह किस स्थान का है? वस्तुतः मीरां की तटस्थता, निर्बन्धता व सर्वग्राह्यता की नीति ने उन्हें किसी पद्धति-विशेष में बंधने ही नहीं दिया। फिर भी उनकी एकोन्मुखी उत्कट प्रेम-भावना ने उन्हें कहीं भी दिग्भ्रमित या पथभ्रष्ट नहीं होने दिया। वे सम्पूर्ण वेग से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती गईं और अंततः अपने अभीप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर उसमें सर्वदा के लिये लीन हो गईं।

अध्यात्म के क्षेत्र में इस प्रकार की बन्धनमुक्त स्वच्छन्द अविकल प्रेमधारा को ही पराभक्ति की संज्ञा प्रदान की गई है। पराभक्ति की व्याख्या करते हुए महाराज देवदासजी ने लिखा है कि, पराभक्ति वह भक्ति है, जिसमें साध्य लक्ष्य की प्राप्ति के अतिरिक्त किसी भी साधन की आवश्यकता शेष नहीं रहती।'[1] पराभक्ति साध्य-स्वरूपा है तथा अपराभक्ति या वैधी भक्ति साधन-स्वरूपा। मीरां की भक्ति साध्य-स्वरूपा पराभक्ति ही है। इसी कारण उनकी आराधना-पद्धति में किन्हीं विशेष साधनों की अपेक्षा निष्केवल प्रेम की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अनन्य प्रेम के आगे अन्य सभी साधनों को अत्यन्त गौण व महत्त्वहीन-सा माना है। अपने इन्हीं सुविचारित भावों को उन्होंने दृढ़ता व निर्भयतापूर्वक निम्न पद में प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है—

> बड़े घर तालो लागां री पुरबला पुन्न जगावां री।
> भीलर्‌या री कामणा म्हारे डाबरां कुण जावां री।
> गंगा जमणा काम णा म्हारे म्हां जावां दरियावां री।
> हेल्या मेल्या कामणा म्हारे, पेठ्या मिल सरदारां री।
> कामदारां सूं कामणा म्हारे, जावां म्हां दरबारां री।
> काथ कथीर सूं कामणा म्हारे चढ़स्यां घण री सार्‌यांरी।
> सोना रूपां सूं काम णा म्हारे हीरां री बौपारां री।
> भाग हमारो जाग्यां रे, रतणाकर म्हारी सीर्‌यां री।
> अमृत प्यालो छाड़्यां रे, कुण पीवां कड़वा नीरा री।
> भगत गणा प्रभु परचा पांवां, जावां जगतां दूर्‌या री।
> मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मणरथ करस्यां पूर्‌या री।[2]

जहां 'बड़े घर' का प्रतीकार्थ सर्वसमर्थ परमश्रेष्ठ पूर्ण ब्रह्म है वहां 'तालो लागां' (अर्थात् सम्बन्ध स्थापित होना) का प्रतीकार्थ पूर्वजन्म के सुकृत्यों व शुभ

---

1 डॉ. प्रभात : मीरांबाई, पृ. 339 से उद्धत्।

2 मी. पदा., पृ. 106, पद—24।

संस्कारों के उदित होने पर परमेश्वर की ओर आसक्ति का होना है। इस पंक्ति में मीरां यह उद्‌घोषणा कर रही हैं कि अपने प्राक्तन पुण्य प्रभावों व शुभसंस्कारों के फलस्वरूप ही उनका ईश्वर से अलौकिक प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हुआ है। उस चरम साध्य से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के अनन्तर अब उन्हें अन्य किसी मध्यस्थ साधन की आवश्यकता नहीं है। 'झीलर्‌यां, डावरां' आदि अल्पकालिक जलाशय तथा गंगा यमुना आदि संतत प्रवाही नदियां यहां विविध देवी-देवताओं और अवतारों के प्रतीक हैं तथा 'दरियावां' यानि समुद्र अनादि-अनन्त-चिरन्तन ब्रह्म का। जो तैराक (साधक) अतल सागर में (पूर्ण ब्रह्म के प्रेमानन्द में) नित्य निर्भय होकर अवगाहन करता हो उसका इन नदियों और जलाशयों (विविध अवतार विषयक मत मतान्तरों) के अल्पजल से क्या प्रयोजन? अन्ततः ये समस्त सरिताएँ भी उसी अनन्त जलराशि में अपना सर्वस्व समर्पित कर निःस्व हो जाती हैं (जब इन सरिताओं का अन्तिम साध्य अपने अस्तित्व का सम्पूर्ण विसर्जन करना ही होता है—तब उनके अलग-अलग रूपों और नामों में भटकने का प्रलोभन किस काम का) सागर तो सम्पूर्ण नदियों के जल का सम्मिलित अक्षय भंडार है, उसमें स्नान करने वाले को सभी सरिताओं में स्नान करने का पुण्य एक साथ ही मिल जाता है। इस प्रतीक के द्वारा मीरां यह बताना चाहती हैं कि जब उन्होंने पूर्ण-ब्रह्म के प्रेमानन्द को प्राप्त कर लिया है तब विविध देवोपासना व अवतारादि से सम्बन्धित विभिन्न मतमतान्तर उनके लिये निष्प्रयोजन हो गये हैं। अगली पंक्ति के अनुसार, जब मीरां की पैठ सरदारों तक हो गई है तब उन्हें 'हेल्या मेल्या' से क्या काम? यहां 'सरदार' से उनका अभिप्राय सात्विक ईश्वर-भक्तों से है तथा 'हेल्या मेल्या' क्षुद्र-बुद्धि दम्भी पाखण्डियों का प्रतीकार्थ देते हैं। 'कामदारां' अर्थात् छोटे राज-कर्मचारी यहां विविध सम्प्रदायों के प्रतीक हैं और 'दरबारां' ईश्वर की निर्हेतुकी भक्ति का। इस प्रकार इस पंक्ति का प्रतीकार्थ यह हुआ कि चूंकि उन्हें परमसत्ता की निर्हेतुकी भक्ति व तज्जन्य आत्मज्ञान स्वतः ही प्राप्त हो गया है, अतः उनके लिये हेतुकी भक्ति के विविध साधन व साम्प्रदायिक प्रपंच अनावश्यक हो गये हैं।

अगली पंक्ति में 'काथ कथीर' अस्थिर, क्षणभंगुर, शक्तिहीन भौतिक सम्बन्धों और सुखों के प्रतीक हैं तथा 'धन' स्थिर, अविनाशी, सर्वशक्ति-सम्पन्न आध्यात्मिक सम्बन्धों व सुखों का। जिसे परम आनन्द की प्राप्ति हो गई हो उसे ये क्षणिक इन्द्रिय सुख क्षुब्ध नहीं कर पाते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति हीरों जैसी मूल्यवान् वस्तु का व्यापारी हो उसके ऐश्वर्य के आगे सोना-रूपा जैसी अल्पमूल्य वस्तुओं के व्यापारी का क्या महत्व? यहां मीरां ने निष्काम हरिभक्ति को 'हीरों का व्यापार' के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया है और सकाम भक्ति को 'सोना रूपा' जैसी कम मूल्य वाली वस्तुओं के व्यापार के सदृश बताया है। जिन पर ईश्वर की अपूर्व कृपा होती है उन्हें ही इस भक्ति रूपी 'रत्नाकर' में हिस्सा मिलता है। इस 'अमृत प्याले' को अर्थात् दिव्य हरि-भक्ति को छोड़कर कौन सांसारिक विषयोपभोग रूपी 'कड़वे नीर' को पीना चाहेगा? प्रभु के प्रिय भक्तों को ही ब्रह्मानन्द का परिचय मिल पाता है, शेष जगत् तो उस दिव्य आनन्द से वंचित ही रह जाता है।

उक्त पद के अंत में मीरां ने यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया है कि उनके प्रिय आराध्य, गिरधर नागर, उनके मनोरथों को अवश्य पूरा करेंगे।

पूर्व विवेचित प्रतीकों का चयन प्रकृति-जगत् व मानव-जगत् के विविध क्षेत्रों से किया गया है। यद्यपि प्रकृति-जगत् से गृहीत प्रतीक परम्परागत ही हैं, तथापि उनका संयोजन मीरां के मौलिक और नवीन विचारों के अनुकूल हुआ है; परन्तु मानव-जीवन के सामाजिक व राजनीतिक परिवेश से गृहीत हेल्यामेल्या, कामदारां, सरदारां आदि प्रतीक—सर्वथा नूतन हैं तथा इसका प्रयोग भी नये संदर्भों में किया गया है। समग्रतः उक्त पद में प्रतीकात्मकता का निर्वाह कुशलता एवं सफलता पूर्वक हुआ है।

मीरां की अविचल, अखण्ड, अनन्य माधुर्य भावना व निष्ठापूर्ण आराधना-पद्धति को दिग्दर्शित करने में यह प्रतीकात्मक पद पूर्णतः समर्थ हैं। उक्त पद में प्रतीकों का संयोजन अत्यन्त सटीक है। प्रतीकात्मकता की दृष्टि से यह पद मीरां की प्रतीक प्रयोगी प्रतिभा को उजागर करने में सफल है। अपने विचारों को मीरां ने जिस दृढ़ता व विश्वास के साथ निडरतापूर्वक इस पद में व्यक्त किया है वह वास्तव में विस्मयकारी है। पता नहीं कैसे अब तक मीरां के काव्य का यह रूप अध्येताओं की दृष्टि से ओझल व उपेक्षित रहा। निस्संदेह मीरां के काव्य को स्थायित्व प्रदान करने वाले तत्वों में उनकी यह स्पष्टवादिता भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अस्तु।

मीरां की सगुण आराधना-पद्धति को सूचित करने वाले पदों में रूपकात्मक प्रतीकों का स्वरूप अधिक स्पष्ट है। मीरां अपनी क्तिभावनाभ में या गिरधर के प्रेम में, इतनी विभोर हो गई थीं कि उन्हें आभूषणों व विविध शृंगार-प्रसाधनों में भी अपने प्रिय का स्वरूप दिखने लगा। उन्होंने अपने स्थूल आभूषण उतार कर कृष्ण-नाम के विविध आभूषण अंग-प्रत्यंग पर धारण कर लिये और अपना अलौकिक नखशिख शृंगार कर वे पूर्णतः आश्वस्त हो उठीं कि उनके प्रियतम ने उन्हें अंगीकार कर लिया है, अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गया क्योंकि उन्हीं के द्वारा भेजने पर, अर्थात् उनकी प्रेरणा के कारण ही, ये दिव्य नामरूपी आभूषण उन्हें प्राप्त हुए हैं—

> मुज अबला ने मोटी नीरांत थई रे।
> शामलो घरेणु मारे साचुं रे।
> वाली घड़ावुं विट्ठल वर केरी, हार हरी नो मारे हैयेरे।
> चित्त माला चतुरभुज चुड़लो, शिद सोनी धरे जइये रे।
> झांझरियां जगजीवन केरा, कृष्णा जी कड़लाने कांबी रे।
> वींछियां घूंघरा रामनारायण ना अणवट अंतरजामी रे।
> पेटी घड़ावुं पुरुषोत्तम केरी, त्रीकम नाम नुं तालूं रे।
> कूंची घड़ावुं करुणानन्द केरी, तेमा घरेणु माहरुं घालूं रे।
> सासर वासो सजी ने बैठी, हवे नथी कंई काचूं रे।
> मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर, हरि ने चरणे जाचूं रे।[1]

1 मी. पदा. पृ. 141, पद—141।

उक्त पद में मीरां का भाव यह है कि मुझ अवला को अब बड़ा भारी विश्वास हो गया है कि श्याम के गहने ही सच्चे गहने हैं। यहां 'शामलो घरेणु' अर्थात् श्यामरूपी आभूपण में प्रतीकात्मक रूपक-योजना हुई है, जो 'हरि-भक्ति' को संकेतित करती है। चौथी पंक्ति के उत्तरार्ध 'शिद सोनी घरे जइये रे' में भी प्रतीकात्मकता स्पष्टतः लक्षित हो रही है, जिसका प्रतीकार्थ है—अब मुझे किसी सोनी (प्रतीकार्थ में लौकिक गुरु, या आध्यात्मिक प्रशिक्षक) या मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं रह गई है। मुझे गढ़े-गढ़ाए ईश्वर के विविध नाम रूपी आभूषण मिल गये हैं, अतः आभूषण गढ़ने वाले किसी स्वर्णकार (अर्थात् आध्यात्मिकता की दीक्षा देने वाले किसी सम्प्रदाय-विशेष या व्यक्ति-विशेष) से मेरा क्या प्रयोजन ? 'पुरुषोत्तम' की पेटी, 'त्रीकम' (त्रिविक्रम) का ताला और 'करुणानन्द' की कुंजी वनाकर मीरां ने ईश्वर के विविध नामरूपी आभूपण उसमें रख लिये हैं और इस तरह हर प्रकार से वन संवर कर वे श्वसुरालय प्रस्थान के लिये निर्भयतापूर्वक प्रस्तुत हो गई हैं। वे प्रभु-प्रेम में पूर्णतः परिपक्व हो चुकी हैं, अतः उनमें किंचित् मात्र भी 'कच्चापन' नहीं है। इस पंक्ति में निहित प्रतीक द्वारा मीरां यह व्यंजित करना चाहती हैं कि उनकी अपने प्रियतम पर दृढ़ आस्था जम चुकी है। किसी भी प्रकार की सामाजिक आलोचना व सांसारिक प्रवंचना उनकी 'हरि-निष्ठा' को विचलित करने में असमर्थ है। उन्होंने अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया है और उस ओर बढ़ने की सारी तैयारियां पूरी कर ली हैं। अब उनके मन में रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह गया है और वे पूर्णतः आश्वस्त हो दृढ़तापूर्वक उस ओर (अपने निश्चित लक्ष्य की ओर) चल पड़ी हैं।

ऐसे ही एक अन्य पद में भी मीरां ने अपने अलौकिक आध्यात्मिक शृंगार का वर्णन रूपकात्मक प्रतीक शैली में किया है—

> चालां अगम वा देस, काल देख्यां डरां।
> मरां प्रेम रा होज, हंस केल्यां करां।
> साधा संत रो संग, ग्याण जुगतां करां।
> धरां सांवरो ध्यान, चित्त उजलो करां।
> सील घुंघरा वांध, तोस निरत करां।
> सांजां सोल सिगार, सोणारो राखड़ां
> सांवलिया सूं प्रीत औरां सूं आखड़ां।[1]

वस्तुतः यह पद ही मीरां की आराधना-पद्धति-सम्बन्धी निजी विचारधारा को उद्घाटित करता है। मीरां ने निर्गुण व सगुण उभय प्रकार की आराधना-पद्धतियों का सम्मिश्रण कर जिस नई प्रेममयी आराधना-पद्धति का अनुसरण किया था वह उपर्युक्त पद में प्रतीकों व रूपकों के सह-संयोजन द्वारा अभिव्यञ्जित हुई है। इसमें 'अगम वा देस' उस अक्षय आनन्दलोक की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करता है जहां काल की गति नहीं है, और जहां हरिभक्ति रूपी प्रेम-कुण्ड में 'हंस' अर्थात् शुद्ध-बुद्ध आत्माएं नित्य आनन्द-केलि करती हैं, जहां नित्य प्रति सत्संगति का पुण्य लाभ मिलता है तथा ज्ञानपूर्ण युक्तियां की जाती हैं, जहां नित्य

1 मी. पदा., पृ. 156, पद—193।

सांवरे के ध्यान द्वारा चित्त के कल्मषों को धोकर उसे उज्ज्वल अर्थात् शुद्ध किया जाता है, जहां 'शील का घूंघरु बांधकर बांधकर' अर्थात् सद्गुणों को धारण कर 'तोष का नृत्य' अर्थात् संतोषवृत्ति से जीवन के समस्त आचरण किये जाते हैं। उस अगम्य लोक में जीवात्माएं 'सोलहों शृंगार' करती हैं तथा 'सोने की राखड़ी' पहनती हैं। यहां सोलहों शृंगार 'षोडपोपचार पूजा तथा अन्य हरिभक्तिमय आचरण की प्रतीकाभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है तथा 'सोने की राखड़ी' (जो लौकिक सौभाग्य का सूचक है) अलौकिक माधुर्य-भावना या दिव्य प्रणय को द्योतित करता है। अंतिम पंक्ति में कवयित्री ने निर्भीकता-पूर्वक स्वीकार कर लिया है कि सांवरिया की प्रीति में आद्योपान्त रससिक्त होकर वे 'औरों' के प्रति उदासीन हो गई हैं। यहां 'औरों नूं आखडां' प्रतीक द्वारा उन्होंने दैहिक व लौकिक सम्बन्धों, सामाजिक व राजनीतिक मर्यादाओं और साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों व प्रवंचनाओं की ओर से अपनी विमुखता, उदासीनता तथा सर्वथा उपेक्षा-भाव को समग्रतः अभिव्यक्त किया है।

पूर्वोद्धृत दोनों पदों में प्रयुक्त प्रतीकों व रूपकों का चयन कवयित्री ने अपने निजी परिवेश से किया है। नित्य व्यवहृत होने वाली वस्तुओं और आभूषणों का प्रतीकों व रूपकों के रूप में प्रयोग परम्परागत होते हुए भी आकर्षक एवं नवीन है तथा नारी की आभूषण-प्रियता की सूक्ष्म मनोवृत्ति व अभिरुचि को संकेतित करता है, भले ही ये आभूषण अलौकिक व दिव्य गुणों के परिचायक ही क्यों न हों।

मीरां की आराधना-पद्धति को संकेतित करने वाले उक्त पदों में रूपान्तरण पर आधारित रूपकों व प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। जहां मीरां ने अपने लौकिक दुर्भाग्य को अलौकिक सौभाग्य में परिवर्तित कर लिया वहां स्थूल आभूषणों को सूक्ष्म सद्गुणों पर प्रत्यारोपित कर लिया। उन्होंने निर्गुण और सगुण को एकान्वित कर अपार्थिव ईश्वर की अनन्य आराधना में अपने पार्थिव शरीर को तल्लीन कर दिया। स्वयं को दिव्य प्रेम की चिर आराधिका के प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत कर मीरां ने अमर प्रेम की जो ज्योति प्रज्वलित की वह अनन्त काल तक दिग्भ्रांत पथिकों का मार्ग प्रशस्त करती रहेगी तथा दिग्दिगन्तों को आलोकित करती रहेगी।

वस्तुतः मीरां ने अपनी आराधना-पद्धति का अन्वेषण और निर्धारण स्वयं ही किया और वे निर्भीकता, नम्रता, दृढ़ता और उत्कट प्रेममयता का पाथेय लेकर एकाकिनी ही उस पथ पर अग्रसर होती गईं; आत्मविश्वास व ब्रह्मज्ञान के दीप उनके पथ को आलोकित करते गये और अन्ततः उन्होंने उस चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लिया जो शास्त्रकारों की दृष्टि में अलभ्य, अप्राप्य व अगम्य है।

**द—दार्शनिक विचारधारा सूचक प्रतीक —**

सगुण आराधना-पद्धति-सम्बन्धी प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रतीक भी 'मीरां-पदावली' में मिलते हैं जो उनकी दार्शनिक विचारधारा को अभिव्यक्त करते हैं। इन प्रतीकों में मीरां ने आराध्य के प्रति राग-भाव, संसार के प्रति विरागभाव, सांसारिक व्यापारों व ऐश्वर्यों की तुच्छता तथा हरि-भक्ति की श्रेष्ठता आदि से

सम्बन्धित विचारों को प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्त किया है। इन विचारों के अभिव्यक्तिकरण के लिये कवयित्री ने प्राकृतिक वस्तुओं व व्यावहारिक जीवन में उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं से प्रतीकों का चयन किया। इन प्रतीकात्मक वस्तुओं के अन्तर्गत विविध धातुएं, उनसे निर्मित उपादान, द्रव पदार्थ, मानव निर्मित अनेक आवासीय व धारणीय प्रसाधन तथा दैनिक व्यवहार की अन्य वस्तुएं सम्मिलित हैं। ये प्रतीक-प्रयोग कहीं परम्परागत अर्थों का द्योतन करते हैं और कहीं नये संदर्भीय अर्थों का।

मीरां के आराध्य के प्रति अनन्य अनुराग व भक्ति-पथ पर निरन्तर अग्रसर होते जाने के दृढ़ संकल्प को तथा परिजन पुरजन के शेषपूर्ण विरोध के प्रति उपेक्षा भाव को व्यक्त करने में उनका निम्न प्रतीकात्मक उद्गार अत्यन्त सार्थक सिद्ध हुआ है—

हस्ती की असवारी पीछे लाल कुतिया भूसी।[1]

उक्त उद्धरण में हस्ती की असवारी भक्ति-साधना की तथा कुतिया विरोधियों की प्रतीक है। उनके ईश्वर-आराधन के प्रति अविचल निष्ठा के भाव को स्पष्ट करने में निम्नोक्त कथन भी महत्वपूर्ण है—

गज से उतर के खर नहिं चढ़स्यां, ये तो वात न होई।[2]

यहां गज भक्ति का और खर सांसारिकता का प्रतीक है। मीरां ने भक्ति को स्वर्ण पात्र में निहित अमृत रस के रूप में भी प्रतीक-वद्ध किया है, जिसे प्राप्त करना अतिशय गौरवपूर्ण है—

कनक कटोरे अमृत भरियो पीवत कौन नटे रे।[3]

इस परम सार-तत्त्व रूपा हरिभक्ति को मीरां ने कैसे यत्नपूर्वक दधिमन्थन रूपी द्वन्द्वात्मक तात्त्विक चिन्तन-मनन के उपरान्त प्राप्त कर लिया तथा कैसे निस्सार छाछ रूपी भौतिक विलासमय वस्तुओं का त्याग कर दिया—यह निम्नांकित प्रतीक विधान के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है—

दधि मथ घृत काढ़ लयां डार दयां छूयां।[4]

मीरां द्वारा सांसारिक वैभय-मय जीवन के त्याग व सात्त्विक प्रेम-मय भक्ति के वरण की संपुष्टि करने में निम्नोक्त प्रतीकात्मक पद्यांश पूर्णतः समर्थ है—

सालू पीताम्वर मोतिन की माला, लेइ अगिन में जारा।
छाप तिलक तुलसी की माला साधु संग निसतारा।[5]

यहां साल, पीताम्वर और मोतियों की माला सांसारिक वैभव के प्रतीक हैं तथा कवयित्री द्वारा इन्हें अग्न्यार्पित करना इन वस्तुओं के प्रति उनके विराग को सूचित करता है। इसी प्रकार छापा, तिलक और तुलसी की माला भक्तिपरक सात्त्विक

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 292, पद—584।
2 मी. पदा., पृ. 107, पद—25
3 मी. वृ. पदा., पृ. 218, पद—453
4 मी. पदा., पृ. 104, पद—18
5 मी. वृ. पदा., पृ. 235, पद—483।

शृंगार के प्रतीक हैं। इन्हें धारण कर साधु-संगति में अध्यात्मोन्मुखता को अभिव्यंजित करता है।

मीरां को इस मायावी जगत की नश्वरता का ज्ञान भली-भांति हो गया था, अस्थिर सांसारिक वस्तुओं व उनसे प्राप्त सुखों के लिये उनके द्वारा प्रयुक्त 'वादर की छांह' और 'ओस का पानी' प्रतीक इसी भाव को संकेतित करते हैं--

**ओस पानी नाहि पियो छांह बादर किसी ।**[1]

सांसारिक ऐश्वर्यपूर्ण भोगविलास तो भक्त की पिपासा को शान्त करने में अनुपयोगी हो जाते है, उनकी तृषा केवल हरि-भक्ति रूपी निर्झरिणी के रसपान करने पर ही परितृप्त होती है—इस आशय को व्यक्त करने के लिये मीरां ने जिस प्रतीक का प्रयोग किया है वह भी प्रकृति से गृहीत है तथा मीरां का मौलिक प्रयोग है —

**चोमास्यां री बावड़ी ज्याकूं नीर पीवां ।**

**हरि निर्झर अमृत झरयां म्हारी प्यास बुझावां ।**[2]

यहां 'चौमास्यां री बावड़ी' अर्थात् वर्षाकालीन वापिका के अपेय जल के प्रतीक का प्रयोग उपर्युक्त सांसारिक ऐश्वर्यमय भोगविलास के लिए हुआ है।

ब्रह्म के स्थायित्व और जीवन के अस्थायित्व के भाव को व्यक्त करने के लिये मीरां ने पक्के चूने से निर्मित चबूतरे और बालू से बनी दीवार का भी प्रतीकात्मक रूप में निर्देश किया है

तुम गजगीरी को चूंतरो रे हम बालू की भीत[3]

उपर्युक्त दोनों प्रतीक भौतिक जगत में भवन-निर्माण के क्षेत्र से ग्रहण किये गये हैं और अवस्था-साम्य के आधार पर इनका चयन किया गया है। इसी प्रकार निम्न उद्धरण में मीरां ने मानव-शरीर की अस्थिरता को प्रकट करने के लिए प्रतीक रूप में 'कच्ची मिट्टी से निर्मित महल' का प्रयोग किया है जिसका चयन स्थिति साम्य (नश्वरता) के आधार पर किया गया है—

'कची मटी का महल चुणाया, गोवां ही गोखां डोलतो ।'[4]

लेकिन, ईश्वर की प्राप्ति के लिये यह शरीर या मानव-जन्म एक अमोलक तत्व या वस्तु है, यह बारम्बार प्राप्त नहीं होता—

मनखा जनम पदारथ पायो ऐसा बहुरि न पाती ।

अब के मोसर ज्ञान विचारो राम नाम मुख वाती ।[5]

यदि मनुष्य का जन्म पुनः मिल भी जाय तो उस ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है जिसमें ब्रह्म को पहचाना जा सके। पूर्व जन्म के सुकृत्यों के फलस्वरूप ही मनुष्य का जन्म मिलता है—

पूरबला कांई पुन्न खूंट्या माणसा अवतार ।[6]

---

1 मी. बृ. पदा., पृ. 292, पद—83

2 मी. पदा., पृ. 108, पद—28

3 मी. पदा., पृ. 117, पद—59।

4 मी. बृ. पदा., पृ. 47, पद—96।

5 मी. पदा., पृ. 243, पद—16 (परि. ग)।

6 मी. पदा., पृ. 157, पद—196।

इसे व्यर्थ के कार्यों में नष्ट कर देने पर यह सुअवसर पुनः नहीं मिल पाता, इस विचार को मीरां ने वृक्ष और पत्तों के माध्यम से निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

वढ़्या छिण छिण घट्या पल, जात णा कछ वार।
विरछ रां जो पात टूट्या, लाया णा फिर डार।[1]

'वृक्ष' यहां संसार और व्यक्ति की आयु के प्रतीकार्थ को संकेतित करता है और 'पात' मनुष्य व उसके जीवन के बीते हुए कालक्रम को संकेतित करता है। इसे यों कहा जा सकता है कि—संसार-रूपी वृक्ष से मनुष्य रूपी जो पत्ते झड़ते हैं वे पुनः वृक्ष में नहीं लग पाते। इसका दूसरा प्रतीकार्थ है - काल रूपी वृक्ष से जो आयु रूपी पत्ते टूटते जाते हैं वे फिर मानव की जीवनरूपी डाल में नहीं लग पाते। इस कारण साधक या जीवात्मा को अपने मानव-शरीर का पूर्ण उपयोग करना चाहिये। यह शरीर नौका-रूप होकर जीवात्मा को भवसागर से पार करने में समर्थ है, परन्तु भवसागर-संतरण के लिये खेवटिये का होना आवश्यक है, यदि खेवटिये के हाथो में पतवार न हो तो यह नौका जल के थपेड़ों से फट जाती है और जीवन की वेड़ी डूबने लगती है—

यह संसार विकार सागर वीच में घेरी।
**नाव** फाटी प्रभु पाल बाँधी बूड़त है **बेड़ी**।[2]

इस जीवन की वेड़ी को डूबने से बचाने के लिये आवश्यक है कि खेवटिये से जरूर मिलते रहें—

**गहरी** नदिया **नाव** पुरानी, **खेवटिये** सूं मिलते रहना।[3]

ऊर्ध्वांकित पंक्ति में शरीर के लिये 'नाव', संसार के लिये 'गहरी नदिया' और सर्वसमर्थ ईश्वर के लिये 'खेवटिये' का प्रतीक प्रयुक्त हुआ है।

मानवजीवन की चार अवस्थाओं—वाल्य, कैशोर्य, युवा व वृद्धावस्था—के लिये मीरां ने चार युगों का प्रतीकात्मक प्रयोग निम्न प्रकार से किया है—

सतयुग में सूती रही, त्रेता लई जगाय।
द्वापर में समझी नहीं, कलयुग पोंहच्यो आय।[4]

सतयुग अर्थात् वाल्यावस्था में जीव अवोध अर्थात् सुप्तावस्था में रहता है, त्रेतायुग अर्थात् किशोरावस्था में जीव में चेतना का संचार होता है, चैतन्य होने पर भी वह द्वापर अर्थात् युवावस्था में उस ब्रह्म को समझ नहीं पाता और अन्त में कलयुग अर्थात् वृद्धावस्था आ जाती है जो उसे शक्तिहीन कर देती है। इस प्रकार जीव प्रमादवश अपना जीवन व्यर्थ गंवा देता है और जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता रहता है।

शरीर के लिये उपर्युक्त विविध प्रतीकों का प्रयोग कर मीरां ने यह समझाया है कि जीव को अपने जन्म का व ईश्वर-प्रदत्त इस शरीर रूपी अनमोल

---

1 मी. पदा., पृ. 157, पद—196।
मी. पदा., पृ. 118, पद—63
3 मी. वृ. पदा., पृ. 33, पद—65
4 मी. वृ. पदा., पृ. 17, पद—34।

धन का सदुपयोग करना चाहिये। इस शरीर का सबसे बड़ा उपयोग इसे ईश्वर-साधना की ओर प्रवृत्त करना है।

मीरां की प्रतीक-योजना का उपर्युक्त विवेचन करने के पश्चात् हम सार रूप में कह सकते हैं कि—

(1) मीरां ने निर्गुणोपासना-पद्धति व सगुणोपासना-पद्धति में प्रचलित प्रतीकात्मक शब्दों का सम्मिलित संयोजन अपने पदों में किया है।

(2) इनके द्वारा प्रयुक्त आराध्यवाची विविध नाम संज्ञाओं में संकेतात्मक प्रतीकों का प्रयोग मिलता है।

(3) अपने हार्दिक प्रेम की नैष्ठिक अनन्यता, विरहाकुल दशा तथा संवेगात्मक आतुरता की भावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये कवयित्री ने विविध परम्पराओं में प्रचलित अभिव्यञ्जनात्मक व आरोपात्मक प्रतीकों का सानुकूल संयोजन किया है।

(4) भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता तथा सांसारिक वैभव-सम्पन्न विलासमय जीवन की तुच्छता को दर्शाते हुए, भक्ति-पथ पर निरंतर अग्रसर होते जाने के अपने दृढ़ संकल्प को अभिव्यञ्जित करने के लिये मीरां ने कहीं-कहीं तुलनात्मक प्रतीकों का भी विधान किया है।

(5) भावों व विचारों की अभिव्यक्ति करने वाले इन प्रतीकों का चयन कवयित्री ने प्राकृतिक जगत व मानव के व्यावहारिक जगत् की विभिन्न वस्तुओं व रागात्मक सम्बन्धों से किया है।

(6) कवयित्री द्वारा प्रयुक्त इन प्रतीकों से कहीं परम्परागत अर्थ निकलते हैं तो कहीं प्रसंगानुकूल नये संदर्भीय अर्थ ध्वनित होते हैं जो मीरां के काव्य को अर्थमयता, अर्थगाम्भीर्य एवं सरस रमणीयता प्रदान करते हैं।

**मीरां के प्रतीक प्रयोगों के अभिव्यञ्जना आयाम—**

काव्य में प्रतीक-प्रयोगों का आयाम एक शब्द से लेकर सम्पूर्ण काव्य तक व्याप्त होता है। एकाकी प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग सरल होता है किन्तु प्रतीक के बृहत्तर आयामों का निर्वाह कठिनतर होता जाता है। सम्पूर्ण काव्य में प्रतीकात्मकता का सर्वत्र एक-सा निर्वाह कवि के काव्यकौशल तथा उसकी प्रबन्धपटुता को प्रकट करता है। 'कामायनी' व 'पद्मावत' की प्रतीकात्मकता प्रबन्धीय आयाम के अच्छे उदाहरण हैं।

मीरां ने प्रबन्धकाव्य के स्थान पर मुक्तक काव्य को ही अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था, तथापि इन मुक्तक पदों में भी प्रतीकों का आयाम एक शब्द से लेकर सम्पूर्ण पद तक पाया जाता है, जो उनकी पद-सर्जन-क्षमता को प्रकट करता है। मीरां द्वारा प्रयुक्त प्रतीक-योजना के आयाम को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है—

1 एकल शब्दीय प्रतीक
2 अर्धपंक्तीय प्रतीक
3 एक पंक्तीय प्रतीक
4 युगल पंक्तीय प्रतीक
5 पूर्ण पदीय प्रतीक

**1—एकल शब्दीय प्रतीक—**

एकल शब्दीय प्रतीकों का प्रयोग सुकर होता है तथा इसका निर्वाह सरलता पूर्वक किया जा सकता है। मीरां द्वारा प्रयुक्त सगुण आराध्यसूचक व निर्गुण आराध्यसूचक विविध संज्ञा प्रतीकों को हम एकल शब्दीय प्रतीक कहेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य एकलशब्दीय प्रतीक भी मीरां में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे,

अमरबेल—प्रेम आंसु डार डार **अमर वेल** वोई।[1]

सुरपति—ऊपर **सुरपति** गरजै हे मा।[2]

माला—कूवरी संग प्रीति कीनी मोहे **माला** दई।[3]

रंग—तेरे कारन सव **रंग** तजिया·······।[4]

भांग—सांवरियो म्हांने **भांग** पिलाई।[5]

उपर्युक्त पंक्तियों में भक्ति के लिये अमरबेल, मेघ के लिये सुरपति, वैराग्य के लिये भांग शब्द का प्रयोग एकल शब्दीय प्रतीक के उदाहरण हैं। ऐसे ही अनेक प्रतीक मीरां के विभिन्न पदों में यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं।

**2—अर्ध-पंक्तीय प्रतीक—**

मीरां की प्रतीक योजना में अर्ध पंक्तीय प्रतीकों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। यों तो मुहावरे व लोकोक्तियों में भी प्रतीकात्मकता होती है, किन्तु उनका विवेचन अन्यत्र हो चुका है, अतः यहां उसकी पुनरावृत्ति करना निरर्थक होगा। मीरां में मुहावरों के अतिरिक्त ऐसे अन्य प्रतीक भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनका विस्तार अर्धपंक्ति तक ही हुआ है। जैसे—

**घट के पट सब खोल दिये हैं,** लोक लाज सब डार रे।[6]

**गहरी नदिया नाव पुरानी,** समझ समझ पग धरिये री।[7]

**यहे शृंखला अति बलवंती,** वंध्यो प्रेम गज मातो।[8]

**शवरी के बेर,** सुदामा के तन्दुल, भर-भर मूठ्या ठूंको।[9]

ऊदाबाई **पंथड़ो खांडा री धार,** पंथड़ो निवाहन हारो कोई नहीं।[10]

उपर्युक्त पंक्तियों का पूर्व-अर्धांश प्रतीकात्मक है और उत्तर-अर्धांश की ही व्याख्या करता है। 'घट के पट' आन्तरिक मोह-ममताजन्य आवरण के प्रतीकार्थ को इंगित करता है। 'गहरी नदिया'—दुर्गम अपरिमित मायिक संसार के प्रतीकार्थ को

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 5, पद—10

2 मी. वृ. पदा., पृ. 51, पद—105

3 मी. वृ. पदा., पृ. 293, पद—586

4 मी. वृ. पदा., पृ. 296, पद—590

5 मी. वृ. पदा., पृ. 308, पद—610

6 मी. वृ. पदा., पृ. 331, पद—661

7 मी. वृ. पदा., पृ. 319, पद—632

8 मी. वृ. पदा., पृ. 304, पद—306

9 मी. वृ. पदा., पृ. 165, पद—347

10 मी. वृ. पदा., पृ. 165, पद—346

संकेतित करता है, और 'नाव पुरानी' जीर्णशीर्ण मानव शरीर के परिमित साधनों का प्रतीक है, 'अति बलवंती शृंखला' वास्तविक निष्कपट हार्दिक प्रेम की प्रतीक है, 'शबरी के बेर, सुदामा के तन्दुल' प्रभु की निःस्वार्थ प्रेम-परायणता और भक्त-वत्सलता के प्रतीक हैं। 'खांडारी धार' प्रतीक का प्रयोग भक्ति-पथ की दुस्साध्यता निमित्त हुआ है।

3—एक पक्तीय प्रतीक—

मीरां-पदावली में प्रयुक्त प्रतीकों में से कुछ प्रतीकों का आयाम एक पंक्ति का है, यथा—

मुख पर का आंचल दूर किया तब ज्योति में ज्योति समाय रही।[1]
हंसा की प्रकृति हंसा जाणे क्या जाणे नर कागा रे।[2]

प्रथम उद्धरण में 'मुख पर का आंचल' जीव को ब्रह्म से अलग करने वाली माया का प्रतीक है। माया का आवरण दूर होते ही ज्योति, ज्योति में विलीन हो जाती है। यहां पहली ज्योति परमब्रह्मतत्व का प्रतीक है और दूसरी ज्योति जीव तत्त्व का।

इसी प्रकार द्वितीय उद्धरण में 'हंसा' शब्द द्वयर्थक है। इसका प्रयोग भी दो बार किया गया है। हंसा अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान भक्त की प्रकृति को हंसा अर्थात् पूर्ण सत् स्वरूप परमेश्वर ही जान सकता है, सांसारिक विषयों में लिप्त रहने वाला तामसी नर-काग नहीं। यहां हंस और काग दोनों शब्द-प्रयोग प्रतीकात्मक हैं। इन पंक्तियों में निहित प्रतीकात्मकता अपने आप में पूर्ण है तथा पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष भी है। ऐसे ही अनेक एक पंक्तीय आयाम वाले प्रतीक 'मीरां वृहत्पदावली' में उपलब्ध होते है।

(4) युगलपंक्तीय प्रतीक—

एक पंक्तीय प्रतीकों के साथ ही ऐसे भी अनेक प्रतीक उपलब्ध हुए हैं जिनका आयाम युगल पंक्तियों में व्याप्त है। यथा :

ठाढ़ी खेवटणी अरज करत है मलवा ने नाव पछिम को फेरी
गहरी नदिया नाव पुराणी, अध पर बीच भंवर ने घेरी[3]
पंचरंग चोला पहर्‌या सखी में झिरमिट खेलण जाती।
वा झिरमिट में मिल्या सांवरा देख्या तण मण राती।[4]

पहले पद्यांश में 'खेवटणी' जीवात्मा का प्रतीक है और 'मलवा' इन्द्रियों के स्वामी मन का, 'गहरी नदिया' दुस्तर संसार का प्रतीक है और 'नाव पुराणी' जीर्ण-शीर्ण देह का। 'नाव को पश्चिम की ओर फेरना, मन की ईश्वर से विमुखता और सांसारिक विषय-भोगों की ओर उन्मुखता को संकेतित करता है और संसार सागर में आने वाले मोह, ममता, मद, मात्सर्य आदि का प्रतीकार्थ 'अध पर बीच भंवर ने घेरी' द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। मन द्वारा संचालित होने पर जीवन

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 11, पद—22,
2 मी. वृ. पदा., पृ. 4-, पद—8।
3 मी. वृ. पदा., पृ. 93, पद—197।
4 मी. वृ. पदा., पृ. 106, पद—23

की गति ऊर्ध्वमुखी न होकर-अधोमुखी हो जाती है और विवश जीवात्मा विकल होकर अपने स्वामी को उद्धारार्थ पुकारने लगती है। उक्त पदांश की प्रतीकात्मकता निःसंदेह उच्च कोटि की है।

ऐसे ही दूसरे पद्यांश में जीवात्मा और परमात्मा के बीच चल रहे संधान कार्य को झिरमिट के खेल के प्रतीक द्वारा व्यंजित किया गया है। यहां 'पचरंग चोला' पंचभौतिक शरीर का तथा झिरमिट का खेल वारंवार जन्ममरण के असमाप्य आवागमन का प्रतीक है। जीवात्मा वारम्वार इस भौतिक शरीर को धारण कर अपने अभीष्ट का अनुसंधान करती रहती है और अंततः उसे प्राप्त कर लेती है। अपने अभीप्सित को प्राप्त कर लेने पर वह समस्त आडम्वरों से रहित हो उसी में तल्लीन हो जाती है। उपर्युक्त प्रतीक भी मीरां की उच्चाशयता को अभिव्यंजित करता है।

आत्मा के परमामा से विविध सम्वन्धों को व्यक्त करने, ईश्वर से जीव का साक्षात्कार एवं साक्षात्कारजन्य आनन्द को प्रकट करने के लिये मीरां ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है उनमें से अधिकांश प्रतीकों का आयाम दो या दो से अधिक पंक्तियों तक फैला हुआ है। इन युगल पंक्तीय प्रतीकों में भी मीरां की प्रतीकात्मकता गागर में सागर की भांति समाई हुई है। ऐसे प्रतीकों का 'मीरां-पदावली' में प्राचुर्य है तथा ये कवयित्री की प्रतीक-प्रयोग क्षमता को प्रकट करने में पर्याप्त समर्थ रहे हैं।

**(5) पूर्ण पदीय प्रतीक—**

निर्गुण संत-साहित्य में पूर्णपदीय प्रतीकों की रचना सर्वाधिक हुई है। मीरां ने जिन पदों में प्रतीकात्मक साधनापद्धति का वर्णन किया है उन पदों में प्रतीकों का आयाम पूर्ण पदों तक परिव्याप्त हुआ है। ऐसे पूर्ण प्रतीकात्मक पद मीरां में अपेक्षाकृत कम मिलते हैं, परन्तु ऐसे उपलब्ध कुछेक उदाहरणों में प्रतीकों के आयाम का निर्वाह भली प्रकार हुआ है—

> गली तो चारों बंद हुई हैं मैं हरि सूं मिलूं कैसे जाइ।
> ऊंची नीची राह रपटीली, पांय नहीं ठहराइ।
> सोच सोच पग धरूं जतन से, वार वार डिग जाइ।
> ऊंचा ऊंचा महल पिया का हमसूं चढ्या न जाइ।
> पिया दूर पंथ म्हारो झीणों, सुरत झकोला खाइ।
> कोस कोस पर पहरा वैठ्या, पैंड पैंड बटमार।
> हे विधना कैसी रच दीन्हीं, दूर वस्यो म्हारो गाम।
> मीरां के प्रभु गिरधर नागर सतगुर दई वताय।
> जुगन जुगन की विछड़ी मीरां घट में लीन्हीं लाय।[1]

ऊपर उद्धृत पद में 'चार गलियां' धर्म-मार्ग में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों का प्रतीक है और 'ऊंची नीची रपटीली राह' प्रेम की कंटकाकीर्ण वीहड़ पगडंडी को संकेतित करती है। उस मार्ग में आने वाली कठिनाइयां तीसरी और चौथी पंक्ति में वर्णित

---

1 मी. पदा. (परि. ग) पृ. 243, पद—15।

है। इस प्रेम-पथ के अस्पष्ट होने को पिया के 'झीणे पंथ' द्वारा द्योतित किया गया है। विविध साम्प्रदायिक व सामाजिक अड़चनों का पहरा इस पंथ पर निरन्तर लगा रहता है तथा विविध प्रकार के प्रलोभन व सांसारिक मोह-ममता आदि को भक्ति पथ में पड़ने वाले 'बटमार' के रूप में संकेतित किया गया है। प्रियतम की प्राप्ति ही 'दूर बसा गांव' है। 'सतगुर' सच्चे मार्ग-दर्शक का प्रतीक है और 'युगों-युगों से बिछड़ी मीरां' आत्मा का प्रतीक है। उसे 'घट' में लगा लेना ईश्वर द्वारा अपने में अन्तर्लीन कर लिये जाने का व्यंजक है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण पद प्रतीकात्मक है जो मीरां की आध्यात्मिक यात्रा को संकेतित करता है।

**प्रतीक-प्रयोगों का मीरां की अभिव्यंजना शैली पर प्रभाव—**

मीरां के विविध प्रतीक-प्रयोगों का उनकी अभिव्यंजना शैली पर पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कवयित्री की स्वसंवेद्य आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में ये पूर्व-वर्णित प्रतीक विशेष सहायक हुए हैं। यद्यपि मीरां की भाषा में बिम्बात्मकता भी परिलक्षित होती है, परन्तु जहां उन्होंने अपने गहन आध्यात्मिक भावों व विचारों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है, वहां प्रतीकात्मकता ही मुखरित हो उठी है। इन विशेष सांकेतिक स्थलों पर अभिधात्मकता का लोप तथा लाक्षणिकता का आगम हुआ है जो कि प्रतीक का सर्वप्रमुख लक्षण है।

निर्गुणोपासनावाची व सगुणोपासनावाची विविध प्रतीकों का सम्मिलित संयोजन मीरा के प्रतीक-प्रयोगों की उल्लेखनीय विशिष्टता है। कहीं-कहीं इन युगल पद्धतियों में प्रचलित प्रतीकों का सह-विन्यास कवयित्री की निजी साधनापद्धति को रहस्यमय बना देता है। इसी रहस्यमयता के कारण, सामान्यतः गोपन की प्रवृत्ति नहीं होते हुए भी, मीरां के पदों में गोपनीयता-सी आ गई है।

मीरां ने अपने मनोभावों की अभिव्यञ्जना के लिये प्रबन्धात्मक शैली को न अपना कर मुक्तक शैली को चुना। मुक्तक शैली में विशद व्याख्या के लिये अवकाश अपेक्षाकृत कम ही होता है। अतः कम से कम शब्दों में विचारों का उचित सम्प्रेषण करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग वांछनीय हो जाता है। मीरां द्वारा प्रतीकों के प्रयोग का एक कारण यह (संक्षिप्तता) भी था। इस प्रकार प्रसंगानुकूल यथोचित प्रतीकों के प्रयोग के कारण उनके पदों में जीवन्तता व संक्षिप्तता स्वतः आ गई है।

कवयित्री ने स्वानुभूतियों को व्यक्त करने के लिये विरोधात्मक अप्रस्तुतों की अपेक्षा सादृश्य पर आधारित लौकिक-स्तर के अप्रस्तुतों का प्रयोग अधिक किया है। इन सादृश्य पर आधारित अप्रस्तुतों का विधान कहीं प्रतीक और कहीं रूपक के रूप में मिलता है। कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है। औपम्यमूलयक प्रतीकों के प्रयोग से काव्य के सहज सौन्दर्य में अभिवृद्धि हुई है।

कवयित्री की आभ्यंतरिक रुचि निश्छल-निष्कपट व नैसर्गिक चारुता तथा ऋजुता की ओर स्वभावतः अधिक होने के कारण उनके पदों में (सगुणोपासकों द्वारा प्रयुक्त) दृष्टकूट व (निर्गुणोपासक संत कवियों द्वारा प्रयुक्त) उलटबांसी आदि की बुद्धिकौशलयुक्त चमत्कारिक शैली का अभाव है।

वैयक्तिक अनुभूति व आत्मपरकता मीरां के काव्य की प्रमुख विशिष्टताएं हैं और इन विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति के लिये उन प्रतीकों का मुक्तहृदय से चयन

किया गया है, जो उन्हें भावानुकूल प्रतीत हुए। मीरां की रुचि सम्प्रदाय-निरपेक्ष होने के कारण ही उनका न तो किसी सम्प्रदाय-विशेष या धारा-विशेष अथवा साधना-पद्धिति विशेष के प्रतीकों के प्रति लगाव था और न अलगाव। भावों को यथोचित, संप्रेषणीय बनाने के लिये उन्होंने अनेक साधना-पद्धतियों में प्रचलित प्रतीकों का सन्निशेप अपने पदों में किया है जिससे उनकी अभिव्यंजनाशैली में सर्वग्राह्यता और स्वाभाविकता आ गयी है।

समग्रतः उनका काव्य न तो प्रतीक बहुल है न प्रतीक-विहीन। अभिव्यंजना-शैली के अन्य तत्त्वों की भांति यहां भी मीरां ने मध्यम मार्ग अपनाया है। प्रतीकों के यथास्थान औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण उनकी अभिव्यक्तियां न तो भाराक्रान्त हुई हैं और न सर्वथा सपाट। बल्कि उनके प्रतीक-प्रयोगों की यह गंगा-जमुनी धारा उनकी भावाभिव्यंजना को कहीं मौन और कहीं मुखर करती हुई अभिव्यंजना के समग्र सौंदर्य की अभिवृद्धि करने में विशेष सहायक हुई है, जिससे उनके काव्य में एक अनूठा सौकर्य आ गया है।

# पंचम अध्याय

## विम्ब-विधान

### विम्ब-विधान : सैद्धान्तिक विवेचन

काव्य-भाषा को सहृदय-संवेद्य बनाने के लिये जिन काव्योचित उपकरणों की आवश्यकता होती है, उन्हीं में से एक काव्य-विम्ब भी है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत बाह्य जगत् की विभिन्न वस्तुगत अनुभूतियां हमारे मानस में कुछ ऐसा मूर्त प्रभाव छोड़ जाती हैं कि उन विभिन्न पदार्थों का ध्यान करने पर, स्थूलतः उनकी अनुपस्थिति में भी, उन पदार्थों की पूर्वसंचित मानस-प्रतिमाएं हमारे ध्यान के केन्द्र में या अचेतन स्तर से चेतन पर उपस्थित हो जाती हैं। पूर्व अनुभूतियों के प्रभाव के रूप में संचित ये मूर्तरूप या मानस-प्रतिमाएं ही विम्ब कही जाती हैं और इनका काव्यगत प्रयोग काव्य-विम्ब की संज्ञा पाता है।

काव्य-कला के सन्दर्भ में विम्ब का प्रयोग आधुनिक ही है और यह अंग्रेजी शब्द 'इमेज' का पर्याय है।[1] अंग्रेजी के प्रामाणिक शब्दकोशों के अनुसार इमेज का अर्थ है : किसी पदार्थ का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति, कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति, जिसका चाक्षुप होना अनिवार्य नहीं है।[2] मनोविज्ञान के क्षेत्र में इसकी प्रतिष्ठा पहले से ही हो चुकी थी, परन्तु कलात्मक और सौन्दर्यात्मक विभावन के रूप में तथा कल्पना के सूक्ष्म एवं सशक्त (विधायक) उपादान के रूप में इसकी प्रतिष्ठा आधुनिक काव्यशास्त्र में ही हुई है। 'प्राचीन पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में काव्य-विम्ब की, काव्यशिल्प के प्रमुख उपादान के रूप में, विशेष चर्चा नहीं की गई है, प्रकारान्तर से ही उसका यत्किंचित विवेचन मिल जाता है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में भी विम्ब का काव्य-शिल्पीय सिद्धान्त के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु शब्द-शक्ति-सिद्धान्त और अलंकार-सिद्धान्त के अन्तर्गत कई ऐसे तत्त्व हैं, जो विम्ब-विधान से समीपता लिये हुए हैं; इन तत्त्वों में विम्ब के पूर्व-रूपों को ढूंढा जा सकता है।'[3]

### (2) काव्य-बिम्ब का स्वरूप : विविध परिभाषाएं—

काव्य-विम्ब के इस सामान्य परिचय के पश्चात् काव्य-विम्ब के स्वरूप का विवेचन कर लेना उचित होगा। यद्यपि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य-विम्ब को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्रदान कराने का श्रेय श्री टी. ई. ह्यूम, एजरा पाउण्ड और सिसिल डे लीविस को है; तथापि अन्य पाश्चात्य व भारतीय आलोचकों ने भी इसकी विभिन्न परिभाषाएं दी हैं, जिनमें से कुछ निम्नोद्धृत हैं—

श्री रोबिन स्केलटन के अनुसार,

---

1 डॉ. नगेन्द्र, काव्यबिम्ब, पृ. 1

2 डॉ. नगेन्द्र, काव्यबिम्ब, पृ. 4

3 डॉ. नरेन्द्र मोहन, आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत-विधान, पृ 58।

'विम्व एक ऐसा शब्द है जो कि इन्द्रियानुभूति का भाव जाग्रत करता है।'[1]

काव्य-विम्व के काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठापित कराने वाले सुप्रसिद्ध विचारक श्री सिसिल डे लीविस ने काव्य-विम्व को भावगर्भित शब्द-चित्र वताते हुए लिखा है कि, 'यह एक ऐसा ऐन्द्रिय शब्द-चित्र है जो कुछ अंशों तक अलंकार पूर्ण अथवा लाक्षणिक होता है, जिसके सन्दर्भ में मानवीय सम्वेदनाएं निहित रहती हैं तथा जो पाठक के मन में विशिष्ट काव्यपरक रागात्मक भाव उद्दीप्त कर देता है।'[2]

श्री रोनाल्ड पीकॉक ने विम्व के कार्य का महत्त्व वताते हुए लिखा है, 'किसी भी कलात्मक विम्व का आधार यह है कि उसका कार्य क्या है और वह ऐन्द्रिय गुणों तथा उद्‌वोधनात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में कितना योग देता है........ ............विम्व यद्यपि सदा ऐन्द्रियता से युक्त होता है, फिर भी अपने आप में अनिश्चित होता है क्योंकि उसका असली रूप उसके इसी प्रभावोत्पादक कार्य में ही निहित है।''[3]

श्री कूजर ने विम्व को काव्य का आंगिक अवयव वताने हुए लिखा है— 'विम्व को केवल अलंकार या साज-सज्जा के रूप में (आरोपित तत्त्व) नहीं समझना चाहिये, यह सम्पूर्ण काव्य का एक आंगिक अवयव है।'[4]

इसी प्रकार श्री डाउनी ने विम्व को वस्तु की वास्तविक प्रतिलिपि मात्र न मान कर उसे ऐसे विचार से समन्वित माना है, जो वस्तु की ऐन्द्रिय विशेपता पर ध्यान केन्द्रित कर दे।'[5]

---

1 An image is a word which arouses ideas of sensory perception- Robin Skelton, The Poetic pattern, Page—90.

2 Poetic image is a more or less sensuous picture in words to some degree metaphorical with an under-note of some human emotion in its context. but also charged with and releasing into the readers, a special poetic emotion or passion'—C. D. Lewis : Poetic Image, Page—22,

3 'Thus what an art-image is, depends finally on its contribution by sensuous character and evocative effect.... ...............The image although always a sensuous form is indeterminate in itself and receives its true character from its contributory function.;
—Ronald Peacock : The Art of Drama, Page—34.

4 'Imagery is not to be considered as mere ornament or decoration. It is an organic part of a poem as a whole.
—J. R. Kreuzer, Elements of Poetry, Page 121.

5 Imagery must not be conceived as material copy of thing but merely as the content of a thought in which attention is centered on sensory quality of some sort.'
—J. E. Downey, Creative Imagination, Page—12.

और, डा. नगेन्द्र के अनुसार, 'काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।'[1]

काव्य-बिम्ब की अन्तःप्रकृति का विचार करते हुए श्री लक्ष्मानारायण वर्मा ने उसे यों स्वरूपित किया है, 'काव्य-बिम्ब काव्यात्मक आवेग के साथ सर्जनात्मक कल्पना द्वारा निर्मित वह शब्द-चित्र है जो न्यूनाधिक रूप से ऐन्द्रिय होने के साथ ही संवेग म क और बौद्धिक संचेतना से अन्तर्ध्वनित होता है।[2]

काव्य-बिम्ब के लक्षण—

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर काव्यात्मक बिम्ब के निम्नांकित कतिपय लक्षण सहज ही निर्धारित किये जा सकते हैं—

क—बिम्ब में सम्मूर्तन अर्थात् चित्रात्मकता का अनिवार्य योग रहता है।

ख बिम्ब का माध्यम शब्दार्थ है।

ग—ऐन्द्रिय संवेदना की उद्भूति एवं अनुभूति बिम्ब का व्यापार है।

घ - बिम्ब के मूल में मानवीय संवेगों अर्थात् रागतत्त्व की अवस्थिति आवश्यक है।

ङ - अलंकार बिम्ब की चित्रात्मकता में अभिवृद्धि के प्रमुख उपादान हैं किन्तु अनिवार्य गुण नहीं हैं।

च—सहृदय के मन में एक विशिष्ट भावोद्वेलन एवं काव्यात्मक संवेदन जगाना बिम्ब निर्माण का अन्यतम उद्देश्य है।

इस प्रकार, इन्द्रिय-संवेद्यता, चित्रात्मकता, रागात्मकता और भावोद्बोधकता बिम्ब के प्रधान गुण हैं। उत्कृष्ट बिम्ब में इन गुणों का समानुपातिक संतुलित विधान आवश्यक होता है। बिम्ब-विधान मूलतः काव्य का चित्रधर्म है, अप्रस्तुत-योजना अथवा रूपक-विधान में इसे पूर्णतः अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। इसका क्षेत्र अधिक व्यापक और प्रभाव अधिक गहन है। 'बिम्ब-विधान के मूल में कवि की आत्मा का ओज, उसके अन्तःसंस्कारों की प्रतिध्वनि, उसके परिवेश की समस्त दीप्ति तथा उसकी संवेदनाओं एवं रागात्मक अनुभूतियों की प्रेरणा अन्तर्निहित रहती है। जहां एक ओर, यह कवि के उपचेतन का प्रोद्भास एवं उसके मानस के निगूढ़तम गह्वरों की अनुगूंज है वहां दूसरी ओर, कवि के विचार एवं भावनाएं, रुचियां एवं मानसिक प्रतिक्रियाएं भी इसी में अपनी अभिव्यक्ति पाती है।'[3]

वस्तुतः बिम्बविधान कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों के सांचे में गृहीत बाह्य प्रभावों का ऐसा सम्मूर्तीकरण है जिसकी ऐन्द्रिय संवेदना भावक वर्ग को सहज ही अनुभूत हो सके। सम्मूर्तन के क्षणों में कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही केन्द्रीभूत होकर अनुभूत वस्तु या भाव को एक अपूर्व मौलिक इन्द्रियज दीप्ति से भर देता है, जिससे वह भाव या वस्तु, शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि के रूप में संवेद्य होकर

---

1 डा. नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, पृष्ठ—5

2 श्री लक्ष्मीनारायण वर्मा : 'काव्यबिम्ब की अन्तःप्रकृति'—विश्वभारती पत्रिका, (अंक-3, अक्टूबर-दिसम्बर, 1174), पृ. 214।

3 श्री सुरेन्द्र शर्मा : काव्यशिल्प के आयाम, पृ. 62।

सहृदय को रागात्मक आलोडन से उद्वेलित कर देती है।

**काव्य बिम्ब के शिल्पीय साधन**

कवि की स्मृतिगत व कल्पनागत अनुभूतियों को तथा उसकी अनुभूत वस्तु या भाव को बिम्ब-रूप में सम्प्रेषित करने वाले शिल्प साधन अनेक हैं, जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं—

1 विशिष्ट स्वर-प्रयोग
2 विशिष्ट वर्ण
3 चित्रात्मक शब्द—जो संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण आदि कुछ भी हो सकते हैं।
4 शब्द-शक्तियां—लक्षणा, व्यंजना आदि
5 अलंकार
6 मानवीकरण

**काव्य बिम्ब एवं अन्य काव्यशिल्पीय तत्व—**

उपर्युक्त शिल्पसाधनों में से रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार और लक्षणा शब्दशक्ति आदि अनेक ऐसे विभावन-व्यापार हैं जो बिम्ब के अत्यन्त सन्निकट हैं तथा बिम्ब-विधान को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित करते हैं। यद्यपि ये सौन्दर्य-वर्धक अप्रस्तुत विभावन-व्यापार बिम्ब-विधान में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं, तथापि इन्हें बिम्ब के स्थानापन्न रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि इन निकटवर्ती काव्य-उपकरणों और बिम्ब में कुछ मौलिक अन्तर भी है जो इस प्रकार है—

**(क) काव्यबिम्ब और शब्द-शक्तियां**

शब्द-शक्तियों में लक्षणा और व्यंजना बिम्ब के सम्प्रेषण में महत्त्वशाली भूमिका निभाती हैं। प्रत्येक लक्ष्यार्थ प्रायः एक प्रकार का बिम्ब उपस्थित करने में समर्थ होता है, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु लक्ष्यार्थ और बिम्ब में पर्याय-सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि बिम्ब का स्वरूप जहां अनिवार्यतः मूर्त होता है वहां लक्ष्यार्थ अमूर्त भी होता है। बिम्ब के निर्माण में लक्षणा का योग प्रायः रहता है; परन्तु दोनों में सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ (ध्वन्यर्थ) में वस्तु-ध्वनि तो बिम्ब-रूप होती है पर रस-ध्वनि का स्वरूप बिम्बमय नहीं होता। रस-ध्वनि के अन्तर्गत भाव-ध्वनि निश्चय ही अनुभूति रूप होती है, बिम्ब उसका माध्यम अवश्य है किन्तु उसका स्वरूप अनुभूतिमय ही होता है।

**(ख) काव्य-बिम्ब और उपमान—**

उपमान और बिम्ब का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपमान बिम्ब-रचना का साधन है। सादृश्य-विधान उपमान की सहायता से ही सम्भव होते हैं। प्रत्येक उपमान का अपना बिम्ब होता है जो उद्दिष्ट अर्थ—विचार या अनुभूति, को सम्मूर्तित करने में सहायता करता है, परन्तु वास्तव में बिम्ब का क्षेत्र उपमान की अपेक्षा अधिक विस्तृत व व्यापक होता है। बिम्ब के विधायक उपकरणों में उपमान एक उपयोगी उपकरण मात्र ही है।

**(ग) काव्य-बिम्ब और अलंकार—**

अलंकार और बिम्ब में भी गहरा सम्बन्ध है यहां तक कि कभी-कभी दोनों

को अप्रस्तुत विधान का वाचक और समानार्थक भी मान लिया जाता है; परन्तु अलंकार-विधान और बिम्ब-विधान का यह सम्बन्ध सादृश्य पर आधारित औपम्य-मूलक (साम्य-मूलक) अलंकारों तक ही सीमित है। अलंकार-विधान व बिम्बविधान दोनों ही अभिव्यंजनाशिल्प के प्रभावकारी उपकरण हैं तथा काव्य को सौन्दर्यान्वित करने में दोनों का योग प्रायः समान रहता है, फिर भी, अलंकार-विधान जहां अमूर्त अप्रस्तुत विषय को भी सौन्दर्य-मंडित करता है, वहां बिम्ब-विधान प्रस्तुत विषय का ही सौन्दर्यमय सम्मूर्तन करता है। प्रथम (अलंकार-विधान), जहां काव्य पर आरोपित तत्त्व होता है वहां द्वितीय काव्य का अविभाज्य, अंतरंग, आंगिक तत्त्व होता है।

**(घ) काव्य-बिम्ब का काव्यशिल्प पर प्रभाव—**

काव्य-बिम्ब का मुख्य उद्देश्य तो वर्ण्य-विषय अर्थात् प्रस्तुत को अधिक चित्रात्मकता एवं पूर्णता के साथ सहृदय के मानस में संप्रेषित एवं सम्मूर्तित करना होता है, किन्तु काव्याभिव्यक्ति में उसका प्रयोग होने पर वह काव्य-भाषा एवं काव्य-शिल्प को भी प्रभावित करते हुए उसकी सौन्दर्यवृद्धि में सहायक होता है। अपने लघुतम आयाम में काव्य-बिम्ब सर्वप्रथम काव्य के शब्द-विधान को प्रभावित करता है, इसी कारण बिम्बात्मक शब्द सामान्य अर्थवाही शब्दों से अपने अर्थ-सौन्दर्य एवं अपनी अभिव्यंजना शक्ति में भिन्न होता है। बिम्बात्मक शब्दों में निहित लाक्षणिकता काव्य-भाषा और अभिव्यंजनाशिल्प को नूतन शक्ति प्रदान करती है।

बिम्बात्मक शब्द अपनी भावमयता एवं भावोद्बोधक विशिष्टता के कारण भी अभिव्यञ्जना-शिल्प को नवीन सौन्दर्य से मंडित करते हैं। शब्दगत बिम्बात्मकता शब्द के अर्थ एवं शब्द की वर्णयोजना तथा उससे उत्पन्न ध्वनि एवं नाद-व्यञ्जना अथवा रूप-रस-गंध-स्पर्श-गति आदि की अन्यान्य व्यंजनाओं पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से भी ऐसे वर्णों एवं अर्थों से युक्त शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण आदि रूपों में प्रयुक्त होकर, अपनी बिम्बात्मकता के कारण अभिव्यंजना-शिल्प सौन्दर्य के आयोजन में अभिनव योगदान देते हैं।

सजीवता एवं सटीक-तथ्य-उपस्थापन आदि गुणों से युक्त बिम्बविधान का आयाम जब शब्द से आगे बढ़कर शब्द-समूह, वाक्यांश, वाक्य, छन्दांश, छन्द अथवा सम्पूर्ण प्रसंग तक विस्तृत होता है तब भी वह अभिव्यंजना-शिल्प को इसी प्रकार उत्तरोत्तर सौन्दर्य प्रदान करता जाता है।

**(ङ) काव्य-बिम्बों का वर्गीकरण—**

कतिपय पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विद्वद्जनों ने काव्य-बिम्ब के विविध रूपों का वर्गीकरण किया है। यह वर्गीकरण किसी एक आधार पर न होकर कई आधारों पर किया है। **पाश्चात्य विद्वान् रोबिन स्केलटन** ने अपनी पुस्तक 'दि पोइटिक पैटर्न' में काव्य-बिम्बों के विविध भेदों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है[1] :—

1 सिम्पल इमेज—सरल बिम्ब

1. 'The poetic pattern'-page—90-91.

2 इमिजिएट इमेज—तात्कालिक विम्ब
3 डिफ्यूज़ इमेज—विशृंखलित विम्ब
4 एस्ट्रेक्ट इमेज—अमूर्त प्रतिमाशून्य विम्ब
5 कम्बाइण्ड इमेज—संयुक्त विम्ब
6 काम्प्लेस इमेज—मिश्रित विम्ब
7 कम्बाइण्ड एब्स्ट्रेक्ट इमेज—संयुक्त अमूर्त प्रतिमाशून्य विम्ब
8 एब्स्ट्रेक्ट कम्बाइण्ड एण्ड काम्प्लेक्स इमेज—अमूर्त प्रतिमाशून्य, संयुक्त एवं मिश्रित विम्ब
9 एलीगरीकल इमेज—रूपकात्मक विम्ब
10 एम्ब्लेमेटिक इमेज—लाक्षणिक विम्ब

स्केलटन महोदय का उपर्युक्त वर्गीकरण अतिव्याप्ति की सीमा में पहुँच कर अस्पष्ट और उलझावपूर्ण है। वर्गीकरण से विम्ब के स्वरूप, सीमा और क्षेत्र का निर्धारण करना कठिन हो जाता है।

काव्य-विम्ब के प्रमुख भारतीय विचारक डा. नगेन्द्र ने विधायक तत्त्वों के आधार पर विम्बों के विविध प्रकारों को वर्गीकृत किया है। काव्यविम्ब के विधायक तत्त्वों-इन्द्रियानुभूति, कल्पना तथा अनुभूतियों के आकलित रूपों आदि के आधार पर डॉ. नगेन्द्र ने विम्बों का जो वर्गीकरण किया है[1], वह संक्षेप में निम्नोद्धृत है—

(क) इन्द्रियानुभूति के आधार पर—(1) दृश्य (चाक्षुप), (2) श्रव्य (श्रौत) (3) स्पृश्य, (4) घ्रातव्य, (5) आस्वाद्य (रस्य)

(ख) सर्जक कल्पना की निष्क्रियता व सक्रियता के आधार पर—
(1) लक्षित विम्ब—इन्हें स्मृत विम्ब भी कहा जाता है।
(2) उपलक्षित विम्ब--कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, इन विम्बों में कल्पना की क्रियाशीलता अधिक होने के कारण इन्हें कल्पित-विम्ब भी कहते हैं।

(ग) प्रेरक अनुभूतियों के आधार पर—(1) समाकलित विम्ब—विम्ब में निहित अनुभूतियों की मात्रा के आधार पर इसके भी कई विभेद किये गये हैं।—
यथा—सरल, मिश्र, जटिल तथा पूर्ण।
(2) विकीर्ण या खण्डित विम्ब—जिन विम्बों में अनुभूतियां विखरे रूप में या खण्डित रूप में रहती हैं उन्हें विकीर्ण व खण्डित विम्ब कहा जाता है।

(घ) काव्यार्थ की दृष्टि के आधार पर—(1) एकल या मुक्तक विम्ब—जो अपने में

---

1 देखिये - 'काव्य-विम्ब', पृ. 9 से 14 तक।

स्वतंत्र तथा अन्य विम्वों के पूर्वापर सम्वन्ध से मुक्त होते हैं।

(2) संश्लिष्ट या निवद्ध विम्व—जिनमें अनेक विम्व परस्पर सम्वद्ध रहते हैं, ऐसे मिश्र तथा समाकलित विम्व संश्लिष्ट होते हैं।

(ङ) काव्य-दृष्टि के आधार पर— (1) वस्तुपरक या यथार्थ विम्व
(2) रोमानी अथवा स्वच्छन्द विम्व

डॉ. नगेन्द्र का उपर्युक्त वर्गीकरण सामान्यत: ठीक है; किन्तु उनके इस वर्गीकरण में विम्व की अभिव्यक्ति के गठन और उसकी संरचना की दृष्टि से कोई विभेद सम्मिलित नहीं है। इस अभाव की पूर्ति **डॉ. नरेन्द्र मोहन** द्वारा किये गये काव्य विम्व के वर्गीकरण में मिलती है। उन्होंने काव्य विम्वों के प्रमुखत: तीन वर्ग माने हैं।

1 दृश्य-विंव, 2 भाव-विंव, 3 वस्तु-विंव।

**1 दृश्य-विम्व**

दृश्यविम्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण विम्ववर्ग मानते हुए डॉ. नरेन्द्र मोहन ने इसी वर्ग के अन्तर्गत चक्षु-इन्द्रिय-संवेद्य विम्वों के अतिरिक्त अन्य सभी इन्द्रियों से सम्वद्ध और संवेद्य को भी सम्मिलित कर लिया है। उनके अनुसार 'यही चक्षु-विम्व जव मानस प्रत्यक्ष होकर हमारे राग-वोधों को स्पन्दित करने लगते हैं तो 'भावविम्व' की श्रेणी में आ जाते हैं और जव ये 'वस्तु' को स्फूर्त करते हैं तो वस्तु-विम्व की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं।[1]

दृश्य विम्व के अन्तर्गत समाकलित इन्द्रिय संवेद्य विम्वों के प्रचलित पांचों प्रकारों-चाक्षुप, श्रव्य, आस्वाद्य, घ्रातव्य, स्पर्श्य-के अतिरिक्त 'शीत-ताप सम्बन्धी विम्वों को भी डॉ. नरेन्द्र मोहन ने इसी वर्ग में सम्मिलित कर लिया है।

**2—भाव-विम्व—**

अमूर्त भावों व रागवोधों को जाग्रत कर उन्हें मूर्तरूप प्रदान करना भाव-विम्वों का प्रधान कार्य है। भाव यद्यपि अमूर्त ही होते हैं तथापि मानस-प्रत्यक्षीकरण के आधार पर उनको भी मूर्तरूपधारी मान लिया जाता है। अनुभूति की तीव्रता व संवेदन का प्राधान्य इन भाव-विम्वों की प्रमुख विशेषता है।

**3—वस्तु-विम्व—**

वस्तुओं का चित्रण करते हुए उन्हें दृश्यात्मक एवं साम्य-सौन्दर्य से संयुक्त करना ही वस्तु-विम्वों का प्रधान कार्य है। वस्तु का विम्व-रूप में सम्मूर्तीकरण अत्यन्त कलात्मक रुचि व सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति की अपेक्षा रखता है। वस्तु-परिगणनमात्र को वस्तु-विंव समझ लेना नितान्त भ्रामक है।

पूर्वांकित विम्व-वर्गों में अतिरिक्त अभिव्यक्ति के गठन की दृष्टि से डॉ. नरेन्द्र

---

1 डॉ. नरेन्द्र मोहन : 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में अप्रस्तुत-विधान', पृ. 67।

मोहन ने जो बिंव-वर्ग माने हैं वे महत्वपूर्ण हैं—1-सान्द्रबिंव, 2-विवृत बिंव

1 सान्द्र विम्ब—

सान्द्रबिंवों में चित्रण की संक्षिप्तता अभिव्यक्ति की स्पष्टता एवं शब्दों की संश्लिष्ट योजना बिंव की चित्रात्मकता को दीप्ति प्रदान करती है। इन बिंवों में अनुभूति की अभिव्यक्ति अधिक सुगठित व कसावपूर्ण होती है। कल्पना की समाहार शक्ति भाषा की सामासिकता तथा घनत्वपूर्ण अभिव्यंजना के द्वारा कवि विराट दृश्य अथवा विस्तृत भाव-चित्र को ऐसे संश्लिष्ट एवं कसावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है कि एक सीमित आधार-फलक पर ही वह दृश्य अथवा भावचित्र अपनी समग्रता में मूर्त हो उठता है।

2 विवृत-विम्ब—

अप्रस्तुतों के कौशलपूर्ण संवद्ध-नियोजन तथा कल्पना की व्यास-शक्ति के योग से कवि एक लघुदृश्य अथवा सीमित विषय को विस्तृत परिधि में व्याप्त करके विवृत बिंवों का सृजन करता है। विवृत बिंव की प्रेरिका शक्ति उसके विराट औदात्य एवं सार्वभौम प्रसारण में निहित है। कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का योग किस प्रकार एक क्षीण विषय और लघु दृश्य को अनेकानेक कल्पना-छवियों से सम्बद्ध कर देता है, यह विवृत बिंवों में भलीभाँति देखा जा सकता है। इन विवृत बिंवों में सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तथा विराट कल्पना के साथ बौद्धिक आलोडन-जन्य चिन्तना का भी महत्त्पूर्णयोग रहता है।[2]

कल्पना, भाव अथवा चिन्तना से प्रसूत विम्बों के मूल में कवि की प्रतिक्रिया अथवा संवेदनीयता अवश्य होती है। जीवन और जगत के तथ्यों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया या अवधारणा को कवि इन्हीं विविध तथ्यों की विस्तृत विम्ब-योजना के द्वारा व्यक्त करता है। बाह्यतः भाव-निरपेक्ष से प्रतीत होते हुए भी ये विवृत विम्ब अन्तरतः किसी भावानुभूति से अनुप्राणित व सम्बद्ध अवश्य होते हैं।

निजी मत—

यद्यपि डा. नगेन्द्र तथा डा. नरेन्द्र मोहन के द्वारा निर्दिष्ट काव्य-बिंवों के पूर्वोक्त वर्गीकरणों को परस्पर समन्वित कर देने पर काव्यविम्वों के अधिकांश रूप इनमें समाविष्ट हो जाते हैं फिर भी काव्य बिंवों के कुछ ऐसे बिन्दु अवशिष्ट रह जाते हैं जिनका महत्त्व विषयवस्तु के विवेचन व विश्लेषण तथा अभिव्यञ्जना-शिल्प पर प्रभाव की दृष्टि से विचारणीय और उल्लेखनीय है।

काव्य-विषय की अनन्तता व असीमता को लक्ष्य करने पर वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से काव्य-बिंवों का वर्गीकरण करना दुस्साध्य प्रतीत होता है, परन्तु किसी कवि के काव्य-बिंवों का विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि उसके द्वारा वर्णित विषय-वस्तु की दृष्टि से भी उसके काव्यगत बिंवों का अवलोकन किया जाय। इसी विचार-दृष्ठि से काव्य-विम्वों की विषय-वस्तु का आगे वर्गीकरण

---

1 डॉ. नरेन्द्रमोहन, 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में अप्रस्तुत-विधान'—पृ. 68।

2 वही, पृ. 67।

किया गया है।

काव्य-बिंबों का विषय-वस्तु की दृष्टि से निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है—

अ—मानव-बिंब

ब—मानवेतर प्राणि-बिंब

स—प्रकृति बिंब

**अ—मानव बिम्ब—**

इस बिंब-वर्ग के भी स्वरूप आदि की दृष्टि से निम्न विभेद किये जा सकते है—

क—रूप-सम्बन्धी बिंब—इसके अन्तर्गत वाह्य आकृति, रूप-रंग और वेश-विन्यास आदि से संबन्धित बिंब आते हैं।

ख—क्रिया-व्यापार-संबन्धी बिंब,

ग—भाव-संबन्धी बिंब।

काव्य-बिंब में अंकित पात्रों की संख्या की दृष्टि से मानव-बिंब तीन प्रकार के हो सकते हैं—

क—एकल-बिंब

ख—युगल-बिंब

ग—समूह-बिंब

भावाभिव्यञ्जना की दृष्टि से भाव-बिंब दो प्रकार के हो सकते हैं—

1—हृदयगत भावों को व्यञ्जित करने वाले बिंब

2—अनुभावगत बिंब

**ब—मानवेतर प्राणि बिम्ब**

मानवेतर प्राणि बिंब के अन्तर्गत पशुओं और पक्षियों के रूप, गुण, क्रिया आदि से संबन्धित बिंब आते हैं। इन मानवेतर प्राणियों के स्वरूप, गुण आदि के बिम्ब उद्दीपन रूप में तथा मानवीय अमूर्त भावोद्रेकों व अवस्थाओं से साम्य दर्शाने वाले तत्त्व के रूप में अधिक मिलते हैं।

**स—प्रकृति बिम्ब—**

प्रकृति-बिंबों के भी दो प्रकार हैं :— 1—जड़ प्रकृति के बिंब
2—चेतन प्रकृति के बिम्ब

प्रकृतिजगत की वस्तुओं का बिंब-विधान विभावन की दृष्टि से निम्न प्रकार किया जाता है—

क—आलम्बन रूप में, ख—उद्दीपन रूप में, ग—पृष्ठभूमि के रूप में।

काव्य में आश्रय के रूप में प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग नहीं मिलता क्योंकि बिंब-ग्रहण करने तथा उसे स्पष्टतः अभिव्यक्त करने की क्षमता प्राकृतिक वस्तुओं में नहीं होती। यही कारण है कि आश्रय के रूप में प्रकृति का नहीं अपितु मानव का ही चित्रण किया जाता है

उपरिलिखित बिंबों के, अभिव्यंजनाशिल्पगत प्रभाव की दृष्टि से, दो रूप मिलते है—1—सशक्त या प्रबल बिंब

2—अशक्त या दुर्बल बिंब

सशक्त बिंब, विषय का सम्मूर्तन प्रभावशाली व कलात्मक ढंग से करने के साथ ही अनुकूल संवेदन उत्पन्न करने में भी सफल होते हैं जबकि अशक्त बिंब वस्तु का वर्णनात्मक बोध मात्र कराते हैं जिससे वस्तु के स्वरूप का बोध तो हो जाता है परन्तु अनुकूल सम्वेदन और चित्रात्मकता की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

बिम्ब-संरचना के स्वरूप के आधार पर बिम्बों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

1—समग्र-बिम्ब, 2—खण्ड-बिम्ब।

समग्र-बिंब, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, किसी भी विषय, पदार्थ अथवा रूप का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में समर्थ होता है, और खण्ड-बिंब, किसी विषय पदार्थ अथवा रूप का आंशिक चित्र ही प्रस्तुत करता है।

मुक्तक-काव्य में समग्र-बिंब का आयाम पूरे पद तक व्याप्त होता है जबकि खण्ड-बिंब आधी पंक्ति से लेकर दो या चार पंक्तियों तक ही सीमित होता है। प्रबन्ध काव्य में यही समग्र बिम्ब क्रमशः घटना-बिम्ब, प्रकरण-बिम्ब और प्रबन्ध-बिम्ब तक विस्तृत होता जाता है।

विगत पृष्ठों में किये गये बिम्ब-विधान के सैद्धान्तिक विश्लेषण और वर्गीकरण के पश्चात् अब हम आगामी पृष्ठों में मीरां के काव्य में उपलब्ध बिम्बों पर विचार करेंगे।

## (ब) मीरां के काव्य में बिम्ब-विधान—

वस्तुतः बिम्ब-विधान भक्तिमती मीरां का साध्य न होकर भावाभिव्यक्ति का माध्यम मात्र था। जीवन के रंगमय ऐश्वर्यपूर्ण साधनों का स्वेच्छया त्याग करने वाली इस तापसी को न तो कल्पना की मनोहरता का मोह था न बुद्धि की चमत्कारिता। का इसी विरागमयी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनके काव्य-बिम्बों में न तो दूरान्वयी कल्पना का विहग-विलास दृष्टिगोचर होता है, न वाणी-वैभव से मंडित अलंकृत शब्दों का रहस् विलास ही। सच तो यह है कि कवयित्री का सरल अनलंकृत जीवन ही उनके काव्य में प्रतिबिम्बित हो उठा है। उनके हृदय की असीम भावुकता ने काव्यात्मक बिम्बों को मानवीय संवेदनाओं का जो संस्पर्श प्रदान किया, उससे उनका काव्य सहृदय को भावबोध से आगे अनुभवन और आस्वादन की चरम स्थिति तक ले जाने में सफल हो सका। मीरां के पदों की मार्मिकता एवं लोकप्रियता के रहस्य का कदाचित् एक कारण यह भी है।

यद्यपि मीरां के काव्य में बिम्बों के विविध रूपों का सायास विधान नहीं है तथापि प्रकार-भेद की दृष्टि से उनके पदों में वैविध्यपूर्ण कलापेक्षी विवृत बिम्बों व समाकलित बिम्बों की अपेक्षा भावपूर्ण सान्द्र बिम्बों व लघुआकारी-रूपात्मक-दृश्य बिम्बों की ही बहुलता है। ये चक्षुइन्द्रिय-संवेद्य बिम्ब रूपप्रधान भी हैं और क्रिया प्रधान भी। इसके अतिरिक्त मीरां के काव्य-बिंब कहीं शरीरिक अवस्था को प्रतिबिंबित करते हैं तो कहीं मानसिक-स्थिति को। कहीं प्रकृति समन्वित होकर नितान्त वैयक्तिक भावों को प्रकट करते हैं, तो कहीं सामूहिक उल्लास व हर्ष के भावों को। परन्तु मीरां के काव्य-बिंब, चाहे वे किसी भी रूप, क्रिया या

दृश्य को चित्रित कर रहे हों, भावमयता एवं भावोद्बोधकता के गुणों से सर्वदा ओत प्रोत रहते हैं। हृदय-संवेद्यता व इन्द्रिय ग्राह्यता का गुण उनके काव्य-बिंबों में अन्य बिम्बों गुणों की अपेक्षा सर्वोपरि रहा है।

**मीरां के काव्य-बिम्ब : विश्लेषण और विवेचन—**

आगामी पृष्ठों में मीरां के काव्य-बिम्बों का वर्गीकृत विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है। यहां विवेचन की सुविधा की दृष्टि से, उपलब्ध काव्य-बिंबों का विषयवस्तु के आधार पर वर्गीकरण किया गया है तथा उसी के साथ अन्य बिंब-प्रकारों का भी उल्लेख करते हुए उनके पदों में मिलने वाले सभी प्रकार के काव्य-बिंबों के विधायक तत्वों और शिल्पगत विशेषताओं का विश्लेषण और विवेचन किया गया है।

पिछले पृष्ठों में विषयवस्तु की दृष्टि से काव्य बिंब के जो—मानव-बिंब, मानवेतर प्राणि-बिंब व प्रकृति-बिंब—तीन भेद हम कर आए हैं, इनमें से मानव-बिंब ही मीरां के काव्य में उपलब्ध होते हैं, मानवेतर प्राणि-बिंबों व प्रकृति-बिंबों की संख्या नगण्य है। वस्तुतः बिंब के ये दोनों प्रकार विरह की (मुख्यतः विरहिणी की) विविध भावदशाओं और अवस्थाओं को अत्यधिक प्रभावी, सहृदय-संवेद्य व जीवन्त बनाने वाले सहायक तत्त्व के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं, इनका स्वतंत्र बिंब-रूप मीरां के पदों में अप्राप्य है, परन्तु भावों की पृष्ठभूमि के रूप में एवं विरहोद्दीपक तत्त्व के रूप में प्रकृति का चित्रन प्रभावशाली है।

**(क) मानव-बिम्ब —**

मीरां का काव्य एकान्तिक प्रणय की दिव्य गाथा है। यह समस्त विश्व उस अदृष्ट दिव्य पुरुष का ही विराट स्वरूप है। मीरां ने चराचर जगत् में व्याप्त उस एक 'पुरुष' को पहचान लिया था, उसी का वरण किया था और समस्त संसार को उस 'एक' में ही तिरोहित कर लिया था।[1] अतः उससे अलग किसी स्वरूप के अस्तित्व को मीरां ने स्वीकार ही नहीं किया है। उस अलौकिक निराकार दिव्य पुरुष को ही साकार मानव-रूप प्रदान कर मीरां उसके अनुपम रूप-माधुर्य पर आसक्त हो उठी और उसी अनुपम रूप को उन्होंने विविध बिंबों में अंकित किया है।

**(1) रूप सम्बन्धी बिम्ब—**

मीरां अपने प्रियतम के अप्रतिम रूप-सौन्दर्य से अभिभूत हो उठी थीं। उनका मन उस रूप-राशि में अटक गया था। उस मोहक छवि का निरन्तर पान करने पर भी उनके नयन तृप्त नहीं होते थे। इस कथ्य को उन्होंने कई पदों में बिंब-प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त किया है—

> म्हारे णेणा निपट बंकट व छब अंटके।
> देख्यां रूप मदन मोहन री, पियत पियूखन मटके।
> वारि भरां अलक मतवारी, णेण रूप रस अंटके।
> टेढ्यां कट टेढ़े कर मुरली, टेढ्या पाग लर लटके।
> मीरां प्रभु रे रूप लुभाणी, गिरधर नागर नट के।[2]

1 मी. बृ. पदा., पृ. 235, पद—486।
2 मी. पदा., पृ. 101, पद—10।

उपर्युक्त पद में कृष्ण-मीरां का समाकलित-बिंब उभरता है, जिसमें एक ओर कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा का मोहक चित्रण है तो दूसरी ओर रूप-रस-लुब्धा मीरां के अतृप्त नयनों का स्वाभाविक अटकाव अंकित है। विशेषण शब्दों के प्रयोग से बिंब की रेखाओं को स्पष्टता व पुष्टता प्राप्त हुई है। अभिव्यक्ति में कसावट है, जो बिंब को सशक्तता व सान्द्रता प्रदान करती है। भावमयता तो मीरां के बिंब का प्राण-तत्त्व है ही, जो उपर्युक्त पद में भी विद्यमान है और निम्नोक्त बिंब में भी—

म्हां मोहण रो रूप लुभाणी।
सुन्दर वदन कमल दल लोचण, बांकी चितवण नैणा समाणी।
जमणा किणारे कान्हा धेनु चरावां, बंशी बजावां मीठा वाणी।
तन मन धन गिरधर पर वारां, चरण कमल मीरां बिलमाणी।[1]

पहले पद में जहां मीरां अपने नयनों पर 'अंटक' जाने का आरोप लगाती हैं वहां दूसरे पद में वह यह स्वीकार कर लेती हैं कि कृष्ण की अनुपम रूप-राशि उनके नैनों में सर्वदा के लिये समा गई है। पूर्वप्रयुक्त पद में जहां मदन मोहन की रूप-माधुरी का बिंब उन्होंने प्रस्तुत किया है, वहां उपर्युक्त पद में जमना किनारे वेणु बजाती गोचारण कराती हुई गोपाल की सलोनी सुन्दरता को बिम्बांकित किया है। इस पद में भी गिरधर पर सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर मीरां की रूपासक्ति की तीव्रता को व्यंजित करता हुआ एक अन्य बिम्ब भी आकलित है। इस कारण उक्त बिंब भी समाकलित, सान्द्र, मिश्र और सशक्त है। बिंब की रेखाओं को विशेषण और क्रिया-शब्दों के द्वारा दीप्ति व प्रखरता प्राप्त हुई है।

ऐसे ही कृष्ण की सौन्दर्य-सुषमा के नख-शिख-वर्णन को साकार रूप प्रदान करने वाला तथा उसके विश्व-व्यापी प्रभाव को सूचित करने वाला एक अन्य बिंब भी द्रष्टव्य है—जिसमें कृष्ण की रूप-माधुरी से मानव तो क्या पशु-पक्षी तक मोहित हो गये हैं, ऐसा बिंब उभारा गया है—

जब तैं मोहि नंदनंदन दृष्टि पर्यो माई।
तब तैं परलोक लोक कछु नां सुहाई।
मोरन की चंद्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै।
कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई।
भृकुटि कुटिल चपल नयन, चितवन से टोना।
खंजन अरु मधुपमीन, मोहै मृग छौना।
अधर बिम्ब अरुण नयन, मधुर मन्द हांसी।
दसन दमक दाड़िम द्युति, दमकै चपला सी।
कंबुकंठ भुज विसाल, ग्रीव तीन रेखा।
नटवर को भेप भानु, सकल गुण विसेखा।

1 मी. पदा., पृ. 102, पद - 11

छुद्रघंट किंकिनी अनूप धुन सुहाई।
गिरधर के अंग अंग, मीरां बलि जाई।[1]

यहां कृष्ण के सर्वांग रूप की रेखाओं को विशेषण शब्दों के साथ ही उपमा व उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के द्वारा भास्वरता प्रदान की गई है। उपर्युक्त बिंब में खंजन, मधुप, मीन और मृग-शावक भी कृष्ण के अद्भुत दृष्टि-विलास से मुग्ध दृष्टिगोचर होते हैं। उक्त बिंब में कृष्ण की रूपाकृति को स्पष्ट व हृदयग्राह्य बनाने के लिये रंगवाची विशेषण शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, जो परम्परागत है। यद्यपि इस पद में कवयित्री ने अपने इष्ट की रूपाकृति का समग्र, सजीव, सान्द्र, संश्लिष्ट तथा पूर्ण चाक्षुप बिंब प्रस्तुत करने का प्रयास किया है तथापि इसमें मौलिकता व नवीनता का तत्त्व न होने के कारण यह बिंब मध्यम कोटि का ही कहा जा सकता है। पूर्वोद्धृत तीनों बिंब कृष्ण के स्थिर मूर्ति-स्वरूप को चित्रित करते हैं। (सामान्यत:) मीरां ने कृष्ण की विविध मूर्तियों के दर्शन किये थे जिनके प्रभाव स्वरूप उनका चित्त गिरधर के अनन्त रूप सागर की गहराइयों में अटक कर रह गया था। अपने इन्हीं भावों को उन्होंने विविध रूप-परक दृश्य-बिम्बों द्वारा व्यक्त किया है। कहीं ये बिम्ब समग्र रूप की झांकी प्रस्तुत करते हैं तो कहीं खण्ड रूप की। इन खण्ड बिम्बों में कृष्ण के किसी एक अंग को विशेपत: चित्रित किया गया है। इनमें कुछ तो उनके (गिरधर के) अंग-विशेष की सौन्दर्यमयी शोभा को अभिव्यक्त करते हैं तो कुछ उनके वस्त्र-विन्यास की रंगमय दीप्ति को प्रतिभासित कराते हैं। नीचे कृष्ण की मनोहारी मूर्ति को समग्ररूपेण रूपायित करने वाला बिम्बात्मक पद प्रस्तुत है—

बसो मोरे नैणण में नंदलाल
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक सोहे भाल।
मोहनि मूरत सांवरि सूरत, नैणा बने विशाल।
अधर सुधारस मुरली, राजति उर बैजन्ती माल।
क्षुद्रघंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल।
मीरां प्रभु सन्तन सुख दाई, भक्त वछल गोपाल।'[2]

यहां पर भी कवयित्री की यथार्थपरक काव्यदृष्टि स्वरूप का यथातथ्य सम्मूर्तन करती हुई परिलक्षित हो रही है। विशेषण शब्दों द्वारा खचित रेखाएं बिम्ब को चक्षु-इन्द्रिय-संवेद्यता, सान्द्रता, संश्लिष्टता आदि गुणों से युक्त करती हुई उसे सम्पूर्णता प्रदान करती है। समग्र होते हुए भी उक्त बिम्ब मध्यम कोटि का ही है।

मुरली मनोहर कृष्ण की मनमोहिनी मूर्ति के साथ ही एक अन्य पद में मीरां ने उनके लोकरक्षक चतुर्भुजी रूप की भी झांकी अंकित की है—

माथे मुकुट मोर चन्दन की सेला है पीरे पट की
शंख चक्र गदा पद्म विराजे, गुंजमाल मेरे हिय अटकी।[3]

---

1 मी. बृ. पदा., पृ. 71, पद—146।
2 मीरां माधुरी, पृ. 16, पद—46
3 मी. बृ. पदा., पृ. 170, पद—359

सरलतम शब्दों के प्रयोग द्वारा रूप की विविध रेखाओं को स्पष्ट कर देना मीरां की काव्य-प्रतिभा का सूचक है। संक्षिप्त किन्तु सुगठित अभिव्यक्ति मीरां के काव्य-बिम्बों की प्राथमिक विशेषता है। निम्नोक्त पद में भी इन्हीं गुणों से युक्त एक बिम्ब द्रष्टव्य है जिसमें रामचन्द्र जी की वीर-धीर-गम्भीर मूर्ति अपनी सम्पूर्ण सौन्दर्य-सुषमा के साथ अभिचित्रित की गई है—

> माई मोरे नयन बसे रघुवीर।
> कर सर चाप, कुसुम सर लोचन, ठाढ़े भये मन धीर।
> ललित लवंग लता नागर लीला, जब पेखो तब रणधीर।[1]

कृष्ण की तथा राम की रूपाकृति को समग्रतः बिम्बित करने वाले इन शब्द-चित्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द-चित्र भी उपलब्ध होते हैं जिनमें उनकी (कृष्ण की) वंकिम चितवन, मधुरिम स्मिति का सजीव चित्रण अनायास ही मन को अपनी ओर खींच लेता है। मीरां द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार के खण्ड-बिम्ब अपने संक्षिप्त कलेवर में ही रूप का जो आंशिक-चित्र पाठक के मन पर छोड़ जाते हैं, वही इनकी सम्पूर्णता व प्रभाव-पूर्ण समर्थता का स्वतः सिद्ध प्रमाण है।

निम्नोद्धृत पदांशों या खण्ड-बिम्बों में कवयित्री ने अपने प्रिय के दीर्घ नयनों और सस्मित अधरों तथा वंकिम कटाक्ष को अंकित किया है—

> हेरी मां नन्द को गुमानी म्हांरे मनड़े बस्यो।
> गहे द्रुम डार कदम की ठाड़ो मृदु मुसकाय म्हारी ओर हंस्यो।[2]

तथा—

> हे मा बड़ी बड़ी अंखियन वारो सांवरो मो तन हेरत हंसिके।
> भोंह कमान बान बांके लोचन, मारत हियरे कसिके।[3]

प्रथम बिम्ब में, नन्द का गर्वीला पुत्र अपनी गर्वीली और सजीली मुद्रा में कदम्ब वृक्ष की शाखा पकड़े हुए खड़ा हुआ, अपनी मृदुल मुस्कान बिखेरता हुआ, बड़ी ही स्पष्ट किन्तु सरल रेखाओं द्वारा उत्कीर्ण है। कृष्ण का उक्त समग्र बिम्ब बड़े ही संश्लिष्ट और घनत्वपूर्ण शब्दों में सफलतापूर्वक अंकित किया गया है, जो मीरां की नैसर्गिक काव्य-पटुता का परिचायक है।

दूसरे बिम्ब में, कृष्ण की नुकीली और मर्मभेदी चितवन को 'रूपक-शब्द-रेखाओं ने अत्यधिक पैनी और संघातक बना दिया है। 'मारत हियरे कसिके' द्वारा कवयित्री ने उन कटीले नैनों की सुन्दरता और प्रभविष्णुता को और भी प्रखरता प्रदान की है। कृष्ण का मोहक दृष्टि-विलास व आकर्षक हास-विलास का जीवन्त-सम्मूर्तन करने वाले ये खण्ड-बिम्ब सरल, संश्लिष्ट, सान्द्र व सशक्त हैं।

गिरधर के वेश-विन्यास का चित्रण करने में मीरां की दृष्टि परम्परागत होते हुए भी कुछ मौलिकता लिये हुए है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित उद्धरणों से उनके रंग-चयन सम्बन्धी सुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है—

---

1 मीरां-माधुरी, पृ. 103, पद—289
2 मी. पदा., पृ. 101, पद—8
3 मी. पदा., पृ. 100, पद—7

रतनजटित सिर पेच कलंगी, केसरिया सब साज ।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, रसिकांरा सिरताज ।[1]
पीला पीतांबर जरकसी जामा, वाला ने पीलो ते पटको विराजै छै ।[2]
कुसुमल पाग केसरिया जामा, ऊपर फूल हजारी ।
मुकुट ऊपरे छत्र विराजै, कुण्डल की छब न्यारी ।[3]
मोर मुकुट कटि किंकिनि राजै दुति दामिनी पटको ।[4]
मोर मुकुट सिर छत्र विराजे, उर वैजन्ती माल ।
बाजूबन्द पीतांवर सोहे पोंछी छै लाल गुलाल ।
कमर कन्दोरो कटि पै राजै चरणां नूपुर छाजै ।[5]

अधिकांशतः, गिरधर की पोशाकों के लिये मीरां ने पीला और केसरिया रंग प्रयुक्त किया है। दामिनी की द्युति को मन्द करने वाले चटक पीले रंग की पोशाक धारण किये हुए कृष्ण को उपर्युक्त पद में मीरां ने राजोचित अलंकारों से भी सुसज्जित किया है। कृष्ण का राजसी वेश में चित्रण मीरां की आभिजात्य रुचि और मध्यकालीन राजनिक-वातावरण के प्रभाव को अभिव्यंजित करता है। मीरां स्वयं राज-कन्या व राज-वधू थीं ही, अतः उन्होंने अपनी राजोचित स्थिति के अनुरूप ही अपने अभीप्सित वर को—जो आराध्य भी था—अलंकृत व विभूषित किया है। संभवतः ये पद मीरां ने विवाह-पूर्व रचे होंगे। इन पोशाक सम्बन्धी बिम्बों को सरल और चक्षु इन्द्रिय-संवेद्य ही माना जा सकता है। अन्य बिम्ब-गुणों का इन चित्रों में अभाव है। ये बिम्बात्मक न होकर वर्णनात्मक अधिक हो गये हैं।

कतिपय पदों में मीरां ने अपने आराध्य को एक जोगी के रूप में भी देखा और स्मरण किया है। (इस विषय में विशेष चर्चा अन्यत्र की गई है।) जोगी से सम्बन्धित पदों में आराध्य या प्रियतम का जो रूप-बिंब उभारा गया है वह नाथपंथी योगी का ही प्रतिबिंब है। उदाहरणार्थ—

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी ।
आसण मांडि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायो ।
गल विच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूत लगायो ।[6]

तथा—

धूतारा जोगी एक रसूं हंसि बोलि
जगत वदीत करी मन मोहन कहा बजावत ढोला ।
अंग भभूति गले मृग छाला तू जन गुढ़िया खोल ।
मदन-सरोज वदन की सोभा ऊभी जोऊं कपोल ।

1 मी. बृ. पदा., पृ. 106, पद—220
2 मीरां माधुरी, पृ. 135, पद—367
3 मीरां माधुरी, पृ. 24, पद—63
4 मी. बृ. पदा., पृ. 181, पद—384
5 लोकनिधि पत्रिका—मीरां विशेषांक : जुलाई—1969, (सम्पादक—कृष्ण चन्द्र शास्त्री)—पद-माधुरी, पद नं. 4, पृ. 48
6 मी. पदा., पृ. 155, पद-188 ।

सेली नाद वभूत न बटवो, अजूं मुनी मुख खोल ।
चढ़ती वैस नैण अणियाले, तू धरि धरि मत डोल ।[1]

इन दोनों ही उद्धरणों में योगी के स्वरूप का चाक्षुप-विंव लक्षित है। प्रथम उद्धरण में द्वितीय की अपेक्षा बिम्बात्मकता अधिक स्पष्ट है। प्रथम पंक्ति में कुछ-एक क्रिया-बोधक शब्दों के माध्यम से योगी का ध्यानावस्थित रूप उभर कर सम्मुख आ जाता है, द्वितीय पंक्ति में योगियोचित उपकरणों के प्रयोग से बिम्ब में सजीवता, संश्लिष्टता व समग्रता आ गई है। द्वितीय पद में बिखराव-सा परिलक्षित होता है, भावनाएं बिम्ब के सम्पूर्णतः उभरने में अवरोध उत्पन्न कर रही हैं। सभी पंक्तियों का पूर्वार्ध रूप-बिम्ब को उभारने का प्रयास करता है और उत्तरार्ध भावनाओं के उद्रेक को। फलतः यहां विकीर्ण चाक्षुप बिम्ब की अवस्थिति मानी जा सकती है। प्रभाव की दृष्टि से प्रथम उद्धरण में उत्कृष्ट बिम्ब और अपर उद्धरण में मध्यम बिम्ब की स्थिति को स्वीकार करना होगा।

राधा का रूप- चित्रण मीरां ने अपेक्षाकृत कम ही किया है। फिर भी कतिपय पदों में राधा-सम्बन्धी छिटपुट चित्रात्मक बिम्ब परिलक्षित होते हैं।

एक पद में कवयित्री ने राधा की मधुर लोचयुक्त वाणी और तीखे नयन-नक्श को निम्न प्रकार चित्रित किया है :—

राधे थारी बोली मांही मुडक घणी ।
तीखा-तीखा नैन भुवांरा बांका मानो कवाण तणी ।
आप भी बांके नैन भी बांके,.... ................. ।[2]

इसमें 'मुड़क घणी' शब्द वाणी की अत्यधिक लोचमयता को अभिव्यंजित करता है। 'तीखा-तीखा' शब्द की पुनरावृत्ति से नैनों की दीर्घता और 'बांका भुवांरा' से कटाक्षपूर्ण चितवन का बिम्ब उभरता है। भौंहों की वक्रता की चित्रात्मक अभिव्यक्ति के लिये उसे कमान से तुलित या उपमित किया गया है। केवल नयन और भ्रू विलास का बिम्बात्मक चित्रण होने के कारण यहां खण्ड-चाक्षुप-बिम्ब माना जाएगा।

एक अन्य पद में भी मीरां ने राधिका के रूप तथा वेश-विन्यास व वस्त्राभूषण का वर्णन किया है—

केसरी चीर दरियाई को लेंगो, ऊपर अंगिया भारी
+ + + +
मोर मुकुट मनोहर सोहे, नथनी की छवि न्यारी ।
गल मोतिन की माल विराजे, चरण कमल बलिहारी ।[3]

केसरी वर्ण की ओढ़नी और दरियाई (नीले) वर्ण का लंहगा तथा कामदार अंगिया आदि राजस्थानी परम्परागत वस्त्रों से आवृत राधिका का रूप-बिम्ब उभारने का प्रयत्न कवयित्री ने किया है परन्तु इस चित्र में रूप को समग्र रूपेण अभिव्यक्त

---

1 मी. पदा., पृ. 117, पद- 58 ।
2 मी. बृ. पदा., पृ.261, पद 527 ।
3 मी. पदा., पृ. 149, पद – 171 ।

करने वाली रेखाओं के असम्बद्ध क्रम के कारण बिम्ब विकीर्ण होकर, अलंकरणों का वर्णन-मात्र बन कर रह गया है। राधा के स्वरूप और वस्त्राभूषणों का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में यह बिम्ब असमर्थ है।

ऐसे ही एक अन्य पद में मीरां ने राधा को लाल-हरित परिधानों से विभूषित किया है इस पद में राधा के पाद-आभूषणों का उल्लेख भी किया है—

हरी जरी का लंहगा पहने फूल झड़ी की साड़ी।
अनवट ऊपर बिछिया सोहे, नथ सोहे मलकां-री।[1]

यहां वस्त्राभरणों का बिम्ब उपस्थित करना ही इस बिम्ब का मुख्य कार्य प्रतीत होता है, क्योंकि इसके अतिरिक्त इस बिम्ब में अन्य कोई बिम्बोचित गुण दृष्टिगत नहीं होता है।

एक पद में मीरां ने राधा के मेंहदी-चित्रित हाथों का तथा मेंहदी के रंग का व राधा की सुरंग मेंहदी देखते हुए कृष्ण का चित्रण किया है—

राधे थारी मेंहदी रो माणक रंग।
कनक कटोरे मंहदी घोली तामें अद्भुत रंग।
राधा प्यारो मेंहदी माडी सब सखियन के संग।
मीरां के प्रभु मंहदी निरखे श्री वृन्दावन चंद।[2]

स्वरूप-चित्रण की सूक्ष्म रेखाओं का उक्त बिंब में अभाव-सा लगता है, जो बिंब को वर्णन की ओर ले जाता है। मंहदी के रंग की माणिक के रंग से तुलना में ही कुछ चित्रात्मकता आ पाई है। शेष पद विवरण सा लगता है। प्रभाव की दृष्टि से यह साधारण कोटि का बिंब है।

कल्पनाजन्य अनुभूति की दृष्टि से मीरां आलम्बन-कृष्ण की क्रियाओं की द्रष्टा और भोक्ता स्वय ही हैं, अतः आश्रय रूप में उन्होंने अपने भावों, अवस्थाओं और प्रतिक्रियाओं को ही अभिव्यक्त किया है। उन्होंने अपने स्वरूप की स्थूलतः अभिव्यक्ति कहीं भी नहीं की है। अपनी विरहावस्था की अभिव्यञ्जना करते हुए ही उन्होंने कहीं-कहीं अपने स्वरूप का हलका-सा उल्लेख मात्र कर दिया है। यथा-

(1) पिय कारण पीरी पड़ी, वाला जोवन बाली वेस।[3]
(2) दरद दिवाणी भई बावरी, डोली सब ही देस।
मीरां दासी भई है पंडर पलट्या कालाकेस।[4]
(3) रतन आभरण भूषण छाड्यां, खोर किया सिर केस।
भगवा भेस धर्‌यां थें कारण, ढूंढ्यां चार्‌यां देस।[5]

युवावस्था में ही प्रियतम के विरह में पीली पड़ जाना, रत्नाभरणों से युक्त आभूषणों और बहुमूल्य वस्तुओं का त्याग कर भगवा वेश धारण कर लेना,

1 मी. वृ. पदा., पृ. 193, पद—408।
2 मी. वृ. पदा., पृ. 262, पद—528।
3 मी. पदा., पृ. 135, पद—117
4 मी. पदा., पृ. 129, पद—97
5 मी. पदा., पृ. 120, पद—68

विरहोन्मत्त हो निरन्तर भ्रमण करते रहना-आदि क्रियाओं के सम्मिलित योग से, मीरां की जीवन और जगत् के प्रति उदासीन मनोवृत्ति तथा ईश्वर-भक्ति की ओर निरन्तर अग्रसर होते जाने की प्रवृत्ति का जो स्पष्ट किन्तु हल्का चित्र उक्त विम्व में उभरा है वह विरहणी मीरां के स्वरूप की भी हल्की-सी व्यञ्जना कर जाता है। ऐसे आश्रय के रूप-सम्बन्धी विम्ब मीरां के पदों में अत्यल्प हैं।

पूर्व विवेचित रूप-सम्बन्धी विम्बों में से अधिकांश में कृष्ण का ही चित्रांकन मिलता है। कृष्ण की सांवरी सूरत मोहनि मूरत के अतिरिक्त अन्य किसी का मूर्तिमान रूप मीरां को नहीं लुभा सका था। वे स्वयं को कृष्ण की स्वकीया मानती थीं इस कारण राधा के रूप-सौन्दर्य का भी उल्लेख उनके काव्य में उपलब्ध नहीं होता है। इसे दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि मीरां-काव्य में रूप-सम्बन्धी विम्बों के एक मात्र विषय या पात्र कृष्ण ही हैं। अतः उनके काव्य में अन्य किसी मानव-रूप को खोजना या पाने की आशा करना वृथा है।

मीरां द्वारा प्रस्तुत इन रूप-विम्बों में, सरलता, सान्द्रता, संश्लिष्टता, भावमयता तथा चक्षु-इन्द्रिय-संवेद्यता सर्वत्र उपलब्ध होती है। ये विम्ब कहीं समग्र-रूप को उत्कीर्ण करते हैं कहीं आंशिक रूप को। इन रूप-विम्बों में कुछ समाकलित हैं तो कुछ सरल, एकल या मुक्तक भी हैं।

सामान्यतः मीरां द्वारा प्रस्तुत किये गये एकल पात्रीय रूप-विम्ब मध्य कोटि के हैं।

रूप-विम्बों के अनन्तर अब आगामी पृष्ठों में, क्रिया-व्यापार-सम्बन्धी बिम्बों का विवेचन व विश्लेषण किया जा रहा है।

**(2) क्रिया व्यापार सम्बन्धी-विम्ब –**

मीरां ने कृष्ण के मनमोहन रूप की स्वकीया भाव से आराधना की थी। वे स्वयं को पूर्व जन्म की गोपिका भी मानती थीं, इस कारण से कृष्ण की विविध लीलाओं में भी सक्रिय भाग लेती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। मीरां के आलम्वनगत-क्रिया-सम्बन्धी बिम्बों में कृष्ण का यही रसिक-शिरोमणि रूप चित्रित हुआ है, साथ ही ये चित्र युगलपात्रीय तथा बहुपात्रीय भी है। युगलपात्रीय चित्रों के एक पात्र आलम्बनरूप कृष्ण हैं और दूसरी पात्र गोपी-रूपा मीरां स्वयं हैं। बहुपात्रीय चित्रों में अन्य गोपिकाओं को और किसी-किसी में राधा को भी सम्मिलित कर लिया है। आगे ऐसे ही क्रिया-संबंधी विम्ब प्रस्तुत हैं।

कृष्ण के वेणु-वादन और गौ-चारण-लीला का द्योतन करने वाले कुछ क्रियात्मक विम्ब इस प्रकार हैं –

(1) गउवन के संग डोलत हो जसुमति को लाल।
कालिन्दी के तीर हो कान्हा गउवां चराय।
सीतल कदम की छहियां हो मुरली वजाय।[1]

(2) जमुना के नीरां तीरां गउवां चरावै, कांधे कमरिया काला[2]

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 217, पद—451।

2 मी. वृ. पदा., पृ. 48, पद—98।

(3) कुंज वन में गोपाल राधे ! कुंज वन में।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे, निरपत श्याम तमाल।
ग्वाल बाल रचि चारु मंडल, बाजत बंसी रसाल।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम दो में, गोचारण और वंशीवादन की क्रियाएं सम्मिलित रूप से बिम्बित हो रही हैं। द्वितीय उद्धरण में दो क्रिया-बिम्ब हैं, एक कृष्ण का गउवों के संग-संग डोलने का और दूसरा यमुना-तट पर गायों को चराते हुए, कदम्ब वृक्ष के नीचे स्थित होकर बंशी बजाने का। तीसरे उद्धरण में कृष्ण का कांधे पर काली कमरी डाले हुए गउएं चराने का रूपात्मक क्रिया-बिम्ब है और चौथे उद्धरण में कुंज-वन स्थित श्याम तमाल के नीचे मंडलाकार बैठे हुए गोप-ग्वालों को रसभरी बंशी सुनाते हुए कृष्ण का रूपात्मक एवं क्रिया-संबंधी बिंब सम्मूर्तित किया गया है।

पूर्वोद्धृत इन चारों बिंबों में से पहले और तीसरे बिंब में, क्रियाओं का सामान्य वर्णनात्मक उल्लेख-सा लगता है। इनमें बिम्बात्मकता अर्थात् चित्रात्मकता उतनी नहीं उभरी है या यों कहें इन बिम्बों में निहित क्रियाएं गतिपूर्ण नहीं है, जबकि दूसरे और चौथे में बिम्ब क्रियाओं का गतिपूर्ण अंकन किया गया है। अतः ये बिम्ब अधिक सजीव और चित्रमय बन पड़े हैं। इनकी बिम्बात्मकता सौन्दर्यपूर्ण है। शिल्प की दृष्टि से हम इन्हें चाक्षुप, सान्द्र, सरल, खण्ड और यथार्थपरक बिम्ब कहेंगे। इनका अभिव्यंजनागत प्रभाव मध्यम कोटि का ही है। पहले तीन बिम्बों में कृष्ण ही एक मात्र मानव पात्र रहे हैं। गायों का सामीप्य और यमुना तट की सन्निकटता वन के प्राकृतिक वातावरण की, पृष्ठभूमि के रूप में सृष्टि करते हैं। अंतिम बिम्ब में ग्वाल बालों का साहचर्य, कुंजवन का पृष्ठभूमि के रूप में उल्लेख तथा बंशी के नाद का मधुर प्रभाव इस दृश्य-बिम्ब को मोहकता और रुचिरता प्रदान करने में सहायक हैं।

ऐसे ही कृष्ण की दधि-लूटन-लीला-सम्बन्धी तथा छेड़-छाड़ सम्बन्धी पदों में गत्यात्मक क्रिया-बिम्बों का संयोजन बिम्ब को जीवन्तता व भास्वरता प्रदान करता है। इन पदों में आलम्बन व आश्रय दोनों ही सक्रिय पात्र के रूप में सम्मूर्तित किये गये हैं। मीरां स्वयं एक अल्हड़ गोपिका का रूप धारण कर इन पदों में अवतरित हुई हैं—

(1) बिन्द्रावन की कुन्ज गलिन में, गहे लीणो मेरो हाथ।
दध मेरो खायो मटकिया फोरी, लीणो भुज भर साथ।
लपट झपट मोरी गागर पटकी, सांवरे सलोने लोने गात।
कबहूँ न दान लियो (दियो) मनमोहन, सदा गोकुल आत जात।[2]

(2) गागर ना भरन देत तेरो कान्ह माई।
हंस हंस मुख मोरे मोर, गागर छिटकाई।
घूंघट पट खोल खोल, सांवरों कन्हाई।

\+ + +

1 मी. बृ. पदा., पृ. 49, पद—99।
2 मी. पदा., पृ. 1 1. पद—176।

अगर बगर झगर करत रार तो मचाई ।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में रसिक नागर नटखट कृष्ण की रसपूर्ण चपल क्रीड़ाएं क्रियापदों के प्रयोग द्वारा चित्रांकित की गई हैं। पहले पद में, कुंजगलियों में एकान्त स्थान पर गोपिका का हाथ पकड़ लेना, उसका विक्रय हेतु ले जाया जाने वाला दधि, लपट-झपट कर खा लेना और मटकी फोड़ देना तथा उसे अंक में भर लेना आदि का क्रिया-विम्ब कृष्ण के चपल-प्रणयी रूप को उद्घाटित करता है। इसी भांति दूसरे पद में, गोपिका को पनघट पर गागर न भरने देना, उसके भरे हुए घट के जल को छिटका देना, उसके घूंघट को बार-बार खोल देना तथा मार्ग में व्यर्थ की बातों को लेकर लड़ना और झगड़ना, आदि क्रियाओं के समष्टि चित्रण द्वारा, जो समाकलित विम्ब उभारा गया है वह कृष्ण की बाल-कैशोर्य अवस्था की चंचलता और मोहकता को प्रकट करता है। इन विम्बों में गोपिका-मीरां कृष्ण की लीलाओं पर खीज कर भी रीझ उठी है। इन विम्बों में स्थूल चित्रात्मकता के साथ ही भावात्मकता भी उभरी है। यहां चाक्षुप, सरल, यथार्थ-परक सान्द्र विम्ब विधान परिलक्षित होता है। कवयित्री ने सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा इन विम्बों में कसावट उत्पन्न की है। प्रभाव की दृष्टि से ये विम्ब भी मध्यम कोटि के हैं।

कालियमर्दन के प्रसंग में कृष्ण के अतिकमनीयरूप और दुर्धर्प पराक्रम को देख मीरां आश्चर्यान्वित हो उठी। अपने इसी विस्मय को उन्होंने निम्न पद में व्यक्त किया है—

> कमल दल लोचणा, थें नाथ्यां काल भुजंग
> कालिन्दी दह नाग नाथ्यां काल फण फण निर्त करंत।
> कूदां जल अन्तर णां डर्‌यो थें एक बाहु अनन्त ।[2]

उपर्युक्त पद की तीनों पंक्तियां विम्बात्मकता से पूर्ण हैं। प्रत्येक शब्द से चित्रात्मकता व्यक्त हो रही है। 'कमलदल लोचना' शब्द से कृष्ण की सुकोमलता व्यक्त हो रही है और 'कालभुजंग को नाथने का उनका अलौकिक कार्य' उनके दुर्धर्प साहस और शक्ति-सम्पन्नता को व्यंजित कर रहा है। निर्भयतापूर्वक जल में कूद पड़ना, स्वयं एकाकी होते हुए भी अनन्त-रूप, प्रवल शत्रु से भिड़ना तथा उसे परास्त कर उसके प्रत्येक फण पर नृत्य करना-आदि क्रियाएं, कृष्ण की निर्भयता, निडरता, प्रवलता, अदम्य उत्साह तथा धैर्य व शौर्य के गुणों को सफलतापूर्वक व्यक्त कर रही हैं। अपनी संक्षिप्त अभिव्यक्ति तथा समाहार शक्ति के कारण उक्त विम्ब सान्द्र, संश्लिष्ट और पूर्ण है। चक्षु-इन्द्रिय-संवेद्य होने के साथ ही यह व्यंजना शक्ति से भी युक्त है तथा सहृदय के भावों को उद्बुद्ध करने में सक्षम है।

कवयित्री के फागोत्सव सम्बन्धी बिंब बड़े ही सुगठित व आकर्षक हैं। इन होली सम्बन्धी बिंबों में मीरां एक कुशल चितेरी बन गई हैं। कृष्ण की फागलीला का जैसा रंगमय चित्र वे प्रस्तुत करती हैं, उसे देखकर लगता है मानों वे स्वयं

---

1 मी. पदा., पृ. 58, पद—118।

2 मी. पदा., पद—168

कृष्ण को अबीर-गुलाल की रंग-सुरंग होली का प्रत्यक्ष अवलोकन कर रही हों। उदाहरण द्रष्टव्य है।

> कुञ्ज विहारी राधा गोरी, नव निकुञ्ज में खेलें होरी।
> भरि भरि अरगजा लई कमोरी, छिरकत झकझोरी झकझोरी।
> अबीर गुलाल उड़ावत रोरी, डफ दुंदभी बाजत थोरी थोरी।
> पहुप पराग लिये भर झोरी, पिय पर डारति हंसि मुख मोरी।
> आंखि आंजि सिर गूथत मोरी, झूमक गावत अञ्चल जोरी।[1]

इस पद में दूसरी और चौथी पंक्तियां राधा-कृष्ण के परस्पर फाग खेलने की गतिशील क्रियाओं को व्यक्त कर रही हैं, तीसरी और अन्तिम पंक्ति के उत्तरार्ध में वर्णित क्रियाएं मद्धिम स्वरों में डफ दुंदभी का बजना और सजी संवरी गोपिकाओं का समवेत स्वर में झूमक गाना—होली के आह्लादमय वातावरण को और भी मादक बना रही हैं। दूसरी पंक्ति में 'भरि-भरि' और 'झकझोरी-झकझोरी' पुनरुक्त क्रियाएं, विंब को गत्यात्मकता प्रदान करती हैं तथा चौथी पंक्ति में प्रिय पर झोली भर रंग डाल, मुख मोड़ कर हंसती हुई राधिका की विलासमय क्रियाएं वातावरण की उत्तेजनात्मक चित्रमय अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि उक्त पदों में कवयित्री ने सामान्य तथा पुनरुक्त क्रियाओं के द्वारा रंगोत्सव का रंगमय, सरल, संश्लिष्ट विंब प्रस्तुत किया है। ऐसे ही एक अन्य पद में मीरां ने 'राग भरी, रँग-भरी' होली को क्रिया पदों के सामान्य प्रयोग द्वारा सफलतापूर्वक प्रतिबिम्बित कर दिया है। निम्नोक्त चित्र में 'लाल' रंग के प्रयोग से वातावरण की अनुरागमयी रंजकता निखर उठी है—

> रंग भरी राग भरी राग सूँ भरी री।
> होली खेल्यां श्याम संग रंग सूँ भरी री।
> उड़त गुलाल लाल बदरा री रंग लाल।
> पिचकां उड़ावां रग रंग री झरी री।

'र' और 'ल' वर्ण की प्रचुरता, 'भरी', 'री', तथा 'लाल' शब्द की आवृत्ति में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति आदि शब्दालंकार लक्षित हो रहे हैं। इन शब्दालंकारों ने होली के रंग-बिरंगे वातावरण को सुमधुर संगीतात्मकता प्रदान की है। बिम्ब की दर्शनीय चित्रात्मकता उत्कृष्ट कोटि की है। कुल मिला कर यह एक सरल, संश्लिष्ट, सान्द्र और सशक्त बिम्ब है।

संक्षेप में मीरां द्वारा अंकित आलम्बन के रूप-गुण क्रिया सम्बन्धी बिम्बों में दृश्यात्मकता सर्वत्र व्याप्त है। ये बिम्ब औसतन मध्यम श्रेणी के हैं तथा कवयित्री की बिम्बविधायिनी प्रतिभा को, अपने संक्षिप्त कलेवर द्वारा भी, उद्घाटित करने में समर्थ हैं।

कतिपय पदों में मीरां ने अपनी विविध भावावस्थाओं, कष्टों और अन्तः पीड़न की गहन वेदना को अभिचित्रित किया है। या यों कहें उनकी झेली हुई

---

1 मी. बृ. पदा., पृ. 49, पद—100।

व्यथा स्वतः ही कहीं-कहीं साकार रूप धारण कर काव्य में उपस्थित हो गयी हैं—

> हेली म्हांसूं हरि विनि रह्यो न जाय।
> सास लड़े मेरी ननद खिजावे, राणा रह्या रिसाय।
> पहरो भी राख्यो चौकी विठार्यो, ताला दियो जड़ाय।[1]
> पूर्व जनम की प्रीत पुराणी, सो क्यूं छोड़ी जाय।
> मीरां के प्रभु गिरधर नागर, अवरु न आवै म्हांरी दाय।

उपर्युक्त पंक्तियों में मीरां हरि के प्रति अपनी अटूट लगन के भाव को व्यक्त कर रही है। इसके लिये उन्हें अनेकानेक कष्ट सहने पड़े, परिजनों का उपहास, रोष, और अन्त में राजरानी से वन्दिनी होने का अपमान भी। अन्तिम पंक्ति उनके वन्दिनी रूप को चित्रित करती है। इसे पूर्ण विम्व तो नहीं कहा जा सकता पर विम्बात्मकता की कुछ झलक अवश्य परिलक्षित होती है।

> जाण्यां णा प्रभु मिलण विध क्या होय।
> आया म्हारे आंगणां फिर गया मैं जाण्या खोय।
> जोवतां मग रैण वीतां दिवस वीतां जोय।
> हरि पधार्यां आंगणा गया मैं अभागण सोय।
> विरह व्याकुल अनल अन्तर कल णा पड़ता दोय।

इस पूरे पद में विरहिणी के परिताप का एक संश्लिष्ट विम्व उभरता है। नायिका के आंगन में प्रथम वार प्रिय कुछ समय के लिये आया और फिर चला गया। प्रिय के जाने के वाद नायिका अहर्निश प्रिय के पुनरागमन की वाट जोहने लगी। अपलक प्रतीक्षा में कई दिन व्यतीत होने पर, विरहिणी के शिथिल नयन स्वतः ही कुछ क्षणों के लिये निद्रा के वशीभूत हो गये। उन्हीं क्षणों में प्रिय पुनः आया और नायिका को निद्रामग्न देख लौट गया। प्रिय के जाते ही विरहिणी की नींद भी खुल गई; परन्तु प्रिय को लौटा जान कर अव उस विरहिणी की अन्तर्वेदना असीम हो गई है। जिसे पाने के लिये निरन्तर प्रतीक्षा करती रही उसी के आने की अनकही घड़ी में आंख लग गई और नायिका की प्रिय से मिलन की अव सारी आशाएं ही निष्फल हो गईं।

इन्द्रिय-बोध की दृष्टि से यह चाक्षुप विम्व है। स्मृति व अकथनीय विरह-व्यथा ही इसके सर्जक तत्व हैं, प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा और आने पर भी न मिल सकने की विरह व्यथा की मिश्रित अनुभूति इस पदगत विम्व की संरचना के आधार हैं। यह काव्य-दृष्टि से यथार्थ भावपरक और काव्यार्थ की दृष्टि से संश्लिष्ट विम्व है। विम्व किसी विशेप शब्द में न होकर पूरे प्रसंग से व्यंजित होता है। वैसे तो मीरां में अनुभावों से सम्बन्धित अनेक क्रिया सम्बन्धी विम्व मिलते हैं, जो इन्द्रिय-संवेद्यता के साथ ही भावमयता के गुणों से भी ओतप्रोत हैं। मीरां की विरहावस्था और तज्जन्य क्रियाओं को द्योतित करने वाले कुछ विम्व यहां प्रस्तुत हैं-

> सखी मेरी नींद नसानी हो
> पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण विहानी हो।

---

1 मी. पदा., पृ. 112, पद—42।      2 मी. पदा., पृ. 113, पद—43।

सब सखियन मिल सीख दई, मन एक न मानी हो ।

+ + + +

अंग छीन व्याकुल भई मुख पिय वानी हो ।[1]

तेरे कारण जोग धारणा, लोक लाज कुल डार ।

तुम देख्यां बिन कल न पड़त है, नैन चलत दोउ वार ।[2]

प्रथम उद्धरण, विरहिणी की अनिद्रावस्था, कृशता, व्याकुलता तथा निरन्तर प्रिय-स्मरण के भावों की क्रियात्मक अभिव्यक्ति करता है और दूसरा विम्ब-'प्रलाप' अवस्था को सम्मूर्तित करता है। ये सभी क्रियाएं विरहावस्था में स्वाभाविक-रूप से घटित होती हैं। प्रथम उद्धरण की अंतिम पंक्ति विरहिणी की शोकातुर अवस्था की सहज बिम्बात्मक अभिव्यक्ति करने में समर्थ है।

रूपात्मकता, क्रियात्मकता और भावात्मकता का संयुक्त-संयोजन, मीरां के काव्य-विम्बों की प्रधान विशेषता है। ये सभी विम्ब-गुण उनके काव्य-विम्बों में इतने संश्लिष्ट रूप में समाये हुए हैं कि यदि इन्हें विश्लेषण हेतु पृथक्-पृथक् (गुणानुसार) विश्लिष्ट किया जाय तो ये अपना सौष्ठव ही खो बैठेंगे। नीचे एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें ये तीनों काव्य-गुण स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं—

पतियां मैं कैसे लिखूं, लिख्यो री न जाय ।

कलम धरत मेरो कर कम्पत है, नैन रहे झड़ लाय ।

बात कहूँ तो कहत न आवे, जीव रह्यो डरराय ।[3]

'कम्प', 'अश्रुपात,' कण्ठावरोधादि अनुभाव तथा 'अकारण-भय' आदि भाव इस विम्ब में क्रियापदों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। ये सभी अवस्थाएं चक्षु-इन्द्रिय-संवेद्य हैं। विरहिणी नायिका की भाव-विह्वल-अवस्था का यथातथ्य सशक्त सम्मूर्तन करने में उक्त विम्ब सफल रहा है। विरहिणी की अशान्त मनः-स्थिति तथा भावातुर अवस्था को सजीवतः सम्मूर्तित करने वाला एक अन्य क्रियात्मक विम्ब नीचे प्रस्तुत है—

खिण आंगण खिण डागले रे (बाला) खिण खिण ऊभी होइ ।

घायल ज्यूं घूमत फिरूँ म्हारो मरम न जानै कोइ ।[4]

यों तो 'खिण' शब्द की आवृत्ति सहित विविध क्रियाएं, विरहिणी की उद्वेगपूर्ण अस्थिर स्थिति को सम्यक्रूपेण चित्रित करने में समर्थ हैं, फिर भी इस अवस्था की पीड़ा को, घायल व्यक्ति की अनिर्वचनीय व्यथा व अवस्था के गौण-बिंब द्वारा भी उद्घाटित किया गया है। घायल व्यक्ति का यह गौण-विम्ब उपमा अलंकार के सहयोग से प्रस्तुत किया गया है जो मुख्य-बिंब की तीव्रता व मार्मिकता को व्यञ्जित करता है। यह भी सान्द्र, संश्लिष्ट, सरल और सशक्त विम्ब का उत्कृष्ट उदाहरण है।

ऐसे ही एक अन्य पद में आश्रयरूपा विरहिणी की विषादमयी अवस्था व

---

1 मीरां माधुरी, पृ. 83, पद —226

2 मीरां माधुरी, पृ. 81, पद—216

3 मी. पदा., पृ. 112, पद—76।

4 मी. बृ. पदा., पृ. 122, पद—253

अन्य-मनस्क स्थिति, बावरी स्त्री की अवस्था व क्रियाओं के साम्य द्वारा विंवित की गई है—

> विरहन बावरी सी भई।
> ऊंची चढ़ चढ़ अपने भवन में टेरत हाय दई।
> ले अंचरा मुख असुवन पूंछत, उघरे गात सही।[1]

यहां भी विंब-विधान का प्रमुख उपादान सामान्य क्रिया-सूचक शब्द ही हैं। विरहातिशयता से विरहिणी की क्रियाएं उन्मत्त व्यक्ति की भांति विवेकहीन हो गई है, वह अपने शरीर और वस्त्रों के प्रति असावधान हो चुकी है, इसी कारण शरीर के अनावृत हो जाने की भी उसे सुधि नहीं है—इसी केन्द्रीय भाव को व्यक्त करने वाला उक्त विंब स्थूल-क्रिया-परक होने के कारण कुछ-कुछ विवृत हो गया है।

ऐसे ही अनेकों आश्रयगत क्रिया-सम्बन्धी बिम्ब मीरां के विविध पदों में उपलब्ध होते हैं, जिनकी विंबात्मकता सामान्यतः उत्कृष्ट कोटि की व कुछ पदों में मध्यम कोटि की है। अपने संक्षिप्त-आकार में भी ये विंब भाव-प्रवणता व चित्रात्मक इन्द्रिय-संवेद्यता के कारण मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली पर प्रभाव डालने में सक्षम व सफल हैं। एक उदाहरण और देखिये—

> पिया थे कहां गया नेहड़ो लगाय।
> विरह समंद में छोड़ गया छो, नेह री नाव चलाय।[2]
> तण मण जीवण प्रीतम वार्‌या, थारे रूप लुभावां।
> खाण पाण म्हाणे फीका सो लागां नैण रहां मुरझावां।[3]

प्रथम उद्धरण में वाक्यगत मिश्र, संश्लिष्ट बिम्ब है। इस बिम्ब का सृजन कल्पना के आधार पर किया गया है। मीरां अपने आपको विरह समुद्र में नेह की नाव पर सवार यात्री के रूप में चित्रित कर रही है जो तैरना नहीं जानती है और समुद्र की उत्ताल तरंगें जिसे आत्मसात् करने के लिये दौड़ी चली आ रही हैं। नौकासीन-यात्री इन उत्ताल तरंगों से भयभीत हो अपने प्रच्छन्न नाविक से प्रकट होने और सागर से पार कर दिये जाने की प्रार्थना कर रहा है। यह इन्द्रिय बोध की दृष्टि से चाक्षुप विंब है और वर्ण्य विषय की दृष्टि से चेतन मनुष्य की क्रिया और भावों को प्रकट करता है। काव्यार्थ किसी एक विशिष्ट शब्द में न होकर रूपक के माध्यम से ध्वनित हो रहा है।

दूसरे उद्धरण में कवयित्री ने विरह-व्यथिता प्रेमिका का बिम्ब उपस्थित किया है जो प्रिय-रूप-लुब्धा होकर अपना सर्वस्व प्रिय पर अर्पण कर चुकी है। प्रेम-व्याधि के फलस्वरूप भोजन स्वादहीन लग रहा है और उसके नयन-कमल मुरझा गये हैं। वह निरन्तर प्रियतम की बाट जोहती रहती है। इन्द्रिय बोध की दृष्टि से चाक्षुप विंब के साथ द्वितीय पंक्ति के पूर्वार्ध में आस्वाद्य विंब का संयोग

---

1 मी. वृ. पदा., पृ. 280, पद—562
2 मी. पदा., पृ. 119, पद—64।
3 वही पृ. 120, पद—69

परिलक्षित होता है। अन्तिम पंक्ति के उत्तरार्ध में मीरां ने क्रिया-विपर्यय द्वारा नेत्रों की खिन्नता व उदासीनता को चित्राभिव्यक्ति प्रदान की है। सर्जक तत्त्व के आधार पर द्वितीय उद्धरण में लक्षित बिम्ब है और प्रथम उद्धरण में उपलक्षित बिंब है। संरचना के आधार पर द्वितीय उद्धरण में समाकलित बिंब है। काव्यार्थ की दृष्टि से यह संश्लिष्ट बिम्ब है तथा काव्य दृष्टि या वर्ण्य विषय की दृष्टि से चेतन मानव की प्रेम-अवस्था को सूचित करता है।

भाव-सम्बन्धी बिम्ब—

मीरां भावप्रवण कवयित्री थीं ही, जब उनके पदों में भावों का प्राचुर्य सर्वत्र परिलक्षित होता है, तब उनके बिम्ब भी भावात्मकता से अप्रभावित कैसे रहते ? पूर्व-विवेचित इन्द्रिय-संवेद्य रूपात्मक-बिम्बों में भी भावोद्बोधकता का गुण स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन बिम्बों के अतिरिक्त अनेकानेक ऐसे बिम्ब भी हैं जो केवल प्रतीति अथवा अनुभूति के ही विषय हैं। इन बिम्बों में विरहावस्था का द्योतन करने वाले अनेकों बिम्ब हैं जो अपनी सूक्ष्मता, प्रभावतीव्रता, मार्मिकता व हृदयग्राहिता के कारण सहृदय-भावक वर्ग को भावात्मकता की चरम सीमा तक ले जाने में समर्थ व सक्षम हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

> रमैया बिन नींद न आवै।
> नींद न आवै बिरह सतावै, प्रेम की आंच ढुलावै।
> बिन पिया जोत मंदिर अंधियारो, दीपक दाय न आवै।
> पिया बिना मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बितावै।[1]

प्रिय के अभाव में विरहिणी की उपर्युक्त मनोदशा अनुभूति का ही विषय है। इस दशा को अनुभव-गम्य बनाने के लिये मीरां ने 'अलूनी' विशेषण चुना है, जो स्वयं स्वाद-इन्द्रियानुभूति-संवेद्य है। जिस प्रकार सब प्रकार के मसालों से युक्त होने पर भी 'लवण' के अभाव में व्यञ्जन फीका लगता है उसी प्रकार प्रिय के अभाव में सर्व सुख और सुखोत्पादक वस्तुएं फीकी लगती हैं। उक्त बिम्ब में इसी केन्द्रिय अनुभूति को अभिव्यक्त किया गया है। ऐसे ही एक अन्य पद में हरि के बिना अपने जीवन को निरर्थक मानते हुए कवयित्री कह उठती हैं कि,

> हरि बिण क्यूं जीवां री माय।
> स्याम बिना बौरां भयां, मण काठ ज्यूं घुण खाय।
> मूल ओखद ना लाग्यां, म्हाणे प्रेम पीड़ा खाय।
> मीण जल बिछुड़्या णा जीवां तलफ मर मर जाय।[2]

यहां कवयित्री ने उपलक्षित बिम्बों के सहयोग से अपनी आन्तरिक व्यथा की अभिव्यक्ति की है। प्रिय के अभाव के कारण उत्पन्न हार्दिक शून्यावस्था को उन्होंने घुन लगी हुई लकड़ी के माध्यम से चित्रित किया है और अपनी आन्तरिक व्यथा अर्थात् तड़पन को व्यक्त करने के लिये छटपटाती हुई मछली का प्रतीकात्मक उपलक्षित बिम्ब प्रस्तुत किया है। हृदयगत खोखलेपन व प्रेम पीड़ा की तीव्रता

---

1 मी. पदा., पृ. 121, पद—74
2 मी. पदा., पृ. 127, पद—90

तथा मार्मिकता को व्यञ्जित करने में उपर्युक्त दोनों पूर्वापर स्वतंत्र विम्ब सफल हैं। इसी प्रकार निम्नोद्धृत पद में कवयित्री ने अपनी अन्तर्वेदना की वहिर्व्यञ्जना के लिये तीन प्रेम-प्रतीकों का संश्लिष्ट संयोजन किया है

> अंग खीण व्याकुल भयां मुख पिव-पिव वाणी हो।
> अन्तर वेदन विरह की म्हारी पीर णा जाणी हो।
> ज्यूं चातक घण कूं रटै मछरी ज्यूं पाणी हो।
> मीरां व्याकुल विरहिणी, सुध बुध विसराणी हो।[1]

प्रिय के विरह में उत्पन्न कृशता, व्याकुलता तथा आतुरता आदि भावों को सहृदय-संवेद्य बनाने के लिये कवयित्री ने चातक की निरन्तर प्रिय-रटन, तथा मीन की मर्मान्तिक व्याकुलता के परम्परागत प्रेम-प्रतीकों का सहयोग लिया है। यहां विरहिणी की विरह-अवस्था मुख्य-विम्ब है और मीन व चातक के प्रेम-प्रसंग गौण-विम्ब। इन संश्लिष्ट उपलक्षित विम्बों के द्वारा मीरां विरहाकुल अवस्था की अनुभूति भावक-वर्ग को कराने में सफल रही हैं। प्रभाव की दृष्टि से यहां उच्च-कोटि का भावात्मक विम्ब है। तृतीय पंक्ति में निहित उपलक्षित गौण-विम्ब मानस-संवेद्य होने के साथ ही चक्षु-इन्द्रिय-संवेद्य भी हैं।

ऐसे ही एक अन्य पद में विरह-ताप और निरन्तर अश्रुपात, अनिद्रा तथा, भोजन-पान के प्रति अनिच्छा आदि भावों की संवेदनात्मक अनुभूतियों की व्यंजना की गई है, तथा इनसे त्राण पाने के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है—

> विशा लगां तण जारां जीवण, तपता विरह बुझाज्यां जी।
> रोवत रोवत डोलतां सब रैण विहावां जी।
> भूख गयां निदरा गया पापी जीव णा जावां जी।
> दुखिया णा सुखिया करो म्हाणे दरसण दीज्यां जी।
> मीरां व्याकुल विरहणी, अब विलम न कीज्यां जी।[2]

विरह-व्यथा की अग्नि द्वारा तन-मन-जीवन जलाया जाना एवं प्रिय के मिलने पर इस ताप का समाप्त हो जाना अनुभूति का ही विषय है और इसे हृदय द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है। इन्द्रियों द्वारा इन अनुभूतियों को संवेद्य कर पाना असम्भव है। विरह-अवस्था संसार के सभी सुखों और ऐश्वर्यों के प्रति विराग उत्पन्न कर देती है। इस अवस्था की भी हृदय द्वारा प्रतीति ही संभव है। भाव विह्वलता उक्त विम्ब की प्रधान विशेपता है। विरहिणी की करुण-अवस्था को अभि-व्यंजित करने में उक्त विम्ब सफल है।

एक अन्य पद में यह भाव विम्बित किया गया है कि विरहातिशयता से विरहिणी विक्षिप्त सी हो गई है, वह अपनी अनिर्वचनीय व्यथा को अकेले झेलते झेलते अपना सर्वस्व खो बैठी है, फिर भी प्रिय के आगमन की आशा से निरन्तर उसका मार्ग देखती रहती है। शायद उसका प्रिय उसकी विकल अवस्था पर तरस खा कर आ जाए और वियोगिनी संयोगिनी बन जाय—

---

1 मी. पदा., पृ. 126, पद—87।
2 मी. पदा., पृ. 129, पद—96।

घड़ी चैण णा आवड़ां, थे दरसण विण मोय ।
धाम ण भावां नींद ण आवां, विरह सतावां मोय ।
घायल री ज्यूं घूमा फिरां म्हारो दरद ण जाण्या कोय ।
प्राण गुमायां झुरतां रै नैण गुमायां रोय ।
पंथ निहारां डगर मझारा, ऊभी मारग जोय ।
मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगा, थे मिल्यां सुख होय ।[1]

उक्त पद में दो बिम्ब उभरते हैं, एक विरहिणी की विक्षिप्तावस्था का और दूसरा उनके निरन्तर प्रिय की बाट जोहते रहने का। प्रथम तीन पंक्तियां पहले बिम्ब को व्यञ्जित करती हैं और तदनन्तर दो पंक्तियां दूसरे बिम्ब को प्रस्तुत करती हैं। अन्तिम पंक्ति विरहिणी की मिलन-अभिलाषा को व्यञ्जित करती है। इन बिम्बों में चित्रात्मकता की हल्की सी झलक है; परन्तु भावमयता व भावोद्-बोधकता का स्वर स्पष्टतः मुखरित हो रहा है। विरहिणी की बहिर्वस्था की दृश्य-अभिव्यक्ति व अन्तर्दशा की मार्मिक व्यञ्जना से उक्त बिम्ब की संवेदनीयता संवर्धित हुई है।

ऐसे ही अनेकों भाव-व्यञ्जक-बिम्ब मीरां के काव्य में उपलब्ध होते हैं, जो मार्मिकता व संवेदनीयता की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हैं। इनमें से कतिपय केवल अनुभूति के ही विषय हैं और कुछ इन्द्रियों द्वारा संवेद्य भी हैं।

प्रकृति-जगत् व मानवेतर प्राणि-जगत् से गृहीत बिम्बों का प्रयोग मीरां ने भावों की पृष्ठभूमि और उद्दीपन-विभाव के रूप में किया है। इन बिम्बों की विशेषता यह है कि इनमें दृश्यात्मकता के साथ-साथ भावात्मकता का सन्निवेश भी हुआ है।

**(4) भाव-समन्वित-प्रकृति-बिम्ब--**

इस शीर्षक के अन्तर्गत वे ही बिम्ब आये हैं जो प्रकृति-जगत् का दृश्य-विधान करते हुए कवयित्री के किन्हीं 'स्वानुभूत भावों' की बिम्बात्मक अनुभूति सहृदय पाठक को कराने में समर्थ हैं।

प्रकृति-जगत् के अन्तर्गत कवयित्री वर्षाकालीन प्राकृतिक वातावरण को उभारने में सफल रही हैं। वर्षाकालीन वातावरण को उन्होंने उमड़ते-घुमड़ते बादलों, कड़कती बिजली और गरजते हुए मेघों तथा दादुर, मोर, पपीहा, कोकिल आदि के कूजन के साथ ही धाराधार बरसती घनघोर घटाओं के सम्मिलित संयोजन द्वारा अभिचित्रित किया है। यह प्रकृति कभी उनके साथ हँस उठी है तो कभी रो पड़ी है, कभी मन की उमंग के साथ उमगने लगी है तो कभी विरह-विकल हो सिसकने लगी है।

निम्न पद में कवयित्री ने, अपने प्रियतम के आगमन की भनक सुन कर उमंगित और उल्लासित होती हुई नायिका के अनुरूप ही प्रकृति को भी आह्लादक रूप में चित्रित किया है—

बरसै रे बदरिया सावन की,
सावन की मन भावन की ॥टेक॥

1 मी. पदा., पृ. 130, पद—102 ।

सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।
उमड़ घुमड़ चहुं दिस से आयो, दामण दमक भर लावण की।
नन्हीं नन्हीं बूंदन मेहा वरसे, सीतल पवन सुहावन की।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, आनन्द मंगल गावन की।[1]

इस पद में टेक के अनन्तर दूसरी और तीसरी पंक्तियां वर्षाकालीन वातावरण का दृश्यात्मक प्रतिविम्वन करती हैं तथा अन्य पंक्तियां कवयित्री की हार्दिक प्रसन्नता व रञ्जकता को अभिव्यञ्जित करती हैं। यहां प्रमुख विम्व नायिका की हार्दिक उत्फुल्लता का है, वर्षा गौण रूप से इसी उत्फुल्लता की व्यञ्जना को तीव्रता प्रदान करती है। अतः संश्लिष्ट उपलक्षित विम्व की सुन्दर नियोजना इन पंक्तियों में देखी जा सकती है।

ऐसे ही एक अन्य उपलक्षित विम्व में कवयित्री वर्षा को इन्द्र और पृथ्वी के मिलन का रूपक प्रदान करती हुई अपने मन की मिलन-कामना को अभिव्यंजित करने में सफल रही हैं—

उमग्यो इन्द्र चहूँ दिस वरसै, दामिण छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलण के काज।[2]

कल्पना के सक्रिय-सहयोग द्वारा निर्मित उपर्युक्त उपलक्षित विम्व में रूपक अलंकार के माध्यम से मन की दवी हुई आकांक्षाओं को मीरां ने स्पष्टतः व्यंजित कर दिया है। मीरां की मनोकामनाएं ही मानो पृथ्वी के रूप में नित नूतन शृंगार कर इन्द्र रूपी प्रियतम से मिलने को निकल पड़ी हैं। उक्त पद में विम्वात्मकता सशक्त व उत्कृष्ट कोटि की है।

पावस ऋतु जन्य-हरीतिमा का विम्व उपस्थित करते हुए निम्न पद में कवयित्री राधे रानी के व्याज से स्वयं के चिर-हरित नवल-नेह को व्यंजित कर रही हैं—

हरी हरी भूमि, हर्‌या ही पंछी, हरी हरी अंवुआ की डार।
हर्‌या हर्‌या वाग में हर्‌यो डुपटा, हर्‌या राधे रानी रो नेह।[3]

प्रकृति की सर्वव्याप्त हरियाली को चित्रित करने के लिए कवयित्री ने 'हरा' शब्द की कई आवृत्तियां की हैं। हरियाली मन की आह्लादकारी रंजकता को उक्त विम्व द्वारा अभिव्यंजित कर रही है। यहां सामान्यतः लक्षित प्रकृति का लक्षित विम्व उभारा है। साथ ही मन की प्रेम-व्यंजना की हल्की सी झलक भी अंतिम पंक्ति के उत्तरार्ध में दीख रही है।

एक अन्य पद में कवयित्री ने 'रंगीला' शब्द की आवृत्ति द्वारा रंगमय वातावरण की सृष्टि की है। प्रियतम की उपस्थिति पावस के रंगीले वातावरण में अनोखी मनभावन-दीप्ति प्रदान कर रही है—

---

1 मीरा-माधुरी, पृ. 64, पद—172।
2 मीरां-माधुरी, पृ. 64, पद—170।
3 लोक-निधि पत्रिका : मीरां विशेषांक, (सम्पादक-कृष्णचन्द्र शास्त्री पृ. 68, पद—माधुरी, पद सं. 74।

> सांवरिया म्हारा आज रंगीली गणगौर छै जी ।
> काली-पीली बदली में बिजली चमकै, मेघ-घटा घनघोर छै जी ।
> दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल कर रही सोर छै जी ।
> आप रंगीला सेज रंगीली और रंगीलो सारो साथ छै जी ।[1]

यहां बीच की दो पंक्तियां वर्षा का बिम्ब उपस्थित कर रही हैं और पहली तथा अंतिम पंक्ति कवयित्री की प्रेमातुर अवस्था की रंगमय व्यंजना कर रही है। सारे वातावरण को रंगमय चित्रित कर कवयित्री अपनी मिलन-आकांक्षा को व्यक्त करना चाह रही है, जिसमें वह एक सीमा तक सफल भी रही है।

थोड़े शब्दों में ही मन के भावों की संयत अभिव्यक्ति करने में मीरां अद्वितीय हैं; उनकी वाणी कहीं भी मर्यादा का आंचल नहीं छोड़ती है, यह उनके काव्य की मुख्य विशिष्टता है। निम्न पद में मीरां ने प्रातःकालीन वातावरण का सुन्दर बिम्ब उपस्थित किया है, यहां भी उनके काव्य की समाहार शक्ति की झलक स्पष्टतः परिलक्षित है—

> भोर भई चिड़िया चहचाई कागा बोले कारे ।
> कामिनियों ने चीर संभाले, घर घर खुले किवारे ।
> सारी गउवें निकल गई जमुना, लेकर संग लवारे ।
> घर घर ग्वालिन दही विलोवैं, कर कंगन झनकारे ।[2]

उपर्युक्त बिम्ब में कवयित्री ने प्राकृतिक-जगत्, मानवीय जगत् व मानवेतर प्राणि-जगत् के अनेकों सूक्ष्म क्रिया-व्यापारों को खण्ड-खण्ड रूप में बिम्बित किया है। इन सब के संयुक्त आकलन से प्रातःकाल का समाकलित बिम्ब उपस्थित करने में कवयित्री सफल रही हैं। प्रथम पंक्ति में 'भ' और 'च' वर्णों की आवृत्ति में अनुप्रास तथा द्वितीय पंक्ति में 'घर-घर' में पुनरुक्ति-प्रकाश अलंकार है। 'चह चई' शब्द ध्वन्यर्थ व्यंजक है अतः 'चिड़िया चहचई' प्रयोग में ध्वनि-बिम्ब है। इसी प्रकार 'झनकारे' शब्द भी कंकण के निरन्तर हिलने से उत्पन्न मधुर रव को व्यंजित करता है। अतः उक्त बिम्ब ग्राम्य-परिवेश का प्रातःकालीन दृश्यात्मक बिम्ब उपस्थित करने के साथ ही ध्वन्यर्थ व्यञ्जक शब्दों के प्रयोग के कारण नाद-बिम्ब भी उपस्थित करता है। द्वितीय-पंक्ति दाम्पत्य-व्यापारों की संयत व्यञ्जना करने में सक्षम है। प्रभाव की दृष्टि से बिम्ब सशक्त होते हुए भी मध्यम कोटि का है।

मीरां ने अपनी मनःस्थिति के अनुकूल ही प्रकृति का बिम्बन किया है, यह पहले कहा जा चुका है। प्रिय के साहचर्य के क्षणों में प्रकृति का जो रूप उन्हें उन्मादक और आह्लादक लगता था वही प्रिय की अनुपस्थिति में विरहोत्तेजक और भयावह लगने लगा। जो घटाएं संयोगावस्था में उमड़-घुमड़ कर हृदय में नई उमंग उत्पन्न करती थीं, वे ही अब वियोगावस्था में गरज-गरज कर विरहिणी का घेराव करने लगी हैं—कवयित्री के हृदय की इन्हीं भावनाओं को व्यक्त करने वाले बिम्ब यहां प्रस्तुत हैं—

1 मी. बृ. पदा., पृ. 273, पद—549 ।
2 मी. बृ. पदा., पृ. 159, पद—336 ।

(1) नन्द नन्दन विलमाई, वादरा ने घेरी माई।
इत घन गरजै उत घन गरजै, चमकत विज्जु सवाई।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिस से आए, पवन चले पुरवाई।[1]

(2) इन्द्र के नगाड़े वाजे वादर की फौज आई।[2]

पहले विम्व में विरहिणी स्वयं को वादलों द्वारा घेरी हुई अनुभव कर रही है। ये घन भी गरज-गरज कर उसे डरा रहे हैं तथा विजली दूने वेग से चमक कर विरहिणी के भय को तीव्र कर रही है। दूसरे विम्व में मेघ-गर्जन को इन्द्र के नगाड़े के रूप में प्रस्तुत किया गया है और वादलों के घिरने को फौज का रूप प्रदान किया गया है। दोनों ही उद्धरणों में मेघ-मालाओं का मानवीकरण किया गया है; पहला बिम्ब जहां यथातथ्य दृश्यात्मक-प्रस्तुत-योजना द्वारा निर्मित है वहां दूसरे बिम्ब में कल्पना के सहयोग से अप्रस्तुत को रूपकातिशयोक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। पहला विम्व संश्लिष्ट व समग्र है तथा दूसरा स्वतन्त्र व खण्ड है। दोनों ही विम्वों में कल्पना की सक्रियता दर्शनीय है। भावानुकूल शब्द योजना ने विम्व के सौन्दर्य में अभिवृद्धि की है तथा उसे सशक्त प्रभावी बनाया है।

एक अन्य विम्व में मीरां ने प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में चित्रण करते हुए निरन्तर-प्रतीक्षारत विरहविधुरा एकाकिनी नारी को उसकी सम्पूर्ण विवशता व असहाय अवस्था के साथ सजीव रूप में विम्वित किया है—

वादल देखा झरी स्याम मैं, वादल देखा झरी।
काला पीला घटा उमड्या, वरसां चार घरी।
जित जोयां तित पाणी पाणी, प्यासा भूम हरी।
म्हारो पिया परदेसां वसतां, भीज्यां वार खरी।[3]

इस पद में दूसरी पंक्ति घनघोर भयानक घटाओं के घिरने और भीषण रूप से वरसने का विम्व उपस्थित करती है, तीसरी पंक्ति जलप्लावित धरती के तृप्त रूप को साकार दृश्य-रूप में अभिव्यक्त करती है। इन दोनों पंक्तियों में प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में विम्वित हुई है। पहली पंक्ति में निहित विम्व, प्रियतम की अनुहार वाले श्याम मेघों का घिरना देखकर प्रिय के स्मरण से दुःखित हो अश्रु पात करती हुई नायिका के विम्व को साकार करता है तथा अन्तिम पंक्ति में निहित विम्व प्रिय के आगमन की राह देखती हुई वर्षा में एकाकी भीगती हुई नायिका के विम्व को उसकी सम्पूर्ण कातरता तथा करुणा के साथ अभिव्यञ्जित करता है। विंव-विधान की दृष्टि से अन्तिम दो पंक्तियां अधिक प्रभावशाली व महत्त्वपूर्ण हैं, जो विरहविकला प्रेयसी के विंव को सजीवता, चित्रात्मकता, भावोद्वोधकता तथा संवेदनीयता प्रदान करती है।

**विम्व-विधान का अभिव्यजना-शैली पर प्रभाव—**

विम्व-विधान के प्रयोग से कवयित्री ने अपने काव्य के वर्ण्य-विषय अर्थात्

1 मी. वृ. पदा., पृ. 118, पद—245।
2 मीरां-माधुरी, पृ. 26, पद—67।
3 मी. पदा., वृ. 124, पद—82

प्रस्तुत को जीवन्तता प्रदान करते हुए सहज चित्रात्मकता से युक्त कर दिया है। इनमें उनकी भावानुभूतियां इन्द्रिय-संवेदन से युक्त होकर, सहृदय के अन्तःस्तल में (कवि की) मानस-छवियों को उद्बुद्ध करने में सफल हुई हैं। मीरां के सम्पूर्ण काव्य पर उनके व्यक्तित्व का सम्यक् प्रभाव दृष्टिगत होता है। वस्तुतः मीरां की मानसिक भाव-धाराओं और भावावस्ताओं ने उनके काव्य के कलात्मक सौन्दर्य को पूर्णतः प्रस्फुटित होने का अवकाश नहीं दिया। संभवतः भावों के प्रवल उद्रेक ने कलापक्ष की अवहेलना-सी कर दी है, परन्तु यह मानना भी असंगत होगा कि मीरां को काव्य-कला का ज्ञान ही नहीं था, कहीं-कहीं तो उन्होंने प्रकृति एवं मानवीय उल्लास के बड़े ही कलात्मक चित्र खींचे हैं। इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर उनके नैसर्गिक प्रातिभज्ञान के भी सहज-दर्शन हो जाते हैं। कवयित्री की काव्यकला स्नेह-निर्झरिणी सी स्वतः ही स्फुरित होकर निर्वाध गति से वहती चली गई है। उसकी स्वाभाविकता ने उसे नैसर्गिक सौन्दर्य प्रदान किया है और वह भक्तों की हृदय-स्थित वनश्री को अभिसिंचित करती हुई भक्ति के विशाल सागर में जा समाई है। उनके पदों ने मधुर-रस का दान कर तृपित हृदयों की पिपासा शान्त की है तथा व्यथित हृदयों को शीतलता व स्फूर्ति भी प्रदान की है। यह वात भिन्न है कि आगे चलकर उस निर्झरिणी के अन्तर में कंकड़-मिट्टी एवं सीप-घोंघे आदि समाहित हो गये हैं। अस्तु। इतना तो कहा जा सकता है कि मीरां ने अपनी भावानुभूतियों को भली प्रकार सम्प्रेपित करने के लिये निरायास ही इन विम्वों का विधान अपने काव्य में किया है जिससे उसमें चित्रात्मकता, ऐन्द्रियता, सजीवता, भावोद्‌वोधकता आदि गुणों की अभिवृद्धि हुई है।

निष्कर्ष—

मुक्तक-काव्य में प्रवन्ध-काव्य के सदृश विम्वों के वृहद् आयोजन का स्थान नहीं रहता और मुक्तक काव्य के अन्तर्गत गीति-शैली के सीमित आयाम में तो संक्षिप्तता का निर्वाह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी होता है। फिर मीरां ने गीतों की रचना की थी, रचना भी क्या थी, ये गीत तो उनके भावोच्छ्वास से स्वयं ही निर्मित हो गये थे। उनका वर्ण्य-विपय सीमित था, अतः विविधता के लिये उनके काव्य में कोई अवसर ही नहीं था। मीरां तो गिरधर को ही एक-मात्र पुरुष मानती थीं, इसलिये उनके काव्य में केवल गिरधर के रूप का ही चित्रण मिलता है। उस विरह-विदग्धा के पास इतना अवकाश ही कहां था कि वह आंखें खोल कर संसार की अपार सुन्दरता का अवलोकन करती। वास्तव में तो मीरां ने अपने नेत्र वाह्य संसार की ओर से मूंद कर अन्तर्जगत् में स्थित प्रिय में अटका लिये थे। उनकी इस तन्मयता ने ही उन्हें कहीं भटकने नहीं दिया और न ही कहीं उलझने दिया। गिरधर के अपार प्रेम का पाथेय लेकर वे अपने साध्य तक पहुँच गई थीं।

यद्यपि मीरां के काव्य में विम्ववादियों जैसे चमत्कारपूर्ण शब्द-चित्र और विविध इन्द्रियानुभूतियों का विपुल-वैभव नहीं है, तथापि उनके द्वारा आयोजित छोटे-छोटे विम्व, उनकी मानस-प्रतिमाओं और भावानुभूतियों को सहृदय के मानस में उत्कीर्ण करने और उन्हें सर्वसंवेद्य वनाने में सफल रहे हैं। अन्त में मीरां के

विम्व-विधान के पूर्वोक्त विवेचन एवं विश्लेपरण को संक्षिप्ततः और निष्कर्पतः निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

1 मीरां ने दीर्घाकारी समाकलित विम्वों की अपेक्षा लघुआकारी सरल बिम्बों का संयोजन अधिक किया है।

2 इन्द्रियानुभूति की दृष्टि से चक्षु-संवेद्य दृश्य-विम्वों का मीरां-पदावली में वाहुल्य है। कृष्ण के स्वरूप व क्रिया-व्यापारों का सजीव चित्रण, मीरां के रूप-विवों की प्रमुख विशेपता है।

3 चाहे रूप-विम्व हों या क्रिया-विम्व अथवा दृश्य-विम्व, भावमयता का संपुटन सभी में प्रमुख रूप से हुआ है। वैसे मीरां के भाव-व्यञ्जक विम्व उत्कृष्ट कोटि के वन पड़े हैं।

4 भावों को पूर्णरूपेण सहृदय-संवेद्य वनाने के लिये यत्र-तत्र काव्य-अलङ्कारों का भी प्रयोग परिलक्षित होता है।

5 प्रकृति को उद्दीपन-रूप में तथा भावों की पृष्ठभूमि के रूप में विम्वित किया गया है। वर्पा ऋतु के विम्व कहीं-कहीं बड़े ही करुणोत्पादक रूप में उत्कीर्ण हुए हैं, तो कहीं-कहीं उल्लास व आनन्द के अक्षय-स्रोत के रूप में अभिचित्रित हुए हैं।

6 होली से सम्वन्धित विम्वों में मीरां की चित्र विधायनी प्रतिमा के सहज दर्शन होते हैं। ये रंगमय विम्व अपनी संक्षिप्त विवृतात्मकता में भी अद्भुत प्रभावोत्पादन तथा भावोद्वेलन करने में सफल रहे हैं, किन्तु ऐसे स्थल वहुत थोड़े से हैं।

7 अभिव्यञ्जनागत प्रभाव की दृष्टि से मीरां के काव्य-विम्व औसतन मध्यम कोटि के हैं।

8 सामान्यतः इन विम्वों में विस्तार व वैविध्य का अभाव है। भाव तत्त्व की प्रधानता व आराध्य के प्रति एकनिष्ठता के कारण उनके विम्वों के कलात्मक रूप को मुखरित होने का अवसर नहीं मिल पाया फिर भी छोटे-छोटे विम्वों के निरायास-संयोजन ने उनके काव्य-सौन्दर्य को वर्द्धित किया है।

9 वस्तुतः ये विम्व मीरां की भक्ति-भावना की अन्तःप्रेरणा से स्वतःस्फूर्त हैं, वे किसी जागरूक काव्य-शिल्पी के सायास रूपायन का प्रतिफल नहीं हैं, फिर भी वे (काव्य-विम्व) अपनी सहज कला के द्वारा भी मीरां के काव्य के अभिव्यञ्जना-शैली-गत सौन्दर्य की उपेक्षा करने वालों की आँखे खोलने वाले हैं।

□

## षष्ठ अध्याय

# छन्द-योजना

भावानुभूति की प्रबल वेगवती धारा को नियन्त्रित करने और अनपढ़ अभिव्यक्तियों को सुघड़ आकार प्रदान करने में छन्दों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। छन्द अभिव्यक्ति को संयत और नियन्त्रित ही नहीं करते; अपितु उसे परिष्कृत और सुसंस्कृत भी बनाते हैं। कवि के कवित्व को अपने सुदृढ़ कवच से आच्छादित कर उसे स्थायित्व और सुदीर्घ जीवन प्रदान करने का सर्वाधिक श्रेय छन्दों को है। छन्द एक ऐसा आकर्षक और अभेद्य कवच है जो कवि की मूल वाणी के कोमल कलेवर को युगयुगान्त तक यथावत् सुरक्षित, जीवन्त और रसपूर्ण रखता है।

छन्द : व्युत्पत्ति—

छन्द शब्द की व्युत्पत्ति स्वयं इस तथ्य की पुष्टि करती है कि उसका जन्म काव्य को अमरता प्रदान करने के लिये हुआ था। आचार्य पाणिनि ने छन्द शब्द की उत्पत्ति 'छदि' धातु से मानी है[1]—'छदि आह्लादने दीप्तौ च' के अनुसार जो हर्ष एवं दीप्ति प्रदान करता है वह छन्द है। 'छन्द' शब्द की एक अन्य व्याख्या 'छदि संवरणे' से होती है जिसका अर्थ है आच्छादन करना। यास्क ने निरुक्त में यही अर्थ स्वीकार किया है।[2] छन्द के आच्छादन अर्थ से सम्बद्ध एक रूपक छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है जिसके अनुसार देवताओं ने मृत्यु भय से बचने के लिए अपने को मन्त्रों से आच्छादित कर लिया था, इसी कारण उनका नाम छन्द पड़ गया है। इस रूपक के वैज्ञानिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने लिखा है—

'दिव्य एवं सत् तत्त्व (देव-सम्बन्धी) असत् (अमंगलकारी, आसुरी) परिस्थितियों में भी अपना प्रकाश प्रदान करते हैं, यदि उन्हें छन्द के द्वारा साहित्यिक रूप दिया गया हो।'[3] दूसरे शब्दों में उक्त रूपक का मूल आशय यही कहा जा सकता है कि सामान्य उक्ति की अपेक्षा छन्द-बद्ध उक्ति को समाज अधिक समय तक ग्रहण किये रहता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि छन्द के आश्रय में देवताओं की अमरता निश्चित हो गई।

छन्द की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों में से प्रथम व्युत्पत्ति छन्द की आत्मा से सम्बन्धित है और द्वितीय व्युत्पत्ति उसके रूप को स्पष्ट करती है। ये दोनों व्युत्पत्तियां—आह्लादक और आच्छादक मिलकर छन्द के पूर्ण और जीवन्त स्वरूप को स्पष्ट करती हैं।

---

1 पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण।

2 'मन्त्रं मननात् छन्दांसि छादनात्'—यास्ककृत निरुक्त, दैवत काण्ड, 7।12

3 डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ. 10।

छन्द : उद्देश्य और तत्त्व—

अपने आच्छादक गुण के कारण छन्द का प्रमुख उद्देश्य कवि की वाणी को अमरत्व प्रदान करना है। गद्य की अपेक्षा छन्द-बद्ध पद्य अधिक काल तक समाज में प्रचलित रहते हैं तथा रचयिता के भावों को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखने का कार्य करते हैं। चूंकि निर्मित छन्द अपरिवर्तनशील रहता है, अतः उसकी भाषा, लय, अन्त्यानुप्रास और यति आदि काल की तीक्ष्ण धारा से अधिकांशतः अप्रभावित रहते हैं। लयात्मकता व संगीतात्मकता छन्द के वे प्रधान तत्त्व हैं जो उसके स्वरूप को स्थायित्व प्रदान करते हैं।

संगीत की भांति छन्द का भी प्राणतत्त्व लय है। हृदय के ओजमय भाव सर्वप्रथम लयच्छन्द के रूप में अभिव्यञ्जित हुए होंगे। यही लयच्छन्द कालान्तर में परिष्कृत और परिमार्जित होकर साहित्यिक छन्द के रूप में विकसित हुआ होगा। इस प्रकार लयच्छन्द के दो विभाग हो गये—एक साहित्यिक और दूसरा लौकिक। यों तो छन्द का आदि प्रयोग वेदों में उपलब्ध होता है; परन्तु उसके स्वरूप की व्यवस्थित परम्परा पिंगलाचार्य कृत छन्दःसूत्र से मानी जाती है। पिंगलाचार्य ने सर्वप्रथम छन्दों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। वे छन्द-वर्ग क्रमशः वैदिक और लौकिक वर्ग हैं। छन्दों का उक्त विभाजन शास्त्रीय होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। इस छन्द-विभाजन का मुख्य आधार छन्दगत विशेषता न होकर वह साहित्य है जिसमें वर्ग-विशेष के छन्दों का प्रयोग हुआ है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त छन्द वैदिक और वेदेतर लौकिक साहित्य में प्रयुक्त छन्द लौकिक माने जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि में भी इनमें वर्ण-संख्या और पाद-व्यवस्था का अन्तर होता है। आचार्य पिंगल ने छन्द को 'अक्षर संख्या का परिमाण' माना है।[1] वह परिभाषा अक्षर-प्रधान वैदिक छन्दों के विश्लेषण के लिए बहुत समीचीन है; परन्तु वेदेतर छन्दों के लिए यह परिभाषा निरर्थक हो जाती है।

आदि कवि वाल्मीकि ने श्लोक के लक्षण के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, वे छन्द के लक्षण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं—

पादबद्धोक्षर समस्तन्त्रीलयसमन्वित।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवति नान्यथा।

इस परिभाषा का पहला भाग 'पादबद्धोक्षर' अनुष्टुप् के अतिरिक्त कुछ छन्दों और समस्त वृत्तों पर लागू होता है, परन्तु दूसरा भाग या लक्षण 'तन्त्रीलयसमन्वितम्' इतना विस्तृत, व्यापक और वैज्ञानिक है कि संसार की सभी भाषाओं के सार्वकालिक निखिल छन्दों पर लागू हो सकता है। वस्तुतः लय ही प्रत्येक छन्द का प्राण है। तन्त्री स्वर और लय प्रधान होती है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक-साहित्यिक व लौकिक-छन्द आ जाता है। इसके साथ ही यह परिभाषा भावपूर्ण छन्दों के महत्त्व को भी प्रतिपादित करती है।

आचार्य भरत ने भी छन्द और संगीत के परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्वीकार किया है। उन्होंने छन्द को नियत अक्षरों से युक्त, छन्दोयति से समन्वित

और ताल के अवरोह से युक्त पद कहा है।[1]

आदिकवि वाल्मीकि और आचार्य भरत की उक्त परिभाषाएं छन्द की भावसंवलित सम्पूर्ण संगीतात्मकता को द्योतित करते हुए उसमें ताल और अक्षर आदि के संतुलित निबन्धन की महत्ता को स्वीकार करती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी छन्द को 'आवेग का वाहन' तथा एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान् साधन' माना है।[2] उन्होंने अर्थमयी भाषा और संगीत के मिलने से छन्द की सृष्टि की धारणा को सुस्पष्ट किया है तथा सामाजिक धर्म के प्रस्फुटित मंगल को छन्द का प्रधान व्यापार माना है।

आधुनिक छन्दशास्त्री श्री जगन्नाथप्रसाद भानु ने परम्परागत छन्दों की जो परिभाषा दी है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। उनसे अनुसार,

मत्त वरण यति नियम, अन्तहिं समता बन्द।
जा पद रचना में मिले भानु भनत सोई छन्द।

मात्राओं एव वर्णों की रचना, गति तथा यति (विराम) का नियम और चरणान्त में समता अर्थात् अन्त्यानुप्रास जिस कविता में मिलें, उसे छन्द कहते हैं।[3]

छन्द : मूल प्रकार—

छन्द की उपर्युक्त प्राचीन परिभाषाओं के आधार पर छन्द के मुख्यतः दो प्रकार माने जा सकते हैं—

1 परम्परागत शास्त्रीय छन्द
2 संगीतप्रधान भावच्छन्द।

परम्परागत शास्त्रीय छन्द से तात्पर्य उस छन्द-बद्ध रचना से है जो वर्णों और मात्राओं की नियत संख्या से युक्त हो तथा जिसमें यति-गति आदि के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन किया गया हो। संगतप्रधान भावच्छन्द से हमारा आशय उस कविता से है जो भाव-अर्थ-प्रधान और संगीत-सम्मत हो, जिसे तन्त्री की लय पर ताल-सहित गाया जा सके तथा जिसकी यतियां संगीत की ताल और लय के आधार पर निर्धारित की जा सकें।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत समस्त मात्रिक और वर्णिक छन्द समाविष्ट किये जा सकते हैं और द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत समस्त संगीतप्रधान पद-रचनाएं समाहित हो जाती हैं। किसी भी कवि की छन्द-योजना का विवेचन साधारणतः इन्हीं आधारों पर किया जाता है।

मीरां चूंकि एक भावप्रवण कवयित्री होने के साथ ही गिरधर के प्रेम-संगीत की अमर गायिका भी हैं, अतः उनके काव्य में हमें उभय प्रकार की छन्दयोजना उपलब्ध होती है। मीरां का वर्ण्यविषय अत्यधिक सीमित होने के कारण उनके छन्द-प्रयोगों में भी विविधता न होकर सीमितता है। उन्होंने केवल उन्हीं परम्परागत

---

1 नियताक्षर सम्बन्धे छन्दोयतिसमन्वितम्।
निबद्धन्तु पदं ज्ञेयं सतालपतनात्मकम्।
—नाट्यशास्त्र, द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ; 29 कारिका।

2 साहित्य का मर्म—(लेख-ज्ञानशिखा-पत्रिका, अक्टूबर-1950), पृ. 41-46।

3 छन्द प्रभाकर-(नवम संस्करण) पृ. 1।

छंदों का प्रयोग किया है जो उनकी भावाभिव्यक्ति के अनुरूप और रसानुभूति के अनुकूल थे। काव्य और संगीत मीरां की आत्माभिव्यक्ति के परस्पर सम्बद्ध माध्यम थे, अतः संगीत उनके काव्य से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। यही कारण है कि परम्परागत छन्दों का और संगीत प्रधान भावच्छंदों का परस्पर सम्मिश्रण कर मीरां ने एक अद्भुत छंद-शैली की संसृष्टि की, जो पदशैली के नाम से सुविख्यात हुई।

वस्तुतः पदशैली का आरम्भ मीरां ने नहीं किया। उन्होंने तो परम्परा से चले आ रहे छंदक गीतों, ध्रुवक गीतों तथा लोकगीतों का सम्मिश्रण कर इस शैली को नूतन कलेवर प्रदान किया था। छंदक गीतों का उल्लेख करते हुए आचार्य भरत ने इसके स्वरूप को दो भागों में विभक्त किया हैं—एक छंदक और दूसरा सम्पद। इसके प्रयोग के विषय में उन्होंने जो लिखा उसका आशय यही था कि छंदक ही समस्त गीत के भाव का केन्द्र और लय का प्राण होता है। छंदक सम्पद की अपेक्षा अधिक लचीला और संगीत-प्रधान होता है। सम्पद के चरण प्रायः निश्चित छंदों में बंधकर चलते हैं। प्रयोग में वाद्य यंत्रों के योग से गीत के छन्दक की लय-मैत्री पूर्णतः सम्पद चरणों के साथ स्थापित की जाती है ........ छंदक और सम्पदों की लय-मैत्री के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि दोनों के छंद भिन्न-भिन्न होते हैं। (आचार्य भरत, नाट्यशास्त्र)।

आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट छंदक गीतों के बारे में संस्कृत-साहित्य में कुछ नहीं कहा गया है। इनका प्रयोग हमें सर्वप्रथम जयदेव के गीतों में मिलता है। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में ऐसे अनेक पद हैं, जिनमें छंदक और सम्पद के छंदों की भिन्नता होते हुए भी परस्पर लयमैत्री है। जयदेव से पूर्व गीतों की उक्त परम्परा के उपलब्ध न होने का एक कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि संस्कृत में वर्णिक वृत्तों की प्रधानता रही है और इस गीत-शैली में मात्रिक छंदों का प्रयोग विशेष सौन्दर्य-वर्द्धक होता है। अवश्य ही मात्रिक संगीत के विकास ने छंदक और सम्पद छंद-शैली को विकसित और प्रवर्द्धित किया है।

मात्रिक छन्द और वर्णिक वृत—

मात्रिक छन्दों का विकास संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा हिन्दी-साहित्य में अधिक हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि वर्णिक वृत्तों की प्रकृति संस्कृत भाषा की गरिमा के अनुकूल है और मात्रिक छन्दों की प्रकृति हिन्दी-भाषा की सुषमा के अनुकूल है। इन दोनों छन्दों की प्रकृतिगत विशेषताओं की तुलना करते हुए कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है—

संस्कृत का संगीत समास सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृंखलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमें दीर्घ श्वास की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड़, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा नहीं रह सकता, एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुंह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता है, एक कोना पकड़ कर हिला देने से सारा चरण जंजीर की तरह हिलने लगता है। शब्दों की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रितता ही के कारण संस्कृत में वर्णवृत्तों का प्रादुर्भाव

हुआ, उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि संस्कृत के छन्दों में अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसके लिये स्थान ही नहीं मिलता।..........संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है।...............हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पदक्षेप के लिये वर्णवृत्त पुराने फैशन के चांदी के कड़ों की तरह भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती है, उसके पदों में स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नहीं रहती।[1] ऊपर उद्धृत पंतजी का संस्कृत और हिन्दी छंद-प्रकृति के अन्तर का विवेचन तात्त्विक और कवि-अनुभव-प्रसूत तथा युक्तियुक्त है।

**(4) छन्द और रस—**

छंदों का भावानुरूप होने के साथ ही रसानुकूल होना भी आवश्यक होता है। छंद, काव्य में अभीष्ट रस की उत्पत्ति करने में सहायक होते हैं। भिन्न-भिन्न छंदों की गति भिन्न-भिन्न होती है, अतः एक ही छंद समस्त रसों की सृष्टि करने में समर्थ नहीं होता। डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल ने रसानुकूल छंदों का विवेचन विस्तार-पूर्वक किया है, तथा एक ही रस की उत्पत्ति करने वाले कई छंदों का उल्लेख किया है। यथा—

**शृंगार रस**—के अन्तर्गत इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूल विक्रीडित, वंशस्थ, मत्तगयंद, दुर्मिल, मदिरा, घनाक्षरी आदि वर्णिक छंदों और आर्या, गीति, उद्गीति, विष्णुपद, सरसी, सार, मरहठा, माधवी, ताटंक, मानव, वीर, दोहा, चौपाई, रोला, राधिका, हरिगीतिका, पीयूषवर्षी, प्लवंगम, अरिल्ल, शृंगार, पद्धरि, पादाकुलक, योग, आकलि, लीला, चौपाई, त्रिलोकी, सखी, वीर, विधाता, रूपमाला, मधुमालती, सरस्वती, कामिनी और दिग्पाल आदि मात्रिक छंदों का प्रयोग सामान्यतः होता है।

**करुण रस**—के अन्तर्गत मन्दक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, वंशस्थ, मालिनी, शार्दूल विक्रीडित, हरिणी, शालिनी, रथोद्धता, आदि वर्णिक छंदों और वैतालीय, आर्या, पुष्पिताग्रा, मानव, ताटंक, हाकलि, पीयूषवर्षी, हरिगीतिका, रूपमाला, सखी, प्लवंगम, रोला, चौपाई, विष्णुपद, सार, पादाकुलक, त्रिलोकी, सुमेरु, उर्मिला, विधाता, सरसी, शृंगार, चौपाई, मधुमालती, सवैया आदि मात्रिक छंदों का प्रयोग विशेष प्रभावकारी होता है।

**भक्ति रस**—मध्ययुग में सर्वाधिक प्रचलित इस रस को नवीन काव्यशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने रस की श्रेणी प्रदान कर दी है। इस रस की प्रकृति के अनु-कूल निम्नांकित छंदों का उल्लेख किया गया है—शिखरिणी, अनुष्टुप्, वसन्ततिलका, तोटक, शार्दूलविक्रीड़ित, स्रग्धरा, भुजंगप्रयात, इन्द्रवज्रा, पंचचामर आदि वर्णिक छंद और चौपाई, दोहा, पद, भजन (विष्णुपद, सार, सरसी, और रूपमाला पर आधृत) नाराच, रोला, त्रिभंगी, दूर्मिल, चौपई, अरिल्ल, ताटंक, दंडक, झूलना,

---

1 श्री सुमित्रानन्दन पंत-पल्लव-प्रवेश (सप्तम संस्करण) पृ. 34-35।

हरिगीतिका, पद्धरि, शृंगार आदि मात्रिक छंद ।[1]

**शान्त रस**—इस रस के लिये मन्दाक्रान्ता, द्रुत विलम्वित, शिखरिणी, वंशस्थ, दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला, चौपदा, रूपमाला, कुंडली, सखी, शवद (पद) हरिगीतिका, मोहिनी, त्रिभंगी, भूलना, सरसी, चतुष्पदी, सरस्वती, शक्तिपूजा, योग, गोपी, मानव आदि छन्द अनुकूल पड़ते हैं।

**प्रकृति-चित्रण, रूप-चित्रण और छन्द**—इसके लिये द्रुतविलम्वित, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, रोला, त्रिलोकी, ताटंक, पादाकुलक, चतुष्पद, पीयूपवर्षी, राधिका, सार, रूपमाला, सरसी, शृंगार, चौपाई, शृंगार हार, रोला, मानव, चतुष्पदक आदि अधिक उपयुक्त माने जाते हैं।[2]

डॉ. शुक्ल ने उपर्युक्त विवेचन में संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा के वर्णिक वृत्तों और मात्रिक छन्दों का रसानुकूल वर्गीकरण किया है। यों तो हिन्दी में भी वर्णिक वृत्तों को भावाभिव्यक्ति का माध्यम वनाया गया है, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है वर्णिक वृत्त संस्कृत भाषा की प्रकृति के अधिक अनुकूल पड़ते हैं। डा. शुक्ल के उक्त वर्गीकरण में कुछ ऐसे मात्रिक छन्द भी हैं जो प्रायः सभी रसों के लिये प्रयुक्त हुए हैं जैसे—सार, सरसी, विष्णुपद, ताटंक, रूपमाला, हरिगीतिका, दिग्पाल, पादाकुलक, मानव, पद, दोहा, चौपाई, रोला, (घनाक्षरी), सवैया आदि।

'छंद प्रभाकर' व 'काव्य-प्रभाकर' के रचयिता श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने चौपाई, दोहा, सोरठा, छप्पय, सवैया और कवित्त छन्द को सभी रसों के अनुकूल माना है।[3] ये सभी छन्द परम्परागत शास्त्रीय छंद हैं। इनका प्रयोग शास्त्रीय नियमानुकूल होना आवश्यक है।

भक्तिकाल में उपरिलिखितानुसार सरसी आदि सभी छन्द प्रचलित थे। कविगण अपनी रुचि तथा विपय की प्रकृति व रस की अनुकूलता के आधार पर इनका चयन करते थे। मीरां ने भी इन परम्परागत छन्दों में से अनेक को अपनी काव्याभिव्यक्ति के लिये चुना था। इन परम्परागत छन्दों को कुछ परिवर्तन के के साथ मीरां ने भी स्वीकार किया था, वह परिवर्तन था उसका संगीत प्रधान भावछन्द से अपूर्व घालमेल।

उन्होंने उन्हीं परम्परागत छन्दों को अपनाया जो उनकी संगीत सम्मत आराधना के अनुकूल वैठ सके। हम मीरां की छंदयोजना का विवेचन दोनों दृष्टियों से करेंगे। पहले उनके परम्परागत छन्द-प्रयोगों का विश्लेपण करेंगे तत्पश्चात् उनके पदों को भावच्छन्दों की दृष्टि से देखेंगे।

मीरां के काव्य में परम्परागत छन्द-प्रयोग—

मीरां ने अपने कोमल और सहज भावों की अभिव्यक्ति के लिये सामान्यतः 21 से लेकर 30 मात्राओं तक के छंदों का ही विशेप प्रयोग किया है। उनके पद दो भागों में वांटे जा सकते हैं—1— टेक या छंदक

2—शेपपद या सम्पद

---

1 डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल—आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना, पृ. 47

2 डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल—आधुनिक हिन्दी साहित्य में छन्द-योजना, पृ. 47।

3 'काव्य-प्रभाकर—(सम्पादक—पं. सुधाकर पाण्डेय), पृ. 619।

(ख) टेक—

टेक सम्पद की अपेक्षा कम मात्राओं की होती है। कभी-कभी टेक और सम्पद के छंद भिन्न-भिन्न होते हैं और कभी-कभी सम्पद में प्रयुक्त छंद का ही अंश टेक में प्रयुक्त होता है। मीरां के पदों में दोनों प्रणालियां उपलब्ध होती हैं।

(1) सम्पद के छन्द से भिन्न छन्द की टेकें—

मीरां ने चौदह मात्राओं से लेकर पैंतीस मात्राओं तक की विविध टेकों का विधान किया है। इन टेकों में प्रयुक्त प्रमुख छंद—सखी, उज्ज्वला-मात्रिका, गोपी, कज्जल, अरिल्ल, पादाकुलक, चौपाई, सिंह, चन्द्र, वन्दन, दिंडी, तमाल, शास्त्र, हंसगति, कुंडल, सुजान, सम्पदा आदि हैं।

**चौदह मात्राओं की टेक—**

'हरि बिन कूण गति मेरी'[1]—इस 14 मात्राओं की टेक में 'मानव' जाति के सखी छंद का प्रयोग किया गया है। सखी छंद में अन्त में मगण (SSS) या यगण (ISS) का होना आवश्यक है। उक्त टेक में अन्त में मगण है। शेष पद में 25-26 मात्राओं का छंद है।

'बन्दे बन्दगी मत भूल'[2]—14 मात्राओं की यह टेक मानव जाति के कज्जल छंद की है जिसमें अंत में गुरु लघु (SI) होना चाहिये। इस टेक में उक्त नियम का पालन हुआ है। शेष पद में 27 मात्राओं का छन्द है।

(2) पन्द्रह मात्राओं की टेक—

'सांवरी सूरत मण रे बसी'[3]—यह टेक तैथिक जाति के अन्तर्गत उज्ज्वला मात्रिक छंद की है। इसमें अंत में रगण (SIS) होता है। उक्त छंद में भी अन्त में 'रगण' है। सम्पद में मात्राओं की विभिन्नता है।

'सखी री लाज बैरन भई'[4]—तैथिक जाति के गोपी छंद में आदि में त्रिकल और अन्त में गुरु होता है। इस टेक में भी आदि में त्रिकल तथा अन्त में गुरु है। सम्पद में 25 और 24 मात्राओं का छंद प्रयुक्त हुआ है।

(3) सोलह मात्राओं की टेक—

'भज मन चरण कंवल अवणासी'[5] —सोलह मात्राओं की यह टेक संस्कारी जाति के अरिल्ल छन्द (अंत में दो लघु या यगण हो तथा जगण न हो) की है। इसमें अन्त में यगण है। शेष पद में 28, 29 मात्राओं का छंद है।

'म्हारो गोकुल रो ब्रजवासी'[6] —उक्त टेक संस्कारी जाति के पादाकुलक छंद की है। पादाकुलक में चार चौकल अनिवार्य होते हैं। इस टेक में भी चार चौकल हैं। शेष पद 28 मात्राओं का है।

---

मीरां-पदावली-क्रम संख्या—(पद संख्या)

1. (63), 2. (198), 3. (88), 4. (182), 5. (195), 9. (6)।

'गिरधर रीसाणा कौन गुणा'[1]—इस टेक में संस्कारी जाति के सिंह छंद (आदि में दो लघु और अन्त में सगण) के लक्षण मिलते हैं। शेष पद की प्रथम पंक्ति में 24 तथा अन्य पंक्तियों में 30 मात्राओं के छंद का विधान है।

'म्हां मोहण रो रूप लुभाणी'[2]—सोलह मात्राओं की यह टेक चौपाई छंद की है। चौपाई में अन्त में गुरु लघु का निषेध है। उक्त टेक में भी अंत में गुरु लघु नहीं है। शेष पद में 32 से अधिक विषम मात्राएं प्रयुक्त हुई हैं।

**(4) सतरह मात्राओं की टेक—**

'हरि म्हांरा जीवण प्राण अधार'[3]—सतरह मात्राओं की इस टेक में महासंस्कारी जाति के चन्द्र-छन्द का विधान हुआ है। चन्द्र छन्द में 10 और 7 मात्राओं पर यति होती है, अंत में लघु गुरु का कोई विशेष नियम नहीं है। इस पद के सम्पद में मात्राओं का क्रम अनियमित है।

**(5) अठारह मात्राओं की टेक—**

जोगिया से प्रीत कियां दुख होइ[4]—पौराणिक जाति के बंधन छंद की इस टेक में 18 मात्राएं हैं तथा छंद के आवश्यक नियमों (अंत में गुरु लघु) का भी पालन हुआ है। सम्पद की मात्राएं विषम हैं।

**(6) उन्नीस मात्राओं की टेक—**

'होली पिया विन लागा री खारी'[5] —महापौराणिक जाति के दिंडी छंद (9-10 पर यति तथा अन्त में SS) में यह टेक निर्मित है। शेष पद में 28 मात्राओं का छंद है जिसमें 10-12 मात्राओं की एक टेक पंक्ति डालकर नवीन छंद-रचना की गई है।

'म्हारे डेरे आज्यों जी महाराज'[6] —उन्नीस मात्राओं की यह टेक तमाल छंद की है। तमाल छंद की विशेषता (अंत में गुरु लघु) इस टेक में विद्यमान है। शेष पद में 27 मात्राओं का छंद है।

**7) बीस मात्राओं की टेक—**

'माई री म्हां लियां गोविन्दा मोल'[7]—बीस मात्राओं की इस टेक में महादैशिक जाति के शास्त्र छंद (अन्त में गुरु लघु) का परिपालन हुआ है। शेष पद में 27 मात्राओं के छंद का विधान है।

'ऐसी लगन लगाइ, कहां तू जासी'[8] —इस टेक में 11-9 मात्राओं पर यति तथा 20 मात्राएं हैं, जो हंस गति छंद का लक्षण है। सम्पद में 28 मात्राओं के सार छंद का निर्वाह है।

**(8) बाईस मात्राओं की टेक—**

आली म्हाणे लागां वृन्दावण नीकां[9] —बाईस मात्राओं की यह टेक महारौद्र

---

मी. पदा., क्रम सं—(पद संख्या)

1. (60), 2. (11), 3. (4), 4. (53), 5. (77), 6. (151), 7. (22), 8. (49) 9. (160)।

जाति के कुण्डल छंद की है जिसमें 12-10 पर यति तथा अंत में दो गुरु के नियम का पालन हुआ है। शेष पद में 28 मात्राएं हैं।

**(9) तेईस मात्राओं की टेक—**

सखी म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर[1]—रौद्राक जाति के सुजान छंद में (14-9 पर यति अन्त में गुरु लघु) का प्रयोग होता है। इस टेक में यति 14-9 पर न होकर 13-10 पर है। वैसे श्री जगन्नाथप्रसाद भानु ने एक दो मात्राओं की घट-बढ़ को प्राचीन कविता में दोष नहीं माना है।[2] शेष पद में 26 और 24 मात्राओं का छंद है।

'कमल दल लोचणा थें नाथ्या काल भुजंग'[3]—23 मात्राओं की यह टेक संपदा छंद की है। सम्पदा छंद में 11-12 पर यति तथा अन्त में गुरु लघु होते हैं; परन्तु इस टेक में 12-11 पर यति है, अन्त में गुरु लघु का निर्वाह है। शेष पद में 26 मात्राओं का छंद प्रयुक्त हुआ है।

**2—सम्पद में प्रयुक्त छन्द की टेकें—**

उपरि विवेचित्त टेकें सम्पद के छंद से भिन्न छंद की थीं; परन्तु बहुत सी ऐसी टेकें भी हैं जिनमें सम्पद में प्रयुक्त छन्द का अर्द्धांश प्रयुक्त हुआ है, जैसे—यदि सम्पद में 16-12 की यति वाले सार छंद का प्रयोग किया गया है तो छंदक या टेक में 16 मात्राएं प्रयुक्त हुई हैं, जो उक्त छंद में प्रयुक्त मात्राओं का पूर्वार्द्ध हैं। इसमें सम्पद के छंद से तुक मिलाने के लिये अन्त में दो गुरु के नियम का भी पालन किया गया है, जिससे टेक और शेष पद की लयमैत्री बनी रहती है। (वैसे अन्त्यानुप्रासिकता के लिये टेक व सम्पद का अंत सर्वत्र एकसा ही रखा गया है)। यहां सम्पद में प्रयुक्त छंद की टेकों के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

**चौदह मात्राओं की टेक और चौबीस मात्राओं का सम्पद—**

हरि थें हर्या जण री भीर[4]—इस पद में 24 मात्राओं के अवतारी जाति के रूपमाला छन्द का प्रयोग है। पद की टेक 14 मात्राओं की है और अंत में गुरुलघु का निर्वाह है। टेक में निहित यह मात्राक्रम रूपमाला छंद का ही पूर्वार्द्ध है। डॉ. प्रभात ने इस पद को सुगीत छंद में बद्ध माना है।[5] परन्तु यहां सुगीत नहीं रूपमाला छंद है। सुगीत छंद में 15-10 की यति अंत में ऽ। और 25 मात्राएं होती हैं, परन्तु उक्त पद में 14-10 की यति पर 24 मात्राएं होती हैं। अतः उक्त पद में सुगीत छंद न होकर रूपमाला छंद है।

'मण थे परस हरि रे चरण'[6] —इस टेक से प्रारम्भ होने वाला पद 24 मात्राओं

---

1 मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या) (164)

2 श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु—छंद प्रभाकर, (नवम आवृत्ति), पृ. 61

मी. पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)

3 (168), 4. (61)।

डॉ. प्रभात-मीरांबाई-पृ. 431

6 (मी. पदा., पद सं. 1)।

के अवतारी जाति का है। इसमें 14-10 पर यति का निर्वाह हुआ है। 14-10 पर यति और अंत में SI होने पर रूपमाला छन्द माना जा सकता था, परन्तु इसमें अंत में गुरु लघु का पालन न होकर नगण (।।।) का प्रयोग है, अतः इसे अवतारी जाति का अनामछन्दीय पद कहा जा सकता है। सम्पद से लयमैत्री बनाए रखने के लिये टेक में 14 मात्राएं तथा अंत में नगण का विधान किया गया है।

**पन्द्रह मात्राओं की टेक और पच्चीस मात्राओं का सम्पद—**

'असा प्रभु जाण न दीजै हो,'[1]—इस पद में 25 मात्राओं का मुक्तामणि छंद है। मुक्तामणि छंद में 13-12 की यति तथा अंत में दो गुरु का होना आवश्यक है। इस नियम का पालन पूरे पद में हुआ है। सम्पद से लयमैत्री स्थापित करने के हेतु टेक में 15 मात्राओं और अंत हैं दो गुरु के नियम का पालन किया गया है।

**सोलह मात्राओं की टेक और छब्बीस मात्राओं का सम्पद—**

बरजी म्हां स्याम बिणा न रह्यां[2]—छब्बीस मात्राओं के इस पद में विष्णुपद छंद का विधान किया गया है। इस छंद में 16-10 पर यति और अंत में गुरु होना आवश्यक है। यति और अंत का निर्वाह पूरे पद में मिलता है, टेक भी 16 मात्राओं की है तथा अंत में गुरु का विधान भी हुआ है। अतः टेक में सम्पद के पूर्वार्द्ध का सफल निर्वाह किया गया है।

**सोलह मात्राओं की टेक और सत्ताइस मात्राओं का सम्पद—**

'मुरलिया बाजां जमणा तीर'[3] —इस पद में 16-11 में यति तथा अंत में गुरु-लघु क्रम से सत्ताइस मात्राओं के सरसी छन्द का सफल विधान हुआ है। उस पद की टेक उक्त छंद के पूर्वार्द्ध की मात्रा के अनुपात में रखी गई है। अंत में गुरु लघु के विधान से लयात्मकता की सृष्टि हुई है।

**सोलह मात्राओं की टेक और अट्ठाइस मात्राओं का सम्पद—**

'भाई सांवरे रंग राची'[4]—इस पद में अट्ठाइस मात्राओं के सार छंद का नियमानुसार (16-12 पर यति अन्त में दो गुरु) पालन किया गया है। पद की टेक में उक्त छन्द के पूर्वार्द्ध की मात्राओं का तथा अन्त में दो गुरु के नियम का यथावत् पालन हुआ है।

**सोलह मात्राओं की टेक और तीस मात्राओं का सम्पद—**

'पग बांध घूघरया णाच्यां री'[5] —इस पद में 30 मात्राओं का सम्पद और 16 मात्राओ की टेक है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी ने उक्त पद में सदोष सार छन्द माना है क्योंकि 'री' के प्रयोग से दो मात्राएं बढ़ गई हैं। परन्तु उक्त पद में सदोष सार छन्द का नहीं अपितु निर्दोष ताटंक छन्द का निर्वाह हुआ है। ताटंक छन्द में 16-14 की यति तथा अन्त में मगण (SSS) का होना आवश्यक है, इस नियम का परिपालन

---

(मी. पदा., पद सं.—
1. (16), 2. (29) 3. (166), 4. (19), 5. (36)।

उक्त पद में हुआ है। टेक भी उक्त छन्द के पूर्वार्द्ध की है तथा अन्त भी (ऽऽऽ) ताटंक छंद से मिलता है।

**अठारह मात्राओं की टेक और अट्ठाइस मात्राओं का सम्पद—**

'बादला रे थे जल भर्या आज्यो'[1]—उक्त पद के सम्पद में सर्वत्र सार छन्द का निर्वाह हुआ है किन्तु टेक में 16 के स्थान पर 18 मात्राओं का प्रयोग है परन्तु अन्तिम दो गुरु उक्त टेक में भी व्यवहृत हुए हैं। वैसे यदि केवल टेक का विवेचन किया जाय तो उक्त पद की टेक में 9-9 यति पर 18 मात्राएं होने से पौराणिक जाति के राजीव छंद का प्रयोग माना जा सकता है। किन्तु अन्त में दो गुरु का निर्वाह इस सार छंद की लय के निकट ले जाता है।

**3—सम्पद की मात्राओं से अधिक मात्रा की टेकें—**

उपर्युक्त टेकों के अतिरिक्त मीरां के कतिपय पदों में दो पंक्तियों की टेकों का भी विधान मिलता है। किसी किसी पद में टेक के पूर्वार्द्ध को ही उत्तरार्द्ध में दोहरा देने से मात्राएं बढ़ जाती हैं और टेक का स्वरूप निश्चित मात्राओं के छंद की सीमा पार कर अनिश्चित व अपरम्परागत हो जाता है। वस्तुतः इस प्रकार की, सम्पद से अधिक मात्राओं वाली टेकों की, संरचना में छन्द की अपेक्षा संगीत का महत्त्व अधिक होता है। सम्पूर्ण पद की केन्द्रीय भाव-व्यञ्जक पंक्ति होने के कारण टेक के स्वरूप में मात्राओं का यह परिवर्तन किया जाता है। मीरां ने भी इस प्रकार की टेकों का कई पदों में विधान किया है। यहां उदाहरणार्थ कुछेक अधिक मात्राओं की एवं द्विपंक्तीय टेक दी जा रही है—

**बत्तीस मात्राओं की टेक और अट्ठाइस मात्राओं का सम्पद—**

वारी वारी हो राम हूं वारी तुम आज्यो गली हमारी'[2]—उक्त पद की टेक में—'वारी' शब्द की तीन वार आवृत्ति हुई है। इस कारण सम्पद में जहां 28 मात्राओं के छन्द का विधान है वहां टेक में 32 मात्राएं हो गई हैं; परन्तु टेक का अन्त सम्पद के अन्त (दो गुरु) से मिलता है, अतः लयमैत्री बनी रहती है। इसी कारण संगीतात्मकता को अभिवृद्ध करने वाला उक्त प्रयोग खटकता नहीं है, बल्कि पद की रंजकता को बढ़ाता है।

**चौंतीस मात्राओं की टेक और अट्ठाइस मात्राओं का सम्पद—**

'जोगी मत जा मत जा मत जा, पांइ परूं मैं तेरी चेरी हो'[3]—इस पद में सम्पद में 28 मात्राओं का सार छन्द प्रयुक्त हुआ है, परन्तु टेक में 34 मात्राएं प्रयुक्त हुई हैं। इस मात्रा-वृद्धि का कारण 'मत जा' शब्द की तीन बार पुनरावृत्ति है। छंद की दृष्टि से इसे भले ही दोष माना जाय परन्तु उक्त पुनरावृत्ति ही पद की जान है। सम्पूर्ण पद की समस्त करुणा, अनुनय और विवशता आदि इसी के द्वारा अभि-

---

मी. पदा., पद सं.—

1. (149), 2. (113), 3. (46)।

व्यञ्जित होती है। अतः गेयात्मकता की दृष्टि से उक्त मात्रा-वृद्धि औचित्यपूर्ण है तथा पद की प्रभावक्षमता की अभिवृद्धि करने में समर्थ है।

**छत्तीस मात्राओं की टेक और छब्बीस मात्राओं का सम्पद—**

थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ,

में हाजिर नाजिर कब की खड़ी।'[1]—उक्त पद के सम्पद में 26 मात्राओं के विष्णुपद छन्द का प्रयोग किया गया है। पहली, दूसरी व तीसरी पंक्ति में क्रमशः 1, 2, 1 मात्राएं बढ़ी हैं और अन्तिम पंक्ति में 1 मात्रा घटी है; परन्तु अन्त लघु-गुरु का निर्वाह टेक सहित समस्त सम्पद में हुआ है। इस पद की टेक दो पंक्तियों में विभाजित है; परन्तु वस्तुतः यह एक ही पंक्ति का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध हैं। यद्यपि इस टेक में सम्पद की अपेक्षा 10 मात्राएं अधिक हैं, फिर भी संगीत की लय इस विषमता का निवारण करने में समर्थ है।

**अड़तीस मात्राओं की टेक और अट्ठाइस मात्राओं का सम्पद—**

'आवत मोरी गलियन में गिरधारी।

मैं तो छुप गई लाज की मारी।[2]—इस पद के सम्पद में भी सार छन्द का निर्वाह किया गया है, यद्यपि पूर्वार्द्ध में 16 मात्राओं के स्थान पर कहीं-कहीं मात्राएं बढ़ी और घटी भी हैं; परन्तु उत्तरार्द्ध में प्रायः 12 मात्राएं ही है तथा अन्त में दो गुरु का सर्वत्र विधान किया गया है। अतः पिंगलशास्त्र की दृष्टि से सदोष सार छंद का प्रयोग उक्त पद में किया गया हैं। परन्तु इसकी टेक दो पंक्तियों की हैं। पहली पंक्ति में 20 मात्राएं हैं तो दूसरी में 18 मात्राएं हैं, अतः पूरी टेक 28 मात्राओं की है। गीत गाते समय इसमें यह आभास नहीं होता कि टेक बड़ी है और इसे संगीत की तालों में निबद्ध करने में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती है। वस्तुतः छन्द की मात्राओं और ताल की मात्राओं की गणना में कुछ अन्तर होता है। छंद में जहां लघुस्वर एक मात्रा का और दीर्घ स्वर दो मात्राओं का गिना जाता है, वहां ताल में कभी कभी एकाधिक शब्द एक ही मात्रा के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिये जाते हैं और कभी कभी एक ही शब्द कई मात्राओं तक विस्तृत हो जाता है, यही कारण है कि परम्परागत छंद की दृष्टि से दोषपूर्ण माना जाने वाला पद संगीत की ताल में पूर्णतः सही बैठता है। जब काव्य केवल साहित्य की दृष्टि से ही लिखा जाता है तब छंद की मात्राओं की घट-बढ़ भले ही अक्षम्य मानी जा सकती है; परन्तु जब संगीत-प्रधान काव्य लिखा है तो यह मात्रावृद्धि या मात्रान्यूनत्व क्षम्य ही माना जाना चाहिये।

मीरां-पदावली में संकलित पदों की टेकों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां ने जहां परम्परागत मात्रिक छंदों में अपनी टेकों को निबद्ध किया है वहां संगीत की ताल-मात्राओं के अनुसार टेक की मात्राओं में

---

मी. पदा. पद सं.—

1 (118), 2. (171)

वृद्धि भी की है। मीरां चूंकि गीतिकार थीं अतः उन्होंने पदों में छंदों तथा संगीत दोनों की मात्राओं का सम्मिलित प्रयोग किया है। पद-शैली में टेक का महत्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण पद का सौन्दर्य और आकर्षण उसकी टेक पर ही निर्भर होता है। इसीलिये चलती भाषा में इसे गीत का 'मुखड़ा' भी कहा जाता है और शास्त्रीय संगीत के संदर्भ में टेक के लिये 'स्थाई' शब्द का प्रयोग होता है। वस्तुतः, छंदक, टेक, मुखड़ा और स्थाई पर्यायवाची शब्द हैं, जो पद-छंद की प्रथम पंक्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। यह पंक्ति ही पद के केन्द्रीय भाव को समेटे रहती है।

ग—सम्पद—

टेक के अतिरिक्त पद की शेष पंक्तियों को सम्पद कहते हैं। संगीत में इसे गीत का 'अंतरा' कहा जाता है। सामान्यतः सम्पद की रचना में एक ही छंद का प्रयोग किया जाता है परन्तु कभी-कभी विभिन्न मात्रिक छंदों के मिश्रण द्वारा भी सम्पद का कलेवर गढ़ा जाता है।

मीरां के सम्पदों में भी दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग मिलता है। उन्होंने कुछ पदों में तो परम्परागत छंदों का नियमानुसार यथोचित पालन किया है और कुछ पदों में छंदों के बन्धों को सुविधानुसार कुछ ढीला कर लिया है। इससे परम्परागत छंद में नियत मात्राओं की अपेक्षा एक दो मात्राएं घट-बढ़ गई हैं। परन्तु यह परिवर्तन पद में निहित भावों को सुस्पष्ट करने में सहायता रहा है और इससे पद की लयात्मकता में कोई बाधा नहीं पड़ती है, अतः इस मात्रा-वृद्धि को क्षम्य माना जा सकता है।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की यह मान्यता कि 'पिंगल की दृष्टि से नाप-जोख करने पर पदावली का कदाचित् कोई भी पद नियमानुसार बना हुआ प्रतीत नहीं होता'—अतिरंजित प्रतीत होती है। वस्तुतः पदावली में ऐसे अनेकों पद मिलते हैं जिनमें छंद की मात्राओं और यति के नियम का यथोचित पालन किया गया है। परन्तु इनके साथ कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं जिनकी एक या दो पंक्तियों में एक-एक या दो-दो मात्राएं बढ़ गयी हैं; परन्तु यह दोष मीरां का नहीं है। मुख-श्रुत परम्परा से चली आ रही उनकी पदावली में यह दोष परवर्ती लिपिकारों व सम्पादकों तथा गायकों द्वारा ही उत्पन्न किया गया प्रतीत होता है। अस्तु ! यहां हम पहले उन पदों को लेंगे जो पूर्णतः पिंगल-शास्त्र के नियमानुसार हैं। इसके पश्चात् उन छंदों का विवेचन करेंगे जिनमें मात्राएं घट-बढ़ गई हैं, जिससे उनके मिश्रित छंद होने का सन्देह होता है।

(अ) एक छन्दीय पद—

मीरां ने अपनी ऋजु अभिव्यक्तियों को लघुआकारी छंदों में निबद्ध किया है। अधिकांशतः इक्कीस मात्राओं से लेकर तीस और कहीं-कहीं बत्तीस मात्राओं तक के छंदों का ही विधान पदावली में मिलता है। मीरां-पदावली में मुख्यतः निम्न छंदों का प्रयोग किया गया है—

सार, सरसी, ताटंक, विष्णुपद, रूपमाला, मुक्तामणि, दोहा, उपमान और कुण्डल। इनके अतिरिक्त चान्द्रायण, सुखदा, सुजान, दिग्पाल, लावनी और समान सवैया का भी प्रयोग उन्होंने किया है। सामान्यतः मीरां ने मात्रिक छंदों का ही

प्रयोग किया है; परन्तु एक पद में वर्णिक छंद का भी प्रयोग मिलता है—वह वर्णिक छंद है, मनहर।

सार—

यौगिक जाति का यह छंद 28 मात्राओं का है जिसमें 16-12 पर यति होती है तथा अंत में कर्ण (SS) होता है। इसके अन्य नाम ललित पद और दोवै हैं।[1] मीरां-पदावली में इस छंद का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार मीरां पदावली के लगभग एक तिहाई पद इसी छंद में रचे गये हैं।[2] वस्तुतः यह छंद पदशैली के सर्वाधिक अनुकूल वैठता है, इसमें संगीत की त्रिताल-मात्राएं भी ठीक-ठीक लग जाती हैं तथा अंत में कर्ण होने के कारण इसका श्रुति-माधुर्य वढ़ जाता है। डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल के मतानुसार रस और छंदों का जो विवेचन पिछले पृष्ठों में दिया गया है, उसमें भी सार छंद को समस्त रसों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ माना गया है तथा भक्तिरस-पूर्ण भजनों का सर्वाधिक सौन्दर्य इसी छंद में खिलता है अतः इस छंद का मीरां द्वारा सर्वाधिक प्रयोग किया जाना उचित ही है।

उनके द्वारा प्रयुक्त इस छंद के समस्त पदों के उदाहरण देना न तो आवश्यक है और न ही उचित। अतः यहां कुछेक उदाहरण ही दिये जा रहे हैं। निम्नोक्त में से पहले उदाहरण की टेक में भी सार छंद के समान ही 28 मात्राएं रखी गई हैं और दूसरे उदाहरण में टेक सार छंद के पूर्वार्द्ध की मात्राओं की समानुपातिक है—

> सांवरियो रंग राचां राणा, सांवरियो रंग राचां।
> ताल पखावज मिरदंग वाजा, साधां आगे णाच्यां।[3]

तथा—

> अखयां तरशा दरसण प्यासी।
> मग जोवां दिण वीता सजणी, णेण पड़या दुखरासी।[4]

इन दोनों पदों में छंद की यति तथा मात्राओं का और अन्त में कर्ण के शास्त्रोक्त नियम का यथोचित पालन किया है। अतः आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी की पूर्वोक्त मान्यता कि 'नाप जोख करने पर शायद एक भी पद नियमानुकूल न वैठे' गलत सिद्ध होती है। इसके ही निम्नोक्त पदों में भी सार छंद के नियमों का पूर्णतया पालन किया गया है—

> थे विण म्हारे कोण खवर ले, गोवरधन गिरधारी।
> मोर मुकुट पीताम्वर शोभा, कुंडल री छव न्यारी।
> भरी सभा मा द्रुपद सुतां री राख्या लाज मुरारी।
> मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल वलिहारी।[5]

तथा—

> होरी खेलत है गिरधारी।
> मुरली चंग वजत डफ न्यारो, संग जुवति व्रजनारी।

---

1 श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', छंद : प्रभाकर (नवम संस्करण), पृ. 69
2 मीरांवाई की पदावली, पद—55
3 मी. पदा., पद—37
4 मी. पदा., पद—45
5 मी. पदा., पद—131

चन्दन केसर छिरकत मोहन, अपने हाथ विहारी।
भरि भरि मूठि गुलाल लाल चहुँ, देत सवन पै डारी।
+ + +
फागु जु खेलत रसिक सांवरो, वाढयो रस ब्रज भारी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, मोहन लाल विहारी।[1]

उपर्युक्त पदों में जहां सार छंद का शुद्ध प्रयोग किया गया है वहां यह भी दर्शनीय है कि मीरां ने विविध भावों व रसों की अभिव्यक्ति इस छंद में की है। यथा—पूर्वोक्त सार छन्द का पहला पद मीरां की आत्मदृढ़ता को व्यक्त करता है तो दूसरा उनकी चिरन्तन विरह-व्यथा को। तीसरे पद में शान्त रस का परिपाक है तो चौथा पद होली के उल्लास और शृंगार रस की आह्लादकता को व्यंजित करता है। इस प्रकार छन्द के शास्त्रीय नियमों में बंधी हुई उनकी अभिव्यक्ति सभी रसों को उद्बुद्ध कराने में समर्थ है। अतः रसानुकूल छन्द योजना की दृष्टि से मीरां ने सार छन्द का औचित्यपूर्ण सफल प्रयोग किया है।

मीरां पदावली में सार छन्द के अंत में कर्णा के स्थान पर कभी-कभी एक गुरु का भी विधान किया गया है। इसे दोष नहीं माना जा सकता। श्री जगन्नाथ-प्रसाद भानु ने सार छन्द के अन्त में एक गुरु या दो लघु के विधान को इसी छन्द का रूपान्तर माना है। कर्णा का प्रयोग मधुरता के लिये किया जाता है।[2] मीरां-पदावली के अधिकांश सार-छन्द बद्ध-पदों में कर्णा का ही विधान किया गया है; परन्तु कभी-कभी अंत में एक गुरु का विधान भी उपलब्ध होता है। यथा—

निपट बंकट छव अंटके।
म्हारे णेणा निपट बंकट छव अंटके।
देख्यां रूप मदन मोहन रो, पियत पियूखन मटके।
वारिज भवां अलग मतवारी, णेण रूप रस अंटके।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरां ने सारछन्द का विविध रूपों में रसानुकूल संयोजन किया है। इसे मीरां का सर्वप्रिय छन्द कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सरसी—

27 मात्राओं का यह छन्द नाक्षत्रिक जाति का है जिसमें 16-11 पर यति तथा अंत में गुरु लघु होता है। श्री जगन्नाथप्रसाद जी ने इसका अन्य नाम कबीर और सुमन्दर बताया है।[4] मीरां-पदावली में बहुत से पद इस छन्द में भी रचे गये हैं। सार छन्द की ही भांति इस छन्द का भी कतिपय पदों में नियमानुसार शुद्ध प्रयोग किया गया है। यह छन्द भी प्रायः सभी रसों की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त किया जाता है। मीरां ने भी इसका रसानुकूल प्रयोग किया है। यहां उदाहरणार्थ कुछ पद प्रस्तुत हैं जिनमें उक्त छन्द का यति और मात्रा की दृष्टि से निर्दोष प्रयोग मिलता है—

---

1 मी. पदा., पद—175।
2 छन्दःप्रभाकर, पृ. 69
3 मी. पदा., पद—10।
4 छन्दःप्रभाकर, पृ. 68

मुरलिया बाजां जमणा तीर ।
मुरली म्हारो मण हर लीन्हो, चित्त धरां णा धीर ।
+ + + +
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, वेग हर्‌या म्हा पीर ।[1]

तथा—

बन्दे बन्दगी मत भूल ।
चार दिना की करले खूबी, ज्यूं दाड़िम का फूल ।[2]

एवं—

तनक हरि चितवां म्हारी ओर ।
हम चितवां थे चितवो णा हरि, हिवड़ो बड़ो कठोर ।[3]
धूतारा जोगी एकरसूं हंसि बोल ।
जगत वदीत करी मनमोहन, कहा बजावत ढोल ।[4]

उययुंक्त चारों उद्धरणों में सरसी छन्द का रसानुकूल तथा नियमानुसार प्रयोग किया गया है । सरसी छन्द में मीरां ने उत्कट दर्शनाभिलाषा तथा आत्म समर्पण व निर्वेद भावनापरक भक्तिपूर्ण रचनाएं रची हैं । सार छन्द की भांति यह छन्द भी बहुल प्रयोग के कारण मीरां का प्रिय छंद माना जा सकता है ।

ताटंक—

30 मात्राओं के महातैथिक जाति के इस छन्द में 16-14 में यति होती है तथा अन्त में मगण (SSS) होना आवश्यक है ।[5] मीरां-पदावली में इस छन्द का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है । कुछ पदों में इसका नियमानुकूल प्रयोग भी हुआ है । उदाहरण प्रस्तुत है—

सजण सुध ज्यूं जाणे त्यूं लीजे हो ।
तुम विण मोरे अवर न कोई, क्रिपा रावरी कीजै हो ।[6]

लावनी—

इसी महातैथिक जाति के छन्द का एक भेद लावनी है जिसके अंत में मगण न होकर एक गुरु होता है । मीरां ने इस लावनी छन्द का भी परम्परागत प्रयोग किया है—

स्याम मिलण रो घणो उमावो, नित उठ जोऊं वाटड़िया ।
दरस विना मोहि कछु न सुहावै, जक ण पड़त है आंखड़ियां ।[7]

इस पद में 16-14 की यति पर 30 मात्राएं हैं और अन्त में एक गुरु है, जो उक्त लावनी छंद की विशेषता है । इस पद के संपद की प्रथम तथा षष्ठ पंक्ति के पूर्वार्द्ध में 1-1 मात्रा बढ़ी है । षष्ठ पंक्ति के 'लागी लगण' को यदि 'लगी लगन' पढ़ा जाय, जैसा कि 'मीरां वृहत्पदावली' में दिया गया है,[8] तो मात्रा-वृद्धि

---

1 मी. पदा., पद—166
2 मी. पदा., पद—198
3 मी. पदा., पद—5
4 मी. पदा., पद—58
5 छन्द प्रभाकर पृ. 72
6 मी. पदा., पद—107
7 मी. पदा., पद—108
8 मी. वृ. पदा., पद—538

दोष नहीं रह जाता है। शेष सम्पूर्ण पद में यति और अन्त (गुरु) के नियमों का पूर्णतः पालन किया गया है। इसके अतिरिक्त पद सं. 146 में लावनी छन्द का विधान किया गया है परन्तु सम्पद की पहली और तीसरी पंक्ति में क्रमशः दो तथा चार मात्राएं पूर्वार्द्ध में बढ़ गई हैं। तृतीय पंक्ति 'बीजां बूदां मेहां आया बरसां में 'आयां' शब्द निरर्थक है इसे हटा देने पर मात्राओं की गणना ठीक बैठती है।

ऐसे ही मीरां पदावली की पद संख्या 147 में ताटंक छंद का प्रयोग किया गया है; परन्तु द्वितीय और तृतीय पंक्ति के उत्तरार्द्ध में क्रमशः 1 और 2 मात्राएं बढ़ गई है।[1] यह मात्रा-वृद्धि अन्तिम मगण (SSS) मिलाने के लिये ही की गई है। आचार्य चतुर्वेदी जी ने इस में प्रयुक्त 'रे' को अनावश्यक माना है और इसे हटा कर उक्त पद में 28 मात्राओं के सार छंद का विधान स्वीकार किया है। परन्तु 'रे' शब्द का प्रयोग पद की संगीतात्मकता में अभिवृद्धि करता है, अतः इसे हटाना अनावश्यक है; 'रे' शब्द सहित इस पद में ताटंक छंद का विधान मानना ही उचित है। वर्षा ऋतु से सम्बन्धित मिलन और विरह की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इस छंद में अधिक प्रभावपूर्ण लगती है, मीरां ने भी अधिकांशतः पावस से सम्बन्धित विरहानुभूतियों को इस छंद में अभिव्यञ्जित किया है। अतः उक्त छंद का भी रसानुकूल संयोजन मीरां पदावली में उपलब्ध होता है।

विष्णुपद—

26 मात्राओं के, महाभागवत जाति के इस छंद में 16-10 पर यति होती है, तथा अन्त म गुरु होता है।[2] मीरां ने इस छंद का भी कई पदों में प्रयोग किया है। चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि मीरां द्वारा इस छंद के प्रयोग में काफी फेर-फार है।"[3] किन्तु निम्नोद्धृत पद में इस छंद का नियमानुसार शुद्ध रूप में प्रयोग किया गया है—

> बरजी म्हां स्याम विणा न रह्या।
> साधां संगत हरि सुख पास्यूं जग सूं दूर रह्यां।[4]

इस पद में यति और अन्त के नियम का पूर्णतः पालन किया गया है। इसके साथ ही मीरां-पदावली के 14 वें पद में सम्पद की प्रथम पंक्ति के उत्तरार्द्ध में दो मात्राओं की वृद्धि हुई है। शेष सभी पदों में 16-10 मात्रा पर यति तथा अन्त में गुरु का सर्वत्र निर्दोष निर्वाह हुआ है।

मुक्तामणि—

महाअवतारी जाति के इस छन्द में 13-12 की यति पर 25 मात्राएं होती है तथा अन्त में कर्णा का प्रयोग आवश्यक होता है।[5] मीरां-पदावली के कई

---

1 "सावण दे रह्यो जोरा रे घर आयो जी स्याम मोरारे।
उमड़ घुमड़ चहूं दिस से आया, गरजत है घनघोरा रे।"
2 छन्द:प्रभाकर, पृ. 66।
3 मी. पदा., पृष्ठ - 36
4 मी. पदा., पद—29
5 छंद : प्रभाकर, पृ. 65

पद इस छंद में रचे गये हैं। कई पदों में 1-2 मात्राएं बढ़ी हैं और कई पदों में इसका विशुद्ध प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ निम्न पद को लिया जा सकता है, जिसमें मुक्तामणि छंद का परम्परागत पालन किया गया है तथा मात्रा वृद्धि आदि दोषों से यह पद सर्वथा मुक्त है—

'असा प्रभु जाण न दीजै हो।
तन मन धन करि वारणै, हिरदे धरि लीजै हो।"[1]

इसके अतिरिक्त मीरां-पदावली के 28वें पद में भी मुक्तामणि छंद का प्रयोग हुआ है; परन्तु सम्पद की पहली पंक्ति में उत्तरार्द्ध में 1, तीसरी पंक्ति के उत्तरार्द्ध में 4, तथा चौथी पंक्ति के पूर्वार्द्ध में 1 मात्रा बढ़ गई है और अन्तिम दो पंक्तियों के उत्तरार्द्ध में 2-2 मात्राएं घट गई हैं। अन्त में कर्ण का निर्वाह सम्पूर्ण पद में हुआ है अतः पद की कर्णप्रियता और मधुरता बनी रहती है। वैसे संगीत की ताल-मात्राओं के योग से इन दोषों का परिहार हो जाता है। प्रथम उद्धरण में जहां मुक्तामणि छंद के नियमों का यथोचित परिपालन हुआ है वहां इस पद में मात्राओं की वृद्धि पद को छंदशास्त्र की दृष्टि से दोषपूर्ण बना देती है।

रूपमाला—

24 मात्राओं के अवतारी जाति के इस छंद में 14-10 पर यति तथा अन्त में गुरु लघु का विधान किया जाता है। शोभन छंद और रूपमाला छंद में यह अन्तर है कि शोभन में जहां अन्त में जगण (ISI) का प्रयोग आवश्यक होता है वहां रूपमाला में अन्त में SI का ही विधान किया जाता है।[2]

मीरां ने इन दोनों छन्दों का मिलाजुला प्रयोग किया है। उदाहरण प्रस्तुत है—

"हरि थे हर्‌या जण री पीर।
द्रोपता री लाज राख्या, थे बढ़ायां चीर।
भगत कारण रूप नरहरि, धर्‌या आप सरीर।
बूड़ता गजराज राख्यां, कट्यां कुञ्जर भीर।
दासि मीरां लाल गिरधर, हरां म्हारी भीर।[3]

इस पद में सम्पद की दूसरी और तीसरी पंक्ति में शोभन छन्द का प्रयोग परिलक्षित होता है और शेष पंक्तियों में रूपमाला छन्द का। डॉ० प्रभात ने इस पद में सुगीत छन्द का सदोष विधान माना है। उनके अनुसार—"इसमें सुगीत छन्द (15-10) की यति का निर्वाह चारों पंक्तियों में नहीं हो सका है तथा पहली और तीसरी पंक्तियों में छन्द शास्त्र की दृष्टि से यति-भंग दोष है।"[4] परन्तु डॉ० प्रभात की यह मान्यता गलत है। वस्तुतः इस पद में सदोष सुगीत छन्द का निर्वाह न होकर निर्दोष रूपमाला छन्द का प्रयोग हुआ है। यति की दृष्टि से इस पद में

1 मी. पदा., पद—16
2 छन्द प्रभाकर, पृ. 64
3 मी. पदा., पद—61।
4 डॉ. प्रभात—मीरांबाई, पृ. 431

रूपमाला छन्द के नियमों का छन्दशास्त्र-सम्मत प्रयोग हुआ है। अतः उक्त पद परम्परागत रूपमाला छन्द की दृष्टि से निर्दोष और विशुद्ध है।

रूपमाला छन्द का ही एक भिन्न प्रयोग मीरां पदावली के प्रथम पद में मिलता है। इसमें सभी पंक्तियों में 14-10 की यति का पूर्णतः पालन किया गया है; परन्तु अन्त में गुरु लघु न होकर तीन लघु हैं—

मण थे परस हरि रे चरण।
सुभग सीतल कंवल कोमल, जगत ज्वाला हरण।[1]

अन्य नियमों का यथावत् पालन होने के कारण उक्त पद में रूपमाला छंद का विधान मानना समीचीन है। ऐसे ही मीरां पदावली के 182वें पद में 14-10 की यति पर 24 मात्राएँ हैं; परन्तु अन्त में गुरु लघु न होकर लघु गुरु है जो लीला छन्द में आता है; परन्तु लीला छन्द में 7-7-10 पर यतियां होती हैं जो इसमें नहीं है। अतः इसे अवतारी जाति का अनामछन्दीय पद भी कह सकते हैं।

## दोहा—

दोहा छन्द में चार चरणों को मिलाकर 48 मात्राएँ होती हैं तथा विषम चरण में 13 और सम चरणों में 11 मात्राएँ होती हैं। दोहा छन्द का प्रचार परम्परागत साहित्यिक छन्द के रूप में होने के साथ ही लोक-छन्द के रूप में भी हुआ है। दोहा छन्द राजस्थान का प्रिय छन्द माना जाता है और इसे 'दूहो' या 'दूहा' कहा जाता है।[2] मीरां के कुछेक पदों में ही इस छन्द का प्रयोग हुआ है।

निम्नोक्त पद की प्रथम चार पंक्तियों में दोहा छन्द की यति और अन्त के नियम का पालन हुआ है। अन्तिम दो पंक्तियों में प्रयुक्त दोहे में मात्राएँ बढ़ गई हैं—

नैणा लोभां आटकां शक्या णा फिर आय।
रूम रूम नखसिख लख्या ललक ललक अकुलाय।
म्हा ठाढ़ी घर आपणे, मोहन निकल्या आय।
वदन चन्द परगासतां, मन्द मन्द मुसकाय।
सकल कुटुम्बां बरजतां, बोल्या बोल बनाय।
णेण चञ्चल अंटक णा माण्या, परहथ गयां विकाय।[3]

इसी प्रकार मीरां-पदावली के 26वें और 84वें पद के पूर्वार्द्ध में क्रमशः 'है'[4] 'रे'[5] शब्द के प्रयोग से 13 के स्थान पर 15 मात्राएँ हो गई हैं। उत्तरार्द्ध में

---

1 मी. पदा., पद—1

2 डॉ. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य (तृतीय आवृत्ति), पृ. 89

3 मी. पदा., पद-13

4 आओ सहेल्यां रली करां है परघर गवण निवार।
झूठा माणिक मोतिया हैं, झूठी जगमग जोति।

5 पपइया रे पिव की वाणि न बोल
सुण पावेली विरहिणि रे, थारो रालेली पांख मरोड़।

प्राय: 11 मात्राएं ही हैं और अन्त में लघु का विधान सर्वत्र किया गया है। उक्त छन्द में रोचकता और लोक गीतात्मकता लाने के लिए 'है' और 'रे' शब्द का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है।

उपमान—

रौद्राक जाति के इस उपमान छन्द में 13-10 मात्राओं पर यति और अन्त में कर्णा (ऽऽ) होता है परन्तु अंत में एक गुरु होने से भी हानि नहीं है। इस छन्द के अन्य नाम 'दृढ़ पट' या 'दृढ़ पद' है।[1] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने जिन पदों में सदोष उपमान छन्द माना है वे पद मुक्तामणि छन्द के भी माने जा सकते हैं; क्योंकि उपमान छन्द के उत्तरार्द्ध चरण में जहां 10 मात्राएं होती हैं वहां मुक्तामणि छन्द के उत्तरार्द्ध चरण में 12 मात्राएं रहती हैं। मीरां पदावली के 16वें पद में उत्तरार्द्ध में 'हो' शब्द का प्रयोग करने से मात्राएं 10 की अपेक्षा 12 हो गई हैं और अंत में मगण (ऽऽऽ) का भी प्रयोग मिलता है। यद्यपि चतुर्वेदी जी 'हो' शब्द के प्रयोग को यहां निरर्थक मानते हैं परन्तु गीत की लयात्मकता और रंजकता बनाए रखने के लिए किया गया उक्त प्रयोग निरर्थक नहीं, सार्थक है, अत: उसे उपमान छन्द में रचित न मानकर मुक्तामणि छन्द में रचित मानना अधिक युक्तियुक्त है।

मीरां पदावली के निम्न पद में उपमान छन्द का छन्दशास्त्रोक्त विधान हुआ है-

मोहने गुपाल फिरूं, ऐसी आवत मण में।
अवलोकत वारिज वदन विवस भई तण में।[2]

इस पद की प्रथम पंक्ति के (टेक में) उत्तरार्द्ध में 2 मात्राएं बढ़ी हैं, अंतिम दो पंक्तियों के पूर्वार्द्ध में क्रमश: 2 और 1 मात्रा घटती है। शेष पंक्तियों में 13-10 पर यति है, प्रथम दो तथा अन्तिम दो पंक्तियों में एक गुरु है तथा मध्य की चार पंक्तियों में दो गुरु हैं। यहां समग्रत: उपमान छंद माना जा सकता है।

कुंडल—

महारौद्र जाति के कुंडल छंद में 12-10 पर यति और अन्त में कर्णा का प्रयोग किया जाता है।[3] मीरां ने इस छद का भी अपने पदों में परम्परागत पालन किया है। एक पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है —

"सांवरो नन्दनन्दन दीठ पड़्यां माई।
डार्‌यां सब लोकलाज सुधबुध बिसराई।"[4]

इस पद में छंद-शास्त्रोक्त नियमों का पूर्णत: पालन किया गया है। इसी छन्द से मिलता-जुलता एक अन्य छन्द जो मीरां-पदावली में मिलता है, वह है— सुखदा।

सुखदा—

कुण्डल छंद में जहां 12-10 पर यति और अन्त में कर्णा के प्रयोग का

1 छन्द : प्रभाकर, पृ. 61।
2 मी. पदा., पद - 184
3 छन्द : प्रभाकर, पृष्ठ 60।
4 मी. पदा., पद—12

विधान है, यहां सुखदा छन्द में 12-10 पर यति और अन्त में एक गुरु ही प्रयुक्त किया जाता है। मीरां-पदावली में उपलब्ध सुखदा छंद का एक उदाहरण देखिये –

थारो रूप देख्यां अटकी।
कुल कुटम्ब सजण सकल बार बार हटकी।[1]

चान्द्रायण

यह त्रैलोक जाति का 21 मात्राओं का छन्द है जिसमें 11-10 पर यति होती है तथा 11 मात्राएं जगणान्त और 10 मात्राएं रगणान्त होती हैं। चान्द्रायण के आदि में लघु और गुरु समकलात्मक रूप से आते हैं जैसे, SS, IIS, SII, या IIII और यदि प्रारम्भ में त्रिकल हो तो उसके पश्चात् एक त्रिकल और देना होता है।[2] निम्नोद्धृत पद में उक्त छन्द का प्रयोग किया गया है। आदि में समकलात्मक तथा दो त्रिकल का प्रयोग हुआ है और 10 मात्राएं रगणान्त है। परन्तु 11 मात्राएं जगणान्त न होकर तगणान्त हैं केवल अन्तिम पंक्ति से ऊपर वाली पंक्ति में ही 11 मात्राएं जगणान्त हैं। पद इस प्रकार है—

'चालां अगम वा देस काल देख्यां डरां।
भरां प्रेम रा होज, हंस केल्यां करां।
साधा संत रो संग, ग्यान जुगतां करां।
धरां सांवरो ध्यान, चित्त उजलो करां।'[3]

इस पद की पहली और तीसरी पंक्ति में 11 के स्थान पर 12 मात्राएं हो गई हैं; परन्तु अर्थ की स्पष्टता के लिये मात्रावृद्धि आवश्यक है, जो गाते समय नहीं खटकता है।

समान सवैया—

मीरां पदावली में 22 मात्राओं के दण्डक छन्द के विविध भेदों की अपेक्षा केवल यही छन्द अधिक प्रयुक्त हुआ है। इस छंद में 16-16 मात्राओं पर यति और अन्त में भगण होना आवश्यक होता है।[4] परन्तु मीरां-पदावली में समान सवैया के जो उदाहरण मिलते है उनमें अन्त में भगण ( SII ) न हो कर यगण और मगण का प्रयोग मिलता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'हो गये श्याम दूयज के चन्दा।
मधुबन जाइ भये मधुवनिया, हम पर डारो प्रेम को फन्दा।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, अब तो नेह परो कछु मन्दा।[5]

इस पद में प्रथम पंक्ति के उत्तरार्द्ध में एक मात्रा बढ़ती है परन्तु दूसरी पंक्ति में दोनों चरण में 16-16 मात्राएं हैं। इसी छन्द का जो दूसरा उदाहरण आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी ने दिया है उसमें मात्राओं का पूर्णतः परिपालन नहीं किया गया है। पद इस प्रकार है—

---

1 मीरां पदावली, पद – 9
2 छन्द : प्रभाकर, पृ. 58
3 मी. पदा., पद—193
4 छन्द : प्रभाकर, पृ. 76
5 मी. पदा., पद—180

हारि गयो मनमोहन पासी ।
आंवाकी डालि कोइल इक बोले, मेरो मरण अरु जग केरी हांसी ।
विरह की मारी मैं वन वन डोलूं, प्राण तजूं करवत लूं कासी ।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी, तुम मेरे ठाकुर मैं तेरी दासी ।[1]

इस पद में यतियां क्रमश: 19-19, 19-16 और 16-20 मात्राओं पर प्रयुक्त हुई हैं । हां ! सभी मात्राएं 16 से अधिक ही हैं, अतः समान सवैया माना जा सकता है । इस पद की अपेक्षा पूर्वोक्त पद अधिक शुद्ध है । परन्तु दोनों में ही अन्त में भगण न होकर मगण है ।

## मनहर वर्णिक छन्द—

उपरि विवेचित मात्रिक छन्दों के साथ ही मीरां पदावली के एक पद में वर्णिक छन्द का भी प्रयोग मिलता है । आचार्य परशुराम चतुर्वेदीजी ने इसे 'मनहर' छंद माना है, इसमें प्रयुक्त वर्ण 8-8-8-7 के क्रम से रखे जाते हैं । उदाहरण दृष्टव्य है—

अच्छे मीठे चाख चाख बेर लाई भीलणी ।
ऐसी कहा अचारवती, रूप नहीं एक रती,
नीचे कुल ओछी जात, अति ही कुचीलणी ।
जूठे फल लीन्हें राम, प्रेम की प्रतीत जाण,
ऊंच नीच जाने नहीं, रस की रसीलणी ।
ऐसी कहा वेद पढ़ी, छिण में विमाण चढ़ी,
हरिजी सूं बांध्यो हेतु, वैकुण्ठ में झूलणी ।
दास मीरां तरै सोइ, ऐसी प्रीति करै जोइ,
पतित-पावन प्रभु, गोकुल अहीरणी ।[2]

पद के पहले अन्तरे में वर्णों की संख्या 9-8-8-7 हो गई है । शेष पद में वर्णों की संख्या नियमानुसार है । वर्णिक छन्द का यही एक पद मीरां-पदावली में मिलता है, शेष समस्त पदावली मात्रिक छन्दों में रची गई है ।

परम्परागत छन्दों के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मीरां पदावली में एक कोड़ी से अधिक ऐसे पद उपलब्ध होते हैं जिनमें छंदों का प्रयोग शास्त्रीय-विधानानुसार ही किया गया है । अतः यह मान्यता कि छन्द-शास्त्रीय दृष्टि से नाप-जोख करने पर मीरां पदावली का एक भी छन्द खरा नहीं उतरता है, सर्वथा भ्रांतिपूर्ण और अतिरंजित है । उपरि विवेचित अधिकांश पदों में यति और मात्राओं के नियमों का यथोचित पालन किया गया है । कुछेक पदों में दो एक मात्राएं घटी-बढ़ी भी हैं परन्तु पुरानी कविता में एक दो मात्राओं की वृद्धि को छंदः शास्त्रियों ने दोष नहीं माना है । मीरां-पदावली में मात्राक्रम में भले ही वृद्धि हो गई हो परन्तु तुकान्तता के निर्वाह का सदैव ध्यान रखा गया है । अतः हम यह कह सकते हैं कि मीरां ने अपने एकनिष्ठ प्रेम की दिव्य अनुभूतियों

---

1 मी. पदा., पद. 64

2 मी. पदा., पद—186

को सुन्दरता पूर्वक छन्दों में बांधा है, और पद में व्यक्त भावनाओं के आकार के अनुकूल कहीं-कहीं छंद की मात्राओं के एक दो बन्ध ढीले कर दिये हैं, अतएव मूलतः इन्हें एक छन्दीय पद मानना ही उचित है।

(ख) बहुछन्दीय पद—

कभी-कभी मात्राओं के ढीलेपन से एक ही छन्द में अनेक छन्दों का समावेश हो जाता है। मीरां के पदों में ऐसे कतिपय पद उपलब्ध होते हैं जिनमें मात्रावृद्धि के कारण एकाधिक छंदों के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है। यहां कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

**मुक्तामणि और उपमान छन्द का मिश्रित प्रयोग—**

'थे मत बरजां माइड़ी साधां दरसण जावां।[1]

उक्त पद की पहली, दूसरी, पांचवी और छठी पंक्तियों में 13-12 पर यति होने के कारण मुक्तामणि छंद का विधान माननीय है और अंतिम दो पंक्तियों में 13-10 पर यति होने से उपमान छंद माना जा सकता है। तीसरी पंक्ति के उत्तरार्द्ध में 'म्हारे' शब्द के प्रयोग से 4 मात्राएं बढ़ गई हैं और पांचवीं पंक्ति के पूर्वार्द्ध में एक मात्रा बढ गई है। वैसे प्रधानतः इस पद में दो ही छंदों—मुक्तामणि और उपमान-का मिश्रण स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

ऐसे निम्न पदों में भी दो छंदों का सम्मिश्रण दिखलाई पड़ता है—

**दोहा और दिग्पाल छन्द का मिश्रण—**

नागर नन्दकुमार लाग्यो थारो णेह रे।[2]

दोहा और दिग्पाल दोनों ही 24 मात्राओं के छंद हैं। परन्तु दोहा में जहां 13-11 पर यति आती है वहां दिग्पाल में 12-12 पर यति आती है। दोहा छंद की अंतिम मात्रा लघु होती है और दिग्पाल की दीर्घ।

उक्त पद की प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पंक्तियों में दोहा छंद के अनुसार यति रखी गई है, परन्तु दूसरी पंक्ति में यति 13-11 पर न होकर 12- 2 पर है। अतः यह भ्रम होता है कि उक्त पंक्ति दिग्पाल छंद की है, परन्तु इस पंक्ति की अंतिम मात्रा दीर्घ न होकर लघु ही है, अतः इसे दिग्पाल छंद की अपेक्षा दोहा छंद में रचित मानना ही उपयुक्त है।

**शंकर और रूपमाला छद का सम्मिश्रण—**

उपर्युक्त पद में तो दिग्पाल और दोहा छंद की स्थिति भ्रान्तिपूर्ण थी; परन्तु निम्न पद में शंकर और रूपमाला छंद का सम्मिश्रण स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है—

काई म्हारो जणम बारम्बार।
पुरबला कांई पुन्न खूंट्या माणसा अवतार।
बढ़या छिण छिण घट्या पल पल, जात णा कछ वार।
बिरछ रा जो पात टूट्या, लाया णा फिर डार।

\+ \+ \+

1 मी. पदा., पद—38।
2 मी. पदा., पद—105।

दासि मीरां लाल गिरधर, जीवणा दिन चार ।[1]

इस पद की प्रथम दो पंक्तियों में 16-10 पर यति है तथा शेष चार पंक्तियों में 14-10 पर यति है । 16-10 पर यति और अंत में गुरु लघु होने से शंकर छंद होता है, इसी तरह 14-10 पर यति और अंत में गुरु लघु रूपमाला छंद का लक्षण है । अतः उक्त पद में दोनों छंदों का स्वरूप स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है ।

**दुर्मिल, रुचिरा और ताटंक छन्द का सम्मिश्रित प्रयोग—**

वड़े घर तालो लागां री पुरबला पुन्न जगावां री ।

\+ + + +

काथ कथीर सूं काम णा म्हारे, चढ़स्यां घण री सार्यां री ।
सोणा रूपां सूं काम णा म्हारे, हीरां रो बौपारां री ।
भाग हमारो जाग्या रे, रतणाकर म्हारी सीर्यां री ।
अमृत प्यालो छाड्यां रे, कुण पीवां कड़वा नीरां री ।
भगत गणा प्रभु परचां पावां, जावां जगतां दूरया री ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, मणरथ करस्यां पूरया री ।[2]

उपरि उद्धृत प्रथम दो पंक्तियों में 10-8-14 पर यति न होकर 18-14 पर यति है और अंत में ।।SSS न हो कर SSSS है, अतः इन पंक्तियों में अंशतः दुर्मिल छंद माना जा सकता है । इसके पश्चात् की तीसरी और चौथी पंक्ति में 14-16 पर यति है तथा अंत में गुरु है, अतः इन पंक्तियों में रुचिरा छंद का शास्त्रोक्त विधान देखा जा सकता है । इसी प्रकार अंतिम दो पंक्तियों में 16-14 पर यति (SSS) है, अतः ताटंक छद का निर्वाह इन पंक्तियों में स्पष्ट परिलक्षित होता है । अतः समग्रतः इस पद में दुर्मिल, रुचिरा और ताटंक छंद के परम्परागत रूप देखे जा सकते हैं ।

**विष्णुपद, ताटंक और सार छन्द का सम्मिश्रण—**

विष्णुपद, सार और ताटंक छंद का मिश्रण हमें मीरां-पदावली के निम्न पद में मिलता है –

री म्हां बैठ्यां जागां जगत सब सोवां ।
विरहण बैठ्यां रंगमहल मां णेण लड्या पोवां ।
इक विरहणि हम ऐसी देखी अंसुवन की माला पोवैं ।
तारां गिणता रैण विहाणी, सुख घड़ियां री जोवां ।[3]

इस पद की प्रथम पंक्ति में 16-10 पर यति है, दूसरी में 16-14 पर और तीसरी में 16-12 पर । सभी पंक्तियों के पूर्वार्द्ध में 16 मात्राएं हैं परन्तु उत्तरार्द्ध में भिन्न भिन्न हैं और अंत में मगण (SSS) का विधान सभी पंक्तियों में है; परन्तु उक्त पद की दूसरी पंक्ति में अन्त्यानुप्रास अन्य पंक्ति से भिन्न है । फिर भी मात्रिक छंद की दृष्टि से उक्त पद में तीन छंदों का विधान स्पष्टतः देखा जा सकता है । अस्तु ।

---

1 मी. पदा., पद—196
2 मी. पदा., पद—24 ।
3 मी. पदा., पद—86 ।

मीरां-पदावली में प्रयुक्त परम्परागत छंदों के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि मीरां ने अपने पदों को कुशलतापूर्वक छंदों में बांधा है तथा छंदशास्त्र के नियमों का भी यथोचित पालन का प्रयास किया है। परन्तु जैसा कि पूर्वकथित है, मीरां वाग्गेयकार थीं, अतः उनको पद-रचना में शास्त्रीय छंदों के प्रयोग के साथ ही संगीतप्रधान भावच्छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार मीरां की छंद-योजना को केवल परम्परागत छंदयोजना की दृष्टि से ही देखना उनकी छंदयोजना का एकांगी अध्ययन कहा जायेगा, अतः उनके पदों को भावच्छन्दों की दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। आगामी पंक्तियों में हम मीरां के पदों का भावच्छन्द की दृष्टि से विवेचन करेंगे।

**भावच्छन्द और मीरां के पद—**

साधारण छंद के चार पद या चरण होते हैं। कहा भी गया है 'पद्य चतुष्पदं'; परन्तु कभी-कभी भावविशेष या दृश्यविशेष को चार चरणों में व्यक्त करना कठिन हो जाता है, ऐसी स्थिति में भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए चरण-विस्तार करना पड़ता है और इस भावानुकल चरण-विस्तार से भावच्छन्द का जन्म होता है।

डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल ने भावच्छन्द के स्वरूप पर विचार करते हुए अपने शोधप्रबन्ध में लिखा है—'किसी विशेष लय-खण्ड के आधार पर व्यक्त किये गये एक भाव में जितने चरणों का विस्तार होता है, उन सभी के आद्योपान्त योग से 'भावच्छन्द' की इकाई बनती है।'[1]

भावच्छन्द वस्तुतः और मूलतः वह छंद या छंदवर्ग है जिसमें प्रधानतः भावातिरेक की अभिव्यक्ति होती है। भावच्छन्द की यह प्रकृति वैदिक काल से चली आ रही है और आधुनिककालीन काव्य में भी विद्यमान है। आदिकवि वाल्मीकि ने श्लोक-छंद की जो परिभाषा दी है, वह भावस्फरित समस्त काव्य रचनाओं पर लागू होती है और भावच्छन्द को संकेतित करती है। इस भावच्छन्द की सौन्दर्यवृद्धि में नवनवोद्भावनाशाली कविगण अपनी कलात्मक अभिरुचि और भावगरिमा का अपूर्व योगदान करते रहे हैं। भक्ति काव्य में शास्त्रीय छंदों के साथ ही भावच्छन्दों का भी पर्याप्त विकास हुआ था। भक्तिकाल के चूड़ामणि कविश्रेष्ठ गोस्वामी तुलसीदास ने दोहे-चौपाइयों को प्रबन्धात्मक भावच्छन्द का रूप देकर रामचरितमानस सदृश अमर-काव्य की रचना की थी, तो रसमर्मज्ञ कविवर सूरदास प्रभृति कृष्णभक्त कवियों ने मुक्तक भावच्छन्दों को अपनी काव्याभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था।

चूंकि अधिकांश कृष्णभक्त कवियों का मुख्य ध्येय काव्य-रचना न होकर लीला-गायन था, अतः उन्होंने साहित्यिक छन्दों में से उन्हीं छन्दों को अपनाया जो संगीत के सुरों और ताल की मात्राओं के अनुकूल पड़ते थे। इन संगीत प्रधान रचनाओं को लोकात्मकता प्रदान करने के लिये उन्होंने सरलतम संगीतशैली को जन्म दिया जो साहित्य जगत् में पदशैली के नाम से विख्यात हुई और संगीत जगत् में 'भजन' शैली के रूप में प्रसिद्ध हुई।

---

1 डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ. 37।

सूरदास और मीरां पदशैली के महान उन्नायक थे। इनका सम्पूर्ण काव्य-व्यक्तित्व ही पद-शैली द्वारा निर्मित हुआ है। पदशैली के माध्यम से ही उन्होंने अपनी भावना के अनेकों सूक्ष्म तत्त्वों और अनुभूति के सघन क्षणों को मार्मिकता और कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया है। सूरदास के सामने साम्प्रदायिक मर्यादाओं के बन्धन थे तथा श्रीमद्भागवत उनके काव्य-सृजन का प्रेरक ग्रन्थ था, अतः उनके काव्य में व्यापकता और वर्णनात्मकता 'मिलती है; परन्तु मीरां का काव्य विशुद्ध वैयक्तिक अनुभूतियों का काव्य था तथा भावातिरेक के चरम क्षणों में स्वतः प्रसूत हो गया था, अतः विषय की दृष्टि से सीमितता होते हुए भी भावों की गहनता और तीव्रता उनकी पदशैली का सर्वप्रधान गुण है, जो उनकी पदशैली को सूर की पद-शैली से पृथक करता है तथा साहित्य जगत् में उन्हें एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है।

डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल ने भावच्छन्द की जो विशेषताएं बताई हैं उनमें से अधिकांश मीरां की पदशैली में उपलब्ध होती हैं। डा. शुक्ल के अनुसार भावच्छंद की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

1 भावच्छन्द अन्त्यानुप्रास युक्त होता है। यह शास्त्रीय नियमबद्ध-छंद और मुक्तछन्द के बीच में अवस्थित है।

2 यद्यपि इसका लयाधार निश्चित रहता है तथापि इसकी बाह्याकृति अर्थात् चरण संख्या अनिश्चित रहती है, क्योंकि वह कवि की भावानुभूति एवं कला पर निर्भर होती है।

3 छंद की यतियां भाव के अनुकूल रहती हैं, जिसका स्थान गद्यविराम-चिह्नों की भांति अर्थ के आधार पर कण्ठ द्वारा निर्धारित होता है।

4 भावच्छन्द अनुच्छेद का सा रूप धारण कर लेता है, जिसमें अर्थमय भाव-विस्तार ही रूप की सूचना देता है। इसे 'दीर्घच्छद' भी कह सकते हैं, क्योंकि यह सामान्य छंद के रूप से सदैव बड़ा ही होता है।

5 आपाद-शीश रक्त-संचार की भांति भावछंद में भाव आद्यन्त संचरण करता है और समग्रता से संगीत-सुषमा विकीर्ण करता है।

6 गम्भीर, उदात्त एवं ओजमय भावों तथा क्षिप्रगामी कथानक के लिये भावच्छंद अत्यन्त उपयोगी होता है। इसके लिये लयाधार वर्णिक होना चाहिये परन्तु यदि कोमल भावों की अभिव्यक्ति करनी हो तो भावच्छन्द का लयाधार मात्रिक छन्द को बनाना उचित है।

7 भाषा-शृंगार के लिये अन्तः अनुप्रास और यमक की योजना सहायक होती है।[1]

मीरां के काव्य में भावच्छन्द की उपर्युक्त विशेषताएं स्पष्टतः देखी जा सकती हैं। इन विशेषताओं को हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत समाविष्ट कर देखेंगे—

1 अन्त्यानुप्रासिकता—

मीरां की पद शैली की सर्वप्रधान विशेषता है—लयात्मकता। उनके पदों

1 डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल, आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ. 37-38

के छन्द अलंकारादि भले ही गौण हों परन्तु अन्त्यानुप्रास सर्वत्र मिलते हैं। पूर्व विवेचित टेक और चरणों के छंद भिन्न-भिन्न होते हुए भी लयात्मकता द्वारा परस्पर संबद्ध रहते हैं। उनको लय-बद्ध बनाये रखने में अन्त्यानुप्रासों का सर्वाधिक योगदान है। डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल ने हिन्दी कविता में अन्त्यानुप्रास के प्रयोग के विषय में जो मत प्रकट किया है वह मीरां की कविता पर अक्षरशः लागू होता है। उन्होंने लिखा है—

'जिस अन्त्यानुप्रास को संस्कृत कविता ने अपनी शोभावृद्धि के लिये 'शरीरज' अलंकार के रूप में सयत्न धारण किया था, उसे हिन्दी कविता-कुमारी ने अपनी पैतृक अभिजात परम्परा के कारण 'सात्विक व स्वभावज' अलङ्कार के रूप में अयत्न ग्रहण कर लिया।'[1]

मीरां के काव्य में अन्त्यानुप्रास सहज स्वाभाविक रूप में अनायास ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। ऐसा कहा जाता है कि जिस कवि के हृदय में शब्द-संगीत और भाव का परस्पर प्रगाढ़ सम्मिलन हो जाता है, उसकी लेखनी से अयत्नज अन्त्यानुप्रास स्वयं ही प्रस्फुटित होते जाते हैं। इसके आवर्तन में अगले चरण स्वयं ही भावभक्ति से उठते चले आते हैं। मीरां के काव्य में आये अन्त्यानुप्रासों को देखकर उक्त कथन सत्य ही प्रतीत होता है। वस्तुतः उनके पद-गीतों को अमरत्व प्रदान करने में तथा मुख-श्रुत परम्परा द्वारा सहज ही ग्रहण कर लिए जाने में अन्त्यानुप्रासों की महत्वशाली भूमिका रही है।

अन्त्यानुप्रासों के निर्वाह के आधार पर ही पदों की उत्कृष्टता आंकी जाती है। डॉ० शुक्ल ने काव्य की उत्कृष्टता व निकृष्टता तथा कवि कौशल की परख के लिए अन्त्यानुप्रासों का जो निम्नोक्त वर्गीकरण किया है वह अति व्यावहारिक व महत्वपूर्ण है। उन्होंने अन्त्यानुप्रासों के तीन वर्ग किये हैं—1. उत्तम अन्त्यानुप्रास, 2. मध्यम अन्त्यानुप्रास और 3 निकृष्ट अन्त्यानुप्रास। जिस अन्त्यानुप्रास में 8-7-6 मात्राओं का साम्य हो वह उत्तम कोटि का अन्त्यानुप्रास है और जिस अन्त्यानुप्रास में क्रमशः 5-4-3 मात्राओं का साम्य हो वह मध्यम कोटि का अन्त्यानुप्रास है। इनके अतिरिक्त जहां 2 या 1 मात्राओं का साम्य मिले वहां निकृष्ट कोटि का अन्त्यानुप्रास समझना चाहिए।'[2]

मीरां के पदों में हमें उत्तम और मध्यम कोटि के ही अन्त्यानुप्रास मिलते हैं। 'मीरां-पदावली'[3] में संकलित पदों का अन्त्यानुप्रास की दृष्टि से अध्ययन करने पर यह तथ्य प्रकाश में आया कि उनमें 'मध्यम कोटि' के अन्त्यानुप्रास अधिक हैं। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिये निम्न आंकड़े प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

**तीन मात्राओं का साम्य—**

मीरां-पदावली के 71 पदों में तीन मात्राओं का साम्य दृष्टिगोचर होता

---

1 आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ. 213

2 डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ.

3 आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित, 'मीरां बाई की पदावली'

है ।[1] इस वर्ग के अन्त्यानुप्रासों का मीरां-पदावली में प्राधान्य है ।

**चार मात्राओं का साम्य—**

तीन मात्राओं के अन्त्यानुप्रास के उपरान्त चार मात्राओं के अन्त्यानुप्रास का क्रम दूसरा है । लगभग 63 पदों में चार मात्राओं का साम्य उपलब्ध होता है ।[2]

**पांच मात्राओं का साम्य—**

पांच मात्राओं के अन्त्यानुप्रासों की योजना उपर्युक्त दोनों वर्गों की अपेक्षा कम है । केवल 18 पद ही ऐसे मिलते हैं जिनमें पांच मात्राओं का अन्त्यानुप्रास है ।[3]

**छह मात्राओं का साम्य—**

पांच मात्राओं के साम्य की अपेक्षा छह मात्राओं के साम्य वाले पद मीरां-पदावली में अधिक हैं । करीब 27 पदों में हमें छह मात्राओं का साम्य मिलता है ।[4]

**सात मात्राओं का साम्य—**

लगभग 10 पदों में हमें सात मात्राओं का साम्य मिलता है ।[5]

**आठ मात्राओं का साम्य—**

आठ मात्राओं का साम्य हमें केवल पांच पदों में ही उपलब्ध होता है ।[6]

---

1 पद-संख्या इस प्रकार है—
1, 3, 5, 8, 13, 14, 22, 26, 27, 34, 40, 41, 42, 43, 44, 48, 52, 53, 54, 55, 57, 58, 59, 61, 62, 66, 68, 70, 72, 75, 76, 84, 88, 90, 97, 98, 101, 102, 103, 105, 109, 116, 118, 120, 122, 127, 132, 133, 135, 136, 138, 143, 144, 151, 152, 153, 155, 161, 166, 176, 179, 182, 183, 187, 189, 192, 196, 197, 198 और 201 ।

2 पद-संख्या इस प्रकार हैं—
4, 6, 7, 9, 11, 12, 15, 18, 19, 23, 25, 28, 29, 31, 32, 33, 37, 38, 39, 45, 46, 47, 49, 51, 60, 64, 65, 69, 71, 77, 80, 83, 89, 91, 93, 94, 99, 106, 110, 112, 117, 123, 126, 134, 139, 149, 159, 160, 163, 168, 171, 172, 175, 177, 178, 180, 185, 188, 190, 191, 194, 195 और 199 ।

3 पद-संख्या इस प्रकार हैं—
20, 21, 30, 56,78, 95, 104, 113, 114, 124, 130, 131, 137, 142, 159, 164, 170 और 193 ।

4 पद-संख्या इस प्रकार हैं—
3, 10, 16, 17, 24, 36, 50, 63, 74, 81, 82, 86, 87, 92, 96, 107, 108, 111, 119, 121, 125, 128, 141, 147, 150, 162, 181 ।

5 पद-संख्या निम्न प्रकार है—
85, 100, 115, 129, 140, 145, 157, 197, 173, और 202 ।

6 पद-संख्या निम्नांकित है—
67, 73 (अंतिम पंक्ति में 6 मात्राएं हैं), 146, 160, और 200 ।

दस मात्राओं का साम्य—

मीरां-पदावली के एक पद में हमें 10 मात्राओं का साम्य मिलता है।[1] इस पद में वस्तुतः 5 मात्राओं का साम्य है परन्तु 'हे माय' पद के प्रत्येक पंक्ति में प्रयुक्त होने से उक्त पद में 10 मात्राओं का अन्त्यानुप्रास का विधान स्वीकार किया जा सकता है।

मीरां पदावली में ऐसे पदों की ही प्रचुरता है जिनमें सभी पंक्तियों में अन्त्यानुप्रास का क्रम एक सा है।

यथा –

किण गूंथी जुलफां कारियां
सुघर कल प्रवीण हाथन सूं जसुमति जू णे संवारियां।
जो तुम आयो मोरी बारवरिया, जरि राखूं चन्दन कियारियां।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, इन जुलफन पर वारियां।[2]

और—

सखी म्हारो कानूड़ो कलेजे री कोर।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे कुण्डल की झकझोर।
बिन्द्रावन की कुंजगलिन में नाचत नन्द किशोर।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल चितचोर।[3]

परन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें सभी पंक्तियों की अपेक्षा पंक्ति-युग्मों में ही अन्त्यानुप्रासिकता का निर्वाह हुआ है। जैसे मीरां-पदावली का निम्न पद—

यहि विधि भगति कैसे होय
मण की मैल हियतें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी, बांधि मोहि चण्डाल।
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिलै गोपाल।
बिलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से, राम नाम ण लेत।
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अंग ण समात।
अभिमान टीला किये बहु कहु जल कहां ठहरात।
जो तेरे हिय अन्तर की जाणे तासों कपट ण बणै।
हिरदे हरि को नाम ण आवे, मुख तें मनिया गणै।
हरि हितू से हेत कर, संसार आसा त्याग।
दास मीरां लाल गिरधर, सहज कर वैराग।[4]

परन्तु ऐसे पद अति न्यून हैं।[5] इसके साथ ही दो पद ऐसे भी हैं जिनमें एक पंक्ति के अनन्तर दूसरी पंक्ति में अन्त्यानुप्रास आता है। यथा—

---

1 पद-संख्या ये हैं—169।
2 मी. पदा., पद – 162।
3 मी. पदा., पद—164।
4 मी. पदा., पद—158।
5 केवल पद संख्या—141, 154, 184, 59 में यह शैली अपनाई गई है।

आली सांवरे की दृष्टि मानू प्रेम की कटारी हैं,
लगन वेहाल भई, तन की सुधि बुधि गई।
तनह में व्यापी पीर मन मतवारी है।
सखियां मिल दोय चारी, वावरी भई हैं सारी।
हों तो वाको नींको आणो, कुंज को विहारी है।[1]
.... .... .... .... .... .... ....

इस पद में अन्त्यानुप्रास के साथ ही अन्त:अनुप्रास का भी विधान किया गया है-भई गई, चारी-सारी, चाहे-दाहे, जौत्रे, हीये 'आदि अन्त:अनुप्रास के उदाहरण हैं और प्रत्येक पंक्ति में प्रयुक्त-' कटारी है', 'मतवारी है', 'विहारी है', 'प्यारी है', 'तिहारी हैं', आदि में – अन्त्यानुप्रास स्पष्टत: परिलक्षित होता है। अन्त्यानुप्रास प्रयोग की ये दोनों शैलियां भी शास्त्र सम्मत हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्त्यानुप्रासिकता की दृष्टि से मीरां के पद उत्तम और मध्यम कोटि के हैं।

**आकार—**

भावच्छन्दों की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है इसका अनिश्चित आकार। भावच्छन्दों का आकार (अर्थात् उनमें प्रयुक्त चरणों की संख्या) कवि की इच्छा पर निर्भर होता है। जहां तक उसके भावों का विस्तार होता जाता है वहां तक पद का आकार विस्तृत होता जाता है। यही कारण है कि कुछ पदों में दो तीन ही पंक्तियां होती हैं और कुछ पदों में 12-15 पंक्तियां तक हो जाती हैं।

मीरां के पदों में भी मात्राओं का यह अनिश्चित आकार उपलब्ध होता है। उन्होंने एक पद का विस्तार उतनी पंक्तियों तक किया है जितने में एक भाव की पूर्णत: अन्विति हो जाय। वस्तुत: भावान्विति ही पद की पंक्ति-संख्या या चरण-संख्या की नियामक होती है।

मीरां-पदावली में 3 पंक्तियों से लेकर 16 पंक्तियों तक की पंक्ति-संख्या वाले पद मिलते हैं. परन्तु यह लघुतम और बृहद्तम चरण-संख्या है। सामान्यत: मीरां के पद टेक-सहित 4 पंक्तियों, 5 पंक्तियों और 6 पंक्तियों के ही हैं।[2] मीरां-पदावली में संकलित पदों में प्रयुक्त पंक्तियों की गणना से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। मीरां-पदावली में टेक सहित 5 पंक्तियों वाले पदों की संख्या सर्वाधिक (67) हैं।[3] इसके अनन्तर टेक सहित 4 पंक्तियों वाले पदों का क्रम आता है

---

1 पद सं. 174, इसके अतिरिक्त पद संख्या 18[illegible] और 120 में भी इसी ढंग की अन्त्यानुप्रासिकता मिलती है।

2 तीन पंक्तियों वाला केवल एक ही पद मीरां-पदावली में उपलब्ध है जिसकी संख्या है—1[illegible]0।

3 5 पंक्तियों वाले पदों की संख्या निम्न प्रकार है—
मीरां-पदावली—3, 5, 9, 14, 15, 17, 22, 27, 29, 32, 33, 34, 36, 37, 39, 42, 45, 46, 47, 50, 52, 53, 55, 57, 61, 62, 68, 69, 70, 72, 75, 76, 81, 82, 83, 86, 93, 104, 105, 1[illegible]9, 110, 111, 112, 113, 121, 123, 129, 130, 132, 135, 136, 142, 144, 146, 149, 157, 161, 163, 166, 170, 177, 179, 183, 189, 194, 197 और 200।

जिनकी कुल संख्या 46 है।[1] छह पंक्तियों तक विस्तृत आकार वाले पदों का बहुल प्रयोग के क्रम में तीसरा स्थान है। छह पंक्तियों वाले कुल 29 पद मीरां-पदावली में संकलित हैं।[2] इनके अतिरिक्त सात पंक्तियों वाले 16 पद[3], आठ पंक्तियों वाले 12 पद[4], नौ पंक्तियों वाले 10 पद[5], दस पंक्तियों वाले 11 पद,[6] ग्यारह पंक्तियों वाले 3 पद मिलते हैं।[7] इनके अतिरिक्त कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका आकार अपेक्षाकृत बड़ा है और वे बारह से लेकर सोलह पंक्तियों तक विस्तृत हैं, परन्तु ऐसे पद अत्यल्प हैं।[8]

इस विवेचन से हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि मीरां के पद सामान्यतः मध्यम आकारी हैं। न तो उनका आकार इतना लघु है कि वे अपेक्षित भाव उद्बुद्ध करने में असमर्थ हों और न ही उनका आकार इतना बड़ा है कि उनमें नीरसता आ

---

1 4 पंक्तियों वाले पद इस प्रकार हैं—
मीरां-पदावली—2, 4, 8, 11, 21, 49, 54, 56, 60, 64, 65, 71, 85, 88, 95, 97, 98, 99, 100, 107, 114, 122, 124, 125, 126, 127, 128, 131, 133, 138, 145, 147, 151, 152, 153, 159, 162, 164, 167, 168, 173, 178, 188, 192, 198 और 199।

2 छह पंक्तियों तक विस्तृत आकार वाले पद ये हैं—
मीरां-पदावली—6, 10, 16, 19, 23, 30, 31, 43, 48, 51, 67, 90, 96, 102, 103, 106, 143, 148, 155, 156, 160, 172, 176, 181, 182, 190, 201 और 202।

3 सात पंक्तियों वाले पदों की संख्या इस प्रकार है—
मीरां-पदावली—25, 38, 58, 66, 101, 119, 120, 134, 137, 139, 150, 165, 169, 187, 193 और 196।

4 आठ पंक्तियों वाले पदों की संख्या इस तरह है—
मी. पदा.—1, 1 ,13,20, 63, 73, 87, 108, 116, 118, 175 और 184।

5 नौ पंक्तियों तक विस्तृत आयाम वाले पद निम्न हैं—
मी. पदा.—7, 18, 28, 40, 41, 174, 185, 186, 191, और 195।

6 दस पंक्तियों वाले पद ये हैं—
मी. पदा.—35, 44, 78, 80, 84, 89, 92, 117, 140, 141 और 171।

7 ग्यारह पंक्तियों वाले पद इस प्रकार हैं—
मी. पदा.—24, 93 और 154।

8 बारह पंक्ति वाला पद केवल एक ही है, जिसकी संख्या है—158। और 13, 14 और 15 पंक्ति वाले भी एक-एक पद उपलब्ध होते हैं जिनकी संख्या क्रमशः इस प्रकार हैं—77, 74 और 26। सोलह पंक्तियों वाले भी दो पद मीरां-पदावली में संकलित हैं जिनकी पद संख्या क्रमशः 59 और 115 है।

जाय। पदों की चरण-संख्या सदैव उतनी ही रखी गई है जितनी यथोचित भाव-संप्रेषण के लिये आवश्यक थीं। अतः यह कहा जा सकता है कि मीरां के पद भाव-गठन की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं तथा उनमें अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति है जो भावच्छन्दों का आवश्यक गुण है।

मीरां ने सामान्यतः भावानुकूल शास्त्रीय छंदों में अपने पदों को रचा है (जिनका विवेचन पिछले पृष्ठों में हो चुका है), परन्तु कभी-कभी जब उनकी प्रबल भावाभिव्यक्तियां निर्दिष्ट मात्रिक छंदों की सीमा में नहीं बंध पाई, तो उन्होंने अपनी तरफ से कुछ पंक्तियां उनमें जोड़ दी। मीरां-पदावली में संकलित होली गीतों में इस तरह का क्रम स्पष्टतः देखा जा सकता है। उन्होंने 28 मात्राओं वाले सार छंद की दो पंक्तियों के अनन्तर 10-12 से लेकर 15-16 मात्राओं की एक अन्य पंक्ति भी जोड़ दी है। उदाहरणार्थ निम्न पद प्रस्तुत है —

होली पिया विण लागां री खारी।
सूनो गांव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी विरहन पिव विण डोले, तज गया पीव पियारी
विरहा दुख मारी।
देस विदेसां (संदेस) णा जावां, म्हारी अणेसा भारी।
गणतां गणतां घिस गयां रेखां, आंगरियां री सारी।
आया णा री मुरारी।
वाज्यो झांझ मृदंग मुरलिया, वाज्यां कर इकतारी।
आया वसंत पिया घर णां री, म्हारी पीड़ा भारी।
स्याम क्यांरी विसारी।
ठाढ़ी अरज करां गिरधारी, राख्यां लाज हमारी।
मीरां के प्रभु मिलज्यो माधो, जनम जनम री क्वांरी।
मगे लागी सरण तारी।[1]

उक्त पद की बड़ी पंक्तियों में सार छंद के परम्परागत नियमों का पालन किया गया है, और छोटी पंक्तियों में 13, 15 और 13 मात्राएं प्रयुक्त हुई हैं। मात्राओं के इस क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरह की भावाकुल दशा में मीरां ने इन पदों की रचना की है। ये छोटी पंक्तियां मीरां की विरहतापित उच्छ्वाससी हैं। इन पंक्तियों को जब विलम्बित लय में गाया जाता है तो श्रोता कराह-कराह उठते हैं। विरह की मार्मिक व्यञ्जना करने में ये पंक्तियां अत्यधिक समर्थ हैं, अतः इनका प्रयोग सार्थक ही है।

छंदशास्त्रीय दृष्टि से यह चरण-वृद्धि मीरां की मौलिक उद्भावना है। संगीतशास्त्रीय दृष्टि से यह प्रयोग अत्यन्त भावपूर्ण, मर्मस्पर्शी और हृदयहारी है। ऐसे दसियों प्रयोग मीरां-पदावली में उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरां के पदों का आकार भावच्छन्द के सर्वथा अनुकूल है।

---

1 मीरां-पदावली, पद सं. 77।

भावानुकूल यतियां -

वैसे तो मीरां-पदावली में संकलित पदों में यतियां नियमानुकूल ही रखी गई हैं, परन्तु उनमें एक-दो मात्राओं का अंतर भी कहीं-कहीं हो गया है, तथापि कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनके सभी चरणों की मात्राएं अलग-अलग हैं और यतियां भी अलग-अलग क्रम से रखी गई हैं। जैसे कि निम्न पद में --

मुज अबला ने मोटी नीरांत थई रे।
शामलो घरेणु मारे सांचु रे।
वाली घड़ावुं विट्ठलवर केरी, हार हरी नो मारे हैये रे।
चित्त माला चतुरभुज चूड़लो, सिद सोनी घरे जइये रे।[1]

इस पद की पहली पंक्ति में 18-18 पर यति है तो दूसरी पंक्ति मे 16-15 पर। इसी तरह तीसरी, चौथी पंक्ति में क्रमश: 16-17 और 21-14 पर यति है, तथा पांचवी, छठी, सातवी और आठवी पंक्ति में क्रमश: 18-14, 19-18, 17-15 और 17-14 पर यति आती है। यह यतिक्रम वस्तुतः छंदानुरूप न होकर भावानुकूल है। मीरां की भावानुकूल यतियां छंद की मात्राओं से नहीं, अपितु संगीत की ताल-मात्राओं के अनुसार बंधी हुई हैं। छंद-शास्त्र में जहां ह्रस्व के लिये एक मात्रा व दीर्घ के लिये दो मात्राएं मानी जाती हैं, वहां संगीत में ताल की कई मात्राओं में कभी-कभी एक ही स्वर का विस्तार किया जाता है और कभी-कभी बहुत से शब्द एक ही मात्रा में समेट लिये जाते हैं, अतः संगीत और छंद की मात्राओं की गणना भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है।

मीरां ने मूलतः काव्य-रचना नहीं की थी, उन्होंने तो अपने हृदय की वेदना को शब्दों और स्वरों में ढालकर अपने प्रियतम के समक्ष निवेदित किया था। इसी कारण उनके पदों में कहीं-कहीं भले ही छंद की यतियों का समुचित रूप से पालन न हो पाया हो, परन्तु संगीत की तालों में उनके सभी पद सहज ही गाये जाते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने संगीतप्रधान भावानुकूल यतियों का सर्वत्र विधान किया है। वैसे भी भाव-प्रधान आत्माभिव्यञ्जक काव्य में यतियों का निर्वाह कवि की इच्छाओं और भावनाओं के अनुरूप ही हुआ करता है। साहित्यकारों और छंदकारों ने इसे दोष नहीं माना है। भावनाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति के के लिये ऐसा करना आवश्यक भी हो जाता है।

संगीतात्मकता -

संगीतात्मकता भावच्छन्दों का अनिवार्य गुण है। मीरां के पदों में संगीतात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई है। मीरां के काव्य में निहित संगीत-तत्व का दूसरे अध्याय में विवेचन किया गया है। अतः यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि झोंपड़ी से लेकर राजमहल तक समान रूप से आदृत होने वाले मीरां के पदों के अणु-अणु में संगीत निस्यूत है। यही कारण है कि 'भजन' और मीरां के 'पद' एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

---

1 मीरां-पदावली, पद सं. 141।

**भावात्मकता—**

मीरां एक उच्चकोटि की भावप्रवण कवयित्री थीं, इस विषय पर प्राय: सभी विद्वानों में मतैक्य है। उनके काव्य का भावपक्ष चर्मोत्कृष्ट है तथा भावात्मक होने के साथ ही उनके पद भावोद्बोधन करने में भी अपूर्व हैं। उन जैसी निष्ठा और भावतिरेक का दूसरा उदाहरण खोजना अति दुष्कर है। वस्तुत: उनका काव्य भावावेगजन्य अवस्था में ही निसृत हुआ है, अत: भावात्मकता उनके पदों के पोर-पोर में समाई हुई है। यदि भावातिरेकजन्य काव्य को ही भावच्छन्द माना जाय तो मीरां का सम्पूर्ण काव्य इसका एकमात्र उदाहरण स्वीकार किया जा सकता है।

**मात्रिक छन्दमयता—**

मीरां ने मात्रिक छन्दों में ही अपने पदों को रचा था। इस दृष्टि से उनके छन्दों का विवेचन पीछे किया जा चुका है अत: उन्हें यहां दोहराना अनावश्यक है; परन्तु इतना कहा जा सकता है कि यद्यपि उनके काव्य में छन्दवैविध्य नहीं है तथापि उन्होंने जिन छन्दों को अपनाया है उनके नियमों का भी यथासाध्य पालन करने का प्रयत्न किया है।

**अन्त:अनुप्रास और यमक—**

पदों में अन्त:अनुप्रास और यमक की योजना भावछन्दों की अनन्यतम विशेषता है और मीरां के पदों में अन्य अलङ्कार भले ही कम मात्रा में प्रयुक्त हुए हों; परन्तु अनुप्रासिकता उनके काव्य में सहज ही देखी जा सकती है। इसका विवेचन भी हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। उनके पदों में एक वर्ण, दो वर्ण और कहीं-कहीं तीन वर्णों का भी साम्य देखा जा सकता है, जो उनके काव्य में वर्ण-संगीत उत्पन्न करने में सहायक हुआ है।

**निष्कर्ष—**

मीरां की छन्द-योजना के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी काव्याभिव्यक्ति का माध्यम भावसबल संगीतप्रधान पद-शैली को बनाया था और इस छन्द-शैली का चरम विकास हमें उनके काव्य में उपलब्ध होता है। भावाभिव्यक्ति के लिये दोहा, चौपाई, छप्पय, कवित्त, गीत आदि की जो शैलियां उस युग में प्रचलित थीं, उनमें यह पद-छन्दशैली ही उनके स्वभावानुकूल थी, जिनमें आत्म-मर्यादा तो थी; परन्तु बन्धन नहीं था। मीरां अपने जीवन में भी स्वानुशासित रहीं और उनके व्यक्तित्व का यह प्रभाव उनकी छन्द-शैली पर भी पूर्णरूपेण पड़ा।

उन्होंने छन्द के बन्धों का भी स्वेच्छया पालन किया। ये बन्धन उनके काव्य पर आरोपित नहीं थे, यही कारण है कि उनके पदों में आत्मलक्षी संयतता और भावानुकूल छन्दात्मकता का सर्वत्र दृढ़तापूर्वक पालन किया गया है।

छन्द उनकी भावानुभूति के सौन्दर्य के रक्षक हैं तथा उनके काव्य-व्यक्तित्व को निहारने में सहायक हुए हैं। पद-छन्दों का लचीलापन, कवयित्री की आवश्यकतानुसार, अपने कलेवर को विकसित और संकुचित करता रहता है। छन्दों के कठोर नियम कहीं भी उनकी भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं बने हैं। सम्भवत:

मीरां की नम्रता और सहनशीलता ने छन्दों को भी विनीत और सहिष्णु बना दिया है। अपने एकनिष्ठ प्रेम में विघ्न उपस्थित करने वाले लोक-शास्त्र के नियमों को ही जब मीरां ने नगण्य मान लिया तब भला छन्दशास्त्र के नियमों की क्या बिसात थी? परन्तु फिर भी, परम साध्वी मीरां ने बहुत ही विनम्रता और सहजता से छन्द के उन नियमों को स्वीकार कर लिया जो उन्हें उपयुक्त और पावनतम लगे।

यही कारण है कि मात्रिक छन्दों की एक-दो मात्राओं का भले ही न्यूनाधिक्य रहा हो; परन्तु उनके अधिकांश पदों में छन्द-योजना का सहज ही निर्वाह किया गया है। भावच्छन्द की अन्य विशिष्टताओं से समन्वित उनका काव्य अपनी विशिष्ट शैली के कारण आने वाली पीढ़ियों द्वारा भी अनुकरणीय रहा है तथा न जाने कितने अनाम भक्त-हृदय गायकों की वाणी को मीरां की छाप ने अमरता और लोकप्रसिद्धि प्रदान की है। उनकी यह छन्द-योजना भी उनकी अभिव्यञ्जना-शैली की अनन्यतम विशिष्टता है। सत्य ही 'भाव प्रवण संगीतप्रधान पद-शैली' मीरां की, हिन्दी-साहित्यजगत् को एक अनमोल भेंट है।



## सप्तम अध्याय

## सङ्गीत-सौष्ठव

### (अ) संङ्गीत और काव्य का सम्बन्ध—

काव्य और संगीत में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है—इस उक्ति की पुष्टि मीरां के काव्य द्वारा सहज ही हो जाती है। संगीत और काव्य का सम्बन्ध देह और प्राण के समतुल्य है।[1] मीरां के काव्य के अणु-अणु में यह संगीत समाया हुआ है। मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली त्रिमुखी है, जिसका एक मुख काव्य है, दूसरा गान है और तीसरा नृत्य। मीरां शब्दों में जो न कह पाई वह गीतों में कह गई और जिसे प्रकट करने में गीत असमर्थ हुए उसे नृत्य ने स्पष्टतः कह डाला। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य, संगीत और नृत्य मीरां की आत्माभिव्यक्ति के तीन सशक्त साधन हैं। इन तीनों का अपना-अपना महत्त्व है।

पिछले पृष्ठों में मीरां की अभिव्यञ्जना के एक पक्ष काव्य के विभिन्न तत्त्वों पर विचार किया गया था। अब प्रस्तुत है उनके संगीत-पक्ष का विवेचन। मीरां की संगीत-योजना में शास्त्रीय संगीत व लोक-संगीत के विविध तत्त्वों का अपूर्व सामंजस्य व सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः मीरां का सम्पूर्ण व्यक्तित्व व कृतित्व ही सामंजस्य की नींव पर खड़ा हुआ है। मीरां ने जहां तत्कालीन प्रचलित समस्त आराधना-पद्धतियों का सम्मिश्रण कर अपनी अनोखी आराधना-पद्धति का निर्माण किया, वहां तत्युगीन प्रचलित संगीत की विविध-धाराओं का समन्वय कर नयी संगीत-साधना-पद्धति को विकसित किया। उन्होंने लोक संगीत व शास्त्रीय संगीत के विभिन्न तत्त्वों को आपस में घुला-मिला कर जिस नयी संगीत-शैली भजन-शैली का सृजन किया, वह अपने ढंग की अनोखी थी, दोनों में सम्मिलित होकर भी अपनी मौलिकता के कारण वह सबसे विशिष्ट थी।

मीरां की इस सामंजस्यपूर्ण मौलिक संगीत-योजना पर विचार करने से पूर्व संगीत के शास्त्रीय व लोक-पक्ष का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इससे मीरां की संगीत-योजना का विवेचन करने में सुविधा होगी।

### (ब) संगीत : सैद्धान्तिक विवेचन—

संगीत एक महत्त्वपूर्ण ललित कला है। कला की अभिव्यक्ति के विविध माध्यमों की विवेचना में संगीत की अवस्था कुछ अनोखी है। संगीत की अभिव्यक्ति का सहज माध्यम 'नाद' है। पौराणिक विवेचना में 'नाद' के दो भेद किये गये हैं। एक है—अनाहत नाद एवं दूसरा है—आहत नाद। 'अनाहत नाद विश्व में ब्रह्म की भांति सर्वत्र व्याप्त रहता है। जिस नाद का कोई कारण नहीं, जिसका कोई

---

1 संगीत मार्तण्ड श्री ओंकारनाथ ठाकुर—'काव्य और कला का पारस्परिक सम्बन्ध'-लेख—संगीत पत्रिका।

परिज्ञान नहीं, जो स्वयंभू है—वही अनाहत नाद है।'[1] इसे अमृत-संगीत भी कहते हैं।[2] और 'आहत नाद वह है जो किसी भी प्रकार के संघर्षण (अथवा किसी भी प्रकार के आघात) के कारण उत्पन्न होता है। लौकिक अस्तित्व में यही आहत नाद संगीत का माध्यम है।'[3]

संगीत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्री भगवतशरण शर्मा ने लिखा है—'ध्वनि में जो स्वर होता है उससे संगीत का जन्म होता है, गति में जो लय होता है उससे नृत्य की अनुभूति होती है। एक गायक या वादक की आत्मा ही स्वरों का रूप धारण करके, कल्पना और वेदना से प्रेरित होकर भांति-भांति से जो स्वर-योजना करने लगती है, वही संगीत है।'[4] आत्मा की भावानुभूति के आलोक से मनमाने स्वर जीवन की सम्पूर्ण वेदना लेकर उत्कृष्ट संगीत को जन्म देते हैं, जिसे सुनकर श्रोता उन्मुक्त अवस्था का अनुभव करता है और संगीतकार नाद-ब्रह्म को प्राप्त करता है। 'यद्यपि साहित्य-शास्त्र से संगीत-शास्त्र भिन्न है, पर विद्वानों ने 'संगीतमपि साहित्यम्' कहकर संगीत को भी साहित्य-कुसुमवन का एक सुगन्धित पुष्प मान लिया है और वास्तव में यह उचित ठीक है, कारण कि शब्द-शास्त्र में वर्णोच्चार तीन प्रकार के हैं—लघु, गुरु और प्लुत। इन्हीं तीनों से साहित्य शास्त्र ओतप्रोत-परिपूर्ण है। इनमें से पहले दो (लघु और गुरु) को छंदःशास्त्र ने अपने अंग में पूर्ण स्थान दिया है, पर 'प्लुत' बेचारा उनके काम न आया था, तब उसे 'संगीत' शास्त्र ने अपनाया। इस नाते से दोनो (साहित्य और संगीत) का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[5] इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संगीत का मूलाधार 'स्वर' या आहत नाद है। संगीत का मूल उत्स एक होते हुए भी इसका विकास दो रूपों में हुआ है। एक, शास्त्रीय-संगीत और दूसरा, लोक संगीत। सामान्य धरातल पर देखने से ज्ञात होता है कि वास्तव में दोनों प्रकार के संगीत का एक ही आधार है दोनों आहद नाद की कल्पना पर निर्भर करते हैं, दोनो में स्वरों का संगीतमय क्रम है, दोनों में वाणी की संगीतात्मक अभिव्यक्ति होती है, दोनों ही मनुष्य के मन में रंजकता का भाव उत्पन्न करते हैं। किन्तु शास्त्रीय और लोक संगीत की गहराई में जाने पर ज्ञात होता है कि वस्तुतः दोनो ही प्रकार के संगीत की प्रेरणाभूमि एवं उत्स का स्थान भिन्न है, चाहे अपनी आदिम अवस्था में शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत एक भाव एवं विषय की भूमि पर अंकुरित अथवा प्रस्फुटित हुए हों परन्तु आज तो निश्चित ही इन दोनों की दो स्वतंत्र शैलियां, दो स्वतंत्र इतिहास एवं दो स्वतंत्र परम्पराएं हैं। इनका विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

---

1 कोमल कोठारी 'साहित्य संगीत और कला' पृ. 152।
2 श्री उमेश जोशी 'भारतीय संगीत का इतिहास' पृ. 35।
3 कोमल कोठारी—साहित्य-संगीत और कला पृ. 152।
4 श्री भगवतशरण शर्मा -हिन्दुस्तानी संगीतशास्त्र : (द्वितीय संस्करण) पृ. 5।
5 श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'—'काव्य प्रभाकर' (सम्पादक प. सुधाकर पांडेय नव सम्पादित—प्रथम संस्करण-सम्वत्—2028), पृ. 87।

**(1) शास्त्रीय संगीत—**

शास्त्रीय संगीत मुख्यतः राग-रागिनी का संगीत है। इन राग-रागिनियों का अभिव्यक्तिकरण भी विभिन्न चमत्कारपूर्ण शैलियों में किया जाता है। शास्त्रीय-संगीत की परिभाषा देते हुए संगीताचार्य श्री विष्णु दिगम्बर भातखण्डे ने लिखा है—'किसी निश्चित स्वर-समूह को निश्चित क्रमानुसार उनके आपस के वजन को कायम रखते हुए अर्थात् बहुत्व-अल्पत्व का ध्यान रखते हुए उनके वैशिष्ट्य को कायम रखते हुए, परिश्रम से मँजी-मँजाई आवाज में गाकर अथवा हस्तकौशल द्वारा वाद्य पर बजाकर अपनी स्वाभाविक प्रतिभा तथा अनुभव-प्राप्त कुशलता से अधिकतम आनन्ददायी बनाते हुए रसनिर्माण करने को ही 'राग-संगीत' अथवा रागदारी-संगीत कहते हैं।'[1]

यह राग-संगीत ही गेय-संगीत है, गान के अतिरिक्त वाद्य और नृत्य भी संगीत के अंग हैं। संगीत-रत्नाकरकार ने इन तीनों के योग को ही संगीत की संज्ञा प्रदान की है—

गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते

डॉ० भगवत शरण उपाध्याय ने संगीत को सप्ताङ्ग प्रधान माना है। ये सात अंग हैं—राग, स्वर, ताल, वाद्य, नृत्य, भाव और अर्थ। इनमें नृत्य, नाच से संबंध रखता ही है, साथ ही भावनृत्य, गीत और अभिनय तीनों की स्थितियां व्यक्त करता है। अर्थ का सम्पर्क राग और ताल से है।[2]

**(1) संगीत के आधार तत्त्व—**

राग, देश, काल, वेला एवं परिस्थिति आदि राग-संगीत के आधार तत्त्व हैं। संगीत के इन आधार तत्त्वों का यथोचित ज्ञान गायक के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं।[3] इन आधार-तत्त्वों का क्रमिक विवेचन निम्नांकित है—

(क) **राग**—'जो मन का रंजन करे वह राग है।' यह राग की सार्वभौम परिभाषा है।[4] इतना तो निश्चित है कि राग केवल मात्र सांगीतिक धुन या नियमविहीन स्वरों का उपयोग नहीं है। 'संगीत रत्नाकार' के टीकाकार कल्लिनाथ ने राग का स्वरूप बताते हुए लिखा है—

चतुर्णामपि वर्णानां यो रागः शोभनो भवेत्।
स सर्वो दृश्यते येषु तेन रागा इति स्मृताः॥

अर्थात् जो राग स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी वर्णों से शोभित हो और वह सब कुछ (चारों वर्ण) जहां दिखाई दे वह राग है।

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि राग का आविर्भाव सुनियोजित स्वरों के प्रयोग द्वारा होता है। रागों में प्रयुक्त स्वरों के आधार पर उनकी तीन मुख्य

---

1 श्री विष्णुनारायण भातखण्डे, क्रमिक पुस्तक मालिका (भाग छठा), पृष्ठ 23-24।

2 हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—प्रथम भाग—प्रथम संस्करण (सम्पादक—डॉ. राजबली पाण्डेय), पृ. 653।

3 श्री जगदीश नारायण पाठक, संगीत निबन्ध माला, पृ. 136।

4 'रंजको जन चित्तानां स च रागो उदाहृतः।' मतंग मुनि।

जातियाँ मानी गई हैं। जिन रागों में सातों स्वर प्रयुक्त होते हैं वह सम्पूर्ण, जिनमें छः स्वर प्रयुक्त होते हों वह षाड़व और जिनमें पांच स्वर प्रयुक्त हों उन्हें औड़व कहा जाता है।[1]

इन्हीं मुख्य स्वरों के योग से विभिन्न राग-रागिनियों का निर्माण किया जाता है। शास्त्रीय राग की उत्पत्ति के लिये कम से कम पांच स्वरों का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। इन पांच स्वरों में भी षड्ज-मध्यम या षड्ज-पंचम होना आवश्यक है। पांच से कम स्वरों की अवतारणा करने वाली स्वरावली को राग-रागिनी की शास्त्रीय कोटि में स्वीकार नहीं किया जाता। संगीत शास्त्र के अनुसार शास्त्रीय राग-रागिनियों के अपने स्वरमय एवं देवमय स्वरूप हैं। राग के प्रभाव को रस की कसौटी पर परखा गया है।

(ग) काल—भारतीय संगीत की राग-रागिनियों के गायन का विशिष्ट काल होता है। किसी विशिष्ट ऋतु एवं विशिष्ट समय पर गाने से ही राग की रंजकता मिलती है। अ-काल गायन से राग-रागिनियों की प्रभावात्मकता क्षीण होती है। अतः विभिन्न संगीताचार्यों ने काल-सम्मत गायन का प्रबल समर्थन किया है। गायन-काल सिद्धान्त के भी दो विभाग हैं—एक समय-सिद्धान्त, दूसरा ऋतु-सिद्धान्त—

(1) समय-सिद्धान्त—राग-रागिनियों का समय-सिद्धान्त एक आवश्यक नियम माना गया है। श्री कोमल कोठारी के मतानुसार समय-सिद्धान्त का आधार स्वर-सप्तक के विभाजन में है—एक पूर्वांग एवं अन्य उतरांग।

पूर्वांग में पहिले चार स्वर (सा रे ग म) एवं उतरांग में अन्तिम चार स्वर प्रधान (प ध नि सा) माने गये हैं। जिन रागों का वादी पूर्वांग में है उन रागों को अर्धरात्रि से मध्याह्न—दिन तक गाया जाता है। ऐसे रागों को पूर्वांगप्रधान राग कहा गया है और जिन रागों का वादी स्वर उतरांग में है उन रागों को मध्यदिवस से मध्यरात्रि तक गाया जाता है। इन रागों को उतरांगप्रधान राग कहा गया है।[2] समय-सिद्धान्त की जानकारी के बिना भारतीय राग-संगीत को जानना-समझना दुष्कर है। भानु कवि ने 'काव्य प्रभाकर' में विविध राग-रागनियों का गायन-समयानुकूल जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह सम्पूर्ण औचित्यमय जानकारियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[3]

(2) ऋतु-सिद्धान्त—समय-सिद्धान्त के समान ही ऋतु-सिद्धान्त का भी अपना महत्व है। ऋतुनुकूल गायन से राग में रंजकता आती है और उसका प्रभाव आह्लादकारी होता है, जैसे वर्षा ऋतु में मल्हार राग का विशेष महत्व होता है और बसंत ऋतु में बसन्त, बसन्त-बहार, काफी होली आदि रागों का। शास्त्रीय-संगीत के गायक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह रागों का समयानुकूल प्रयोग करे। श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने रागों के ऋतुनुकूल गायन का चित्रण निम्नांकित दोहों में किया है—

---

1 देखिये—श्री जगदीश नारायण पाठक रचित संगीत-मीमांसा।

2 श्री कमल कोठारी—साहित्य संगीत और कला, पृ. 166।

3 श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'—'काव्य-प्रभाकर, पृ. 114-115।

षट् ऋतु में सब राग को, समयो रूप दुकूल ।
ग्रन्थन के मत तें कहौं, जाति-वरन-स्वर-मूल ॥
हिण्डोल राग वसन्त भैरव, रूप ग्रीषम मानिये ।
पुनि मेघ वर्षा शरद सुन्दर, मालकौंस बखानिये ॥
हेमन्त दीपक शिशिर श्री जुग, मास मास उदोत हैं ।
दिन रैन ब्रजपति के सदा, षट् राग षट् ऋतु होत हैं ॥[1]

**ताल और लय**—काल-सम्बन्धी ज्ञान के पश्चात् शास्त्रीय गायन को समझने के लिये ताल और लय का ज्ञान भी अति आवश्यक है; क्योंकि ताल और लय के विना शास्त्रीय-संगीत का गायन सम्भव नहीं है। संगीताचार्यों का मत है कि 'काल' एवं 'मान' को मिलाने से ताल उत्पन्न होता है। ताल के 'काल एवं मान' का अस्तित्व लय की सहज गति पर निर्भर करता है। काल के एक सहज एव सुनिश्चित मान के पश्चात् आने वाली निरन्तर प्रक्रिया को लय कहते हैं। इसी लय का जब काल एवं मान की दृष्टि से विकास किया जाता है – अर्थात् भिन्न-भिन्न काल एव भिन्न-भिन्न मानों में विभिन्न लयों के टुकड़ों को जोड़ने का उपचार किया जाता है तो ताल का जन्म होता है।[2]

भरत मुनि ने शास्त्रीय संगीत में विभिन्न मात्राओं एवं निश्चित वजनों के आधार पर विभिन्न तालों का वर्णन किया है। शास्त्रीय रागों के समान ही तालों के भी अनेक विभाजन किये गये हैं। भरत मुनि ने 108 तालों का उल्लेख किया है, परन्तु उन ताल-प्रकारों का अस्तित्व उसी रूप में सुनने को नहीं मिलता। इस समय मुख्यत: दादरा (छह मात्रा), चाचर (सात मात्रा), रूपक (सात मात्रा), कहरवा (आठ मात्रा), झपताल (10 मात्रा), एक ताल (बारह मात्रा), चौताल (बारह मात्रा), झूमरा (चौदह मात्रा), दीपचंदी (चौदह मात्रा), आड़ा चौताल (चौदह मात्रा), धमार (चौदह मात्रा), तिलवाड़ा (सोलह मात्रा) एवं त्रिताल (सोलह मात्रा) तालों का प्रचलन है। इन तालों को खाली, भरी और सम के सुनिश्चित आवृत्तिक्रम में बजाया जाता है। अधिकतर ताल को व्यक्त करने वाले अवनद्ध वाद्य होते हैं। उत्तरी भारत में मृदंग, पखावज, खोल और तबला प्रमुख ताल वाद्य हैं। इन वाद्यों में बजने वाली ताल को गायक का अनुकरण करना पड़ता है।

गायक जिस गीत को गाता है, वह भी ताल की मात्राओं के वजनों पर निबद्ध होता है। गायन एवं ताल का रूप समान वजनों पर निश्चित रहता है। गायक किसी भी स्थिति में ताल का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जहां गीत में सम का बोल है—उस बोल को निश्चित काल या स्वरों के प्रयोग के उपरान्त सम पर आना अनिवार्य है। एक ही ताल में विभिन्न लयकारियों का प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। विशिष्ट लय के दुगुन, तिगुन, चौगुन एवं अन्य गुणन भी हो सकते हैं। आचार्य भरत के अनुसार, छन्द, अक्षर, तथा पदों की समता को 'लय' कहा जाता है। वस्तुत: तालक्रिया के अनन्तर किया जाने वाला विश्राम

---

1 श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', काव्य-प्रभाकर, पृ. 95।
2 श्री कोमल कोठारी –साहित्य संगीत और कला—पृ. 166।

लय कहा जाता है। कला (गुरु-ताल) के कालान्तर से लय को विलम्बित, मध्य और द्रुत नामक तीन लय-रूपों में विभक्त किया जाता है।[1] विलम्बित लय धीमी लय को कहते हैं। विलम्बित लय की दुगुन लय को मध्य लय और मध्य लय की दुगुन लय को द्रुत लय कहते हैं।

संगीतकार, गायन की लय को निश्चित करते समय राग एवं गीत के भाव को प्रमुखता देते हैं। यदि राग की प्रकृति एवं अवसर चंचलता, गतिमयता एव प्रसन्नता के द्योतक हैं तो गीत के बोल भी वैसे ही होंगे, और साथ ही ऐसे गीतों की लय भी गतिपूर्ण एवं प्रसन्नता की द्योतक होगी। इसमें मध्य अथवा द्रुत लय का ही उपयोग किया जायेगा। इसी प्रकार यदि राग एवं गीत का भाव गम्भीर, शान्त, दार्शनिक-चिंता से परिपूर्ण अथवा प्रभुत्व का परिचायक होगा तो उसका गायन विलंबित लय में निबद्ध होगा।[2]

(२) वाद्यसंगीत—भारतीय शास्त्रीय संगीत में गायन के साथ ही शास्त्रीय वाद्यों का वादन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वादन दो प्रकार का होता है, एक वादन तो गायन के संगत के रूप में होता है और अन्य वादन अपने आप में संगीत की स्वतंत्र अवतारणा करता है। पहले स्वतंत्र वाद्य के रूप में वीणा-वादन का प्रचलन था तथा अब सितार-वादन अत्यधिक प्रचलित है।

भारतीय संगीत में संगत-वाद्य-वादन की प्रथा प्राचीनकाल से चली आ रही है। संगीतशास्त्र में मुख्यतः चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिलता है।[3]

क—घन वाद्य ये धातु या लकड़ी के बने होते हैं जिनमें रगड़ या आघात के द्वारा ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इनका स्वर वाद्य की प्रकृति पर निर्भर करता है। घन वाद्यों में मंजीरा, ताल, झांझ, कठताल आदि प्रमुख हैं। इनका प्रयोग लयदारी के लिये किया जाता है। शास्त्रीय संगीत में इनका प्रयोग लगभग नहीं होता है।

(ख) अवनद्ध वाद्य—अवनद्ध वाद्य चमड़े के मढ़े हुए वाद्यों को कहा जाता है। इनको दोनों हाथों या किसी आघात की वस्तु (लकड़ी) से बजाया जाता है। इनमें ढोल, ढोलक, तबला, पखावज एवं मृदंग आदि हैं। इन अवनद्ध वाद्यों को रस्सी या चमड़े की बद्धियों से खींचकर विशिष्ट स्वर में मिलाया जाता है। अवनद्ध वाद्य लय के साथ ताल को भी व्यक्त करते हैं।

(ग) सुषिर वाद्य—फूंक से बजने वाले वाद्य सुषिर वाद्य कहलाते हैं। बांसुरी, शहनाई आदि मुख्य सुषिर वाद्य हैं। ये मुख्यतया संगतवाद्य हैं; परन्तु इन पर संगीत के रागों की स्वतन्त्र अवतारणा भी की जाती है।

---

1 डॉ. रघुवंश कृत—'भरत का नाट्यशास्त्र'—भाग—1 (प्रथम संस्करण) अध्याय—4, पृ. 166।

2 श्री कोमल कोठारी—साहित्य संगीत और कला, पृ. 169।

3 श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' : काव्य-प्रभाकर, पृ. 94।

**तंतवाद्य या तन्त्र वाद्य**—शास्त्रीय संगीत में सबसे महत्त्वपूर्ण तंतवाद्य ही हैं। इनमें वीणा के विविध प्रकार, सारंगी, सरोद, सितार, दिलरुबा, रबाब आदि प्रमुख हैं। तंतुवाद्य के मुख्यतया दो स्वरूप हैं– एक तो वे जो गज की सहायता से बजाये जाते हैं—जैसे सारंगी और अब वायलिन और दूसरे वे वाद्य जो हाथ के आघात से बजाये जाते हैं, जैसे वीणा, सितार आदि। गज से बजने वाले तंत्र वाद्य का प्रयोग संगत वाद्य के रूप में अधिकांशत: प्रचलित है। आघात से बजने वाले तंत वाद्यों ने अब अपनी स्वतन्त्र गतों का निर्माण कर लिया है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता बना ली है। इन वाद्यों में जो गतें बजाई जाती हैं, वे गायन में गत के बोलो की भांति ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। गायन में जहां आलाप, गत एवं तान का प्रभुत्व होता है, वहां वादन में यही क्रम आलाप, गत, एवं झाले के रूप में विकसित हो गया है।

शास्त्रीय संगीत में तंत वाद्य के क्षेत्र में तानपुरा प्रमुख तंत्र वाद्य है। यह चार तारों का तंत वाद्य है; किन्तु संगीत गायन के क्षेत्र में इसका एकछत्र राज्य है। तानपुरे के तारों को षड़ज पंचम अथवा षड़ज मध्यम स्वर पर मिलाया जाता है। इन तारों को छेड़ने से निरन्तर इन्हीं स्वरों का घोष होता रहता है। गायन के लिये एक विशिष्ट स्वर-स्थापन की आवश्यकता होती है। तानपुरा उसी स्वर का स्थापन करता है जिससे गायक को अन्य स्वरों की ध्वनि उत्पन्न करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार तानपुरा श्रुतिवाद्य कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राग एवं राग के स्वरमय स्वरूप, राग का समय, लय और ताल, वाद्य एवं उनके वादन की सूक्ष्म क्रियाओं के बीच में शास्त्रीय संगीत का उद्भव होता है। इन सभी संगीत-क्रियाओं पर गायक को अधिकार प्राप्त करना अनिवार्य है तभी शास्त्रीय संगीत का सृजन सम्भव होगा। शास्त्रीय संगीत की साधना के लिए अथक परिश्रम और एकान्तिक निष्ठा तथा अटूट लगन की नितान्त आवश्यकता है। इसके अभाव में उत्कृष्ट शास्त्रीय संगीत की साधना नहीं हो सकती।

**(2) शास्त्रीय संगीत परम्परा—**

प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि ऐसे अनेक संगीतकार हुए हैं जिनका सम्पूर्ण जीवन संगीत साधना को समर्पित था। इन संगीतज्ञों में भरत, शाङ्गर्देव, मतङ्ग प्रभृति प्राचीन युगीन व स्वामी हरिदास, बैजूबावरा, गोपाल नायक, तानसेन, खुसरो प्रभृति मध्यकालीन एवं विष्णुनारायण भातखण्डे, विष्णुदिगम्बर पलुस्कर आदि आधुनिक युग के संगीत-साधकों का नाम लिया जा सकता है। जिन्होंने शास्त्रीय संगीत का प्रचार, प्रसार, परिष्कार, उत्कर्ष एवं पुनरुत्थान किया है। इन्होंने संगीत को ही ईश्वर-प्राप्ति का प्रमुख साधन माना और अन्तत: नादब्रह्म में लीन हो गये। इनके जीवन का प्रधान लक्ष्य कलापूर्ण संगीत-साधना था—भावपूर्ण

[illegible] साधना की ।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भक्त हुए हैं जिन्होंने संगीत और काव्य की समन्वित साधना द्वारा ईश्वर की आराधना की । कृष्णभक्त कवियों में सूरदास, मीरां प्रभृति ऐसे भक्त गायक कवि अथवा वाग्गेयकार हुए हैं जिन्होंने शास्त्रीय संगीत, लोक-संगीत, नृत्य आदि के विविध रूपों को लेकर विशिष्ट काव्यमय सङ्गीत शैली को जन्म दिया । शास्त्रीय सङ्गीत के अनन्तर लोक-सङ्गीत का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत है ।

(3) लोक-संगीत—

लोक-संगीत हमारे सामाजिक सम्बन्धों का संगीतमय इतिहास है । इस इतिहास में हमारी पीढ़ियों के मानवीय सम्बन्ध, रीति-रिवाज, विश्वास व मान्यताएं, जीवन के मार्मिक अनुभव, प्रेम की मधुर कल्पना और समाज को एक सूत्र में पिरोने की लालसा का भावनात्मक प्रतिफलन रहता है । श्री कोमल कोठारी ने लोक-संगीत के उद्गम के विषय में निम्न विचार प्रकट किये हैं—

'लोक-संगीत समाज की एक सहज आवश्यकता है । अपने नैतिक मूल्यों, सामाजिक उत्सव-त्योहारों, रीति-रिवाजों और सामाजिक कार्यों के दौरान यह संगीत जन्म लेता है । लोक-संगीत का सर्जक एक व्यक्ति नहीं होता, इसकी उद्भावना जन-समूह में, प्रचलित और [illegible] संगीतात्मक धुनों के आधार पर होती है ।'[1]

वस्तुतः लोक-संगीत तो सहज स्वाभाविक, अचेतन और प्रकृतिमय सृजन-क्रिया है इसलिये उसके उद्गम को पहचानना सम्भव नहीं होता । प्रकृति में जिस प्रकार [illegible] कली प्रभात होते-होते विविध वर्णों से विभूषित होकर खिल उठती है और उसके खिलने व रंगीन होने की प्रक्रिया का आभास आंखों को नहीं आता—उसी प्रकार लोक-संगीत का सृजन भी अजाने एवं स्वयं-स्फूर्त अभिव्यञ्जना के रूप में होता है ।

1—लोक-संगीत एवं शास्त्रीय संगीत में अन्तर—

श्री कोमल कोठारी के मतानुसार लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत के मुख्य अन्तर निम्नांकित हैं :—

1. 'लोक-सङ्गीत में लय की अत्यन्त सहज प्रवृत्ति का प्राधान्य है । यहां लय का मात्रात्मक शास्त्रीय विधान नहीं होता, जबकि शास्त्रीय सङ्गीत में लय का विकास ताल की मात्राओं के सुनिश्चित गणन एवं गुणन की जटिलताओं में विभाजित रहता है । लोक-सङ्गीत का सहज मात्रा-क्रम, अपनी प्रवृत्ति, काल एवं मान के स्पष्ट वजनों में बंटा रहता है । किन्तु शास्त्रीय तालों का विभाजन विशिष्ट ताल-खाली, भरी और सम पर निर्भर करता है । लोक-सङ्गीत में निश्चित खाली भरी और सम का निर्वाह नहीं किया जाता । अपनी प्रवृत्ति एवं अनुकृति के अनुसार लय निर्धारित होती है । जिस प्रकार शास्त्रीय सङ्गीत में लय को कायम रखना और ताल में चलना आवश्यक है, उसी प्रकार लोक-सङ्गीत में केवल लय और

1 श्री कोमल कोठारी 'साहित्य संगीत और कला', पृ. 172 ।

मात्राओं के वजन का ध्यान रखना ही पर्याप्त है।'[1]

2—शास्त्रीय संगीत में जहां सोलह मात्राओं की त्रिताल व चौदह मात्राओं की दीपचंदी आदि तालों का समुचित व सुनिश्चित क्रम विभाजन किया जाता है वहां लोक-संगीत (विशेषकर राजस्थानी लोक-संगीत) में लय-प्रवृत्ति मुख्यत: 6, 7 और 8 मात्राओं में विभाजित रहती है। मात्राओं की ये संख्याएं शास्त्रीय संगीत में दादरा (छह मात्रा) चाचर, तीव्रा, रूपक (सात मात्रा) एवं कहरवा (आठ मात्रा) तालों के नाम से जानी जाती हैं। इन्हें 'श्रद्धा' भी कहते हैं।[2] लोक-संगीत सहज लय का उपयोग करता है।

3—लोक-संगीत में लयात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिये ढोल, ढोलक, मादल, डेरू, डफ, नगारा, आदि अनेक अवनद्ध वाद्य और मंजीरा, ताल, झांझ, चींपिया, कठताल (करताल) जैसे घनवाद्य हैं। इनमें से अवनद्ध वाद्य लोक-संगीत में लय की वृति को विशिष्ट मात्राओं के रूप में व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं और घनवाद्य केवल गति को व्यञ्जित करते हैं। शास्त्रीय-संगीत में गायक और तवलावादक जिस प्रकार ताल के सम को लेकर विभिन्न उत्कृष्ट शैलियों की अवतारणा करते हैं, उसी प्रकार ढोलक की संगत लोक-संगीत में होती है परन्तु इस संगत में खाली, भरी एवं सम के निभाव का कोई विशिष्ट नियम नहीं होता है।[3]

4—राजस्थान के लोक-संगीत में निसांण, एकतारा व दो तारा ही ऐसे वाद्य हैं जो श्रुति-वाद्यों की श्रेणी में आते हैं। इस वाद्य की हम शास्त्रीय संगीत के तानपूरे से तुलना कर सकते हैं। शास्त्रीय संगीत के तानपूरे का उपयोग केवल श्रुति देने के लिये किया जाता है परन्तु तंदूरे या निसांण से श्रुति एवं लय-दोनों का काम लिया जाता है। तानपूरे के विपरीत तंदूरे को दायें से बायें की ओर आघात करके बजाया जाता है। इस आघात-क्रिया से लय का स्वरूप निखर जाता है। दादरा, चाचर और कहरवे की लय को व्यक्त करने के लिये भिन्न-भिन्न ढंग से आघात किया जाता है। तदूरा या निसांण मुख्यतया, भजन, वाणी और भक्ति-संगीत के काम में आता है।[4] मीरां ने इस वाद्य का वहुल प्रयोग किया है—

'लोक लाज की काण न मानूं।
निरभै निसाण घुरास्यां, हो माई।'[5]

5—लोक-संगीत में स्वरों का प्रयोग तो होता है किन्तु गायक स्वरों के प्रति सजग नहीं होता। वह कौन सा स्वर काम में ले रहा है और किसे छोड़ रहा है—यह उसे ज्ञात नहीं होता।[6]

---

1 श्री कोमल कोठारी-साहित्य संगीत और कला—'शास्त्रीय संगीत एवं लोक-संगीत, पृ. 176।
2 वही, पृ. 175।
3 श्री कोमल कोठारी—'साहित्य संगीत और कला'—'शास्त्रीय संगीत एवं लोक-संगीत', पृ. 177।
4 कोमल कोठारी—शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत, पृ. 179।
5 मीरा. पदा., पद—35, पृ. 110।
6 कोमल कोठारी—शास्त्रीय संगीत और लोक-संगीत, पृ. 180।

6—इस रीति के शास्त्रीय संगीत में काव्य का स्थान अत्यन्त गौण हो जाता है, केवल ध्वनि के विविध चमत्कारों द्वारा रंजकता की सृष्टि की जाती है, जबकि लोक-संगीत की सम्पूर्ण भावनात्मक अभिव्यञ्जना का आधार काव्य पक्ष रहता है। लोक-काव्य में अभिव्यक्त भाव-सौंदर्य को स्वरों के माध्यम से सशक्त, सुन्दर और प्रभविष्णु बनाने का उपक्रम किया जाता है। लोक-गायकों का संगीत छन्दगान के समान होता है। राजस्थान के ऐसे लोकगीतों में दोहों एवं सोरठों का बाहुल्य है।[1]

इन छन्दों को गतिपूर्ण संगीतात्मक पंक्ति के द्वारा एक माला में पिरो दिया जाता है। दोहे या सोरठे में व्यक्त भावों के अनुकूल ही स्वर की संयोजना की जाती है। दोहों को विभिन्न प्रकार से गाने की शैलियों ने, राग के समान ही, विविध रूप ले लिया है। वस्तुतः ये विविध गायन-शैलियां ही राजस्थान के लोक-संगीत की रागें हैं; परन्तु इन रागों ने अभी राग की सम्पूर्ण परिभाषा को आत्मसात नहीं किया है। अतः उन्हें लोक-राग कहना ही उचित होगा। ऐसी रागों में हम मांड, सूप, सामेरी, आसा, मारु आदि को ले सकते हैं। राजस्थान के भक्ति-संगीत में इन लोक-रागों का प्राधान्य है। मीरां ने भी इन लोक-रागों या लोक-धुनों का प्रचुर प्रयोग किया है।

(2) लोक-गीत परम्परा—

लोक-गीत परम्परा का मूल उत्स वैदिक-काल है। स्तोत्र का लोक-गीतात्मक रूप स्तुतिगीत है। स्तोत्र में जहां आराध्य-विशेष की प्रशंसा व विरुदावलियां रहती हैं, वहां स्तुतिगीत में इन भावों के साथ ही आराधक की दीनता, हीनता, दयनीयता के प्रदर्शन द्वारा ईश्वर से विशेष अनुकम्पा के लिये प्रार्थना रहती है। मध्य काल में इस स्तोत्र व स्तुतिगीत-परम्परा का नव्य विकास 'आराधना गीत' और 'प्रार्थनागीत' के रूप में हुआ। आराधनागीत में आराध्य के रूप, गुण, ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन रहता है, आत्मदैन्य का विवरण प्रायः नहीं होता है जबकि प्रार्थनागीतों में प्रभु के रूप, गुण और ऐश्वर्य के साथ उसके कृतित्व और कर्तृत्व का सविस्तार वर्णन एवं आत्मदैन्य का कथन रहता है, इस प्रकार की प्रार्थना द्वारा आराध्य को द्रवित करने की चेष्टा रहती है। प्रार्थना-गीतों में भाव-भक्तिमूलक आवेश का चित्रण अधिक होता है और आराधना-गीतों में आराध्य की महिमा का विस्तार। प्रार्थनागीत हृदय की एकाग्रता सूचित करते हैं और आराधनागीत आराध्य-विशेष की आराधना का हेतु उपस्थित करता है। प्रार्थनागीतों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं—भजन।[2] पद-शैली में रचित भजन गेय और आन्तरिकता व्यक्त करने वाले होते हैं, इनमें आराध्य के प्रति अनन्य निष्ठा और पुनरुक्ति की सीमा तक पहुंचने वाले भाव और रूप रहते हैं।

---

1 कोमल कोठारी—शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत, पृ. 180

2 कोमल कोठारी—साहित्य संगीत और कला—शास्त्रीय संगीत और लोक-संगीत, पृ. 181।

**(७) भक्तिकालीन संगीत : शास्त्रीय संगीत व लोक-संगीत का मिश्रण भजन-शैली की प्रधानता—**

वस्तुत: भक्तिकाल में संगीत ने अपनी वैदिकयुग के पश्चात् खोई हुई प्रतिष्ठा पुन: प्राप्त की। वैदिक युग में संगीत का स्वरूप अत्यन्त पावन तथा मङ्गलप्रद था। संगीत का उद्देश्य ईश्वरोपासना व उसकी (ब्रह्म की) संप्राप्ति था; परन्तु बाद के युगों में उसका (संगीत का) यह स्वरूप भुला दिया गया और वह लोकरञ्जन की वस्तु बन गया। शास्त्रीय-संगीत की आराधना एक वर्ग-विशेष तक सीमित हो गई। संगीत की दोनों धाराएँ पृथक्-पृथक् बहने लगीं। भक्तिकालीन कवियों ने इस तत्त्व को जाना। उन्होंने इन दोनों धाराओं का सन्तुलित समन्वय किया तथा उसे अपनाया। उन्होंने शृङ्गार के रसराजत्व को स्वीकार किया और उसका परिष्कृत रूप अपने साहित्य में गेय पदों के रूप में प्रस्तुत किया। इन भक्त-कवियों ने जिस भक्तिधारा का प्रतिनिधित्व किया वह प्रेमलक्षणा-भक्ति से समन्वित लौकिक प्रेम-धारा है। उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण का नाना रूपों में गुणगान किया है। उनके श्रीकृष्ण अलौकिक सौंदर्ययुक्त, नटखट बालक, परमप्रेमी नायक और वीर नेता थे। आराध्य के ये विभिन्न रूप आराधकों ने विविध शैलियों और विविध भाषाओं में प्रेमपूर्वक प्रस्तुत किये। आराध्य की विभिन्न लीलाओं का गान उन्होंने रसानुकूल राग-रागिनियों में प्रस्तुत किया। ये राग-रागिनियां शास्त्रीय-सङ्गीत-परम्परा से गृहीत थीं, अत्यन्त कोमल प्रकृति की होने के कारण सहज गेय थीं और और इनका अनुकरण सुगमतापूर्वक किया जा सकता था। श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट के शब्दों में—'ध्रुपद तथा ख्याल के समान भजन, गायन की एक विशिष्ट शैली है; परन्तु इसमें आलापों तथा तानों की विशेष छटा दृष्टिगोचर नहीं होती और न ध्रुपद तथा ख्याल के समान गम्भीरता ही। यह तो भक्त के हृदय के कोमलतम भावों की अभिव्यञ्जना है। भक्त जब अपने हृदय के उमड़ते हुए भावों को दबाने में असमर्थ होता है तब उसके वे भाव सरस तथा सरल स्वर-लहरी में मुखरित हो उठते हैं। यही भजन की विशेषता है। इसी कारण भजनों में केवल ऐसे रागों का प्रयोग होता है जो सरल और सुबोध हैं उदाहरणार्थ—खमाज, देश, मांड, तिलङ्ग, काफी, भीमपलासी, जोगिया, आसावरी, भैरवी, पीलू, इत्यादि।'[1]

**भक्तियुग के सुप्रसिद्ध (गायक-कवि) वाग्गेयकार—**

प्राचीनकाल में जिन संगीत-विद्वानों को पद्य-रचना व स्वर-रचना दोनों का ज्ञान होता था उन्हें वाग्गेयकार संज्ञा दी जाती थी। 'वाक्' अर्थात् पद्य-रचना और 'गेय' अर्थात् स्वर-रचना—इन्हें मातु-धातु भी कहते हैं। संक्षेप में यह कि वाग्गेयकार को साहित्य व संगीत दोनों का ज्ञान होना अनिवार्य था।[2]

---

1 आचार्य विश्वम्भर भट्ट, संगीत पत्रिका—भजनांक (जनवरी-फरवरी-1942) सम्पादकीय लेख, पृ. 5।

2 शाङ्र्गदेव ने वाग्गेयकार के जो आवश्यक गुण बताये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

वाङ्मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते।
वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः॥

[शेष पाद-टिप्पणी पृ. 300—301 पर]

विद्यापति हिन्दी कृष्णभक्ति साहित्य के प्रथम वाग्गेयकार थे जिनकी प्रतिष्ठा संगीतज्ञ गुणीजनों और सामान्य हृदयजनों में समान रूप से हुई। उन्होंने जहां अपने पदलालित्य से संगीत-विशारदों को चमत्कृत किया, वहां अपने सहज गेय पदों द्वारा सामान्य जनों को भी आकृष्ट किया। आज भी उनके सरस-गीत व

---

पाद टिप्पणी—

शब्दानुशासनज्ञानमभिधान प्रवीणता ।
छन्दः प्रभेदवेदित्वमलङ्कारेषु कौशलम् ॥
रसभावपरिज्ञानं देशस्थितिषु चातुरी ।
अशेषभाषाविज्ञानं कलाशास्त्रेषु कौशलम् ॥
तूर्यत्रितयचातुर्यं हृदयशारीरशालिता ।
लयतालकलाज्ञानं विवेकोऽनेक काकुषु ॥
प्रभूतप्रतिभोद्भेदभावत्वं सुभगगेयता ।
देशी रागेष्वभिज्ञत्वं वाक्पटुत्वं सभाजये ॥
रागद्वेषपरित्यागः सार्द्रत्वमुचितज्ञता ।
अनुच्छिष्टोक्ति निर्बन्धो नूत्नधातुविनिर्मितिः ॥
परचित्तपरिज्ञानं प्रबन्धेषु प्रगल्भता ,
द्रुतगीत विनिर्माणं पदान्तरविदग्धता ॥
त्रिस्थान गमकप्रौढिर्विविधालप्तिनैपुण्यम् ,
अवधानं गुणैरेभिर्वरो वाग्गेयकारकः ॥

वाग्गेयकारक के उपर्युक्त गुणों को श्री विष्णुनारायण भातखण्डे ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

1 शब्दानुशासनज्ञान — व्याकरणशास्त्र का ज्ञान
2 अभिधान प्रवीणता — अमरकोशादि ग्रन्थों का ज्ञान
3 छन्दःप्रभेदवेदित्व — सब प्रकार के छन्दों की जानकारी
4 अलङ्कार कौशल — साहित्यशास्त्र में वर्णित उपमादि अलङ्कारों का ज्ञान
5 रसभाव परिज्ञान — शृङ्गारादि रसों तथा विभावादि भावों का उत्तम ज्ञान
6 देशस्थितिज्ञान — देश की स्थिति का सम्यक् ज्ञान
7 अशेषभाषाज्ञान — देश की सब भाषाओं का ज्ञान
8 कलाशास्त्रकौशल — संगीतादि शास्त्रों में प्रवीणता
9 तूर्यत्रितयचातुर्य — गीत, वाद्य और नृत्य में चातुर्य
10 हृदयशारीरशालिता — 'हृदयशारीर' पारिभाषिक शब्द है। 'हृदयशारीर' अर्थात् मनोहर शरीर। अधिक श्रम अथवा अभ्यास न करते हुए जिसको राग की सरल अभिव्यक्ति करना स्वतः आ जाता है उसे 'उत्तम या मनोहर शरीर प्राप्त' व्यक्ति माना जाता है।
11 लयताल-कला-ज्ञान — लय, ताल तथा तालाध्याय में वर्णित कलाओं का ज्ञान
12 अनेक काकु-ज्ञान — भिन्न-भिन्न स्वरभेदों का ज्ञान

भाव पूर्ण 'नाचारियां' मिथिला की अमराइयों में गूंजा करते हैं। विद्यापति के पश्चात् 'भक्तिकालीन पद-साहित्य के निर्माताओं में सूरदास और मीरांबाई सर्वोपरि हैं, और संगीत के दृष्टिकोण से इन्हें निर्विवाद रूप से अप्रतिम स्वीकार किया जा सकता है।* सूरदास कृष्ण भक्तिकाल के सर्वश्रेष्ठ वाग्गेयकार थे। उनके काव्य में संगीत और काव्य दोनों कलाएं चरम उत्कर्ष पर पहुँची हुई हैं। सूर के संगीत में उत्तरवैदिककाल के संगीत (ध्रुपद आदि) की अद्वितीय सुषमा प्रस्फुटित हुई है। शांत, शृंगार, वात्सल्य, करुण, भक्ति आदि रसों से परिपूर्ण भावों को उन्होंने तदनुकूल राग-रागिनियों में बांध कर गाया, जिससे उनके पदों में अद्वितीय प्रभविष्णुता उत्पन्न हुई। उनके पदों में जहां कृष्ण की प्रातःकालीन लीलाओं का वर्णन है वहां प्रातःकालीन गेय रागों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें मुख्यतः प्रभाती की संज्ञा दी गई है, और जहां कृष्ण की सांयकालीन लीलाओं का वर्णन हुआ है वहां सायंकाल में गेय राग-रागिनियों का विधान किया गया है। सूर ने समय सिद्धान्त ऋतु सिद्धान्त आदि संगीतशास्त्रीय परम्पराओं का यथासाध्य परिपालन किया है। संगीत और काव्य का समुचित गठबंधन कर उसे पवित्रता और पावनता के उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने का सर्वाधिक श्रेय सूरदास को है।

सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी वाग्गेय-परम्परा को

---

पाद टिप्पणी—

13 प्रभूतप्रतिभोद्भेदभावत्व— अलौकिक नवनवोन्मेषिणी बुद्धि।
14 सुभगगेयता — सुखद गायन करने की शक्ति
15 देशीरागज्ञान — देशी रागों का ज्ञान
16 वाक्पटुत्व — सभा में विजय पाने योग्य वाक्-चातुर्य
17 रागद्वेषपरित्याग — रागद्वेष का अभाव
18 सार्द्रत्व — सरसता
19 उचितज्ञता — किस स्थान पर क्या उचित होगा—स्थानौचित्य-अनौचित्य ज्ञान
20 अनुच्छिष्टोक्तिनिर्वन्ध — स्वतन्त्र पद-रचना करने की शक्ति
21 नूत्नधातुविनिर्मितिज्ञान — नई-नई स्वर-रचना करने का ज्ञान
22 परचित्त-परिज्ञान — दूसरे के मन का भाव जानने की शक्ति
23 प्रबन्धप्रगल्भता — प्रबन्धों का उत्तम ज्ञान
24 द्रुतगीतविनिर्माण — शीघ्र कविता करने की शक्ति
25 पदान्तर विदग्धता — भिन्न-भिन्न गीतों की छाया का अनुकरण करने की सामर्थ्य।
26 त्रिस्थान गमकप्रौढ़ि — तीनों स्थानों में गमक लेने की शक्ति
27 आलप्तिनैपुण्य — रागालप्ति व रूपकालप्ति का ज्ञान
28 अवधान — चित्त की एकाग्रता

भू० ले०—श्री विष्णुनारायण भातखण्डे—क्रमिकपुस्तकमालिका—(भाग 4) पृ. 54-55, सम्पादक श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग—(नवीन संस्करण)।

* श्री उमेश जोशी—भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 244

[illegible] किया। इनके अतिरिक्त निर्गुण सन्तों के पद भी भक्ति-[illegible] इन पदों में सन्त कबीर के पद सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। कबीर [illegible] रहस्यवादी कवि हैं जिनकी शिक्षापूर्ण कविताएं [illegible] ज्ञान से परिपूर्ण हैं। कबीर के राम निर्गुण और सगुण से परे [illegible] कबीर के अतिरिक्त सन्त तुलसीदास के भजनों का समाज में विशेष आदर [illegible]। गोस्वामी तुलसीदास के राम अनन्त शक्ति, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शील [illegible] मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। आदर्श का इतना श्रेष्ठ निरूपण तुलसी के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने प्रस्तुत नहीं किया। उनका रामचरितमानस आज भी [illegible] से लेकर चौपाल तक सर्वत्र प्रेम पूर्वक गाया जाता है। इसके अतिरिक्त उनकी विनय पत्रिका में निहित पद संगीत और साहित्य के समन्वित [illegible] का उत्कृष्ट उदाहरण है। तुलसी की कोमलकान्त पदावली [illegible] सबको जीवन का आदर्श और नीति का अद्वितीय पाठ पढ़ाती है। मर्मस्पर्शिता व हृदयहारिता उनके पद-पद में दृष्टिगोचर होती है। रामकथा का सर्वश्रेष्ठ गायक यदि तुलसी को स्वीकार किया जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इनके अतिरिक्त भक्तियुग में और भी बहुत से भक्त नादोपासक हुए हैं, जिन्होंने संगीत और काव्य-समन्वित-साधना द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त किया था।

**(3) भारतीय परम्परा में मीरां—**

भारतीय संगीत और साहित्येतिहास में पुरुष गायक-कवियों की कभी कमी नहीं रही। शार्ङ्गदेव, भरत, नारद, मतंग, जयदेव, विद्यापति, हरिदास, सूरदास, तानसेन, बैजू आदि अनेक प्राचीन तथा मध्यकालीन भक्तगायकों के नाम लिये जा सकते हैं, किन्तु इन शताब्दियों के बीच स्त्री-संगीतज्ञों के दो-एक नाम ही मिलते हैं। सम्भव है स्त्रियों में संगीत और काव्य की उच्चतम साधना होती रही होगी; किन्तु उनके नामों के उल्लेख की ओर विद्वान इतिहासज्ञों का ध्यान आकृष्ट न हुआ हो। इसी कारण इतने लम्बे अर्से में केवल मीरां का ही नाम मिलता है जो काव्य और संगीत कला, दोनों में सिद्धहस्त थीं।[1]

भारतीय संगीत के इतिहास में मीरां का अद्वितीय स्थान मानते हुए श्री उमेश जोशी ने लिखा है,

'मीरां की गणना कुशल संगीतज्ञा के रूप में की जाती है। मीरां गायिका है। उनकी समस्त रचना में गीतों अथवा पदों के रूप में ही उनके हृदय का दिव्य निर्माल्य अवतरित हुआ है। मीरां के गीतों में भागवत गाथा-ज्ञान का बोझा नहीं मिलता तथा नागरिकता, रसिकता का भी अत्यन्त अभाव हो गया है। उनके गीतों में यथार्थ-प्रतीति मिलती है जिसमें सहज लोकवृत्ति, सहज हृदयोद्गार है, कहीं भी विषय-वासना एवं कटु भावों का चित्रण नहीं हुआ है। झांझ, मजीरा, करताल व एकतारा के रूप में वाद्य-प्रयोग और नृत्य के साथ गायन करते हुए, संगीत के तीनों अंगों की सफल समन्वित साधना करने का पूर्ण श्रेय मीरांबाई को है। संगीत कला का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, इस कथन का सर्वोत्तम प्रमाण हमें

1 डा. दिनेश चन्द्र गुप्त—भक्ति कालीन काव्य में राग और रस, पृ. 47।

मीरां की गहरी साधना में मिलता है।'[1] तथा कुमारी गजेन्द्रगड़कर के शब्दों में—

'वास्तविक रूप में 'भजन'-शैली को जन्म देकर उसको संगीत का अविभाज्य अंग बनाने का श्रेय भक्त कवयित्री मीरां बाई और भक्तप्रवर सूरदास को है। इन कविद्वय ने भाव की जो सृष्टि की है वह संगीत और साहित्य दोनों क्षेत्रों में सबसे अनोखी है।..........मीरांबाई के भजन भजन-संगीत में अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनमें प्रकट राजस्थानी भाषा के नाद सौन्दर्य ने सबको भावविभोर कर दिया है।'[2]

मीरां के भजन लोकजगत् में सर्वाधिक प्रचलित हैं। बड़े बड़े संगीत-दिग्गजों की संगीत-गोष्ठियों में और सामान्य गृहस्थ के पूजागृहों में उनके पद समान रूप से आदृत हैं। उनके भजनों ने प्रान्तीयता की सीमाओं का उल्लंघन कर सर्वदेशीय व सार्वजनीन प्रसार पाया। अपनी ऋजु भावाभिव्यक्तियों के कारण उनके भजन बिना किसी ठोस आश्रय व सुदृढ़ आलम्बन के आज भी जन-जन के कण्ठहार बने हुए हैं। उनके भजनों की सर्वप्रिय व्यापकता को देखते हुए श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट ने लिखा है –

'आजकल जनता में कदाचित सबसे अधिक प्रचार मीरां के भजनों का है। मीरां के भजन आबालवृद्ध सभी को मन्त्रमुग्ध सा कर देने में सदैव ही समर्थ होते हैं। गिरधर नागर के प्रेम में मतवाली भक्त कवयित्री मीरां के अगाध प्रेम की प्रत्यक्ष प्रतिमा हैं। प्रसाद गुण से परिपूर्ण मीरां के भजन उनके हृदय की उमड़ती हुई प्रेमातुर भावना की चिर स्थाई छाप श्रोताओं पर छोड़ जाते हैं।'[3]

मीरां का संगीत गुजराती संगीत में भी उच्च स्थान रखता है। श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुन्शी ने भी मीरां को गुजरात में प्रचलित भक्तिसंगीत की सर्वश्रेष्ठ प्रचारिका स्वीकार किया है और यह माना है कि नरसी मेहता के पदों से अधिक मीरां के भक्तिपूर्ण पदों द्वारा कृष्णभक्ति का प्रचार व प्रसार गुजरात में हुआ। इस दृष्टि से मीरां गुजरात की ही नहीं वरन् भारत की प्रथम कोटि की गायिका-कवयित्री अथव वाग्गेयकार हैं।

**(4) मीरां का संगीत-ज्ञान –**

मीरां राजकुमारी थीं। वे राजस्थान के दो उच्च राजवंशों से सम्बद्ध थीं। अतः यह नितान्त सम्भव है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा की सुव्यवस्था की गई होगी। बहुत सम्भव है उन्हें नृत्य व संगीत की भी विधिवत् शिक्षा मिली हो। इस अनुमान की पुष्टि अन्तःसाक्ष्य से भी हो जाती है कि मीरां इकतारा बजा कर गाया करती थीं और गिरधर के समक्ष 'पग घुंघरु बांधकर नृत्य करती थीं।........ इस प्रकार गीत-वाद्य और नृत्यसंगीत शास्त्र के तीनों अंगों का मीरां के काव्य में विधान मिलता है। मीरां के संगीत-परिज्ञान के विषय में ध्रुवदास ने लिखा है—

---

1 श्री उमेश जोशी—भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 247-248।

2 कुमारी नलिनी राजेन्द्रगड़कर—भारतीय संगीत में श्रीकृष्णलीला का महत्व-लेख संगीतिका पत्रिका (सितम्बर – 1962) में प्रकाशित, पृ. 93।

3 श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट – संगीत पत्रिका – भजनांक – सम्पादकीय लेख, पृ. 6 (प्रकाशनकाल – जनवरी-फरवरी – 1942)

'नृत्यत नूपुर बांध के गावत ले करतार।
विमल हृदय भक्तनि मिली, तृन सम गन्यो संसार।'[1]

मीरां के संगीतज्ञान की चर्चा करते हुए डॉ. उमा मिश्र लिखती हैं— 'संगीत की दृष्टि से मीरां के पद जहां एक ओर तत्कालीन शास्त्रीय-संगीत के आधार को ग्रहण करते हुए पूरिया कल्याण, बागेश्री, दरबारी, जैजैवन्ती, आनन्द भैरों जैसे रागों में बंधे हैं वहां अनेक पद कजरी, लावनी इत्यादि लोक गीतों की धुन पर भी रचे गये हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि मीरां को संगीत का अच्छा ज्ञान था।'[2]

मीरां के उपलब्ध पदों को भले ही अन्य परवर्ती संगीतज्ञों ने रागबद्ध किया हो और उनकी स्वर-लिपि का निर्माण किया हो, पर मीरां स्वयं गायिका थीं, संगीतज्ञा थीं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

(ख) मीरां की संगीत-योजना –

मीरांबाई मूलतः एक भक्त थीं और उनकी आराधना का प्रधान माध्यम था—संकीर्तन-भजन। हृदय की अतल गहराइयों में पहुँच कर उन्हें जो अनुभूतियां प्राप्त हुईं वे गेय पदों के रूप में स्वतः स्फुरित हो उठीं। उनके हार्दिक उद्गार कविता के रूप में गुम्फित हुए तथा इन पद-प्रसूनों को उन्होंने गायन और नृत्य से अनुरंजित कर अपने आराध्य के चरण कमलों में चढ़ाया। जिस प्रकार स्वान्तःसुखाय काव्य की रचना करने से उच्चकोटि के काव्य का जन्म होता है, उसी प्रकार स्वान्तःसुखाय गायन, वादन तथा नृत्य करने से जो राग या स्वर-लहरियां, हाव-भाव एवं मुद्राएं स्वाभाविक रूप से आविर्भूत हो जाती हैं वे ही आत्मिक कला की अमरनिधि होती हैं। मीरां का लक्ष्य केवल एक था—येनकेनप्रकारेण अपने प्राण-प्रिय को रिझाना, इसी के लिये वे नाचती थीं, गाती थीं। उनकी समस्त चेष्टाएं एकमात्र प्रियतम के लिये ही व्यक्त होती थीं और उन्हें ही समर्पित थीं। मीरां का लक्ष्य सामान्य नहीं, विशिष्ट था। उसी चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये गाये गये उनके पद उच्चकोटि के बन पड़े। गेयत्व की दृष्टि से भी वे उच्चकोटि के हैं। आज भी संगीताचार्यों ने उनके पदों की मूल भावना को अक्षुण्ण रखते हुए, उन्हें विविध राग रागनियों में बांधा है और गाया है। आधुनिकाल के सुप्रसिद्ध संगीतकार श्री कुमार गन्धर्व ने मीरां के पदों में प्राप्त लोक प्रिय धुनों का अनुसन्धान कर 'मालवति' जैसे नये राग का निर्माण किया है तथा उनके गीतों के अकृत्रिम सौन्दर्य और मौलिकता को राग-नियमों से क्लिष्ट न बनाकर, उसे परिष्कृत किया और रसानुकूल रागों में बांधा है। संगीत-मार्तण्ड पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने भी मीरां के सुप्रसिद्ध गीतों 'जोगी मतजा मत जा मत जा' और 'पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे' को 'भैरवी 'और 'मालकोंस' राग में प्रेमपूर्वक गाया है तथा यह प्रमाणित किया है कि उनके पद शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं और उनकी संगीतात्मकता अद्वितीय है।

वस्तुतः मीरां के पद शास्त्रीय-संगीत और लोक-संगीत दोनों दृष्टियों से विचारणीय हैं। मीरां के संगीत में शास्त्रीय-संगीत की राग-रागिनियों तथा

1 ध्रुवदास-भक्तनामावली, दोहा—90।
2 डॉ. उमा मिश्र—काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, पृ. 135।

लोक संगीत की लोक प्रिय धुनों का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। राजस्थान, और गुजरात के लोक गीतों की धुनों का लोक-संगीत की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। मीरां ने इन लोकधुनों का प्रयोग वहुत ही सुन्दर तथा प्रभावपूर्ण शैली में किया है जिससे उनके पदों में एक अनूठापन आ गया है, जो मीरां को अन्य भक्त संगीतज्ञों से पृथक करता है और उनकी विशिष्ट संगीत-शैली को द्योतित करता है। उनके पदों की सर्वाधिक लोकप्रियता का कदाचित् एक कारण यह भी है कि उन्होंने सामान्य जनों की भाषा में, सामान्यजनों की लोक-धुनों में, हृदय के शाश्वत भक्तिभाव के स्वरों को मधुरता से अभिव्यञ्जित किया। वास्तव में मीरां जन-कवयित्री थीं, उनका गायन सहृदय व्यक्तियों को पावनता के उच्च धरातल पर ले जाने वाला, पथ भ्रष्टों को मार्ग दिखाने वाला और हरिभक्तों को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कराने वाला था। अतः उनके पदों में निहित संगीत-तत्त्व का विवेचन शास्त्रीय संगीत व लोक-संगीत दोनों दृष्टियों से करना आवश्यक है।

**(1) मीरां के पदों में शास्त्रीय संगीतात्मकता—**

जैसा कि संगीत-विशेषज्ञों ने कहा है, ध्रुपद और ख्याल के समान भजन भी गायन की एक विशिष्ट शैली है। मीरां-पदावली में संकलित पदों के ऊपर उनके राग-रागिनियों तथा कहीं-कहीं तालों का भी निर्देश मिलता है। प्रामाणिकता के अभाव में यह कहना कठिन है कि मूलरूप में ये पद उसी राग में बद्ध थे या किसी अन्य राग में, तथापि इतना निश्चित है कि उनकी रचना विविध रसानुकूल रागों के अन्तर्गत ही की गई होगी। परवर्ती गायकों ने उन्हें दूसरे रागों में भी बांधकर गाया होगा, परिणामतः अब भी एक ही पद कई-कई रागों में गाये जाते है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि ये रागनिर्देश परवर्ती गायकों व संकलनकर्ताओं के दिये हुए हैं। अस्तु, प्रामाणिकता अप्रामाणिकता के फेर में न पड़कर हम यहां मीरां-पदावली में निर्दिष्ट रागों का ही उल्लेख करेंगे।

**(2) विविध राग-रागिनियों का प्रयोग—**

'मीरां वृहत् पदावली' में लगभग सत्तर रागों का उल्लेख किया गया है तथा इन रागों में उन पदों को गेय स्वीकार किया गया है। इन उल्लिखित रागों के नाम इस प्रकार हैं—[1]

(1) मालकौंस, (2) कालिगड़ा, (3) झिंझोटी, (4) काफी, (5) कान्हड़ा, (6) विहाग, (7) सौरठ, (8) पीलू, (9) ईमन, (10) भैरवी, (11) कामोद, (12) शंकरा, (13) टोड़ी, (14) जौनपुरी, (15) जोगिया, (16) मारू (17) सारंग, (18) खमाच, (19) तिलंग, (20) मांड, (21) देस, (22) वखाउ-भाज, (23) देश मल्हार, (24) मुल्तानी, (25) सोरठ मल्हार, (26) वहार,

---

मीरां वृहत् पदावली—क्रम संख्या (पद संख्या)

1. (1), 2. (2), 3. (3), 4. (4), 5. (5), 6. (6), 7. (7), 8. (8), 9. (9), 10. (12), 11. (16), 12. (21), 13. (25), 14. (47), 15. (27), 16. (29), 17. (34), 18. (31), 19. (36), 20. (4.), 21. (38), 22. (40), 23. (44), 24. (51), 25. (53), 26. (57),

(27) [illegible], (28) बिलावल, (29) जंगला, (30) आसावरी, (31) भीमपलासी, (32) परज, (33) गौरी, (34) मल्हार, (35) पीलू बरवा (36) हमीर, (37) परज, (38) सिन्ध, (39) छाया, (40) चड़हंस (41) पट-दीप, (42) धनाश्री, (43) बागेश्वरी-बागेश्री, (44) ललित, (45) प्रभाती, (46) पहाड़ी, (47) दुर्गा, (48) बिभास, (49) अलैया, (50) भैरव, (51) मांड, (52) सोरठ हुजाज, (53) नट, (54) जैजैवन्ती, (55) भूपाली, (56) मीरां की मल्हार, (57) कल्याण, (58) श्याम कल्याण, (59) कानड़ी, (60) तिलक कामोद, (61) गौड़ सारंग, (62) भैरवी-ख्याल, (63) पूरबी, (64) [illegible], (65) बसंत, (66) गंधारी टोड़ी, (67) चैती गौरी, (68) मारा, (69) शंकराभरण, (70) केदारा, (71) सिन्दूरा ।[1]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'मीरांबाई की पदावली' में निम्नांकित रागों का उल्लेख मिलता है ।[2]

(1) तिलंग, (2) ललित, (3) हमीर, (4) कान्हरा, (5) शब्द, (6) त्रिवेनी, (7) गूजरी, (8) नीलाम्बरी, (9) कामोद, (10) मुल्तानी, (11) मालकौंस, (12) झिंझोटी, (13) पटमंजरी, (14) गुनकली, (15) मांड, (16) धानी, (17) पीलू बरवा, (18) पूरिया कल्याण, (19) खम्माच, (20) अगना, (21) पहाड़ी, (22) पीलू, (23) जौनपुरी, (24) सोहनी, (25) बिहागरा, (26) बिलावल, (27) सोरठ, (28) सुध सोरठ, (29) श्याम कल्याण, (30) रामकली, (31) दरबारी, (32) मलार, (33) बिहाग, (34) पूरिया धनाश्री, (35) जोगिया, (36) होली, (37) सावन, (38) सावनी

---

1 मीरां बृहत् पदावली क्रम संख्या (पद संख्या) —
27. (62), 28. (65), 29. (70), 30. (83), 31. (90), 32. (95), 33. (100), 34. (105), 35. (102), 36. (114), 37. (124), 38. (138), 39. (144), 40. (147), 41. (149), 42. (153), 43. (155), 44. (158), 45. (160), 46. (171), 47. (365), 48. (185), 49. (214), 50. (176), 51. (247), 52. (254), 53. (257), 54. (263), 55. (271), [illegible]. (275), 57. (276), 58. (308), 59. (310), 60. (330), 61. ([illegible]), [illegible]. (361), 63. (382), 64. (453), 65. (461), 66. (494), 67. (549), 68. (579), 69. (590), 70. (591), 71. (578) ।

2 मीरां-पदावली-क्रम संख्या—(पद संख्या)
1. (1), 2. ([illegible]), 3. (3), 4. (5), 5. ([illegible]), 6. (10), 7. (11), 8. (13), 9. (14), 10. (16), 11. (17), 12. (18), 13. (19), 14. (20), 15. (22), 16. (23), 17. (24), 18. (31), 19. (32), 20. (34), 21. (35), 22. (36), 23. (39), 24. (43), 25. (49), 26. (50), 27. (51), 28. (52), 29. (61), 30. (62), 31. (64), 32. (65), 33. (66), 34. (67), 35. (70), 36. (74), 37. (81), 38. (84),

कल्याण, (39) सारंग, (40) वागेश्वरी, (41) आनन्द भैरों, (42) भैरवी, (43) देस, (44) टोड़ी, (45) आसावरी, (46) लावनी, (47) अलैया, (48) प्रभावती, (49) प्रभाती, (50) सिंध भैरवी, (51) भीमपलासी, (52) कोशी, (53) कलिगड़ा, (54) नट विलावल, (55) परज, (56) सूहा, (57) कनड़ी, (58) छायाटोड़ी, (59) काफी, (60) हंस-नारायण, (61) मारू, (62) दुर्गा, (63) धमार, (64) शुद्ध सारंग, (65) छायावट, (66) रागश्री ।[1]

(3) विविध रागों व रागिनियों का रसानुकूल विवेचन—

यद्यपि मीरां-पदावली में 60 से 70 रागों का उल्लेख मिलता है तथापि कुछेक राग ऐसे हैं जिनका वहुल प्रयोग किया गया है। इतना तो निर्विवाद ही है कि मीरां संगीत की शास्त्रीय शैली से परिचित थीं। उन्होंने रसानुकूल रागों का प्रयोग किया है, तथा उन्हें भावानुकूल ध्वनियों द्वारा विशेष प्रभावकारी वनाया है। डॉ. दिनेश गुप्त के मतानुसार, 'ऋषभ' धैवत, मध्यम आदि स्वरों की कोमलता और तीव्रता विभिन्न वृत्तियों एवं मनोदशाओं का संकेत करती है। कोमल ऋषभ से वैराग्य की ध्वनि प्रस्फुटित होती है। कोमल धैवत से करुणा का वोध होता है। तीव्र मध्यम हृदय की अभिलाषाओं की तीव्रता की ओर संकेत करता है। अतः रे, ध, म, जिन राग रागिनियों में प्रयुक्त होता होगा, मीरां उनका विशेष प्रयोग करती होंगी।'[2]

वस्तुतः मीरां दिव्य शृंगार की सर्वश्रेष्ठ गायिका थीं, उन्होंने उन्हीं रागिनियों का विशेष प्रयोग किया है जो उनके हार्दिक प्रणयोद्गारों को अनुरंजित करने में विशेष सक्षम थीं। इसके लिये मीरां द्वारा वहुल प्रयुक्त रसानुकूल राग-रागिनियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

(क) संयोग शृंगार और रागिनियां—

संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये उन रागों-रागिनियों का प्रयोग होता है जो स्वभावतः चंचल, मधुर और कोमल प्रकृति की होती है। मिलन की तीव्र उत्कंठा को व्यक्त करने, मिलनजन्य मादकता, सरसता, उन्माद और उल्लास की सुष्ठु अभिव्यक्ति के लिये 'काफी, कालिगड़ा, पूरिया कल्याण, पूर्वी, पीलू, वहार, विभास, गौरी, ललित, खमाच, वागेश्वरी, झिंझोटी, गारा आदि रागिनियों का विशेष प्रयोग होता है।[3] मीरां ने भी इन रागिनियों को अपनी भावाभिव्यक्ति माध्यम वनाया है जिससे उनके पदों में विशेष भाव-सौन्दर्य की अवतारणा हुई

1 . मीरां-पदावली क्रम संख्या (पद संख्या)—
39. (85), 40. (86), 41. (87), 42. (90), 43. (96), 44. (99), 45. (101), 46. (104), 47. (105), 48. (106), 49. (108), 50. (109), 51. (110), 52. (111), 53. (143), 54. (145), 55. (149), 56. (161), 57. (162), 58. (164), 59. (169), 60. (174), 61. (178), 62. (180), 63. (181), 64. (193), 65. (195), 66. (199)।

2 डा. दिनेश चन्द्र गुप्त—भक्तिकालीन काव्य में राग और रस, पृ. 154।

3 वही, पृ. 112।

है और इन रागों ने उनकी सरल, सहज भावाभिव्यक्तियों को विशेष गरिमा से मण्डित किया है।

यद्यपि मीरां के जीवन में संयोग के सुखद क्षणों का अभाव था, फिर भी कहीं-कहीं उन्होंने काल्पनिक-मिलन में ही असीम सुख की अनुभूति की और उन मिलन-जन्य सुखानुभूतियों को विविध रागों में व्यक्त किया। जिनमें काफी और झिझोटी मुख्य हैं। काफी राग का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> झटक्यो मेरो चीर मुरारी।
> गागर रंग सिर ते झटकी, बेसर मुड़ गई सारी।
> छुटी अलक कुंडल तें उरझी, झड़ गई कोर किनारी।
> मनमोहन रसिक नागर भये, हो अनोखे खिलारी।
> मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल सर धारी।[1]

इसके अतिरिक्त मीरां-पदावली की पद संख्या 169, 171, 172, 173, 174 में भी संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति 'काफी' राग के अन्तर्गत हुई है। राग झिझोटी का प्रयोग भी संयोगाभिव्यक्तियों के लिये हुआ है, उदाहरण द्रष्टव्य है -

> कहां कहां जाऊं तेरे साथ कन्हैया।
> बिन्द्रावन की कुंजगलिन में गह लीनो मेरो हाथ।
> दध मेरो खायो, मटकिया फोरी, लीणो भुज भर साथ।
> लपट झपट मोरी गागर पटकी, सांवरे सलोने लोने गात।
> कबहुं न दान लियो मनमोहन, सदा गोकुल आत जात।
> मीरां के प्रभु गिरधर नागर, जणम जणम के नाथ।[2]

इनके अतिरिक्त होली का रंगमय उल्लास भी इन्हीं रागों में व्यक्त हुआ है। 'बिहाग' राग का प्रयोग संयोग और वियोग दोनों शृंगारों की भावाभिव्यक्ति के लिये होता है परन्तु मीरां ने इस राग में अपनी विरहाभिव्यक्तियां ही प्रकट की हैं। कहीं-कहीं मल्हार राग का प्रयोग संयोगाभिव्यक्ति के लिये भी हुआ है।[3]

(ग) वियोग शृंगार की रागिनियां—

वियोग या विप्रलम्भ शृंगार का पूर्ण परिपाक मीरां के पदों में उपलब्ध होता है। मीरां के माध्यम से मानो भारतीय पतिव्रता नारी का चिर-विरह ही मूर्तिमान हो उठा है। विरह की विविध भावावस्थाओं और शारीरिक दशाओं की सजीव अभिव्यक्ति करने में रागों का विशेष महत्व है। जहां उन्होंने रागों में अपने विरह की तीव्रता को व्यक्त किया है वहीं रह-रह कर उठने वाली कसक को भी राग के रूप में साकार कर दिया है।

विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये कोमल स्वरों का विशेष संयोजन किया जाता है। जिन रागों में कोमल रे—ध स्वर का प्रयोग होता है, उनमें

---

1 मी. पदा., पद संख्या 170।

2 मी. पदा., पद संख्या 176।

3 देखिये -मी. पदा., पद, संख्या 146, 147।

विरहाभिव्यक्तियां अधिक स्पष्ट रूप धारण करती हैं और श्रोता को भी तदनुकूल रसानुभूति होने लगती है। अड़ाना, आसावरी, वसंत धनाश्री, दरबारी, कान्हड़ा, तोड़ी, यमन, कल्याण, बिहाग, मल्हार आदि रागों में वियोग शृंगार अधिक खिलता है।[1] मीरां ने इन सभी रागों का यथोचित प्रयोग किया है क्योंकि मीरां का सम्पूर्ण काव्य ही विरहप्रधान है।

(ग) करुण रस की रागिनियां—

मीरां की विरह-वेदना करुण रस की सीमाओं को भी छूती है। अतः उन्होंने अपने पदों में करुणरसोद्बोधक स्वरों या रागों का भी समयोचित संयोजन किया है—करुणरसोत्पादक रागों में वसंत, जैतश्री, नटनारायण, खमाच, जोगिया, आसावरी, भैरव, गुनकली, गौड़ सारङ्ग तथा जैजैवन्ती प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त वागेश्वरी, मुल्तानी और सोहनी आदि रागों द्वारा भी करुण का संचार किया जाता है।[2] मीरां ने इन सभी रागों का भावानुभूति के अनुकूल शास्त्र-सम्मत रीति से प्रयोग किया है। मीरां की रसानुकूल राग-योजना व भावानुकूल उचित स्वर-प्रयोग-क्षमता को देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

मीरां के पदों में वियोग व करुण प्रसंगों में सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाले रागों में भैरवी प्रमुख है। भैरवी में सम्पूर्ण कोमल स्वरों का विधान होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कोमलता ने मीरां को आकृष्ट कर लिया था इसीलिए उन्होंने इस राग को सर्वाधिक प्रयुक्त किया है। यद्यपि भैरवी में संयोग शृंगार की भी सुन्दर योजना की जा सकती थी तथापि मीरां ने भैरवी का प्रयोग वियोग-शृङ्गार प्रधान पदों में अधिक किया है। उदाहरणार्थ—मीरांबाई की पदावली के निम्न पद लिए जा सकते हैं[3]—

1—हरि बिण क्यूं जीवां री माय।
2—गिरधारी सरण थारी आया राख्यां किर्पानिधान।
3—तुम्हारे कारण सब सुख त्यागा अब मोहि क्यूं तरसावो।
4—कभी म्हारी गली आव रे, जिया की तपत बुझाव रे।
5—कोई कुछ कहै मन लागा।
6—जोगी मत जा मत जा मत जा पांव पड़ूं मैं चेरी तेरी।

करुण भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिये मीरां ने जोगिया, आसावरी, बिहाग और मल्हार रागों का अधिक प्रयोग किया है। इन रागों में प्रयुक्त विशेष स्वर-ध्वनियां करुण रस को उभारने में पूर्णतः सक्षम हैं। उदाहरणार्थ कुछेक पद दिये जा रहे हैं—

1 देखिए—डॉ दिनेशचन्द्र गुप्त-भक्तिकालीन काव्य में राग और रस पृ. 113
2 वही।
3 मीरां-पदावली क्रम सं.—(पद संख्या)—
1-(90), 2-(134)
मीरां वृहत् पदावली—क्रम संख्या—(पद संख्या)—
3-(190), 4-(71), 5-(108)
मीरां पदावली क्रम संख्या—(पद संख्या)—6-(46)।

राग भाभावती—

(1) प्यारे दरसण दीज्यो आय थे बिण रह्यां णा जाय।[1]

(2) राम मिलण रो घणो उमावो, नित उठ जोऊं बाटड़ियां।

राग बिहाग—

(1) स्याम म्हां बांहड़ियां जी गह्यां।[2]

(2) माई म्हारी हरि हूं न बूझ्यां बात।

राग मल्हार—

(1) आनि गयां मनमोहन पाती।[3]

(2) नन्दनन्दन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई।

(3) बादल देख डरी, स्याम मैं बादल देख डरी।

राग जोगिया—

(1) कबहुं मिलैगो मोहि आय रे तू जोगिया।[4]

(2) आज मिल्यो अनुरागी जोगियो आणमिलो अनुरागी।

(2) सुण लीजे बिनती मोरी मैं सरण गही प्रभु तोरी।

(4) हेरी मैं तो दरद दिवाणी म्हांरा दरद ण जाणे कोय।

(5) बादला मैं बैरागण हूंगी हो।

राग 'जोगिया' वैराग्य का ही पर्याय है। इन उपर्युक्त पदों को आज भी इन रागों के अन्तर्गत गाया जाता है और राग-सम्मत गाये जाने पर इन पदों का सांगीतिक सौन्दर्य निखर उठता है। इनके अतिरिक्त अन्य रागों का प्रयोग भी मीरां के पदों में मिलता है जो पद-संख्या और पृष्ठ-संख्या सहित पूर्वोद्धृत है, अतः उनका पिष्ट-पेषण अनावश्यक है। इन पदों को विहित रागों के अतिरिक्त अन्य रागों में भी बांध कर गाया जा सकता है; परन्तु इतना तो निश्चित है कि रसानुकूल रागों का आश्रय पाकर मीरां के पदों में अपूर्व निखार आ जाता है।

(घ) शान्तरस की रागिनियां—

शृङ्गार रस के अतिरिक्त शान्त रस का परिपाक भी मीरां के पदों में हुआ है। शान्त रस की अभिव्यक्ति के लिये सामान्यतः जिन रागों का प्रयोग संगीत-शास्त्रियों ने बताया है* उन्हीं रागों का प्रयोग मीरां ने भी किया है, यथा—पूरिया, बिहाग, ललित, पञ्ज, देस, तथा भूपाली। इनके अतिरिक्त सारंग तथा बिलावल रागों का भी विशेष प्रयोग परिलक्षित होता है। इन रागों के कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

---

1 मीरां पदावली—1-(101), मीरां बृहद् पदावली 2-(538)।

2 मीरां-पदावली क्रम सं. (पद सं.) – 1 (138), 2-(66)।

3 मीरां-पदावली क्रम सं. (पद सं.)—1-(65)
मीरां-बृहद्-पदावली क्रम सं. (पद सं.)—2-(245), 3-(325)।

4 मीरां-बृहद्-पदावली क्रम सं. (पद सं.)—1-(69), 2-(27), 3-(619),
मीरां पदावली क्रम सं. (पद सं.)—4-(70), 5-(11)-(परि. ग)।

* डॉ. [illegible] गुप्त—भक्तिकालीन काव्य में राग और रस—पृ. 113।

पूरिया—माई म्हां गोविन्दा गुण गास्यां ।[1]
विहाग—करम गत टारां णाही टरां ।[2]
वरजी मैं काहू की नाहीं रहूँ ।
ललित—म्हारी प्रणाम वांके विहारी जी ।[3]
परज—थारी छब प्यारी लागे राज, राधावर महाराज[4]
गोहने गुपाल फिरूं ऐसी आवत मण में ।
भूपाली—हरि को भजन नित करिये भोरी ।[5]
प्रभु तुम कैसे दीनदयाल ।

सारंग—
(1) तुम जीमो गिरधारी लाल ।
(2) मैं तो तेरी सरण पड़ी रे रामा, ज्यूं जाणे त्यूं तार ।
(3) राम रतन धन पायो मैया, मैं तो राम रतन धन पायो ।[6]

विलावल —
(1) या व्रज में कछु देख्यो री टोना ।
(2) आवो मन मोहना जी मीठो थारो बोल ।[7]

(4) मीरां-काव्य में लोक-संगीतात्मकता—

मीरां ने संगीत की शास्त्रीयता का तो निर्वाह किया ही है, लोक-धुनों के साथ अपने गीतों को सम्पृक्त करके उनमें लोक-गीतों की प्रभविष्णुता का भी समावेश किया है । परिणामस्वरूप उनके पदों में तन्मयकारिणी-शक्ति की अभिवृद्धि हुई है ।

जहां अधिकतर कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में शास्त्रीय अथवा बाह्य संगीत का विधान रहता है, वहां कुछ कवि ऐसे हैं जिनके काव्य में आन्तरिक संगीत भी विद्यमान है । राग-रागिनियों से अनभिज्ञ, संगीत शास्त्र से सर्वथा अपरिचित पाठक भी उनके 'नाद', 'शब्द-झंकार' और 'ध्वनन-शक्ति' से मुग्ध हो जाते हैं । मीरां का काव्य इस दृष्टि से सुसम्पन्न है । उनके पदों में बाह्य संगीत के साथ ही आन्तरिक संगीत भी विद्यमान है । यही कारण है कि इनकी रचनाएं संगीतज्ञों और काव्य-रसिकों के लिए समान रूप से आह्लादकारिणी हैं ।

मीरां की संगीत-साधना के विषय में डॉ. उषा गुप्ता लिखती हैं—'मीरां के भजन गेयता, सरसता, सरलता और माधुर्य में अतुलनीय हैं । मीरा समाज

1 मी. पदा.—पद सं. 31 ।
2 मी. पदा.—पद सं. 189, मी. वृ. पदा., पद सं. 314 ।
3 मी. पदा.—पद सं. 2 ।
4 मी. पदा.—पद सं. 152, 184 ।
5 मी. वृ. पदा.—पद सं. 632, 271 ।
6. (1) मी. वृ. पदा., पद सं. 193, (2) मी. पदा., पद सं. 133, (3) मी. वृ. पदा., पद सं. 539 ।
7 (1) मी. पदा., पद सं. 177, (2) मी. पदा., पद सं. 100 ।

मीरां उन्मत्त प्रेम के संगीत-राज्य में दीवानी होकर विचरण करती थी और उनके आहत हृदय की पीड़ा, वेदना, प्रेम तथा विरह की कसक को संगीत के स्वर तथा लय में बांध कर कहती जाती थी। यही कारण है कि उनके भजनों से फूटी संगीत की स्वच्छन्द धारा इतनी तीव्र गति से प्रवाहित होती है कि वह सबको बरबस अपनी ओर आकर्षित कर अरसिक को भी रसलीन कर देती है।'[1] वस्तुतः मीरां का काव्य, संगीत, नृत्य सभी कुछ साधन मात्र था। लौकिक, देहाश्रित सम्बन्धों का त्याग कर मीरां अपने आराध्य रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण के ध्यान, भजन-कीर्तन में लीन होकर जो कुछ भी बोलती थी वह भाव भरित, रस परिप्लुत काव्य और संगीत बन जाता था। उनके हृदय की भावनाएँ संगीत के पंखों पर सवार होकर दिग्दिगंत में विचरण करती हुई अनन्त में विलीन हो जाती थी।[2]

यही कारण है कि शास्त्रीय संगीत के साथ ही साथ मीरां के पदों में लोक-संगीत की ऐसी अति-प्रचलित धुनें भी मिलती हैं जो कालान्तर में शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत समाविष्ट कर ली गईं। इन लोक-रागों में देश, मांड, सोरठ, मारू आदि राजस्थान की जन प्रचलित रागिनियां हैं। श्री विश्वम्भर भट्ट का निम्नोक्त कथन इस मत की पुष्टि करता है—

'देस राग खमाज ठाठ-जन्य एक प्रसिद्ध राग है। इसका वादी स्वर 'रे' और संवादी स्वर 'प' है। औड़व सम्पूर्ण जाति के इस राग का गायनकाल रात्रि का दूसरा प्रहर है। मारवाड़ और जयपुर की तरफ यह राग बड़ी सुन्दरता से गाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'देस' पहले राजपूताने का लोक-गीत रहा होगा; किन्तु स्वाभाविक सुन्दरता के कारण बाद में गायकों-वादकों ने इसकी महत्ता स्वीकार कर ली और वह शास्त्रीय संगीत का सुप्रसिद्ध राग बन गया।'

राजस्थानी लोक-धुन से ही उत्पन्न एक अन्य राग जो मीरां के पदों में बहुतायत से निर्दिष्ट है, वह है—मांड। राजस्थान में आज भी इस राग को मधुरतापूर्वक मार्मिक स्वरों में गाया जाता है। कुमार गंधर्व ने मांड राग के स्वरों का परिष्कार कर 'मालवती' राग का आविष्कार किया है।

मांड और देस की ही भांति एक अन्य राग जो राजस्थान में अति प्रचलित व अति प्रिय है, वह है - सोरठ। देस और सोरठ समप्राकृतिक राग हैं। इन दोनों में बहुत अधिक एकरूपता है। दोनों रागों में केवल गान्धार का अन्तर है। सोरठ में गान्धार लुप्त रहता है; किन्तु देस में उसका स्पष्ट प्रयोग होता है। इस राग का भी मीरां ने विपुल प्रयोग किया है। राग में गाये गये पदों का संकलन ही 'राग-सोरठ' के रूप में मीरां की एक रचना माना जाता होगा, ऐसा अनुमान है। इन रागों में बँधे हुए मीरां के कुछ अति प्रचलित पद उदाहरणार्थ यहां दिये जा रहे हैं—

राग देस—

1 दरस बिण दूखां म्हारा नैण।[3]

---

1 डॉ. उषा गुप्ता—हिन्दी के कृष्ण-भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, पृ. 363।

2 डॉ. लीलाधर वियोगी— काव्य कोकिला मीरांबाई, पृ. 113।

3 मीरां पदावली, क्रम संख्या (पद संख्या)—1. (103),

2 म्हाणे चाकर राखो जी गिरधारी लाला ।[1]

3 जोगी म्हाणे दरस दिया सुख होय ।[2]

4 भुवणपति थे घर आज्यो जी ।[3]

राग सोरठ—

1 थांने कांई कांई बोल सुणावां म्हारा सांवरा गिरधारी ।[4]

2 देखां भाई हरि मण काठ किया ।[5]

3 रमइया मेरे तोही सूं लागी नेह ।[6]

4 पतियां कैसे लिखूं, लिख्योई न जाय ।[7]

राग मांड—

1- माई री म्हां लियां गोविन्दा मोल ।[8]

2 तेरो कोई नहिं रोकणहार मगन होय मीरां चली ।[9]

3 दीज्यो म्हांने द्वारिका को बास रूड़ा रणछोड़ जी ।[10]

4 तू तो समझ सुहागण सुरता नार लगेण दीनानाथ से लगी ।[11]

इन शास्त्रीय-लोक-रागों के अतिरिक्त मीरां ने कतिपय ऐसी लोक-धुनों का भी प्रयोग किया है जो अभी शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं हो पाई हैं। इनमें प्रधानतः राजस्थान में प्रचलित घूमर, गुजरात में प्रचलित गरबी और ब्रज में प्रचलित रसिया की लोक-प्रसिद्ध धुनें हैं जिनमें मीरां के भजनों को निवद्ध किया गया है—

घूमर—

घूमर राजस्थान की जनप्रचलित धुन है। मण्डलाकार नृत्य करते हुए इस नृत्य-गीत को पाया जाता है। इसकी धुन अति आकर्षक व हृदयग्राही होती है। मीरां के जिन पदों के ऊपर इस धुन का निर्देश मिलता हैं उनमें से कुछ यहां उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

1 राणोजी मेवाड़ो म्हारे दाय न आवे।
गिरधर म्हारे मन भाया मोरि माय ।[12]

2 राम नाम मेरे मन बसियो,
मैं तो रसियो राम रिझाऊं ए माय ।[13]

3 गिरधर म्हारा सांचा पति छै
मैं गिरधर की दासी ए माय ।[14]

मीरां के पदों में उपलब्ध हो, होजी, हे माय, री माई, री आदि प्रयोग वस्तुतः लोकगीतों से गृहीत हैं जो पिंगल या छन्द-शास्त्र की दृष्टि से उनके पदों को दोषपूर्ण बनाते हैं; परन्तु गायन में इनका प्रयोग मार्मिकता व लोक-गीतात्मक तन्मयता का पुट देता है तथा गीतों को विशेष प्रभावकारी बनाता है।

---

मी. पदा., क्रम संख्या (पद संख्या)— 1. (154), 2. (97), 3. (96), 4. (51), 5. (52), 6. (59), 7. (76) 8. (22)।

मीरां वृहत् पदा., क्रम संख्या—(पद संख्या)—9. (205), 10. (232), 11. (624), 12. (522), 13. (534), 14. (121)।

गरबी—

सौराष्ट्र में घूमर की ही भांति देवी-उपासना में एक अन्य मंडलाकार नृत्य पद्धति प्रचलित है जिसे गरबी या गरबा के नाम से जाना जाता है। इस नृत्य-गीत की भी अपनी विशिष्ट शैली व विशिष्ट धुन है। गुजरात में 'मीरां नी गरबी' के नाम से बहुत से गरबी-गीत प्रचलित हैं। इनकी प्रामाणिकता के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ अति प्रचलित गरबी-गीत उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

1—वाजे छै रे वाजे छै पैला वन मांही मीठी वेणु वाजे छै
हां रे दुर्जन नो डर लागे छै।[1]

2—हां रे चलो डाकोर मां जाय वसिये,
हां रे लेहे लगाड़ी रंग रसिये रे।[2]

रसिया—

रसिया ब्रज-क्षेत्र में प्रचलित लोक-धुन है। इसमें राग सारंग का मिश्रण रहता है। मीरां के पदों में इसका प्रयोग भी दिखलाई तो पड़ता है: परन्तु बहुत ही कम पदों में। उदाहरणार्थ एक पद प्रस्तुत है जिसमें 'रसिया' की धुन होने का निर्देश दिया गया है—

म्हांरा जनम मरण का साथी, थांने नहिं विसरूं दिन राती[3]

इनके अतिरिक्त मीरां के कई पदों को कजली और लावनी की धुनों में बांधकर गाये जाने का भी उल्लेख मिलता है। श्रीमती सावित्री सिन्हा के शब्दों में—

मीरां की रचनाओं में लोक-गीत शैलियों का जो शुद्ध रूप मिलता है उसे देखकर आश्चर्य होता है। होली के पदों में जिस प्रकार की लय तथा मात्राओं की योजना की गई है उसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में प्रचलित होली-गीतों की शैली में आसानी से बांधा जा सकता है। इसी प्रकार मिर्जापुरी कजली की स्वर-योजना के अनुकूल रचित पद भी मिलते हैं।[4]

कजली-गीत शैली की स्वर-योजना के अनुकूल रचित एक पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

म्हारा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया हिलमिल मंगल गाया जी।[5]

इसी प्रकार लावनी-गीत शैली में निबद्ध एक पद इस प्रकार है—

म्हाने क्या तरसावां।
थारे कारण कुल-जग छाड्यां, अब थे क्या बिसरावां
विरह व्यथा ल्याया उर अन्तर, थे आस्यां गा बुझावां।

---

मीरां बृहत् पदावली, क्रम संख्या—(पद संख्या)—
1. (322), 2. (643), 3. (402)।
4 डॉ. सावित्री सिन्हा, ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प, पृ. 632।
5 मीरां-पदावली, पद संख्या 119।

अब छाड्या णा बणे मुरारी, सरण गह्यां बलि जावां।
मीरां दासी जणम जणम री, भगतां पैज निभावां।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विविध शास्त्रीय-रागों की भांति ही विविध लोक-रागों का प्रयोग मीरां की पदावली में हुआ है।

(5) मीरां काव्य में वाद्य—

मीरां ने संगीत के तीनों अंगों—गायन, वादन, नर्तन का प्रयोग अपनी भावाभिव्यक्तियों के माध्यम के रूप में किया था। रसानुकुल गायन में वाद्य भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। तथा संगीत की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हुए उसे आह्लादकता व प्रभावमयता प्रदान करते हैं।

मीरां ने वाद्यों का समुचित प्रयोग किया तो है परन्तु स्वतंत्र वाद्यवादन का प्रयोग मीरां में नहीं मिलता है, तथापि उन्होंने गीत की संगत के लिये वाद्य का प्रयोग किया होगा ऐसा कहा जा सकता है। मीरां के विविध पदों में वाद्यों का जो उल्लेख मिलता है उसके आधार पर हम मीरां द्वारा प्रयोग किये गये वाद्यों का परिचय पा सकते हैं—

(क) घनवाद्य—शास्त्रीय-संगीत में अब घनवाद्यों का प्रयोग नहीं किया जाता, ऐसा पूर्वकथित है, परन्तु लोक-संगीत में इसका प्रयोग अतिप्रचलित है। मीरां ने जिन घनवाद्यों का प्रयोग किया उनमें झांझ, कठताल, मंजीरा आदि प्रमुख हैं।

नृत्यत नूपुर बांध के गावत लै करताल।

ध्रुवदास की इस उक्ति से स्पष्ट है कि मीरां करताल या कठताल बजाकर गाया करती थीं। अद्यावधि मीरां के जो चित्र मिलते है उनमें भी उन्हें एक हाथ में इकतारा और दूसरे हाथ में करताल लेकर नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है। ये दोनों वाद्य लय और ताल को व्यक्त करते हैं। इकतारा श्रुतिवाद्य है, जो मीरां की एकान्तिक भक्ति का चिर-संगी रहा है।

(ख) अवनद्ध वाद्य—अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग मीरां अपनी संगीतमय भजन-पूजन-साधना के साथ करती थीं या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु ढोल, डफ, पखावज, मृदंग, नगारा आदि वाद्यों का उल्लेख उनके विभिन्न पदों में मिलता है—

ताल पखावज मिरदंग बाजा, साधां आगे णाच्यां।[2]
मुरली चंग बजत डफ नारो, संग जुवति ब्रज न्यारी।[3]
वाज्यां झांझ, मृदंग मुरलिया, वाज्यां कर इकतारी।[4]

निम्नांकित पद में मीरां ने ढोल का कथन के रूप में प्रयोग किया है—

जाको नाम सुरति की डोरी, कड़िया प्रेम चढ़ाऊँ ए माय।
ज्ञान को ढोल वन्यो अति भारो, मगन होय गुण गाऊँ ए माय।[5]

इसके अतिरिक्त निम्न पद में तन को ताल और मन को मोरचंग का रूपक

1 मीरां-पदावली, पद संख्या 104।
2 (37), 3. (175), 4. (77), 5. (7) (परिशिष्ट—ग)।

किया गया है—

तन करूं ताल मन करूं मोरचंग सोती सुरत जगाऊं ए माय।[1]

एक अन्य पद में अनहद-नाद का वर्णन करते हुए 'पखावज' का उल्लेख किया गया है —

बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झंकार रे।[2]

(ग) सुषिर वाद्य—सुषिर वाद्य के रूप में मुरली का प्रयोग मिलता है जो मीरां के आराध्य का प्रिय वाद्य था और जिसकी मोहक तान और रस-भरी टेर पर मुग्ध हो मीरां अपनी सुधबुध खो चुकी थीं।

मुरलिया बाजां जमणा तीर।
सुण मुरली मण सुध बुध बिसरा जरजर म्हारो सरीर।[3]

यथा—

भई हों बावरी सुन के बांसुरी, हरि बिनु कछु न सुहाये माई।
\+ + + +
मीरां के प्रभु बस करलीने सप्त तानन की फांसुरी।[4]

(घ) तंत वाद्य—मीरां की संगिनी 'इकतारी' तंत वाद्य ही है। अब तो मीरां के स्वांग के लिए इकतारा और करताल अत्यन्त आवश्यक बन गये हैं। मीरां का रूप इकतारे के बिना अधूरा है। इकतारा या निसांण मीरां के व्यक्तित्व का एक आवश्यक अङ्ग बन गया है। नाभादास के शब्दों में—

भक्ति निसांण घुराय के काहू ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल शृङ्खला तजि मीरां गिरधर भजी।

मीरां ने स्वयं भी इस वाद्य का उल्लेख किया है—

लोक लाज की काण न मानू, निरभै निसाण घुरास्यां हो माई।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाद्यों का प्रयोग मीरां ने संगत वाद्य के रूप में किया है। मीरां द्वारा प्रयुक्त या उल्लिखित वाद्यों में लोक-वाद्य ही प्रमुख हैं। वस्तुतः मीरां का गायन भावसम्मत व रसप्रधान था। काव्य का रूप उसमें प्रमुख है, अतः संगीत की साधना सहयोगी साधन के रूप में ही की गई है। उनके पद 'भजन' के रूप में प्रसिद्ध हुए। यह (भजन) शैली भावप्रधान संगीत-शैली है, जिसमें लोक-संगीत और शास्त्रीय संगीत का सम्मिश्रित रूप ही ग्राह्य होता है। इसमें स्वरों के परिष्कृत प्रयोग पर, संगीतकारों की भांति, ध्यान केन्द्रित नहीं रहता है।

स्वर, ताल, लय, वाद्य सभी भक्त गायक के भावपूर्ण गायन के अनुचर बन उसके पीछे-पीछे चलते रहते हैं और वह स्वयं संगीत-लोक और भाव-लोक में स्वच्छन्द विचरण किया करता है। सबके साथ रहकर भी वह सबसे असंपृक्त रहता है। भक्त का गायन वाद्यों के बिना भी उतना ही रुचिकर होता है जितना

---

मीरां-पदावली, क्रम संख्या (पद संख्या)—1. (7) परिशिष्ट – ग),
2. (10) (परिशिष्ट—ग), 3. (166), 4. (167), 5. 35।

कि वाद्यों के साथ । वस्तुतः प्रधानता भावना की होती है राग या ताल की नहीं ।

**(6) मीरां काव्य में ताल-योजना—**

मीरां के काव्य में निर्दिष्ट विविध राग-रागिनियों के साथ ही विविध तालों का भी उल्लेख किया गया है । 'मीरां बृहत्पदावली' में प्रत्येक पद के ऊपर राग और ताल का निर्देश मिलता है जबकि 'मीरांबाई की पदावली' में रागों के साथ तालों का उल्लेख कहीं भी नहीं किया गया है । फिर भी इतना तो निश्चित है कि रागों के साथ तालों का प्रयोग किया है, अतः वे तालसम्मत गायन से सुपरिचित अवश्य होंगी, इसमें सन्देह नहीं । अस्तु आगामी पंक्तियों में 'मीरां बृहत् पदावली' में निर्दिष्ट तालों का उल्लेख किया जा रहा है :

'मीरां बृहत्पदावली' में उल्लिखित मुख्य ताल इस प्रकार हैं[1]—

(1) तिताला (त्रिताल), (2) कहरवा, (3) तिताला धीमा (विलम्बित त्रिताल), (4) इकताल, (5) दादरा, (6) जैत, (7) दीपचन्दी, (8) धमार, (9) रूपक, (10) चौताल, (11) त्रिवट, (12) झूमरा, (13) अद्धा, (14) तीलवाड़ा, (15) पश्तो, (16) झपताल, (17) सिन्दूरा ।

यद्यपि उपर्युक्त सभी तालों का उल्लेख 'मीरां बृहत्पदावली' में किया गया है; तथापि सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाले तालों में त्रिताल, कहरवा, दादरा और दीपचन्दी प्रमुख हैं । त्रिताल 16 मात्रा की होती है और कहरवा 8 मात्रा की । अतः कहरवा का प्रयोग त्रिताल के अर्द्ध के रूप में माना जाता है ।

**(7) मीरां की लय योजना—**

काव्य में संगीतात्मक नाद-सौन्दर्य के समावेश के लिए लय का विवेकपूर्ण प्रयोग अति आवश्यक है । लय का वास्तविक अर्थ है—रमना । जहां मन रम जाय, लीन हो जाय वहां लय होती है; परन्तु सङ्गीत के क्षेत्र में लय का अर्थ 'स्वर की गति-विशेष' लिया जाता है । मीरां-काव्य में सर्वोत्कृष्ट भावानुकूल लय-योजना के सर्वत्र दर्शन होते हैं । मीरां का सम्पूर्ण काव्य लयात्मकता से ओत-प्रोत है । उनके पदों में कविता की लय के साथ साङ्गीतिक लय के सामञ्जस्य-स्थापन की जागरूक चेष्टा सर्वत्र मिलती है । कोमल और मधुर आह्लाद के प्रसङ्गों में जहां मध्य-लय का प्रयोग हुआ है वहां गतिपूर्ण संयोग के क्षणों में द्रुत-लय प्रतिपाद्य विषय की प्रभावात्मकता को द्विगुणित कर देती है । करुण और विषादमय प्रसङ्गों में गीत की विलम्बित लय विरहिणी की सिसकियों-सी मन्थर गति से चलती है । वस्तुतः विरह की मार्मिकता का यथोचित संवहन करने में विलम्बित लय अत्यधिक सहायक होती है । वैसे तो मीरां के पदों में विरह की प्रचुरता होने के कारण मध्य और विलम्बित लय की योजना अधिकतर मिलती है;

---

1 मीरां बृहत् पदावली, क्रम संख्या-(पद संख्या)—
1. (1), 2. (32), 3. (161), 4. (131), 5. (10), 6. (15), 7. (30), 8. (100), 9. (107), 10. (183), 11. (206), 12. (282), 13. (304), 14. (457), 15. (473), 16. (483), 17. (660) ।

परन्तु जहां संयोग के क्षणों में कृष्ण के अनुराग से सिक्त होकर उन्होंने अपनी उमंग और उल्लास की अभिव्यक्ति की है, वहां छोटे-छोटे चरणों से युक्त छन्दों का प्रयोग किया है जिन्हें द्रुत-लय में सरलतापूर्वक बांधा जा सकता है। उदाहरणार्थ एक पद प्रस्तुत है जिसे द्रुत-लय में सफलतापूर्वक गाया जा सकता है—

रङ्ग भरी राग भरी राग सूं भरी री
होरी खेल्यां श्याम सङ्ग रङ्ग सूं भरी री
उड़त गुलाल लाल बादरा री रङ्ग लाल
पिचका उड़ावां रङ्ग रङ्ग री झरी री।[1]

मध्य लय का प्रयोग भी मीरां के आधे से अधिक पदों में मिलता है। 'मीरां बृहत् पदावली' में प्रत्येक पद के ऊपर रागों और तालों का निर्देश दिया गया है। जिन पदों के ऊपर ताल के साथ (धीमा) विशेषण जुड़ा हुआ नहीं है उन्हें मध्य-लय में गाया जा सकता है। उदाहरणार्थ दो पद प्रस्तुत हैं—

**राग-बसन्त : तीन ताल ठाह**
मैं गिरधर रङ्ग राती सखी री।[2]
**राग-परज : ताल-रूपक**
मन रे परस हरि रे चरन।
सुभग शीतल कमल कोमल जगत ज्वाला-हरण।[3]

विलम्बित लय का प्रयोग मीरां ने वहां किया है जहां भावनाएं वेदनासिक्त हैं। ऐसे स्थलों पर गीत में दीर्घ वर्णों का बाहुल्य है, गीत की पंक्तियां बड़ी हैं और वेदना का भार विलम्बित लय में इस प्रकार मिलता है जैसे पीड़ा की कसक व्यक्त करने में कवि-संगीतज्ञ कराह उठते हैं। 'मीरां बृहत्पदावली' में ऐसे वेदना पूर्ण पदों के ऊपर ताल के साथ उसकी लय का भी निर्देश दिया गया है, जो 'धीमा' तथा 'विलम्बित' नाम से देखा जा सकता है। यथा—

'राग-भैरवी : ताल धीमा तिताला'
जावा देरी जावा दे जोगी किसका मीत।
सदा उदासी रही मोरी सजनी निपट अटपटी रीत।
बोलत बचन मधुर से मानूं जोरत नाहीं प्रीत।
हूं जानूं या पार निभैगी छोड़ चला अध बीच।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, प्रेम पियारा मीत।[4]

तथा —

'राग-विहाग व सोरठ-ताल तिताला विलंबित'
गङ्गा जी हूं गिरधर के घर जाऊं।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं।
रैन पड़े तब ही उठ जाऊं भोर भये उठ आऊं।[5]

---

1 मी. पदा., पद संख्या 148।
2 मी. बृ. पदा., पद संख्या 461।
3 मी. बृ. पदा., पद सं. (363), 4. (161), 5. (516)।

मीरां की विरह-पूर्ण होली में, जो लोकगीत शैली में गाई जाती है,[1] विलम्बित लय की सुन्दर योजना मिलती है। गुरु वर्णों का बाहुल्य निम्नोक्त पद की विलम्बित लय योजना में सहायक हुआ है—

होरी पिया बिन लागे री खारी।
सूनो गांव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी विरहिन पिव बिण डोलै, तज गया पीव पियारी।
(भई) विरहा दुख भारी।
देस विदेस (संदेस) णा जावा म्हारी अंदेशा भारी।
गणतां गणतां घिस गई रेखा आंगुरियां सारी
आया णा री मुरारी।
वाज्यां झांझ मृदंग मुरलिया वाज्यां कर इकतारी।
आया वसंत पीय घर णां री म्हारी पीड़ा भारी।
स्याम (मणे) क्यां री विसारी।
ठाड़ी अरज करां गिरधारी राख्यां लाज हमारी।
मीरां रे प्रभु मिलज्यो माधो जनम जनम री क्वांरी।
मणे लागी सरण तारी।[2]

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां के काव्य में लय-योजना का सौन्दर्यपूर्ण भावानुकूल आयोजन किया गया है तथा इन लयों का निर्वाह भी कुशलतापूर्वक किया गया है। राग, ताल और लयसम्मत गायन करने की अद्भुत प्रतिभा मीरां में थी, जो उन्हें एक कुशल व सक्षम वाग्गेयकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

**मीरां और नृत्य-**

अन्तःसाक्ष्य[3] और वहिस्साक्ष्य[4] से यह प्रमाणित होता है कि संगीत के साथ नृत्य को भी मीरां ने अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। अब प्रश्न यह उठता है कि मीरां द्वारा किये गये नृत्य का स्वरूप क्या था? वह शास्त्रीय-

---

1 डॉ. सावित्री सिन्हा : ब्रजभाषा के कृष्णभक्त कवियों का अभिव्यंजना शिल्प, पृ. 352।

2 मी. पदा., पद—77।

3 अन्तःसाक्ष्य : मीरां-पदावली

(1) म्हां गिरधर आगां नाच्यां री, पद सं. 17।

(2) ज्यां ज्यां चरण धर्यां धरणीधर त्यां त्यां निरत करां री, -पद सं. 21।

(3) साचसिंगार वांध पग घूंघर, लोक लाज तज नाची, पद सं. 19।

(4) हरि मंदिर मां निरत करावां, घूंघर्या घमकास्यां, पद सं. 31।

(5) ताल पखावज मिरदंग वाजा, साधां आगे णाच्यां, पद सं. 37।

4 वहिस्साक्ष्य—

(1) नृत्यत नूपुर वांध के गावत लै करतार—
ध्रुवदास, भक्त नामावली

[illegible] था, शोक-नृत्य था अथवा आनन्द-नृत्य था ? मीरां के नृत्य का विवेचन करने से पूर्व नृत्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन होगा।

नृत्य क्या है—जीवन की उमंग ही नृत्य है, जो कि प्रसन्नता की स्थिति में प्रत्येक जीवधारी के हृदय से निकल कर व्यक्त होती है। प्रकृति में भी हम नृत्य को उमंग के रूप में पा सकते हैं। पशु-पक्षी भी अपनी उमंग की अभिव्यक्ति नृत्य द्वारा करते हैं—जैसे मेघों का गर्जन सुन कर मयूर नाचने लगते हैं, बीन की ध्वनि से मुग्ध हो सर्प मस्त हो नृत्य करते हैं, विकसित पंकज को देखकर भ्रमर उन्मत्त हो उसके चतुर्दिक् मंडराने लगते हैं। प्रकृति में इस चिरन्तन नृत्य का अवलोकन किया जा सकता है। श्री राधा कमल मुखर्जी के शब्दों में नृत्य-कला, विश्वशक्ति के उत्थान-पतन, सृष्टि-प्रलय, जीवन-मरण के अविराम छंद को प्रतिध्वनित करती है।[1]

वस्तुतः मनुष्य का आन्तरिक हर्षोल्लास ही नृत्य के रूप में प्रकट होता है। नृत्य जीवन के प्रति रागात्मकता उत्पन्न करता है। इस रागात्मकता से जीवन में आनन्द मिलता है, उत्साह और स्फूर्ति मिलती है और यह संसार सुखमय प्रतीत होने लगता है। नृत्य की जीवन में महत्ता बताते हुए देवीलाल सामर ने लिखा है—

'जीवन को दुःखी होकर बिताना मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है और उसकी विवशता है। नृत्य इस भावना को दूर करता है। नृत्य द्वारा हृदय की निर्बलता सबलता में परिणत होती है और मनोरंजन से चित्त की प्रसन्नता बढ़ती है।'[2]

वास्तव में गीत, वाद्य और नृत्य जीवन को रसमय बनाने की कलाएं हैं। नृत्य की गणना कला के अंग रूप में की गई है।[3] भारत में प्राचीनकाल से नृत्य का विकास पवित्रता और भक्ति के निकट सम्पर्क में हुआ है। मानव हृदय की दिव्यता तथा आन्तरिक सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिये नृत्य का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है।

नृत्य के प्रकार—

नृत्य मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं[4]

1 कलापूर्ण नृत्य (Artistic or classical dance)।
2 भावपूर्ण नृत्य (Emotinal dance)—इसे नाट्य कहते हैं।
3 भावुकतापूर्ण नृत्य (Expressional dance)—इसे नृत्त कहते हैं।

कलापूर्ण नृत्य—इसमें चेहरे के हावभाव सहित, ताल और स्वर के नियमानुसार, अभिनय द्वारा रस प्रकट किया जाता है। रसों के व्यक्तीकरण के लिये भिन्न-भिन्न अभिनय तथा मुद्राएं प्रयुक्त होती हैं जो आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य आदि के योग से प्रस्तुत की जाती है। नृत्य के विविध शास्त्रीय प्रकार,

---

1 डॉ. राधा कमल मुखर्जी, नृत्यकला—(प्रस्तावना)
2 डा. देवीलाल सामर—राजस्थानी लोक-नृत्य, विषय-प्रवेश, पृ. 7
3 'गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते।'—संगीत रत्नाकर।
4 डा. [illegible] निगम नृत्याचार्य—संगीत (पत्रिका—नृत्य अंक, मार्च 1961),

भरत नाट्यम, कत्थक, कथकलि आदि इसी श्रेणी के पूर्ण विकसित व परिष्कृत नृत्य हैं।

**भावपूर्ण नृत्य**—इसमें नर्तक अपने हृदय-तरंगित भावों को प्रकट करता है। भाव-नर्तक को काव्यकार की भांति नव-रस का पूर्ण ज्ञाता होना आवश्यक होता है। नर्तक का भावविन्यास लेखक या कवि के वाक्यविन्यास की भांति पूर्ण होना आवश्यक है। इसे 'नाट्य' भी कहते हैं। इसकी क्रिया तथा प्रयोग का नाम नाटक है।

**भावुकतापूर्ण नृत्य**—इसमें केवल शारीरिक अवयवों के अंग-विक्षेप द्वारा भाव को इंगित करना पड़ता है। 'नाट्यकार' ने इसे 'नृत्त' की संज्ञा दी है।

हर्ष, शोक, रोष आदि भावों का रस से युक्त अभिनय ही वास्तव में नाट्य कहा जाता है। नाट्य, गीत, अभिनय आदि का सम्बन्ध स्पष्ट है, क्योंकि इनमें भावों तथा अर्थों की अभिव्यक्ति होती है, पर नृत्त तो मात्र आंगिक संचालन है। आचार्य भरत के अनुसार, 'यह कहा जा सकता है कि नृत्त को किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं है; परन्तु नृत्त शोभा को उत्पन्न करता है, अतः उसका प्रयोग किया जाता है। प्राय: नृत्त स्वाभाविक रूप से समस्त लोक को प्रिय होता है और इसे देखने में सबकी रुचि होती है। नृत्त का रूप मंगलमय और आह्लादकारी होता है। आनन्द-प्रमोद की दृष्टि से तथा मनोरथ प्राप्त होने पर उल्लास मनाने के भाव से विनोदार्थ नृत्त का प्रयोग माना गया है। विवाह, पुत्र-जन्म, बरात-स्वागत, प्रमोद, उन्नति आदि के उल्लासमय भावुकतापूर्ण प्रसंगों में नृत्त मनोरंजन करने वाले तत्व के रूप में प्रयुक्त होता है।

(3) नृत्य के रूप—अन्य कलाओं की भांति नृत्यकला के भी दो रूप हैं—

1 शास्त्रीय नृत्य, 2—लोक-नृत्य।[1] शास्त्रीय नृत्य, लोक-नृत्य का ही अत्यधिक परिष्कृत, परिवर्धित व सुसंस्कृत रूप है। शास्त्रीय नृत्य जहां नियमबद्ध होता है वहां लोकनृत्य में उन्मुक्तता होती है। शास्त्रीय नर्तक की एक-एक मुद्रा शोधित व कलात्मक होती है जब कि लोक-नर्तक की मुद्राओं में अयत्नज चारुता होती है। शास्त्रीय नृत्य चमत्कारपूर्ण है, जबकि लोक-नृत्य सरलता-पूर्ण होते हैं। शास्त्रीय नृत्य ताल के गणितीय बन्धन से कसे-बंधे रहते हैं, जबकि लोक-नृत्य में ताल और लय नृत्यकार की चेरी बन उसके पीछे-पीछे चलते हैं। लोक नृत्यों में ताल, लय तथा अंग-भंगिमाओं का सर्जन नृत्यकार स्वयं करता है। इसे सीखने के लिये किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है। ये मन की उद्दाम कल्पनाओं के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, इससे इनमें एक अनगढ़ सौन्दर्य होता है। सहजता व सर्वगम्यता के कारण ये स्वभावतः लोगों को आनन्द प्रदान करते हैं तथा जीवन को गतिमय व उल्लासमय बनाते हैं। लोक-नृत्य की सबसे प्रमुख विशेषता है उसकी सामुदायिक भावना। लगभग सभी प्रकार के लोक-नृत्य वैयक्तिक भावनाओं से ऊपर होते हैं। लोक-नृत्यों में जन जीवन की परम्परा, उसका संस्कार तथा आध्यात्मिक विश्वास प्रधान होता है। यही कारण है कि लोक-नृत्य अत्यन्त प्राचीन, परम्परागत व दीर्घायु होते हैं।[2]

---

1 डॉ. रघुवंश कृत—'भरत का नाट्यशास्त्र'—भाग 1, पृ. 153-154।

2 देखिये—डॉ. देवीलाल सामर—राजस्थान के लोक नृत्य,—पृ. 3-8।

...मीरा नृत्य व लोक-नृत्य के उक्त विवेचन के उपरांत हमें देखना यह है कि मीरां ने किस प्रकार की नृत्य शैली अपनाई थी।

(4) मीरां के नृत्य का (संभावित) रूप—

जैसा कि सर्वविदित है मीरां भावुक भक्त थीं। उन्होंने गिरधर के प्रति अपने शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति करने के लिये गीत, संगीत और नृत्य का आश्रय लिया था। गिरधर के प्रेम में पूर्णतः रससिक्त होकर मीरां ने उनके दिव्य प्रेम का पूर्णतः साक्षात् उन्मुक्त भाव से नृत्य किया था। अपने इस दिव्य नृत्य द्वारा गिरधर को रिझा लेने की उनकी टेक थी और इसी के सहारे भवसागर पार कर जाने की उत्कट आकांक्षा।

गाय गाय म्हां रसिक रिझावां, प्रीत पुरातन जाचवां।
स्याम प्रीत रो बांध घुंघरयां मोहण म्हारां साचां।[1]

मीरां ने 'लोक-लाज' की परवाह करना छोड़ दिया था, 'कुल की कानि' को तिलांजलि दे दी थी। 'भक्ति निसांण' बजाकर वे उन्मत्त हो नाच उठी थीं। सांवरिया से प्रीत जोड़ कर सबों से 'आंतरी' कर ली थी। मीरां की यह अवस्था भक्ति की चरम अवस्था थी जिसे हिन्दू दर्शन की भाषा में 'तुरीयावस्था' कहते हैं और सूफी दर्शन की भाषा में 'हाल' कहते हैं।[2]

इस अवस्था में पहुँच कर भक्त को लोक का ज्ञान नहीं रहता। वह अपने प्रिय के विचारों में मग्न हो नाचता है, गाता है, चिल्लाता है, मूर्छित हो जाता है। 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति की इस अवस्था का वर्णन 'भक्ति के अनुभव' के रूप में किया गया है, गान व नृत्य की 'गीत' व 'क्षेपण' अनुभाव के रूप में इसकी विवेचना की गई है।[3]

वस्तुतः मीरां का नृत्य भी 'क्षेपण' अनुभाव-जन्य है। मीरां ने जिस दिव्य-माधुर्य की अवतारणा अपने जीवन में की थी उसी के परिणाम स्वरूप उनकी भावाभिव्यक्ति 'गान', 'नृत्य' और 'कविता' के रूप में प्रकट हुई। उनका नृत्य आनन्द की चरम सीमा से जन्मा था। उसके जन्म लेते ही मीरां के समस्त लौकिक बन्धन कच्चे धागे से टूट कर बिखर गये, उनके जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो गये और उन्होंने उस परमानन्द को पा लिया जिसे योगीजन जन्म-जन्मान्तर की कठोर तपश्चर्या व साधना के उपरान्त प्राप्त करते हैं।

भावमयता व तन्मयता में मीरां ने जो भी गाया वह उनके हृदय के संगीत से अनुरंजित हो गया। उनका नृत्य उनके प्रेमोन्माद का ज्वलन्त प्रमाण था जिसमें प्राणों की लय, सांसों की तान और हृत्कम्पन की झंकार गूंज उठी थी। इस अद्भुत सामञ्जस्य पूर्ण संगीत की साधना से भक्ति की जो स्वर लहरियां उत्पन्न हुईं वे कालजयी और सर्वव्यापी बन दिगन्त में सर्वत्र परिव्याप्त

1 मीरां पदा., पद सं. 17।

2 देखिये—साहित्यलोक—'हाल' (भाग-2), पृ. 963।

3 देखिये—भक्तिरसामृतसिंधु : द्वितीया अनुभाव लहरी—कारिका—1-2
हिन्दी भक्ति रसामृतसिन्धु (सम्पादक डा. नगेन्द्र), पृ. 199।

हो गई।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मीरां का नृत्य किसी शैली-विशेष का अनुकरण नहीं था, वह तो मीरां की प्रेम-भावना की चरम अभिव्यक्ति का प्रतिफलन था। वह आन्तरिक आनन्दोल्लास की वहिर्-अभिव्यक्ति मात्र था, तथा मीरां के गिरधर-प्रेम का पावन परिणाम था और अन्ततः प्रेमाभिव्यक्ति का एक साधन मात्र था।

**मीरां द्वारा संगीत-सिद्धान्तों का निर्वाह—**

भारतीय शास्त्रीय-संगीत-सिद्धान्तों का निर्माण करने वाले मुख्य तत्त्व हैं—राग, देश, काल, वेला एवं परिस्थिति।[1] मीरां के काव्य में निहित संगीत का निर्माण करने वाले भी ये ही तत्त्व हैं। इनमें से रागों का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। 'देश' का अर्थ हम यहां तयुद्गीन लोक-संगीत से लेते हैं। मीरां अपने जीवनकाल में मुख्यतः जिन देशों अथच राज्यों में रहीं, वहां की देशीय भाषा और संगीत से उन्होंने वहुत कुछ ग्रहण किया तथा उन देशीय प्रभावों को आत्मसात् कर उन्हें अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम वनाया। इसकी चर्चा 'लोक-संगीत और मीरां' शीर्षक के अन्तर्गत की जा चुकी है। यहां हमारे विवेच्य तत्त्व हैं-काल और वेला। इन्हें 'ऋतु-सिद्धान्त' और 'समय-सिद्धान्त' के रूप में जाना जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की यह एक परम्परागत मान्यता है कि प्रत्येक राग-विशेप का सम्वन्ध किसी विशिष्ट ऋतु और विशिष्ट प्रहर से होता है। समयानुकूल गायन से राग की रंजकता में अपूर्व वृद्धि होती है, जवकि वेसमय गाने पर राग अपनी रंजकता और मार्मिकता खोकर प्रभावहीन से हो जाते हैं। अतः अधिकांश प्राचीन व अर्वाचीन संगीतज्ञों ने ऋतुसिद्धान्त और समय-सिद्धान्त का प्रवल समर्थन किया है। मध्य-युग में तो संगीत अपने चरमोत्कर्ष पर था फलतः तयुद्गीन समस्त वाग्गेयकारों ने इन सिद्धान्तों का यथोचित पालन किया है।

सूरदास सहित समस्त अष्टछाप-कवियों के गीतों में इन दोनों सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक पालन किया गया है। श्रीनाथजी की अष्टयाम सेवाविधि का पूरा सदुपयोग करते हुए इन कवियों ने समयानुकूल राग-रागिनियों का जो विपुल प्रयोग किया, उससे उनका काव्य-सौन्दर्य व संगीत-सौन्दर्य द्विगुणित हो गया।

मीरां के स्वतंत्र व्यक्तित्व को किसी साम्प्रदायिक सेवा-विधि की शृंखलाएं वांध नहीं पाई थीं, परिणामतः उनके पदों में समयानुकूल गायन की परिपाटीवद्ध योजना उपलब्ध नहीं होती। परन्तु उन्होंने भावानुकूल रागों की जो व्यवस्था की है उसे देख कर लगता है कि उन्होंने भी समयसिद्धान्त व ऋतुसिद्धान्त का यथोचित पालन अवश्यमेव किया होगा। मीरां के काव्य में निहित संगीत-तत्त्वों पर विचार करते हुए डॉ. दिनेश चन्द्र गुप्त ने जो कुछ लिखा है, उससे मीरां के संगीत-सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

'मीरां एक कुशल गायिका थीं। उनके काव्य में संगीत के सभी आवश्यक तत्त्व देखने को मिलते हैं। मीरां के अधिकांश पद संगीत के समय-सिद्धान्त तथा

---

1 श्री जगदीश नारायण पाठक-संगीत निवन्धमाला, पृ. 136।

ऋतु-विधान पर नहीं उतरते हैं।'[1]

मीरां-संगीत में समय-सिद्धान्त—

मीरां ने प्रातःकालीन गेय रागों तथा सायंकालीन गेय रागों के साथ ही रात्रिकालीन गेय रागों और रागिनियों का भी प्रयोग किया है। कृष्णभक्त कवियों ने प्रातःकालीन गेय रागों में आबद्ध गीतों को 'प्रभाती' की संज्ञा प्रदान की। इन 'प्रभाती' भजनों में आराध्य के उत्थापन सम्बन्धी पदों के साथ-साथ चेतावनी तथा उद्बोधन परक भावों का सन्निवेश स्पष्टतः परिलक्षित होता है। मीरां ने भी 'प्रभाती' भजनों की कुछ समायोजना की है। उदाहरणार्थ कुछ पद प्रस्तुत हैं—

(1) राग-प्रभाती : ताल-कहरवा

जागो बंसीवारे प्रभुजी, जागो मोरे प्यारे।टेक।
रजनी बीती भोर भयो है, घर घर खुले किवारे।
गोपी दधी मथत सुनियत है, कंगना के झनकारे।
उठो लालजी भोर भयो है, सुर नर ठाड़े द्वारे।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल, जय जय शब्द उचारे।
माखन रोटी हाथ में लीनी गोवन के रखवारे।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर सरण आये को तारे।[2]

(2) राग-प्रभाती

थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ
मैं हाजिर नाजिर कब की खड़ी।टेक।
साजनियां दुसमण होय बैठ्या सबने लागूं कड़ी।
तुम बिण साजन कोई नहीं है डिगी नाव समन्द अड़ी।
दिन नहिं रैण नहिं निदरा सूखूं खड़ी खड़ी।
बाण विरह का लग्या हिये में, भूलूं ण एक घड़ी।
पत्थर की तो अहिल्या तारी, बण के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीरां में कहिये सौ पर एक घड़ी।[3]

इनके (प्रभाती के) अतिरिक्त और भी बहुत से राग ऐसे हैं जो प्रातःकाल में गाये जाते हैं। प्रातः गेय रागों में ललित, प्रभावती, भैरव, भैरवी, कालिङ्गड़ा, मोहनी, विभास आदि प्रमुख हैं जिनका प्रयोग 'मीरां बृहत् पदावली' में मिलता है। इनके अतिरिक्त सायंकालीन गेय रागों में पूरिया, मारवा, धनाश्री, जैतश्री, गौरी, सिंधुरी प्रधान हैं। प्रातःकालीन गेयपद उत्तराङ्ग प्रधान होते हैं और सायंकालीन गेय पद पूर्वाङ्ग प्रधान।

राग 'सारङ्ग' का गायनकाल मध्याह्न वेला है। मीरां ने इस राग का प्रचुर प्रयोग किया है। भोगराग सम्बन्धी पदों को इस राग के अन्तर्गत बांधना मीरां की सङ्गीत-मर्मज्ञता का परिचायक है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

1 भक्तिकालीन काव्य में राग और रस, पृ. 189।
2 मी. बृ. पदा., पद सं. 160।
3 मी. पदा., पद—118

**राग-सारङ्ग : ताल कहरवा**

तुम जीमो गिरधर लाल जी ।टेर।
मीरां दासी अरज करै छै, जीमो परम दयाल जी ।
छप्पन भोग छत्तीसों बिंजन, पावो जन प्रतिपाल जी ।
राजभोग अरोगो गिरधर सन्मुख राख्यो थाल जी ।
मीरां दासी चरण उपासी, कीजे वेग निहाल जी ।[1]

सायंकालीन गेय तथा रात्रिकालीन गेय रागों का मीरां ने सुन्दर आयोजन किया है । विहाग व बागेश्वरी राग रात्रिकाल में गेय हैं । इनका एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा ।

**राग विहाग**

माई म्हारी हरिहूं न बूझया बात ।
पिंड मांसू प्राण पापी निकसि क्यूं णा जात ।
पटा णा खोल्या मुखां णा बोल्या सांझ भई परभात ।
अबोलणा जुग बीतण लागा कायांरी कुसलात ।
सावण आवण हरि आवण री सुण्या म्हाणे बात ।
घोर रेणा बीजु चमकां वार गिणतां प्रभात ।
मीरां दासी स्याम राती, ललक जीवणा जात ।[2]

**राग बागेश्वरी**

री म्हां बैठ्यां जागां, जगत सब सोवां ।
बिरहण बैठ्यां रंगमहल मां, णेण लड्या पोवां ।
इक विरहणि हम ऐसी देखी, अंसुवन की माला पोवैं ।
तारां गिणतां रेण बिहाणां सुख घड़ियां री जोवां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मिल बिछड्या णा होवां ।[3]

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि मीरां ने संगीत के 'समय-सिद्धान्त' का यथोचित परिपालन किया है तथा भावानुकूल व समयानुकूल व राग-रागनियों का सुन्दर प्रयोग किया है । डा. सावित्री सिन्हा के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि—

मीरां का विरह और मिलन रात और दिन पर निर्भर नहीं है—वह तो 'निसवासर' विरहिणी है—इसलिये उनके गीतों की सात्विक कोमलता किसी भी प्रहर व्यक्ति को सांसारिक वैषम्यों और जंजालों से मुक्त कर श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी में तन्मय रखने की सामर्थ्य रखती है ।[4]

**मीरां-संगीत में ऋतु-सिद्धान्त—**

समयानुकूल गायन के साथ ही साथ ऋतुअनुकूल गायन में भी मीरां पटु

---

1 मी. बृ. पदा., पद सं. 193 ।
2 मी. पदा., पद सं. 66 ।
3 मी. पदा., पद सं. 86 ।
4 ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प. पृ. 379 ।

थी। इनके काव्य में ऋतु सिद्धान्त का निर्वाह अपेक्षाकृत अधिक सजगता व चेष्टा पूर्वक किया गया प्रतीत होता है। होली के पदों में अधिकतर लोकगीतशैली के 'होरी गान' और शास्त्रीय संगीत-शैली के 'झिंझोटी' तथा 'क़ाफ़ी' राग का प्रयोग हुआ है तथा वर्षाऋतु के वर्णनों से युक्त पदों में मल्हार राग का विधान किया गया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने 'मल्हार' के साथ ही साथ 'सावन' राग शब्द का प्रयोग भी किया है। वस्तुतः सावन और मल्हार एक से ही हैं। 'सावन' लोकगीत परक शब्द है जबकि 'मल्हार' शास्त्रीय संगीतज्ञों द्वारा मान्यता-प्राप्त एक विशिष्ट राग सूचक शब्द है। डा. दिनेशचन्द्र गुप्त के शब्दों में—

'ग्रामीण नारी का स्वाभाविक गान सावन है, जिसे मीरां ने राग मल्हार के रूप में गाया है।'[1]

इस राग का सौन्दर्य उक्त ऋतु में गाने पर ही निखरता है तथा विशेष प्रभावकारी होता है। मीरां ने इस राग का प्रयोग वर्षा-वर्णन-प्रधान पदों में बखूबी किया है। उन्होंने मल्हार राग में कहीं प्रियआगमन का हर्षोल्लास व्यक्त किया है तो कहीं प्रियतम की निष्ठुरता पर जार-जार आंसू बहाए हैं। उनकी मनोव्यथाओं को साकार करने में इस (मल्हार) राग का विशेष महत्त्व है। उदाहरणार्थ एक-एक पद प्रस्तुत है—

राग-मल्हार-(संयोगानुभूति)

बरसै रे बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।
उमड़ घुमड़ चहुं दिस से आयो, दामण दमक झर लावन की।
नन्हीं नन्हीं बुंदियन मेहा बरसै, सीतल पवन सुहावन की।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर आनन्द मंगल गावन की।[2]

राग-सोरठ-मल्हार (विरहानुभूति)

भीजै म्हारो दांवनचीर, सावणियो लूम रह्यो रे।
आप तो जाय बिदेसां छाये, जियड़ो धरत न धीर
लिख लिख पतियां संदेसा भेजूं, कब घर आवे म्हारो पीव
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, दरसन दो बलवीर।[3]

कतिपय विद्वानों ने मीरांबाई द्वारा रचित मल्हार राग का एक विशेष प्रकार 'मीरां की मल्हार' के नाम से माना है।[4] और कुछ विद्वानों ने इसे मेड़तणी मीरां-विरचित न मानकर रामदास की पुत्री मीरां द्वारा रचित स्वीकार किया है।[5] डा. प्रभात ने 'मीरां की मल्हार' को 'मीयां की मल्हार' से व्युत्पन्न माना है।[6] परन्तु श्री जयसुखलाल शाह के अनुसार 'मीयां की मल्हार' और 'मीरां की

1 डा. दिनेशचन्द्र गुप्त—भक्तिकालीन काव्य में राग और रस, पृ. 190।
2 मीरां-पदावली, पद सं. 146।
3 मी. बृ. पदा., पद सं. 348।
4 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ.
5 देखिये—जयसुखलाल शाह : मल्हार के प्रकार—पृ. 417।
6 डा. प्रभात : मीरांबाई, पृ. 417।

मल्हार' दोनों ही मल्हार राग के दो प्रकार हैं,[1] तथा दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। निश्चित प्रमाण के अभाव में निर्णयपूर्वक कुछ भी कहना असंगत ही होगा। अस्तु! इतना ही कहा जा सकता है कि मीरां ने इस राग को अपनी करुणामयी विरहवेदना प्रकट करने के लिये विशेष रूप से पसन्द किया होगा तथा मार्मिक स्वरों में इसे सफलतापूर्वक गाया होगा।

'मीरां-हवृत्-पदावली' में पद—275 के ऊपर 'मीरां की मल्हार' का निर्देश मिलता है, परन्तु इस पद के कई शब्द अस्पष्ट से हैं तथा यह पद अप्रचलित भी है, उक्त पद की शब्द-योजना भी मीरां के अन्य पदों से नहीं मिलती। अतः यह कहना कठिन है कि यह मूलतः मीरां की रचना है अथवा नहीं—

**राग-मीरां की मल्हार : ताल-चौताला**

प्यारी के चिहुर विथुरे मानो धाराधर की श्याम घटा उनई।
ता मध्य पहुप छुटि परे तैसे बड़ी बड़ी बूंदें।टेर।
लाल सारी पहिरै हरी कोर मध यामिनी सी घूंघट करि चली,
पीठ पाछेतैं तरकैं कंचुकी तनी की फूंदें।
महंदी सो आरक्त नख वीर वहूटी ऐसी पावस वनिता मिली
मीरां लाल गिरधर को लै काम प्रीत काम हार गूंदें।[2]

मल्हार की तरह ही होली भी ऋतुगीत है जो फाल्गुन-चैत्र मास में होलिकोत्सव के निकटवर्ती समय में गाया जाता है। जैसाकि पूर्व कथित है, काफ़ी और झिंझोटी राग में मीरां ने अपने होली सम्बन्धी पदों को बांधा है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने मीरां के कतिपय पदों पर राग-निर्देश के स्थान पर केवल 'होली' का निर्देश किया है। इससे यह भी समझा जा सकता है कि लोकगीतों में होली-गीतों के लिये जो विशेष धुन होती है, उन धुनों के आधार पर उक्त पद गेय हैं। डॉ. सावित्री सिन्हा ने मीरां के होली सम्बन्धी गीतों का विवेचन करते हुए जो विचार व्यक्त किये हैं वे इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं तथा मीरां के 'होली-राग' पर उन विचारों से बहुत प्रकाश पड़ता है—

मीरांबाई की रचनाओं में लोकगीत शैलियों का जो शुद्ध रूप मिलता है उसे देखकर आश्चर्य होता है। होली के पदों में जिस प्रकार की लय और मात्राओं की योजना की गई है उसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में प्रचलित होली-गीतों की शैली में आसानी से बांधा जा सकता है।[3]

उदाहरणार्थ निम्न-पद डा. सावित्री सिन्हा ने प्रस्तुत किया है—

फागुन के दिन चार रे होली खेल मना रे।टेक।
बिन करताल पखावज वाजे अणहद की झणकार रे।
बिन सुर राग छतीसों गावै रोम रोम रंग सार रे।

---

1 जयसुखलाल त्रिभुवनदास शाह—'मल्हार के प्रकार', पृ. 42।
2 मी. वृ. पदा., पद सं. 275।
3 डॉ. सावित्री सिन्हा—ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प, पृ. 362।

सील संतोष की केसर घोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत रंग अपार रे।
घट के पट सब खोल दिये हैं, लोक लाज सब डार रे।
होली खेल पीव घर आए, सोइ प्यारी प्यार रे।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर चरण कंवल बलिहार रे।[1]

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां-पदावली में भावानुरूप व रसानुकूल रागों का तो प्रयोग मिलता ही है, साथ ही साथ समय-सिद्धान्त व ऋतु-सिद्धान्त के निर्वाह की भी जागरूक चेष्टा मिलती है। वस्तुतः मीरां की संगीत-योजना शास्त्रीय संगीत व लोक संगीत के अपूर्व सामञ्जस्य से आविर्भूत हुई है। मीरां का सम्पूर्ण काव्य ही सम्मिश्रण व सामञ्जस्य स्थापन की नीति पर अवलम्बित है, अतः उनकी संगीत-योजना में भी उनकी यह नीति स्पष्टतः मुखरित हुई है। उनके काव्य-संगीत में शास्त्रीय-पद्धति व लोक-पद्धति के प्रति समभाव बरता गया है, न किसी का विशेष स्वागत किया गया है, न किसी का तिरस्कार। मीरां की दृष्टि में प्रेम-भाव का महत्त्व था, भेद-भाव का नहीं।

वास्तव में मीरां सही अर्थों में उत्कृष्ट वाग्गेयकार थीं। उनका आदर्श ऊंचा था और लक्ष्य सर्वोच्च। अतः इस सर्वोच्च-लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने जिस काव्य-संगीत का माध्यम चुना, वह भी अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में उनके पदों में विद्यमान है। वे स्वयं राग-द्वेष से परे थीं और दिव्य गुणों से विभूषित थीं, फलतः उन्होंने जिस साधन को अपनाया उसका रूप दिव्य हो गया। संगीत के पावन रूप को लोक-जीवन में पुनः अवतरित करने व लोक-मानस के उच्चासन पर पुनःप्रतिष्ठित करने में मीरां का योगदान अनुपम व अमूल्य है। काव्य-संगीत द्वारा तुरीयावस्था की प्राप्ति का जो मार्ग मीरां ने अपनाया व सुझाया है, वह आज के युग में भी अनुकरणीय है। उस मार्ग की उत्कृष्टता व पावनता का स्वतःसिद्ध प्रमाण मीरां स्वयं है।

मूलतः भक्ति-गायिका होते हुए भी मीरां केवल शब्द और स्वरों की साधिका नहीं थी, उनका काव्य कवित्व, संगीत और नृत्य का समन्वित उद्गीथ था, उनका गायन और नर्तन विभिन्न भाव-स्थितियों का स्फुरण था। यशस्वी कवि माखन लाल चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा था—

'जब मीरां पर पड़ने वाले कष्टों के बीच आंसू बरस पड़ते और गोविन्द याद आ जाता तो वह गा उठती, यदि गोविन्द इतने नजदीक दीख पड़ता कि मीरां अपने दृष्टि के डोरों से पकड़ कर अपने हृदय के आंगन में उसे खींच सके, तो वे नाच उठती। गायन में वेदना स्वर भरकर रह जाती है, किन्तु मीरां के नृत्य में उसके विचार स्वरूप धारण कर आते। गायन में ऋतुओं की याद भर आती है, मीरां के नर्तन में ऋतुएं अवतार ले लेतीं। गायन अर्थ वाले शब्द कह कर भी वह न कह पाता जो शब्दरहित नृत्य कह ले जाता, इसीलिये एक दिन, 'पग

1 मी. पदा. (परिशिष्ट—ग) पद सं. 10

घुंघरु बांध मीरां नाची रे।' घुंघरु, भक्ति की धमक पर यह निर्जीव न जाने कब से 'जानदार' बनता चला आ रहा है। कमजोर कविता लिख सकता है, चित्र बना सकता है, गा सकता है पर नृत्य तो नहीं कर सकता। मीरां के लिये इस कला के निकट जहर का प्याला था और काला सांप। जो इनसे सीधा लिपट सकी, वह संसार के भयंकर शत्रुओं तक से निपट सकी। वह कृष्ण की बांसुरी की सोलहवीं शती की वह रागिनी है जो 336 वर्षों की पथरीली चट्टानें चीरती आज भी, उन कानों में सुनाई दे रही हैं, जिनमें मीरां के समर्पण और गोविन्द के लिये—कान कहानी सुन्यों कहै—की अवस्था प्राप्त है।[1]

---

1 श्री माखनलाल चतुर्वेदी, धर्मयुग (पत्रिका) – (2-9-56)।

# उपसंहार

## (क) सार और निष्कर्ष :

मीरां के सम्बन्ध में समीक्षकों एवं शोधकर्त्ताओं की अब तक सामान्य धारणा यह रही है कि मीरां केवल एक भक्त थीं, या यह कि वे पहले भक्त थीं और बाद में कवयित्री। एक कवयित्री के रूप में भी वे स्वानुभूति-प्रधान भावप्रवण गायिका थीं और उनकी अभिव्यक्ति, उनकी इस स्वानुभूति का ही सहज एवं निरायास परिणाम थी। यही कारण है कि उनके काव्य में अभिव्यञ्जना-कला के विभिन्न तत्त्वों को देखने का प्रयत्न नहीं किया गया। परिणाम यह हुआ कि अब तक मीरां के काव्य का अभिव्यञ्जना-पक्ष प्रायः उपेक्षित ही रहा। इस क्षेत्र में जो थोड़ा बहुत प्रयत्न हुआ भी वह अधिकांशतः भाषा और कुछ अंशों में अलंकार और छन्द आदि तक सीमित रहा, और वह भी ऊपरी सतह को ही छू पाया। मीरां-सम्बन्धी कोई भी अध्ययन उनके काव्य के अभिव्यञ्जना-पक्ष के सभी तत्त्वों का न तो विस्तार और न गहराई से मन्थन कर पाया; किन्तु जैसा कि इस शोध के अन्तर्गत किये गये अध्ययन से स्पष्ट होता है, मीरां के काव्य का अभिव्यञ्जना-पक्ष अपनी सरलता में भी संपुष्ट एवं समृद्ध है। क्या भाषा, क्या शब्दशक्तियां, क्या अलंकार, क्या प्रतीक, क्या बिम्ब, क्या छन्द और संगीत—सभी क्षेत्रों में मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली उन्हें एक सफल कवि कोटि में रखने में पूर्ण सक्षम है।

मीरां की भाषा को ही लें, मूलतः और प्रधानतः राजस्थानी होते हुए भी, उसका उपलब्ध और सामान्य रूप मुख्यतः ब्रज तथा गुजराती का और गौणतः खड़ी बोली, पंजाबी, पूर्वी आदि का मिश्रित रूप है। उनकी भाषा का यह मिश्रित रूप उसके वैविध्य का भी सूचक है।

मीरां की भाषा की दूसरी विशेषता उसका सरल और आडम्बरहीन होना है। उसमें तत्सम शब्दों की अपेक्षा अर्ध-तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त उसमें तत्कालीन विदेशी भाषाओं जैसे अरबी, फारसी आदि के शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं यद्यपि उनका भी तद्भव रूप ही मीरां ने ग्रहण किया है। तद्भव शब्द के प्रयोग की इस बहुलता ने उनकी भाषा को जनसामान्य की भाषा के निकट पहुँचा दिया; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी भाषा केवल जनभाषा बन कर रह गई है। सच तो यह है कि मीरां की भाषा को साहित्यिक भाषा और जनभाषा की मध्यवर्ती भाषा कहा जा सकता है, जो सर्वत्र ही सरल सहज और अनुभूतिगर्भा है। उनकी भाषा की इसी ऋजुता और सरलता ने उसमें लिपिकारों और गायकों द्वारा मनमाने परिवर्तन और क्षेपकों के लिये अवसर प्रदान कर दिये। पर दूसरी ओर उनकी भाषा की सरलता और स्वाभाविकता ने उनके पदों को सर्वबोधगम्य और लोकप्रिय भी बना दिया। इसके अतिरिक्त मुख्यतः मुहावरों और गौणतः लोकोक्तियों के यथोचित

ग्रौर काव्योचित सुन्दर प्रयोग ने भी उनकी भाषा को शक्ति, अर्थवत्ता और सजीवता प्रदान की है।

उनकी भाषा जो प्रधानत: ग्रौर मूलत: राजस्थानी है, राजस्थानी व्याकरण की कसौटी पर कसने पर भी खरी उतरती है। यदि उसमें कुछ व्याकरणगत दोष दिखलाई पड़ते हैं तो उसका कारण उनके काव्य के लिपिकर्त्ता ग्रौर संकलनकर्त्ता ही हैं, स्वयं मीरां नहीं। उनकी भाषा का भाषा-वैज्ञानिक ग्रध्ययन यह बतलाता है कि उनकी भाषा पर ध्वनि-परिवर्तन के ग्रनेक नियम लागू होते हैं।

मीरां की भाषा में शब्दों का निर्माण मुख्यत: उपसर्ग ग्रौर प्रत्यय जोड़कर तथा समास के ग्राधार पर हुग्रा है। समास की दृष्टि से उनकी भाषा समस्त-पद वहुला न होकर सामान्य सामासिक पदों से युक्त है।

वाक्यविन्यास की दृष्टि से उन्होंने सरलतम वाक्यों का सुष्ठु प्रयोग किया है, यद्यपि मिश्रित ग्रौर संयुक्त वाक्यों का भी प्रयोग हुग्रा है। वाक्यार्थ की दृष्टि से उनके पदों में सामान्यार्थक, निषेधार्थक, ग्राज्ञार्थक, विनयार्थक, प्रश्नार्थक ग्रौर संकेतार्थक वाक्यों का प्रयोग हुग्रा है। छोटे-छोटे किन्तु गहन ग्रर्थों ग्रौर भावों से पूर्ण वाक्य मीरां के हृदय-प्रदेश में लहराने वाले ग्रपार भाव-सागर की वे लोल लहरियां हैं, जो ग्रपने लघु कलेवर में भी विस्तृत भावराशि को समेटे हुए हैं। मीरां ने ग्रपने पदों में सर्वत्र परस्पर ग्रन्वय का ध्यान रखा है।

मीरां में शब्दों ग्रौर पदों की पुनरावृति ग्रौर द्विरुक्ति की प्रवृत्ति भी मिलती है। ग्रनेक स्थानों पर शब्दों का पुनरावर्तन कर उन्होंने ग्रपने भावों को ग्रर्थ-पूर्ण सशक्तता ग्रौर प्रभविष्णुता प्रदान की है। दूसरे, उनकी यह द्विरुक्तियां संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण ग्रादि सभी प्रकार के पदों में मिलती है।

मीरां द्वारा प्रयुक्त मुहावरों के ग्रनेक प्रकार हैं। यथा—(1) शरीर के विभिन्न ग्रवयवों से सम्वन्धित, (2) पशु-पक्षियों से सम्वन्धित ग्रौर उन पर ग्राधारित, (3) वैयक्तिक ग्रनुभूतिपरक, (4) दर्शनपरक, (5) क्रियार्थक संज्ञा-पदों से सम्वद्ध, (6) कलापरक ग्रौर (7) ग्रन्तकथा सम्वन्धी। इसी प्रकार मीरां द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियों के भी विभिन्न रूप या प्रकार हैं, जैसे—(1) दर्शनपरक, (2) सामाजिक दर्शनपरक, (3) ग्रन्योक्तिपरक, (4) ग्रनुभूतिपरक, (5) स्वकथन-पुष्टि हेतु निश्चयपरक। मीरां के इन मुहावरों ग्रौर लोकोक्तियों के प्रयोग से यह वात स्पष्ट हुई है कि मीरां ने इनका प्रयोग ग्रपने कथन को सुपुष्ट, सुन्दर ग्रौर हृदयग्राहक वनाने के लिये किया है, तथापि उनकी स्वानुभूतियों को तीव्रता ग्रौर मार्मिकता प्रदान करने में लोकोक्तियों की ग्रपेक्षा मुहावरे ग्रधिक सार्थक हुए हैं, क्योंकि मीरां का काव्य लोकानुभव-प्रधान उतना नहीं जितना कि स्वानुभूति प्रधान है। जो लोकोक्तियां उनके पदों में प्रयुक्त हुई भी हैं वे भाषा के सहज प्रवाह में ग्राकर उनकी स्वानुभूतियों को प्रकाशित करने ग्रौर उन्हें सर्वसंवेद्य वनाने में सहायक हुई हैं।

कुल मिलाकर मीरां की प्रवृत्ति कहीं भी भाषा को सजाने संवारने या परिष्कृत करने की नहीं रही, क्योंकि भाषा उनके लिये साध्य नहीं साधनमात्र थी। जव उनके भाव उनके हृदय के मंच पर नर्त्तन करने लगते थे, तो शब्द

स्वतः ही उनके भावों के चरणों में घुंघरु बनकर लिपट जाते थे, छन्द स्वतः ही ताल देने लगते थे। वस्तुतः मीरां ने जो कुछ गाना चाहा वह स्वतः ही भाषा का माधुर्य, गति और प्रवाह लेकर उनके कंठ से फूट पड़ा।

मीरां की भाषा में अपनी एक निजता और अस्मिता है, इसी कारण जहां भी मीरां के पदों में क्षेपक जुड़े हुए हैं या कि मीरां के नाम से अज्ञातनामा कवियों के पद प्रचलित हो गये हैं, वे स्थल या पद देख या सुनकर तुरंत ही यह आभास हो जाता है कि ये शब्द, पंक्तियां अथवा पद मीरां का नहीं हो सकता। मीरां की भाषा की यह निजता उनकी अभिव्यञ्जनाशैली को एक विशेषता प्रदान करती है।

जिस प्रकार मीरां की भाषागत विशेषताओं ने उनकी काव्य-भाषा को निजता प्रदान की है उसी प्रकार भाषा की विविध शब्दशक्तियों ने उनके काव्य को सहजता, सरसता, स्वाभाविकता, प्रतीकात्मकता, रहस्यमयता, चमत्कारिता, रागात्मकता, मर्मस्पर्शिता, हृदयहारिता और सर्वसंवेद्य रमणीयता से आविष्ट किया है। अभिधाशक्ति ने जहां उनके काव्य को स्वाभाविकता, सरसता, बोधगम्यता और संगीतात्मकता से युक्त किया है, वहां लक्षणा-शक्ति ने उनकी भावाभिव्यक्तियों को मानस रंजकता, हृदयग्राह्यता, रहस्यपूर्ण प्रभविष्णुता और वक्रता से परि-वेष्ठित किया है। इसी प्रकार व्यञ्जनाशक्ति ने उनके दिव्य प्रणय सम्बन्धों को अलौकिक रागमयता, सर्वसंवेद्य रमणीयता और चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य से ओतप्रोत किया है। वस्तुतः मीरां के काव्य में विविध शब्दशक्तियों का सामंजस्यपूर्ण समन्वित प्रसार हुआ है। अभिधाशक्ति के कारण ही उनका काव्य सार्वजनीन लोक-प्रियता प्राप्त कर सका है। व्याख्यात्मक, इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक तथा स्वसिद्धान्त प्रतिपादक स्थलों में तो अभिधा के दर्शन होते ही हैं, इनके अतिरिक्त आराध्य के रूप-बिम्बों, लीला-चित्रों तथा मीरां की ऋजु भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति में भी अभिधाशक्ति का कुछ संचरण देखा जा सकता है। मीरां के काव्य में निहित अभिधा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसका रसपूर्ण होना है। यही कारण है कि मीरां के अभिधात्मक वर्णनों में भी चित्रात्मकता, मधुरता और सहजता सर्वत्र छाई रहती है। व्यञ्जनात्मक स्थलों पर भी अभिधा अपना अस्तित्व बनाए रखती है। ऐसे प्रसंगों में गुणीभूत व्यंग्य का सौन्दर्य दर्शनीय है।

अभिधा से आगे बढ़कर, मीरां की भाषा, लक्षणा-शक्ति को भी अपने भीतर समाहित किये हुए है। मीरां के काव्य में उपलब्ध लक्षणा शब्द से लेकर वाक्य तक व्याप्त है। लक्षणा-व्यापार दो रूपों में मिलता है। पहला रूढ़ा-लक्षणा के रूप में और दूसरा प्रयोजनवती लक्षणा के रूप में। यह लाक्षणिकता अधि-कांशतः क्रियापदों और क्रिया विशेषणपदों में दिखलाई पड़ती है। शब्दगत लक्षणा के समान ही शब्द-समूह-गत अथवा वाक्यांशगत लक्षणा भी मीरां में दो रूपों में मिलती है—रूढ़ा लक्षणा और विशिष्ट लक्षणा। इनमें से रूढ़ा शब्द-समूहगत लक्षणा के उदाहरण मीरां द्वारा प्रयुक्त मुहावरों में देखे जा सकते हैं। शब्द-समूह या वाक्यांशगत विशिष्ट लक्षणा के अन्तर्गत मीरां के रूपक और प्रतीक-प्रयोग आते हैं, जो क्रमशः सारोपा गौणी लक्षणा तथा साध्यावसाना गौणी लक्षणा

तथा शुद्धालक्षणा के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनके साथ ही उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा के उदाहरण भी मीरां में यत्र-तत्र दिखाई पड़ते हैं।

मीरां के काव्य में उपलब्ध सभी प्रकार की लक्षणाओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि उनके काव्य में प्रयुक्त लाक्षणिक पद चमत्कारयुक्त और प्रभावपूर्ण हैं, और इनसे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह कहना कि मीरां के काव्य में लक्षणाशक्ति का स्थान नगण्य है, सर्वथा असंगत और अन्यायपूर्ण है। चाहे उनके काव्य में लक्षणा के सभी भेदोपभेद सूक्ष्मतः विद्यमान न हों, परन्तु इतना निश्चित है कि मीरां ने लक्षणाशक्ति का यथोचित प्रयोग अवश्य किया है, जिससे उनके काव्य में रहस्यात्मकता के साथ-साथ अलौकिकता भी अभिवृद्ध हुई है। वस्तुतः उनकी गहन अनुभूतियों को व्यक्त करने में लक्षणाशक्ति का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है।

अभिधा और लक्षणा की तुलना में व्यञ्जना उनके काव्य में और भी अधिक मिलती है। मीरां के काव्य का मूल स्वर मधुरा भक्ति है, जो सर्वत्र व्यंग्य ही है। अलौकिक माधुर्यभाव की जैसी सहज, स्वाभाविक, निश्छल और मर्मस्पर्शी व्यञ्जना मीरां ने की है वैसी अन्यत्र सहज सुलभ नहीं होती। व्यञ्जना ने न केवल उनके काव्य को सौन्दर्य-मंडित किया है वरन् उसे चिरस्थायित्व भी प्रदान किया है। यों तो व्यञ्जनाशक्ति के सभी प्रकार मीरां में उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनमें प्रधानता भावव्यञ्जना की है। उनके काव्य में उपलब्ध अभिधामूला शाब्दी-व्यञ्जना अथवा विवक्षित वाच्य-ध्वनि ही वह प्रथम व्यञ्जना है जो उनके काव्य को सहज और बोधगम्य बना देती है। मीरां के काव्य की यह प्रधान विशेषता है कि उसमें व्यंग्यार्थ के साथ-साथ वाच्यार्थ की भी विवक्षा बनी रहती है। परन्तु इन दोनों अर्थों की प्रतीति इतनी त्वरित गति से होती है कि इनका पूर्वापर क्रम लक्षित नहीं होता। मीरां का काव्य भावव्यंजना प्रधान होने के कारण उनके अधिकांश पदों में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि और उसमें भी भावादि ध्वनि का चारु चमत्कार स्पष्ट परिलक्षित होता है। मीरां में अभिधामूला ध्वनि या व्यंजना के तीन रूप मिलते हैं—(1) भाव-व्यंजना, (2) वस्तु- व्यञ्जना और (3) अलंकार-व्यञ्जना। उनकी पीड़ा को साकार रूप देने और उसे सर्वसंवेद्य बनाने वाली शक्ति अभिधामूला भाव व्यञ्जना ही है जो असंलक्ष्य है। मीरां के काव्य में निहित असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि में रसादि ध्वनि की प्रधानता न होकर भावादि-ध्वनि की प्रधानता माननी होगी। वैसे उनके काव्य में ये दोनों ध्वनियां इतनी घुलमिल गई हैं कि इन्हें पृथक् करना सम्भव नहीं है। रसादि ध्वनि लौकिक प्रेमसम्बन्धों के विविध रूपों और भावावस्थाओं को व्यंजित करती है, जबकि भावादि-ध्वनि देवादि विषयक रति को ध्वनित करती है। अलौकिक प्रियतम के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर लेने के कारण उनके काव्य में निहित व्यञ्जना रसादि ध्वनि भी कही जा सकती है। वस्तुतः आराध्य की अलौकिकता और उसके साथ लौकिक प्रेमसम्बन्ध की स्थापना, इन दोनों के योग ने मीरां के काव्य को एक विलक्षण चमत्कृति और दीप्ति से आलोकित कर दिया है। उनके पदों में जो रस का अदृश्य स्रोत प्रवाहित है वह वस्तुतः इस व्यञ्जनाशक्ति से ही प्रसूत हुआ है। अतः उनके काव्य में भावादि ध्वनि और रसादि ध्वनि की सरस अभिव्यक्ति मिलना स्वाभाविक ही है।

असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि के अतिरिक्त मीरां के पदों में कहीं-कहीं पर संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य-ध्वनि भी मिलती है जिसके अंतर्गत वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि आती है। जिस प्रकार मीरां के पदों में भावव्यंजना की तुलना में वस्तु-व्यञ्जना कम है, उसी प्रकार अलंकार-ध्वनि भी, जिसका कारण यह है कि मीरां के काव्य में अलंकारों का आयोजन आग्रहपूर्वक नहीं है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना या अविवक्षित वाच्यध्वनि ने भी मीरां के काव्य को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है। मीरां के निर्गुण साधनापरक पदों में कहीं अभिधामूला व्यञ्जना मिलती है तो कहीं लक्षणामूला व्यञ्जना, और कहीं दोनों ही प्रकार की व्यञ्जना अर्थ का ध्वनन करती है। मीरां ने कुछ पदों में जहां सर्वथा नवीन प्रतीकों का प्रयोग किया है वहां अर्थ की प्रतीति अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि एव अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि के योग से होती है।

अभिधामूला व्यञ्जना और लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना के अतिरिक्त आर्थी व्यञ्जना का भी सुरुचिपूर्ण सन्निवेश मीरां के काव्य में मिलता है, बल्कि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मीरां में शाब्दी व्यञ्जना की अपेक्षा आर्थी व्यञ्जना ही अधिक चमत्कारिक और रमणीय है। यद्यपि आर्थी-व्यञ्जना के अधिकांश भेद मीरां में उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनमें भी वक्तृवैशिष्ट्यजन्य वाच्य-संभवा और व्यंग्यसंभवा व्यजना का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। मीरां की स्वानुभूतियां वक्तृवैशिष्ट्यजन्य आर्थी व्यञ्जना द्वारा ही व्यंजित हुई हैं। मीरां के पदों में वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्यसंभवा—ये तीनों प्रकार की आर्थी व्यंजना और वाच्य वैशिष्ट्यजन्य आर्थी व्यंजना के उदाहरण भी उनके पदों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त व्यंग्यसंभवा वाच्यवैशिष्ट्यजन्य आर्थी व्यंजना और लक्ष्यसंभवा वाच्यवै-शिष्ट्य जन्य आर्थी व्यञ्जना, काकु-वैशिष्ट्यजन्य आर्थी व्यञ्जना, चेष्टावैशिष्ट्य जन्य आर्थी व्यंजना और प्रकरणवैशिष्ट्यजन्य आर्थी व्यञ्जना भी उनके काव्य में उपलब्ध होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मीरां ने आवश्यकतानुसार सभी शब्द-शक्तियों से अपने काव्य को सम्पन्न किया है, तथापि मूलतः अनुभूतिप्रधान होने के कारण उनके पदों में व्यञ्जना का ही प्राधान्य दिखलाई पड़ता है। इसी व्यञ्जना शक्ति के कारण उनका काव्य भावाभिव्यंजक तथा रसात्मक हो उठा है और समग्रतः शब्दशक्तियों के विविध भेदों की उपस्थिति ने उनकी अभिव्यञ्जना-शैली को वक्रता और ध्वनि के सौन्दर्य से समृद्ध किया है तथा उनके काव्य को अर्थ की विविध भंगिमाओं से गरिमामंडित किया है।

भाषा और शब्द-शक्तियों की विशेषताओं के समान ही मीरां में उक्ति-वैचित्र्य या उक्ति-वक्रता की विशिष्टताएं भी मिलती हैं। उनके काव्य में स्वभा-वोक्ति का सहज-सौन्दर्य होते हुए भी उक्ति-वक्रता के विविध रूप मिलते हैं, जिनके कारण उनका काव्य मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली हो गया है। उक्तिवक्रता का प्रथम प्रकार वर्णविन्यास-वक्रता—अनुप्रासिकता के रूप में, उनके पदों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। दो मात्राओं से लेकर आठ मात्राओं के तथा तीन वर्णों तक के अन्त्यानुप्रास उनके पदों में मिलते हैं। वर्ण-वक्रता ने मीरां के पदों को सुमधुर

गति और लयात्मकता प्रदान की है, जिससे उनका सौन्दर्यवर्द्धन हुआ है तथा उनमें स्वतः संगीतात्मकता भी आ गई है। पद पूर्वार्द्ध-वक्रता के भी अनेक उदाहरण उनके पदों में उपलब्ध होते हैं। इस वक्रता के अन्तर्गत अव्यय-वक्रता, विशेषण-वक्रता, पर्याय-वक्रता, उपचार-वक्रता—आदि वक्रताएं उनमें मिलती हैं। इनमें से पर्याय-वक्रता आराध्य के विविध नामों के प्रयोगों में मिलती है।

वक्रता का तीसरा भेद पदपरार्द्ध-वक्रता भी मीरां में उपलब्ध होता है, इसके अन्तर्गत प्रत्ययों के सुष्ठु संयोजन ने उनकी उक्तियों को सौन्दर्यान्वित किया है। मीरां द्वारा प्रयुक्त प्रत्ययों में भी 'ड़ा' 'डो', 'ड़ी' आदि प्रत्ययों ने उनकी उक्तियों को सर्वाधिक मर्मस्पर्शी और स्निग्ध बना दिया है। प्रत्यय-वक्रता के अनेकानेक प्रयोग मीरां-पदावली में प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त उपसर्ग और निपात-वक्रता का सौन्दर्य भी मीरां के काव्य में मिलता है। उनकी निपात-वक्रता में कहीं अन्तर्व्यथा अभिव्यंजित हुई है तो कहीं हार्दिक विश्वास एवं एकनिष्ठ प्रेम की व्यञ्जना मूर्तिमंत हो उठी है। कुल मिलाकर मीरां की स्पष्टोक्तियों को व्यञ्जनात्मक सौन्दर्य से आवेष्टित करने में इन पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध वक्रताओं का महत्त्वपूर्ण योग है।

पदपरार्द्ध वक्रता से आगे बढ़कर मीरां के काव्य की वक्रता जब वाक्य-वक्रता की सीमा में जाती है, तो वहां उनके वाक्यों को वक्रता प्रदान कराने में लक्षणाशक्ति और मुहावरों का अपूर्व योगदान दिखाई पड़ता है। सीधे शब्दों में बांकी बातें करना मीरां को खूब आता था। वस्तुतः उनकी वाक्यवक्रता में वाक्य सम्बन्धी विभिन्न वक्र प्रयोग आ जाते हैं, और उनमें प्रायः सभी अर्थालंकारों का समावेश हो गया है।

मीरां-पदावली में प्रकरण-वक्रता के भी अनेक भावपूर्ण और रमणीय उदाहरण मिल जाते हैं। वैयक्तिक अनुभूतिपरक पदों के अतिरिक्त मीरां ने पौराणिक लोक-प्रसिद्ध प्रकरणों का भी संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर कथन किया है; परन्तु इन प्रकरणों का सौन्दर्य अन्तिम पंक्ति में वहां जाकर बड़ा ही मर्मभेदी और तीक्ष्ण हो जाता है जहां मीरां इनके व्याज से अपनी हार्दिक आकांक्षा को व्यक्त करती है। मीरां के उक्ति-चातुर्य को देखकर यह मानना पड़ता है कि वे प्रकरण-वक्रता का भी समुचित और सटीक प्रयोग करने में सक्षम थीं।

इस प्रकार मीरां में वर्ण-वक्रता से लेकर प्रकरण-वक्रता तक के उदाहरण तो मिल जाते हैं किन्तु प्रबन्ध-रचना के अभाव में उनमें प्रबन्ध-वक्रता के उदाहरण नहीं मिलते। संक्षेप में, मीरां के काव्य में स्वभावोक्ति के नैसर्गिक सौन्दर्य के साथ वक्रोक्ति का भी चमत्कारिक सौन्दर्य अनेक स्थलों पर मिलता है; किन्तु इस सौन्दर्य में कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। अनुभूति की गहनता और अभिव्यक्ति की सहजता भी किस प्रकार वक्रोक्ति को जन्म दे सकती है, मीरां का काव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

वक्रोक्ति और अलंकार में भेद होते हुए भी दोनों में परस्पर सम्बन्ध भी है। मीरां के काव्य में वक्रोक्तियों के समान अलंकारों का भी स्वाभाविक प्रयोग है, यद्यपि कुछ लोग मीरां के काव्य में अलंकारों की अवस्थिति नगण्यप्रायः मानते

है, परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। चाहे मीरां ने केशव आदि अलंकारवादियों की भांति काव्य के पोर-पोर को विविध अलंकारों से सुसज्जित न किया हो, किन्तु उनका काव्य आवश्यक अलंकारों से विहीन नहीं है। यह अवश्य है कि उनकी सात्विकवृत्ति केवल भावसहजात अलंकारों को ही ग्रहण कर पाई थी। उपमा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का अनायास और सुन्दर विधान उनके काव्य में है; ये अलंकार मीरां की सहज अभिव्यञ्जनाशैली के अपृथक्य अंग बन गये हैं।

मीरां द्वारा प्रयुक्त शब्दालकारों में अनुप्रास (छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास), लाट, यमक, वीप्सा और श्लेष आदि सभी अलंकार सम्मिलित हैं। इसी प्रकार सादृश्यमूलक अर्थालंकरों में उपमा (रंगसाम्य, रूपसाम्य, गुणसाम्य और भाव-साम्य पर आधारित) रूपक (निरंगरूपक, सांगरूपक, परम्परित रूपक), उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्तिमूलक अलंकारों में अत्युक्ति, अतिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, भेदोतिशयोक्ति, विरोधाभास-मूलक अलंकारों में विरोधाभास और विभावना, और गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकारों में पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, व्याजस्तुति, परिकरांकुर आदि मिलते है। इनके अतिरिक्त उभयालंकार भी प्रयुक्त हुए हैं जिनमें सामान्यत: अनुप्रास, पुनरुक्ति, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सह-विन्यास किया गया है।

मीरां की इस अलङ्कार-योजना के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मीरां ने भावसहजात अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग किया है। इनके अलङ्कार भावों को स्पष्टता और व्यञ्जकता प्रदान करने वाले हैं। वर्ण्य विषय को सर्वसंवेद्यता और मार्मिकता प्रदान करने के लिये की गई उनकी अप्रस्तुत-योजना ऋजु होते हुए भी आकर्षक है और उनकी अभिव्यञ्जना को अनोखी दीप्ति से मंडित करती है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि वहुत वैविध्यपूर्ण न होते हुए भी मीरां की अलंकार-योजना अपने अभीष्ट की पूर्ति में, तथा उनकी स्वभावोक्तियों को रम्य आकर्षण प्रदान करने में समर्थ है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में अलङ्कारों के अन्तर्गत प्रतीक को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। इससे भिन्न भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतीक को अलङ्कार का भेद तो नहीं माना गया है, किन्तु रूपकातिशयोक्ति को अवश्य ही एक अलङ्कार माना गया है और यह रूपकातिशयोक्ति वस्तुत: प्रतीक का ही उपनाम है, क्योंकि दोनों में ही उपमेय या प्रस्तुत का उल्लेख नहीं होता और अप्रस्तुत ही सादृश्य की अतिशयता के कारण प्रस्तुत का भी वोध करा देता है। यों कृष्ण की वह मूर्ति भी, जिसकी कि मीरां उपासिका थीं, कृष्ण का ही एक प्रतीक थी, और इस प्रकार मूलत: मीरां द्वारा प्रतीक का प्रयोग यहीं से आरम्भ हो जाता है, किन्तु अभिव्यञ्जनाशैली के क्षेत्र में मीरां द्वारा प्रयुक्त प्रतीक का काव्यशास्त्रीय अर्थ में ही ग्रहण किया गया है।

मीरां द्वारा रचे गये तीनों प्रकार के पदों—गिरधर नागर की लीला और गुणगान सम्बन्धी, गिरधर से प्रणय याचना और कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप के अन्त:-साक्षात्कार सम्बन्धी पदों—में मीरां के आन्तरिक भाव, प्रतीकों के माध्यम से

ही व्यक्त हुए हैं। प्रथम प्रकार के पदों में आराध्य के विविध नाम, कृष्ण के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, दूसरे प्रकार के पदों में सादृश्यतामूलक व्यंजनात्मक प्रतीकों का और तीसरे प्रकार के पदों में चराचरजगत पर अपने प्रिय के स्वरूप का आरोपण प्रतीकों के माध्यम से हुआ है, इनके अतिरिक्त इन दो प्रकार की शब्द-योजनाओं में भी प्रतीकात्मकता दिखलाई पड़ती है—

(1) सगुणोपासना पद्धति में प्रचलित रूपकात्मक शब्द-योजना
(2) निर्गुणोपासना पद्धति में प्रचलित पारिभाषिक शब्द-योजना।

रूपकात्मक शब्द-योजना में रूपकों का प्रयोग मीरां ने रूपान्तरण के आधार पर भी किया है, जिसमें कहीं सांगरूपक और कहीं परम्परित रूपक का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त मीरां द्वारा प्रयुक्त हठयौगिक साधना-पद्धतिवाची शब्दों में जो पारिभाषिकता है, उनमें भी कई प्रकार की प्रतीकात्मकता देखी जा सकती है।

मीरां ने प्रतीकों का चयन प्रकृति-जगत् और मानव-जगत् दोनों से किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने निर्गुणोपासक संत कवियों और सगुणोपासक भक्त कवियों में प्रचलित प्रतीकों का भी अपने काव्य में प्रयोग किया है। निर्गुणोपासक संत कवियों में प्रचलित प्रतीकों का प्रयोग मीरां में तीन रूपों में मिलता है—

(1) आराध्यवाचक प्रतीकात्मक शब्दों के रूप में,
(2) आराधकसूचक प्रतीकों के रूप में,
(3) आराधना पद्धति-वोधक प्रतीकात्मक शब्दों के रूप में।

मीरां ने उस परम पुरुष को ब्रह्माण्डव्यापी वर के रूप में अभिहित किया है। ब्रह्म से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेने के कारण मीरां ने उस ब्रह्म को प्रचलित समस्त प्रियवाची शब्दों से सम्बोधित किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त आराध्यवाची प्रतीकात्मक शब्दों के कुछ उदाहरण हैं—साहिव, भरतार, वालम, पिउ, पिया, सैंया आदि। प्रिय की उदासीनता को देखकर उन्होंने उसे उदासीन योगी के प्रतीक के माध्यम से भी अभिहित किया है।

स्वयं को आराधिका की स्थिति में रखकर उन्होंने आराधक को कहीं पिंजरे में स्वयं को सुखी समझने वाली तोती का प्रतीक दिया है, तो कहीं वद्ध-जीव के रूप में सखी का प्रतीक दिया है। कहीं ईश्वर-मिलन को उत्सुक साधक को सुरत सुहागन नार का, प्रेम-पीड़ित आराधक को तीर से घायल व्यक्ति और सर्पदंशित व्यक्ति का, उन्मत्त प्रेमी को घायल तथा मदोन्मत्त व्यक्ति का, उसके प्रेम-मद के लिये, रामखुमारी, अमर रस और अमल आदि का तथा निरन्तर हरि-स्मरण की औषधि, अमोलक वस्तु और जनम जनम की पूंजी का प्रतीक-रूप दिया है। यों मीरां स्वयं ही जीवात्मा की प्रतीक वन गई हैं।

आराध्य और आराधक के समान ही आराधना-पद्धतिवोधक प्रतीक भी मीरां में प्रयुक्त हुए हैं। मीरां की यह उदारता ही मानी जायेगी कि सगुण भक्त होते हुए भी उन्होंने निर्गुण संतों की आराधना-पद्धति में प्रचलित प्रतीकों का समावेश अपनी आराधना-पद्धति का द्योतन करने के लिये किया। उदाहरण के लिये उन्होंने

मानव शरीर को आराधना-भूमि का प्रतीक माना। मीरां ने निर्गुण साधना-पद्धति-बोधक प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। जैसे-सुन्न महल, त्रिकुटिमहल, झरोखा, अगम अटारी, अमृत आदि। इनके अतिरिक्त संतकवियों द्वारा प्रयुक्त संख्यावाची प्रतीकों का भी मीरां ने व्यवहार किया है—यथा—एक (ब्रह्म), पांच-पचीस (इन्द्रियां और उनकी प्रकृति), पंचरंग चोला (पंचभूत शरीर) आदि; परन्तु इनका उल्लेख मात्र ही मीरां ने किया है क्योंकि उनकी रुचि हठयोग-साधना की जटिल प्रक्रियाओं में नहीं थी। साधना-पद्धति के अन्तर्गत ही मीरां ने साधना की स्थितियों को सूचित करने के लिये भी प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे—आत्मा-परमात्मा के अपूर्व मिलन की स्थिति के लिये बूंद में बूंद का समाना और ज्योति में ज्योति का समाना आदि का। इसी प्रकार प्रेम-पथ की कठिनाइयों और दुर्गमता के लिये 'खांड़ा री धार' और 'ऊंची-नीची राह रपटीली' तथा 'गली तो चारों बंद हुई' आदि का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त 'ऊंचामहल' आध्यात्मिक लक्ष्य की उच्चता का, 'झीणा पथ' साधना-पथ की अस्पष्टता और ज्ञान की अपूर्णता का, 'कोस-कोस पर पहरा' और 'पैंड पैंड वटमार' विविध सम्प्रदायों, धर्म गुरुओं, लोकाक्षेपों और प्रलोभनों के; 'दूर बसा ग्राम' उच्च अभीप्सित लक्ष्य का और 'सतगुरु' अन्तः प्रेरक शक्ति का प्रतीक है। किन्तु मीरां द्वारा प्रयुक्त निर्गुण साधना-पद्धति बोधक प्रतीकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां ने हठयौगिक क्रियाओं को संकेतित करने वाले प्रतीकों और उलटबांसियों का प्रयोग न कर प्रधानतः संतों की प्रेमसाधना-पद्धति में प्रचलित प्रतीकों का ही प्रयोग किया है। सूफी संतों की प्रेम-साधना का प्रभाव भी मीरां के कुछ प्रतीक-प्रयोगों में लक्षित होता है। परन्तु इन प्रतीकों का प्रयोग संयोगवशात् ही है। सूफी सन्त किसी लौकिक व्यक्ति और उसकी प्रेम-गाथा पर अलौकिक ब्रह्म और दिव्य प्रेम का आरोपण करते थे; किन्तु मीरां ने अलौकिक ब्रह्म पर उसके ही प्रचलित रूपों का आरोपण कर उनको 'गिरधरनागर' आदि के प्रतीक-रूप में ग्रहण किया।

मीरां के प्रतीक-प्रयोगों पर भक्त कवियों में प्रचलित प्रतीकों की छाया भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। वस्तुतः मीरां के पदों में प्राप्त प्रतीकों का स्वरूप अधिकांशतः सगुणपरक ही है। उनके सगुणपरक प्रतीक भी तीन प्रकार के हैं—(१) आराध्य सम्बन्धी, (२) आराधक सम्बन्धी, (३) आराधना-पद्धति सम्बन्धी। उन्होंने प्रतीक-रूपों में जिन आराध्यवाची संज्ञाओं का प्रयोग किया है उनमें से कुछ परम्परागत हैं और कुछ मौलिक। उनके द्वारा प्रयुक्त परम्परागत आराध्यवाची संज्ञाओं में से कुछ नामाधारित व्यक्तिवाची संज्ञाएं हैं तो कुछ जाति-आधारित, रूपाधारित और गुणाधारित हैं। इनमें आने वाले परम्परागत नामों के अतिरिक्त मीरां ने मौलिक प्रियवाची नामों से भी अपने आराध्य को सम्बोधित किया है। यद्यपि परम्परागत ईश्वर-वाची नाम अत्यधिक प्रयुक्ति के कारण प्रतीक न होकर संकेतमात्र बन कर रह गये हैं, परन्तु मीरां ने इन नामों का प्रतीकात्मक अर्थ ही ग्रहण किया है। उनके लिये आराध्यवाची सभी संज्ञाएं ब्रह्म का ही प्रतीक थीं। इसीलिये कभी-कभी एक ही पद में वे अपने आराध्य को विविध सम्बोधन दे देती हैं, ऐसे स्थलों पर उनका तात्पर्य किसी विशेष नामधारी प्रभु से नहीं होता, उस

समय उनके लिये हरि, राम और श्याम-ये सभी पर्याय एक ही ब्रह्म के प्रतीक बन जाते हैं। वस्तुतः मीरां अपने चिरपरिचित प्रियतम को सम्बोधित करने के लिये विविध नाम-प्रतीकों में ऐसा उपयुक्त प्रतीक खोजना चाहती थीं जो उनकी भावनाओं को भलीभांति व्यक्त कर सके।

सगुणोपासना के क्षेत्र में मीरां ने आराधक सम्बन्धी जो प्रतीक प्रयुक्त किये हैं उनके दो वर्ग हैं—पहला, आराधक-आराध्य के विविध सम्बन्ध-सूचक प्रतीक और दूसरा है आराधक की विविध अवस्था व स्थितिसूचक प्रतीक।

आराध्य और आराधक के सम्बन्ध को सूचित करने वाला एक प्रतीक है—गोपी-भाव, दूसरा प्रतीक है—सेविका-भाव, तीसरा प्रतीक है—सहचरी-भाव और चौथा प्रतीक है—पत्नी-भाव। अंतिम भाव के संदर्भ में मीरां ने अपने आध्यात्मिक विवाह का प्रतीकात्मक रूप से वर्णन किया है। यहां तक कि उन्होंने अपनी अनोखी ससुराल का भी वर्णन प्रतीकात्मक ढंग से किया है। इसी प्रसंग में मीरां ने साधु-मंडली को भी ससुराल का प्रतीकात्मक रूप प्रदान किया है। कुल मिलाकर मीरां ने आराधक के विविध रूपों और सम्बन्धों को पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्र के रागात्मक सम्बन्धों से गृहीत प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, पर विविध प्रतीकात्मक सम्बन्ध-रूपों में उन्होंने पति-पत्नी सम्बन्ध को ही सर्वोत्तम माना है।

आराध्य-आराधक के विविध सम्बन्ध-सूचक प्रतीकों के अतिरिक्त मीरां ने आराधक की विविध अवस्था एवं स्थिति के सूचक प्रतीक भी प्रयुक्त किये हैं। इस प्रसंग में मीरां ने प्रकृति-जगत् के विविध क्षेत्रों से विविध प्रतीकों का चयन किया है। प्रिय के अभाव से उत्पन्न विकलता को व्यक्त करने के लिये उन्हें विरह-विधुरा मीन का प्रतीक सर्वाधिक प्रिय था। इसके विपरीत 'कमठ' 'दादुर' उन संसार-प्रवाही जीवों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जो ईश्वर-भक्ति या अनुरक्ति के अभाव में भी जीवन यापन कर लेते हैं। मीरां ने एक पक्षीय प्रेम-निर्वाह की अभिव्यक्ति के लिये शलभ, चकोर और चातक का प्रयोग किया है, और इन प्रतीकों का प्रयोग परम्परागत अर्थ में ही हुआ है। इसी प्रकार आराधक द्वारा निरन्तर प्रिय-स्मरण की भावपूर्ण स्थिति को मीरां ने चातक और मेघ की प्रतीकात्मक स्थिति के माध्यम से व्यक्त किया है। इसी के लिये इन्होंने एक दूसरा प्रतीक—'गो-वत्स' का चुना है, जो उनका मौलिक प्रतीक है।

मीरां द्वारा प्रयुक्त अनेक प्रतीकों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने आराधक और आराध्य के सम्बन्धों को संकेतित करने के लिये मानवीय सम्बन्धों पर आधारित विविध प्रतीकों का परम्परागत और मौलिक विधान किया है तथा आराधक की विभिन्न भावदशाओं तथा अवस्थाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति-जगत् से प्रतीकों को चुना है।

आराध्य और आराधक सम्बन्धी प्रतीकों के समान ही मीरां ने सगुण आराधना-पद्धति को सूचित करने वाले प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। मीरां की सगुण-आराधना-पद्धति का सर्वाधिक आदर्शरूप है निष्केवल और अनन्य प्रेम, जिनको उन्होंने अपने एक पद में दृढ़ता और निर्भयता के साथ व्यक्त किया है।

मीरां की सगुण-आराधना-पद्धति को सूचित करने वाले पदों में रूपकात्मक प्रतीकों का स्वरूप अधिक स्पष्ट है। सगुण-आराधना-पद्धति सम्बन्धी प्रतीकों का चयन मीरां ने प्रकृति-जगत् और मानव-जगत् के विभिन्न क्षेत्रों से किया है। यद्यपि प्रकृति-जगत् से गृहीत प्रतीक परम्परागत ही हैं, तथापि इनका संयोजन मीरां के मौलिक विचारों के अनुकूल ही है। मानव-जीवन के सामाजिक और राजनीतिक परिवेश से गृहीत 'कामादारां' और 'सरदारां' आदि प्रतीक सर्वथा नूतन हैं तथा इनका प्रयोग भी नये सन्दर्भों में किया गया है। मीरां का कोई-कोई पद उनकी अविचल, अखण्ड, अनन्य माधुर्य-भावना और निष्ठापूर्ण आराधना-पद्धति को दिग्दर्शित कराने में पूर्ण समर्थ है। ऐसे पदों में प्रतीकों का संयोजन अत्यन्त सटीक है। मीरां ने अपने अलौकिक आध्यात्मिक शृङ्गार का वर्णन भी प्रतीकात्मक शैली में किया है। कुछ पदों में प्रयुक्त प्रतीकों और रूपकों का चयन कवयित्री ने अपने निजी परिवेश (सामन्ती परिवेश) से किया है।

सगुण-आराधना-पद्धति के प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रतीक भी मिलते हैं जो उनकी दार्शनिक विचारधारा को अभिव्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए मीरां ने आराध्य के प्रति राग-भाव, संसार के प्रति विराग-भाव, सांसारिक व्यापारों की तुच्छता तथा हरि-भक्ति की श्रेष्ठता आदि से सम्बन्धित विचारों को प्रतीकात्मक शैली में व्यक्त किया है। इन विचारों के अभिव्यक्तिकरण के लिए कवयित्री ने प्राकृतिक वस्तुओं और व्यावहारिक जीवन में उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं से प्रतीकों का चयन किया। इन प्रतीकात्मक वस्तुओं में विविध धातुएँ, उनसे निर्मित उपादान, द्रव्य-पदार्थ, मानव निर्मित अनेक आवासीय और धारणीय प्रसाधन तथा दैनिक व्यवहार की अन्य वस्तुएँ सम्मिलित हैं। ये प्रतीक-प्रयोग भी कहीं परम्परागत अर्थों का द्योतन करते हैं और कहीं नये सन्दर्भीय अर्थों का। मीरां द्वारा प्रयुक्त दार्शनिक प्रतीकों के कुछ उदाहरण हैं—अस्थिर सांसारिक वस्तुओं और उनसे प्राप्त सुखों के लिये 'बादर की छांह' और 'ओस का पानी' आदि। मीरां के लिये सांसारिक ऐश्वर्यपूर्ण भोगविलास यदि 'चौमास्यां री बावड़ी' है, तो हरि-भक्ति 'अमृत का निर्झर'। इसी प्रकार ब्रह्म का स्थायित्व उनके लिये 'पक्के चूने से निर्मित चबूतरा' है, तो जीव का अस्थायित्व 'बालू से बनी दीवार'। अन्यत्र उन्होंने शरीर के लिये 'नाव', संसार के लिये 'गहरी नदिया' और ईश्वर के लिये 'खेवटिये' का प्रतीक-प्रयोग किया है। ऐसे अनेक दार्शनिक प्रतीक मीरां में प्रयुक्त हुए हैं।

जहां तक मीरां के प्रतीक-प्रयोगों के अभिव्यञ्जना-आयाम का प्रश्न है, उनके पद मुक्तक होते हुए भी उनमें प्रयुक्त प्रतीकों का आयाम एक शब्द से लेकर सम्पूर्ण पद तक विस्तृत है। उनके प्रतीक-योजना के आयाम वर्गीकृत रूप में इस प्रकार हैं—

(1) एकल शब्दीय प्रतीक, (2) अर्द्धपंक्तीय प्रतीक, (3) एक-पंक्तीय प्रतीक (4) युगल पंक्तीय प्रतीक और (5) पूर्णपदीय प्रतीक। उनके द्वारा प्रयुक्त सगुण आराध्य सूचक और निर्गुण आराध्य सूचक विविध प्रतीक एकल शब्दीय प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त इस वर्ग के अन्य प्रतीक हैं—'अमरबेल', 'सुरपति',

'माला', 'रंग', 'भांग' आदि । अर्द्ध पंक्तीय प्रतीकों का प्रयोग भी मीरां में पर्याप्त मात्रा में हुआ है । इस वर्ग के अन्तर्गत मुहावरे और लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य अर्द्ध पंक्तीय प्रतीक भी सम्मिलित हैं । एक पंक्तीय और युगलपंक्तीय प्रतीकों के उदाहरण यथास्थान दे दिये गये हैं । पूर्णपदीय प्रतीक वहां प्रयुक्त हुए हैं जहां मीरां ने प्रतीकात्मक साधना-पद्धति का वर्णन किया है, तथापि उन कुछेक पदों में प्रतीकात्मकता का निर्वाह पूरे पद में भली प्रकार हुआ है ।

जब हम प्रतीक-प्रयोगों के मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली पर पड़े प्रभाव पर विचार करते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवयित्री की स्वसंवेद्य आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में ये प्रतीक विशेष सहायक हुए हैं । निर्गुणोपासनावाची और सगुणोपासनावाची विविध प्रतीकों का सम्मिलित संयोजन मीरां की उल्लेखनीय विशेषता है, पर कहीं-कहीं इन युगलपंक्तियों में प्रचलित प्रतीकों का सहविन्यास कवयित्री की निजी साधना-पद्धति को रहस्यमय बना देता है । पर सामान्यतः मीरां के प्रतीक-प्रयोग उनके भावों एवं विचारों को सम्प्रेषित करने में अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं । इसी के साथ प्रसंगानुकूल यथोचित प्रयोगों के कारण उनके पदों में जीवन्तता और संक्षिप्तता स्वतः ही आ गई है । सादृश्यमूलक प्रतीकों के प्रयोग से उनके काव्य के सहज सौन्दर्य में अभिवृद्धि हुई है । वैयक्तिक अनुभूति और आत्मपरकता को अभिव्यक्त करने के लिये उन्होंने उन प्रतीकों का चयन किया जो उन्हें भावानुकूल प्रतीत हुए । अपने भावों को यथोचित रूप से सम्प्रेषणीय बनाने के लिये उन्होंने बिना किसी पूर्वाग्रह के विविध साधना-पद्धतियों में प्रचलित प्रतीकों का सन्निवेश अपने काव्य में कर लिया है, जिससे उनके पदों में सर्वग्राह्यता और स्वाभाविकता आ गई है ।

समष्टिरूप से मीरां का काव्य न तो प्रतीक-बहुल है और न प्रतीक-विहीन । अभिव्यञ्जना-शैली के अन्य तत्त्वों की भांति यहां भी मीरां ने मध्यम मार्ग अपनाया है । प्रतीकों के यथास्थान औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण उनकी अभिव्यक्ति न तो भाराक्रान्त हुई है, न सर्वथा सपाट रह गई है; वरन् उससे उनके काव्य में एक अनूठा सौकर्य आ गया है ।

भाषा, अलंकार और प्रतीक के समान ही बिंब-विधान भी मीरां का साध्य न होकर, उनकी अभिव्यञ्जना का माध्यम मात्र था । उनकी विरागमयी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनके काव्य-बिम्बों में न तो दूरान्वयी कल्पना का विहग-विलास दृष्टि-गोचर होता है, न वाणी-वैभव से मण्डित अलंकृत शब्दों का रहस्-विलास ही । उनके काव्यात्मक बिंबों में तो मानवीय संवेदनाओं का ही एक संस्पर्श दिखलाई पड़ता है ।

यद्यपि मीरां के काव्य में बिंबों के विविध रूपों का सायास विधान नहीं है, तथापि प्रकार-भेद की दृष्टि से उनके पदों में वैविध्यपूर्ण कलापेक्षी-विवृत बिम्बों और समाकलित बिंबों की अपेक्षा भावपूर्ण सान्द्र-बिंबों और लघुआकारी रूपात्मक दृश्य-बिंबों की ही बहुलता है । ये चक्षु-संवेद्य बिंब रूप-प्रधान भी हैं और क्रिया-प्रधान भी । इसके अतिरिक्त मीरां के काव्य-बिंब कहीं शारीरिक अवस्था को व्यक्त करते हैं, तो कहीं मानसिक स्थिति को । वे कहीं प्रकृति-

समन्वित होकर नितान्त वैयक्तिक भावों को प्रकट करते हैं, तो कहीं सामूहिक हर्ष और उल्लास के भावों को, परन्तु मीरां के काव्य-बिंब चाहे वे किसी भी रूप-क्रिया या दृश्य को चित्रित कर रहे हों, भावमयता तथा भावोद्बोधकता के गुणों से सर्वदा ओत-प्रोत रहते हैं। हृदय-संवेद्यता और इन्द्रिय-ग्राह्यता का गुण उनके काव्य-बिंबों में अन्य बिंब-गुणों की अपेक्षा सर्वोपरि है। मीरां के काव्य-बिंबों का विश्लेषण और विवेचन, इस शोध-प्रबन्ध में, विषय-वस्तु के आधार पर करके, उसी के साथ अन्य बिंब-प्रकारों का भी उल्लेख करते हुए, कवयित्री के काव्य-बिंब के विधायक तत्त्वों और उसकी शिल्पगत विशेषता का मूल्यांकन किया गया है; इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-बिंब, मानवेतर प्राणि-बिंब और प्रकृति-बिंब में मुख्यतः मानव-बिंब ही मीरां के काव्य में उपलब्ध होते हैं। इनकी तुलना में मानवेतर प्राणि-बिंबों और प्रकृति-बिंबों की संख्या नगण्य है। बिंब के ये दोनों प्रकार विरहिणी मीरां की विविध भावदशाओं और अवस्थाओं को अत्यधिक प्रभावी, सहृदय-संवेद्य और जीवन्त बनाने वाले सहायक तत्त्वों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति के बिंब, भावों की पृष्ठभूमि और विरहोद्दीपक तत्त्व के रूप में ही मुख्यतः चित्रित हुए हैं। उनके मानव बिंबों में, कृष्ण के ही विविध बिंब सम्मिलित हैं। कहीं उन्होंने अपना और कृष्ण का समाकलित बिंब प्रस्तुत किया है, तो कहीं यमुना किनारे वेणु बजाते और धेनु चराते गोपाल की सलोनी सुन्दरता को बिम्बांकित है। उनके बिंब कहीं कृष्ण के समग्र रूप की झांकी प्रस्तुत करते हैं तो कहीं खण्डरूप की। खण्ड-बिंबों में कृष्ण के किसी एक अंगविशेष का चित्रण किया गया है। समग्र बिंबों में चक्षु-संवेद्यता, सान्द्रता, संश्लिष्टता आदि गुण विद्यमान है।

कृष्ण की मोहिनी मूर्ति के अतिरिक्त मीरां ने उनके लोकरक्षक चतुर्भुजी रूप की भी झांकी अंकित की है। सरलतम शब्दों के द्वारा रूप की विविध रेखाओं को स्पष्ट कर देना, मीरां की काव्य-प्रतिभा का सूचक है। संक्षिप्त किन्तु सुगठित अभिव्यक्ति मीरां के काव्य-बिंबों की प्राथमिक विशेषता है। मीरां में कुछ ऐसे शब्द-चित्र भी उपस्थित होते हैं, जिनमें कृष्ण की वंकिम चितवन और मधुरिम मुस्कान का चित्रण किया गया है। कृष्ण के मोहक दृष्टि-विलास और आकर्षक हास-विलास का जीवन्त सम्मूर्त्तन करने वाले खण्ड-बिंब भी सरल और चक्षु-संवेद्य हैं, किन्तु ये चित्र बिंबात्मक न होकर वर्णनात्मक अधिक हैं। कुछ पदों में राधा के रूप-बिंब भी मिलते हैं, परन्तु वे अत्यल्प हैं और उनकी प्रामाणिकता भी संदिग्ध है।

आलम्बन-रूप आराध्य के अतिरिक्त मीरां ने आश्रय-रूप में अपने भावों, क्रियाओं और अवस्थाओं को अभिव्यक्त किया है, परन्तु अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति कहीं नहीं की है, हां, कहीं-कहीं विरहिणी-रूप में अपने स्वरूप का हल्का सा उल्लेख मात्र किया है।

समष्टि रूप से मीरां के काव्य में उपलब्ध ये बिम्ब वर्ण्य वस्तु के कहीं समग्र रूप को उत्कीर्णित करते हैं तो कहीं आंशिक रूप को। इन रूप-बिम्बों में कुछ

समाकलित हैं तो कुछ सरल, एकल या मुक्तक भी; साथ ही ये एकल रूप-विम्ब मध्यम कोटि के हैं।

मीरां द्वारा प्रस्तुत क्रिया एवं व्यापार सम्बन्धी विम्ब चाक्षुष तो हैं ही साथ ही ये युगलपात्रीय तथा बहुपात्रीय भी हैं। युगलपात्रीय चित्रों के एक पात्र कृष्ण हैं तो दूसरी पात्र गोपी-रूपा स्वयं मीरां। बहुपात्रीय विम्बों में अन्य गोपिकाओं को और किसी किसी में राधा को भी सम्मिलित कर लिया है। क्रियात्मक विम्बों के विषय हैं—कृष्ण का वेणु-वादन, गौचारण, चीरहरण, कालिय मर्दन, फागोत्सव आदि। ये क्रियात्मक विम्ब कहीं गतिपूर्ण हैं, तो कहीं स्थिर। गतियुक्त विम्ब अधिक सजीव और चित्रमय बन पड़े हैं, इनकी बिम्बात्मकता सौन्दर्यमयी है। शिल्प की दृष्टि से ये चाक्षुष, सान्द्र, सरल, खण्ड और यथार्थपरक हैं। इनका अभिव्यञ्जनागत प्रभाव मध्यम कोटि का है। कुछ क्रिया-विम्बों में स्थूल चित्रात्मकता के साथ-साथ भावात्मकता भी उभरी है।

मीरां में अनुभावों से सम्बद्ध अनेक विम्ब भी मिलते हैं, जो इन्द्रिय-संवेद्यता के साथ भावमयता भी लिये हुए हैं। मीरां के क्रिया-सम्बन्धी विम्ब आलम्बन और आश्रयगत दोनों प्रकार के हैं। आश्रयगत विम्बों की बिम्बात्मकता सामान्यतः उत्कृष्ट कोटि की है, परन्तु कुछ पदों में मध्यम कोटि की भी है।

रूप, गुण और क्रिया-बिम्बों के अतिरिक्त मीरां में ऐसे बिम्ब भी मिलते हैं जो केवल भाव या अनुभूति से सम्बन्धित हैं। इन भाव-बिम्बों में विरहावस्था का द्योतन करने वाले अनेकों ऐसे बिम्ब हैं जो अपनी सूक्ष्मता, प्रभावतीव्रता, मार्मिकता और हृदयग्राह्यता के कारण सहृदय को चरम भावानुभूति तक ले जाने में समर्थ हैं। मीरां के काव्य में अनेक ऐसे भावव्यञ्जक बिम्ब उपलब्ध होते हैं जो मार्मिकता और संवेदनीयता की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हैं। इनमें से कुछ केवल अनुभूति के ही विषय हैं और कुछ इन्द्रियों द्वारा संवेद्य। इनके अतिरिक्त मीरां में ऐसे भी विम्ब हैं जो प्रकृति-जगत् का दृश्य-विधान करते हुए कवयित्री के स्वानुभूत भावों की विम्बात्मक अनुभूति सहृदय पाठक को कराने में समर्थ हैं।

प्रकृति-विम्बन के क्षेत्र में मीरां वर्षाकालीन प्राकृतिक वातावरण को उभारने में सफल रही हैं। वर्षाकालीन वातावरण को उन्होंने उमड़ते-घुमड़ते बादलों, गरजते मेघों तथा दादुर, मोर, पपीहा, कोकिल आदि के कूजन के साथ ही धाराधार बरसती हुई घनघोर घटाओं के सम्मिलित संयोजन द्वारा अभिचित्रित किया है। यह प्रकृति कभी उनके साथ हंस उठी है, तो कभी रो पड़ी है, कभी मन की उमंग के साथ उमगने लगी है, तो कभी विरह-विकल हो सिसकने लगी है।

वर्षा के अतिरिक्त प्रातःकालीन वातावरण का समाकलित विम्ब मीरां ने एक पद में प्रस्तुत किया है। होली से सम्बन्धित बिम्बों में मीरां की चित्रविधायिनी प्रतिभा के सहज दर्शन होते हैं। ये विम्ब अपनी संक्षिप्त विवृति में भी अद्भुत प्रभावोत्पादन करने तथा भावोद्वेलन करने में सफल रहे हैं, किन्तु ऐसे स्थल बहुत थोड़े ही हैं। अंत में यही कहा जा सकता है कि मीरां के विम्बों में सामान्यतः विस्तार और वैविध्य का अभाव है, यत्र-तत्र अलंकारों का प्रयोग होने पर भी भाव की प्रधानता है और आराध्य के प्रति एकनिष्ठता ने उनके कलात्मक विम्बों

को मुखरित होने का अवसर नहीं दिया, फिर भी उनके छोटे-छोटे विम्वों के सफल संयोजन ने उनके काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि की है। वस्तुतः ये विम्व मीरां की भक्ति भावना की प्रेरणा से ही स्वतःस्फूर्त है, उनके किसी सजग शिल्पी के सायास रूपायन के प्रतिफलन नहीं। मीरां ने अपनी भावानुभूतियों को भलीप्रकार सम्प्रेषित करने के लिये अनायास ही इन विम्वों का विधान किया है, इसके परिणामस्वरूप उनके काव्य में चित्रात्मकता, इन्द्रियता, सजीवता और भावोद्‌वोधकता आदि गुणों की अभिवृद्धि हुई है।

छन्द-योजना के क्षेत्र में मीरां ने परम्परागत और भावच्छंदों दोनों का प्रयोग किया है। ये छंद सामान्यतः 21 मात्रा से लेकर 30 मात्राओं तक के हैं। मीरां के पदों में टेक और सम्पद का प्रयोग दो प्रकार से हुआ है – 1—जहां टेक और सम्पद के छंद भिन्न हैं और 2 — जहां सम्पद में प्रयुक्त छंद का ही अर्द्धांश टेक में प्रयुक्त है।

प्रथम प्रकार के पदों में 14 मात्राओं से लेकर 35 मात्राओं तक की विविध टेकों का विधान हुआ है। इन टेकों में प्रयुक्त प्रमुख छन्द हैं—सखी, उज्ज्वला, मात्रिक, गोपी, कज्जल, अरिल्ल, पादाकुलक, चौपाई, सिंह, चन्द्र, वन्दन, दिंडी, तमाल, शास्त्र, हंसगति, कुण्डल, सुजान, सम्पदा, आदि।

दूसरे प्रकार के पदों में, जिनमें टेक में सम्पद में प्रयुक्त छंद का अर्द्धांश प्रयुक्त हुआ है, सम्पद के छन्द से तुक मिलाने के लिए अंत में दो गुरु के नियम का भी पालन किया गया है, जिससे टेक और शेष पद की मैत्री बनी रहती है। ऐसे पदों में टेक और सम्पद की मात्राओं का अनुपात इस प्रकार मिलता है—

14 : 24, 15 : 25, 16 : 26, 16 : 27, 16 : 28, 16 : 30, तथा 18 : 28

और ऐसे पदों में जिन छंदों का प्रयोग हुआ है उनके नाम हैं—रूपमाला, मुक्तामणि, विष्णुपद, सरसी, सार, ताटंक आदि।

उपर्युक्त प्रकार की टेकों के अतिरिक्त मीरां ने कतिपय पदों में 2 पंक्तियों की टेकों का भी विधान किया है। किसी-किसी पद में टेक के पूर्वार्द्ध को ही उत्तरार्द्ध में दोहरा देने से मात्राएं बढ़ गयी हैं और टेक का स्वरूप छंद के निश्चित स्वरूप से भिन्न हो गया है। टेक में सम्पद से अधिक मात्राओं का विधान संगीत के आग्रह के कारण हुआ है। इस प्रकार के पदों में टेक और सम्पद की मात्राओं का अनुपात नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

32 : 28, 34 : 28, 36 : 26, 38 : 28,

और ऐसे पदों में प्रयुक्त छंदों के नाम हैं—सार, विष्णुपद आदि।

मीरां के टेक-प्रयोग के सम्वन्ध में निष्कर्ष यह निकलता है कि जहां मीरां ने अपनी टेकों को परम्परागत मात्रिक छंदों में निबद्ध किया है वहां संगीत की ताल-मात्राओं के अनुसार टेक की मात्राओं में वृद्धि भी की है। वाग्गेयकार होने के कारण मीरां ने अपने पदों में छंद तथा संगीत दोनों की मात्राओं का निर्वाह किया है।

मीरां के पदों के सम्पदों में कहीं एक छंद का प्रयोग हुआ है और कहीं बहु छंदों का। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ पदों में तो परम्परागत छंदों का नियमानुकूल यथोचित पालन किया है और कुछ पदों में छंदों के बन्धों को सुविधानुसार कुछ ढीला कर दिया है, इससे परम्परागत छंदों में नियत मात्राओं से एक दो मात्राएं घट-बढ़ गयी है, परन्तु यह परिवर्तन पद में निहित भावों को सुस्पष्ट करने में सहायक रहा है और इससे पद की लयात्मकता में कोई बाधा नहीं पड़ी है। मात्राओं की घट-बढ़ के दो कारण हैं—1. पदों की मुख-श्रुत परम्परा, 2. लिपिकारों की भूल।

मीरां के सम्पदों में जिन छंदों का मुख्यतः प्रयोग हुआ है वे हैं-सार, सरसी, ताटंक, विष्णुपद, रूपमाला, मुक्तामणि, दोहा, उपमान और कुंडल। इनके अतिरिक्त चान्द्रायण, सुखदा, सुजान, दिग्पाल, लावनी और समान सवैया का भी प्रयोग उन्होंने किया है। मीरां ने सामान्यतः मात्रिक छंदों का ही प्रयोग किया है, परन्तु एक पद में वर्णिक मनहर छंद का भी प्रयोग मिलता है।

इन एक छंदीय पदों में एक से अधिक ऐसे पद उपलब्ध होते हैं जिनमें छंदो का प्रयोग शास्त्रीय विधानानुसार ही किया गया है, अतः यह आलोचना कि छंद-शास्त्रीय दृष्टि से नापजोख करने पर मीरां का एक भी पद खरा नहीं उतरता सर्वथा अतिरंजित और भ्रांतिपूर्ण है। एक छंदीय पद में कहीं-कहीं जो दो एक मात्राओं की घट-बढ़ मिलती है उसका कारण भावना-विस्तार या संकोच भी है।

मीरां के काव्य में ऐसे भी कतिपय पद हैं जिनमें मध्यवर्ती मात्रा-भेद के कारण एकाधिक छंदों का अस्तित्व होगया है। एक-एक पद में पाये जाने वाले छंद-युग्म और छंद-त्रिग्म इस प्रकार हैं—मुक्तामणि और उपमान, दोहा और दिग्पाल, शंकर और रूपमाला, दुर्मिल, रुचिरा और ताटंक, विष्णुपद ताटंक और सार।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है शास्त्रोक्त छंदों के अतिरिक्त मीरां के पदों में भावच्छंद भी मिलते हैं, जिनमें भावानुकूल चरण-विस्तार हैं। भावच्छंद की निम्नोक्त सभी विशेषताएं मीरां के पदों में प्राप्त हैं—

1 अन्त्यानुप्रासिका—इनमें मध्यम कोटि के अन्त्यानुप्रास अधिक हैं, कुछ ऐसे पद भी हैं, जिनमें पंक्ति-युग्मों में ही अन्त्यानुप्रास का निर्वाह हुआ है।
2 भावानुकूल पद-विस्तार—इसी कारण 'मीरां-पदावली' में 3 पंक्तियों से लेकर 16 पंक्तियों तक की पद-संख्या वाले पद मिलते हैं।
3 भावानुकूल यतियां—इसी कारण यतियां नियमानुकूल भी हैं—एक दो मात्राओं के अंतर से भी, और भिन्न-भिन्न पंक्तियों में भिन्न-भिन्न क्रम से भी। वस्तुतः मीरां की भावानुकूल छंद-यतियां छन्द की मात्राओं के अनुसार नहीं, अपितु संगीत की ताल मात्राओं के अनुसार बंधी हुई है।
4 संगीतात्मकता—यह विशेषता मीरां के भावच्छंदों में कूट-कूट कर भरी हुई है।
5 भावात्मकता
6 मात्रिक छन्दमयता
7 अन्तःअनुप्रासिकता

मीरां की छन्द-योजना की विशेषताओं को देखते हुए अन्ततः यह कहा जा सकता है कि मीरां के काव्य में पद-छन्द-शैली का चरम विकास दिखाई पड़ता है। उनके पदों में आत्मलक्षी संयतता और भावानुकूल छन्दात्मकता का सुकर निर्वाह हुआ है। छन्दों के कठोर बंधन कहीं भी उनकी भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं बने हैं। शास्त्रीय छन्द और भावच्छंद से निर्मित उनकी छंद-योजना भी उनकी अभिव्यंजना-शैली की विशिष्टता है।

मीरां की छंद-योजना के साथ संगीत का आत्मवत् सम्बन्ध है। वे सम्भवतः प्रथम महिला वाग्गेयकार हैं, अपनी संगीतात्मकता के कारण उनके पद संगीतज्ञों और सामान्य जन सबमें समान रूप से लोकप्रिय हैं। उनके काव्य में संगीत के तीनों अंगों गीत, वाद्य और नृत्य का समन्वय है। वस्तुतः वे कवयित्री ही नहीं संगीतज्ञा भी थीं। आज तक संगीताचार्य उनके पदों को विविध राग-रागिनियों में बाँधकर गाते हैं। मूलतः ही मीरां के पदों ने शास्त्रीय संगीत की राग-रागिनियों तथा लोक-संगीत की धुनों का अद्‌भुत सम्मिश्रण हुआ है, और यही मिश्रण उन्हें अन्य भक्त संगीतकारों से पृथक् करता है और उनकी विशिष्ट संगीत-शैली को द्योतित करता है।

शास्त्रीय संगीतात्मकता की दृष्टि से मीरां के पद शास्त्रीय राग-रागिनियों में गेय हैं। 'मीरां बृहत् पदावली' में उन 70 रागों का उल्लेख है जिनमें कि वे पद गेय हैं, और परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'मीरां की पदावली' में ऐसी 66 रागों का उल्लेख है। इनमें से कुछ रागों का बहुल प्रयोग किया गया है ये रागें भावानुकूल और रसानुकूल हैं, यथा संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए काफी, कालिंगड़ा, पूरिया कल्याण, पूर्वी, पीलू, बहार, विभास, गौरी, ललित, समाज, बागेश्वरी, झिंझोटी, गारा आदि राग-रागिनियों का वियोग शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए अड़ाना, आसावरी, बसंत, धनाश्री, दरबारी, कान्हरा, तोड़ी, यमन, कल्याण, बिहाग, मल्हार आदि का करुण रस के लिए बसंत, जैत श्री, नटनारायण, खमाज, जोगिया, आसावरी, भैरव, गुनकली, गौड़ सारंग तथा जैजैवंती, बिहाग, मल्हार आदि का और शान्त रस की अभिव्यक्ति के लिए पूरिया, बिहाग, ललित, परज, देस तथा भूपाली का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार मीरां के पदों में शास्त्रीय राग-रागिनियों का निर्वाह तो हुआ ही है, उनमें लोक संगीतात्मकता भी है। मीरां के गीत तो उनके मुक्त हृदय का उन्मुक्त संगीत है, इसी से उनमें लोक-संगीत की ऐसी अति प्रचलित धुनें भी मिलती हैं जो कालान्तर में शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत समाविष्ट करली गईं। इन लोक-रागों में देस, मांड, सोरठ, मारु आदि राजस्थान की लोक-प्रचलित राग सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त मीरां ने कतिपय ऐसी धुनों का भी प्रयोग किया है जो अभी शास्त्रीय संगीत में सम्मिलित नहीं हो पायी हैं, जैसे—राजस्थान की घूमर, गुजरात की गरबी और ब्रज की रसिया। मीरां के कई पदों को कजली और लावनी की धुनों में बांधकर गाये जाने का भी उल्लेख मिलता है।

अपने पदों के गायन के लिए मीरां ने जिन घनवाद्यों का प्रयोग किया उनमें झांझ, करताल, मंजीरा आदि प्रमुख हैं। अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत ढोल, डफ,

पखावज, मृदंग, नगारा आदि का उल्लेख उनके विभिन्न पदों में मिलता है। सुषिर वाद्य के रूप में मुरली का उल्लेख मिलता है जो उनके आराध्य का प्रिय वाद्य था। तंत वाद्य के अन्तर्गत इकतारी तो मीरां की चिरसंगिनी ही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाद्यों का प्रयोग या उल्लेख मीरां ने संगत-वाद्य के रूप में किया है। यहाँ यह उल्लेख है कि मीरां द्वारा प्रयुक्त या उल्लिखित वाद्यों में लोक-वाद्य ही प्रमुख हैं।

मीरां के पद विविध रागों के समान विविध तालों में भी बद्ध हैं। 'मीरां-बृहत्पदावली' में 17 मुख्य तालों का उल्लेख है जिनमें सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाले ताल हैं—त्रिताल, कहरवा, दादरा और दीपचंदी।

ताल के अतिरिक्त, मीरां के काव्य में भावानुकूल लय-योजना के भी दर्शन होते हैं; उनके पदों में कविता की लय के साथ सांगीतिक लय का सामंजस्य है। मधुर आह्लाद के प्रसंगों में जहां मध्य लय का प्रयोग हुआ है, वहां गतिपूर्ण संयोग के क्षणों में द्रुत लय का और करुण तथा विषादमय प्रसंगों में विलम्बित लय का। मध्य लय का प्रयोग मीरां के आधे से अधिक पदों में मिलता है।

संगीत के साथ नृत्य को भी मीरां ने अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया था। उनका नृत्य, क्षेपण अनुभाव-जन्य था और वह उनके प्रेमोन्माद का प्रमाण था जिसमें प्राणों की लय, सांसों की ताल और हृत्कम्पन की झंकार गूंज उठी थी। पर मीरां का नृत्य किसी शैली-विशेष का अनुकरण नहीं था, वह तो मीरां की प्रेम-भावना की चरम अभिव्यक्ति का प्रतिफलन मात्र था।

मीरां के संगीत में राग और देस (जैसे लोक-धुन) का ही निर्वाह नहीं है, काल और वेला का--'ऋतु-सिद्धान्त' और 'समय-सिद्धांत' का भी निर्वाह है। समय-सिद्धान्त की दृष्टि से मीरां ने प्रातःकालीन, सायंकालीन और रात्रि-कालीन गेय राग-रागिनियों का प्रयोग किया है। प्रातःकालीन रागों में प्रभाती, ललित, प्रभावती, भैरव, भैरवी, कालिंगड़ा, परज, सोहनी, विभास आदि का; सायंकालीन रागों में पूरिया, मारवा, धनाश्री, जैतश्री, गौरी, त्रिवेणी, आदि का; मध्याह्न वेला के राग में सारंग का तथा रात्रिकालीन रागों में विहाग और बागेश्वरी का प्रयोग मीरां ने किया है।

'ऋतु-सिद्धांत' का पालन करते हुए मीरां ने होली सम्बन्धी पदों में लोकगीत शैली के 'होली' राग का तथा शास्त्रीय संगीत शैली के झिंझोटी और काफ़ी राग का प्रयोग किया है; इसी प्रकार वर्षा-वर्णन सम्बन्धी पदों में मल्हार राग का; और परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में 'सावन' राग का प्रयोग किया है। मल्हार राग, उन्हें अपनी करुण विरहानुभूति को व्यक्त करने के लिए, विशेष प्रिय रहा है।

समग्रतः मीरां के काव्य की संगीतात्मकता शास्त्रीय संगीत और लोक-संगीत के अपूर्व सामंजस्य से निर्मित हुई है। वास्तव में मीरां सही अर्थों में उत्कृष्ट वाग्गेयकार थीं, उन्होंने अपनी अनुभूति से संगीत को मधुर और भाव की पवित्रता से उसे पावन बना दिया। वह 16 वीं शती में कृष्ण की बांसुरी की ऐसी सर्वाधिक करुण-मधुर रागिनी थी जो युग-युग तक गुंजित-अनुगुंजित होती रहेगी।

## (ख) शोध प्रबन्ध की उपलब्धियां :

ऊपर, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का जो सार-निष्कर्ष दिया गया है, वह मीरां के काव्य में उपलब्ध अभिव्यंजनागत विशिष्टताओं की ओर संकेत करता है। जहां तक इस शोध प्रबन्ध की उपलब्धियों का प्रश्न है, उसका मूल्यांकन तो विद्वज्जन ही करेंगे। एक शोध-छात्रा के रूप में इसकी उपलब्धियों को रेखांकित करने का न मेरे पास अधिकार है न सामर्थ्य। फिर भी जैसे एक बालक कोई चीज़ बना लेने पर उसे दौड़कर अपनी मां, पिता या भाई को दिखाकर कह उठता है-देखो मैंने यह बनाया है—इसमें यह लगाया है, वह जोड़ा है-और फिर पूछ उठे-कैसी लगी तुम्हें ?-ठीक कुछ ऐसी ही स्थिति है मेरी ! अपने इस बाल प्रयास को देखकर मुझे तो विस्मय, हर्ष और संकोच तीनों का अनुभव होता है ! विस्मय : अपनी इस लिखित सामग्री को देखकर, कि क्या यह सब कुछ मैं लिख गयी हूं ! हर्ष : अपनी इस कठिन यात्रा की लक्ष्यसिद्ध परिणति पर और संकोच इसकी प्रस्तुति पर ! इन तीन भावों के अतिरिक्त स्व-मूल्यांकन की मुद्रा में धारण कर सकूं-यह मेरे लिए कठिन है। मैंने तो मीरां की भावना को अपने हृदय की आंखों से देखा ही नहीं उसे जिया भी है, और जिसे जिया है, भोगा है उसके आस्वाद का विश्लेषण मैं क्या करूं—'गूंगे को मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावे !' तथापि, एक समीक्षक और एक शोधकर्ता को दूसरे स्तर पर जीना होता है, दूसरी ही भूमि पर चलना होता है; यह भूमि निश्चय ही कठिन है, अतः मूल्यांकन और भी कठिन ! मैं तो उन उपलब्धियों की ओर संकेत भर ही कर सकती हूं जो वस्तुतः इस शोध-प्रबन्ध की नहीं, इसके माध्यम से स्वयं मीरां की-उनकी अभिव्यंजना शैली की है !

मैं समझती हूं, जिस प्रथम उपलब्धि की ओर मैं संकेत कर सकती हूं वह यह कि यह शोध प्रबन्ध सम्भवतः प्रथम बार मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली की, उसके सभी पक्षों की दृष्टि से खोज प्रस्तुत करता है; यह पक्ष अब तक या तो उपेक्षित रहा या उसके कुछ बिन्दुओं पर यत्रतत्र सामान्य ढंग से विचार होता रहा। मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली के कुछ पक्षों पर जो स्वतन्त्र अध्ययन प्रकाशित हुआ है वह गत एक-आध वर्ष में ही, फिर भी अभिव्यञ्जना के सभी पक्षों को एक साथ लेकर कोई शोध कार्य अभी तक नहीं हुआ था, यह शोध-प्रबन्ध जो इस अभाव की पूर्ति करता है यह इसकी एक उपलब्धि है।

इस शोध की दूसरी उपलब्धि यह है कि इसमें भाषा, शब्दशक्ति, अलङ्कार, प्रतीक, बिम्ब, छन्द, संगीत आदि सभी पक्षों का विवेचन शास्त्रीय आधार पर किया गया है। मीरां की भाषा का विवेचन भाषा-वैज्ञानिक और व्याकरणिक दोनों आधारों पर किया गया है; शब्द-शक्ति, उक्ति-वैचित्र्य, अलङ्कार-योजना, प्रतीक प्रयोग और बिम्ब विधान का भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर; छन्द-योजना का प्राचीन और आधुनिक छन्द-शास्त्र के आधार पर और संगीत का संगीत-शास्त्र के आधार पर विश्लेषण-विवेचन किया गया है। छन्द-विवेचन में छन्द और संगीत दोनों को आधार बनाया गया है और संगीत-विवेचन में संगीत को रस से सम्बद्ध करके भी देखा गया है। भाषा-शास्त्र, काव्य-शास्त्र और संगीत-शास्त्र का, विवेचन में व्यावहारिक उपयोग करने के पूर्व, प्रत्येक पक्ष के

शास्त्रीत सिद्धान्तों का परिचय भी दे दिया गया है ताकि शास्त्रीय आधार स्पष्ट हो सके।

मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली के इस शास्त्रीय विवेचन से इस सत्य की उपलब्धि हुई है कि कलावाची न होते हुए भी, यहां तक कि शास्त्र के सचेतन प्रयोग के प्रति उदासीन होते हुए भी, मीरां का काव्य, शास्त्रीय कसौटियों पर उसी प्रकार से एक बड़ी सीमा तक खरा उतरता है जिस प्रकार कि किसी शास्त्र-सचेता कवि का काव्य ! क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद इस सीमा तक मीरां के काव्य पर लागू होता प्रतीत होता है कि 'सहजानुभूति ही अभिव्यञ्जना है और अभिव्यञ्जना ही काव्य'—ऐसा काव्य जिसे शास्त्र की आवश्यकता रचना-प्रक्रिया में नहीं, समीक्षा-प्रक्रिया में ही होती है और फिर भी जो शास्त्रीय-मूल्यों का निर्वाह करता है।

यह शोध प्रबन्ध यह तथ्य भी उद्घाटित करता है कि अनायास ही सही, मीरां के काव्य में शब्द-शक्तियों, वक्रोक्तियों, अलङ्कारों, प्रतीकों, बिम्बों और यहां तक कि छन्दों और राग-रागिनियों तक के कितने विपुल प्रकार सन्निहित हो गये हैं। यह एक ऐसी ही उपलब्धि है जैसे कि ऊपर-ऊपर से सपाट समतल दिखाई पड़ने वाली भूमि के गर्भ से अपार रत्नों का उत्खनन !

शास्त्रीय औज़ारों से अभिव्यञ्जना के रत्नों का उत्खनन करने के अतिरिक्त मीरां के काव्य की भूमि और उसमें गर्भस्थ इन रत्नों को युग के परिवेश और अतीत की पीठिका में रखकर देखने का प्रयत्न भी इस शोध प्रबन्ध में किया गया है; इस प्रकार इसमें समाज-शास्त्रीय और ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति को भी अपनाया गया है; पर इस पूर्वपीठिका में युग-परिवेश का संकलन मात्र नहीं है, इसमें यह देखने का भी प्रयास किया गया है कि मीरां की अभिव्यञ्जना-शैली को युग की परिस्थितियों, स्वयं के व्यक्तित्व और काव्य-परम्परा ने किस प्रकार प्रभावित और नियन्त्रित किया है और फ़िर भी मीरां के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता ने और उनकी सहजानुभूति ने उनकी समस्त काव्याभिव्यंजना को अपने व्यक्तित्व में कितना निजी; पर अपनी प्रभविष्णुता में कितना सार्वजनीन बना दिया है।

इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से इस शोध प्रबन्ध के निष्कर्ष यह भी सिद्ध करते हैं कि सहजानुभूति और सहजाभिव्यक्ति में ही सच्ची अभिव्यञ्जना-शैली के तत्त्व निहित होते हैं, काव्यशास्त्र या काव्य-परम्परा के अनुकरण में नहीं।

इस शोध-प्रबंध की विनम्र उपलब्धियों के सम्बन्ध में, मैं सोचती हूँ, इतना कहना ही अलम् होगा।

□□

परिशिष्ट—

# ग्रंथसूची


ग्रन्थ — लेखक

## क—आधार ग्रंथ

1. मीरांबाई की पदावली : (सम्पादक) आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
2. मीरां बृहत्पदावली (भाग-1) : (संकलनकर्ता)—स्वर्गीय श्री हरिनारायण पुरोहित
: सम्पादक-डॉ. फतेहसिंह
3. मीरां मन्दाकिनी : (सम्पादक)-श्री नरोत्तमदास स्वामी
4. मीरां माधुरी : (सम्पादक)—श्री ब्रजरत्नदास
5. मीरां बृहत् पदसंग्रह : (संकलनकर्त्री)—श्रीमती पद्मावती शबनम
6. मीरां सुधा सिन्धु : श्री स्वामी आनन्दस्वरूप
7. मीरां-पदावली : श्री शम्भुसिंह मनोहर
8. मीरां सुधालहरी : स्वामी आनन्दस्वरूप
9. सांग्स ऑफ मीरांबाई : आर. सी. टंडन
10. मीरां-पदावली : विष्णुकुमारी मंजु

## ख—सहायक ग्रन्थ

### 1. सैद्धान्तिक ग्रन्थ—

#### अ. संस्कृत—

11. काव्यप्रकाश : (मू० ले०) आचार्य मम्मट (सम्पादक)—डॉ. नगेन्द्र
12. हिन्दीकाव्यप्रकाश : (मू० ले०) आचार्य मम्मट (सम्पादक)—डॉ. सत्यव्रत सिंह
13. त्रिवेणिका : श्री आशाधर भट्ट
14. काव्यालंकार : आचार्य भामह
15. नाट्यशास्त्र : (मू० ले०) आचार्य भरत (सम्पादक) डॉ. रघुवंश
16. वक्रोक्तिजीवितम् : (मू० ले०) आचार्य कुन्तक (सम्पादक)—डॉ. नगेन्द्र
17. काव्यालंकारसूत्र : आचार्य वामन
18. काव्यालंकार : आचार्य रुद्रट
19. काव्यादर्श : आचार्य दण्डी
20. चन्द्रालोक : आचार्य जयदेव
21. ध्वन्यालोक : आचार्य आनन्दवर्धन
22. साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ
23. रसगंगाधर : आचार्य जगन्नाथ

24. सरस्वती कण्ठाभरणम् : आचार्य भोज
25. अलंकार सर्वस्वम् : आचार्य रुय्यक
26. पिंगलच्छन्दः सूत्रम् : आचार्य पिंगल

## ब—हिन्दी

### क—काव्यशास्त्र से सम्बन्धित

27. हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु : डॉ. विजयेन्द्र स्नातक
28. सत्यं शिवं सुन्दरम् : डॉ. रामानन्द तिवारी
29. साहित्य-विज्ञान : डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त
30. साहित्य-शैली के सिद्धान्त : डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त
31. काव्य-विम्ब : डॉ. नगेन्द्र
32. रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
33. काव्यकल्पद्रुम् : श्री कन्हैयालाल पोद्दार
34. अलंकार मंजरी : श्री कन्हैयालाल पोद्दार
35. छन्दः प्रभाकर : श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु'
36. काव्य-प्रभाकर : श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु'
37. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र
38. भारतीय काव्यशास्त्र : (सम्पादक)—कृष्ण वल
39. प्रतीक तथा प्रतीकवाद : डॉ. चन्द्रकला
40. पाश्चात्य काव्यशास्त्र: सिद्धान्त और वाद : (सम्पादक) डॉ. नगेन्द्र
41. शब्दशक्ति : डॉ. पुरुषोत्तमदास अग्रवाल
42. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ. ओमप्रकाश शर्मा
43. वाङमयविमर्श : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र
44. हिन्दी अलंकार-साहित्य : डॉ. ओमप्रकाश
45. काव्यांग कौमुदी : आचार्य विश्वनाथप्रसाद
46. काव्यशिल्प के आयाम : श्री सुलेख शर्मा
47. पल्लव (भूमिका) : श्री सुमित्रानन्दन पंत
48. चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
49. साहित्य का मर्म : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
50. आयाम : डॉ. वीरेन्द्र सिंह

### ख—भाषा-विज्ञान, भाषा और व्याकरण से सम्बन्धित—

51. सामान्य भाषाविज्ञान : डॉ. बाबूराम सक्सेना
52. भाषाशास्त्र की रूपरेखा : डॉ. उदयनारायण तिवारी
53. भाषाविज्ञान : डॉ. भोलानाथ तिवारी
54. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ. मोतीलाल मेनारिया
55. पुरानी राजस्थानी : (मू. ले.) तेस्सितोरी (अनु.) डॉ. नामवर सिंह

56. राजस्थानी भाषा : डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी
57. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ. हीरालाल माहेश्वरी
58. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास : डॉ. उदयनारायण तिवारी
59. हिन्दी व्याकरण : पं. कामताप्रसाद गुरु
60. हिन्दी शब्दानुशासन : पं. किशोरीदास वाजपेयी
61. हिन्दी-व्याकरण : श्री दुनीचन्द
62. अच्छी-हिन्दी : श्री रामचन्द्र वर्मा
63. मुहावरे और कहावतें : बालमुकुन्द 'अर्श' मलसियानी
64. हिन्दी वाक्य-विन्यास : डॉ. सुधा कालरा
65. राजस्थानी व्याकरण : स्वामी नरोत्तमदास
66. मारवाड़ी व्याकरण : पं. रामकर्ण आसोपा
67. राजस्थानी कहावतें : डॉ. कन्हैयालाल सहल

स—अंग्रेजी ग्रंथ—

68. दि पोइटिक पैटर्न : रोबिन स्केलटन
69. पोइटिक इमेज : सी. डी. लीविस
70. दि आर्ट आफ ड्रामा : रोनाल्ड पीकॉक
71. एलिमेन्ट् आफ पोयट्री : जे. आर. कूजर
72. क्रिएटिव इमेजिनेशन : जे. ई. डावनी

2—आलोचनात्मक, शोध ग्रंथ और साहित्येतिहास ग्रंथ—

अ—मीरां-सम्बन्धी—

73. मीरांबाई : डॉ. प्रभात
74. मीरांबाई की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन : डॉ. भगवानदास तिवारी
75. मीरांबाई का जीवनवृत्त एवं काव्य : डॉ. कल्याणसिंह शेखावत
76. मीरां : व्यक्तित्व और कृतित्व : डॉ. पद्मावती शबनम
77. मीरांबाई की भाषा : डॉ. शशिप्रभा
78. मीरांबाई की प्रेम-साधना : श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव
79. काव्य कोकिला मीरां : डॉ. लीलाधर वियोगी
80. मीरां का काव्य : श्री मुरलीधर श्रीवास्तव
81. मीरां दर्शन : श्री मुरलीधर श्रीवास्तव
82. मीरां की काव्य-कला : डॉ. कृष्णदेव शर्मा
83. मीरांबाई की काव्य-साधना : डॉ. रामप्रकाश
84. मीरांबाई : एक मनन : डॉ. मंजुलाल मजुमदार
85. मीरांबाई : डॉ. श्रीकृष्णलाल
86. मीरां : एक अध्ययन : श्रीमती पद्मावती शबनम
87. मीरांबाई की जीवनी : मुंशी देवी प्रसाद

88. मीरां : गहलोत
89. मीरांवाई : मनसुखराम एन. मेहता
90. मीरोवाई नो चरित : एस. एस. मेहता
91. नरसी अरणे मीरां : तनसुखराम त्रिपाठी
92. मीरांवाई : माणिकलाल चुन्नीलाल
93. दि स्टोरी आफ मीरांवाई : वांकेविहारी
94. दि लीजेन्स आफ मीरांवाई : मेकालिफ
95. मीरांवाई और उनकी पदावली : प्रो. देशराज सिंह भाटी
96. मीरां स्मृति ग्रंथ : (प्रका. वंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता)
97. मीरां स्मृति ग्रंथ : (प्रका. साहित्य निकेतन, अजमेर)

ब—गौणतः मीरां सम्बन्धी

98. मध्यकालीन कवयित्रियां : डॉ. सावित्री सिन्हा
99. व्रजभाषा के कृष्ण-भक्तिकाव्य में अभिव्यंजना-शिल्प : डॉ. सावित्री सिन्हा
100. मध्यकालीन कृष्णकाव्य : डॉ. कृष्णदेव भारी
101. साहित्य प्रवेशिका : श्री हीमतलाल अंजारिया
102. मध्यकालीन प्रेमसाधना : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
103. राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ. मोतीलाल मेनारिया
104. राजस्थानी राजघरानों की हिन्दी-सेवा : डॉ. राजकुमारी कौल

स—मीरां—इतर ग्रंथ

105. सूर की काव्य-कला : डॉ. मनमोहन गौतम
106. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय : डॉ. दीनदयालु गुप्त
107. सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
108. संत-साहित्य : डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल
109. कवीर ग्रंथावली : (सम्पादक) डॉ. श्यामसुन्दर दास
110. हिन्दी संतों का उलटवांसी साहित्य : डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र
111. जायसी का काव्यशिल्प : डा. दर्शनलाल सेठी
112. देव के काव्य में अभिव्यक्तिविधान : डॉ. राज बुद्धिराजा
113. रीतिकालीन रीति कवियों का काव्य-शिल्प : डॉ. महेन्द्र कुमार
114. राजस्थान का पिंगल साहित्य : डॉ. मोतीलाल मेनारिया
115. आधुनिक हिन्दीकाव्य में छन्द-योजना : डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल
116. आधुनिक हिन्दी साहित्य में अप्रस्तुत-विधान : डॉ. नरेन्द्र मोहन
117. भक्तिकालीन काव्य में राग और रस : डॉ. दिनेशचन्द्र गुप्त

118. काव्य और संगीत का
पारस्परिक संबंध : डॉ. उमा मिश्र
119. हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन
साहित्य में संगीत : डॉ. उषा गुप्ता

द—साहित्य—इतिहास

120. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
121. हिन्दी साहित्य का इतिहास : (सम्पादक) डॉ. नगेन्द्र
122. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र
(सम्पादक) डॉ. राजबली पाण्डेय
123. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक
इतिहास : डॉ. रामकुमार वर्मा
124. हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
125. मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धु
126. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
127. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र
128. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. श्यामसुन्दर दास
129. हिन्दी साहित्य : डॉ. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
130. राजस्थान का पिंगल साहित्य : डॉ. मोतीलाल मेनारिया

3—साहित्येतर ग्रंथ—

अ—संगीत-सम्बन्धी

131. साहित्य, संगीत और कला : श्री कोमल कोठारी
132. संगीत मीमांसा : श्री जगदीश नारायण पाठक
133. हिन्दुस्तानी संगीतशास्त्र : श्री भगवतशरण शर्मा
134. भातखण्डे संगीतशास्त्र—
(भाग 1-2-3-4) : श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट
135. क्रमिक संगीत मालिका—
(भाग 1-2-3-4-5-6-7) : मू. ले. विष्णु नारायण भातखण्डे
136. मल्हार के प्रकार : श्री जयसुखलाल त्रिभुवनदास भट्ट
137. संगीत-अर्चना : श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट
138. राजस्थानी लोकनृत्य : डॉ. देवीलाल सामर
139. नृत्यकला : डॉ. राधाकमल मुखर्जी

ब—इतिहास-सम्बन्धी

140. भारतीय संगीत का इतिहास : श्री उमेश जोशी
141. राजस्थान का इतिहास : डॉ. गोपीनाथ शर्मा
142. मुंहणोत नैणसी की ख्यात :
143. मारवाड़ का मूल इतिहास : पं. रामकर्ण आसोपा
144. मारवाड़ का इतिहास : पं. विश्वेश्वरनाथ रेउ
145. राजपूताने का इतिहास : पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

146. जयमल वंश प्रकाश : पं. गोपालसिंह गहलोत
147. मारवाड़ का इतिहास : जगदीशसिंह गहलोत
148. दिल्ली सल्तनत : डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

4. अंग्रेजी-पुस्तकें—

149. एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ ऑफ राजस्थान : कर्नल जैम्स टाड
150. दि माडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान : सर जार्ज ग्रियर्सन
151. दि सिख रिलीजन : मैकालिफ
152. दि अण्डर वर्ल्ड ऑफ इण्डिया : सर जार्ज मैकमन
153. एन आउटलाइन ऑफ दि रिलीजंस ऑफ इण्डिया : जे. एन. फर्कुहर
154. लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : फ्रेज़र
155. रिलीजस सेक्टस ऑफ हिन्दूज़ : विल्सन
156. इण्डियन थीइज़्म : मैकनिकोल

5. कोश—

1. साहित्यकोश—भाग 1
2. राजस्थान सबदकोस सीताराम लालस
3. हिन्दी शब्द-सागर
4. संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर
5. दि आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी : वाल्यूम 10
6. इंग्लिश हिन्दी डिक्शनरी (संपादक—हरदेव वाहरी)

## पत्र-पत्रिकाएँ

1. हिन्दी अनुशीलन : डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक (सन् 1960)
2. शोध-पत्रिका : मीरां विशेषांक
3. संगीत-पत्रिका : (भजनांक—जनवरी-फरवरी —1942)
4. संगीतिका-पत्रिका : (सितम्बर 1962)
5. लोकनिधि-पत्रिका : मीरां विशेषांक (जुलाई—1969)
6. विश्वभारती-पत्रिका : (अक्टूबर-दिसम्बर—1974)

□□